केशव का आचार्यत्व

डा० विजयपालसिंह

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग

श्री वेङ्कटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली 

मूल्य बीस रुपये

प्रथम संस्करण १९६८

मुद्रक शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली ३२

KESHAV KA ACHARYATVA by Dr Vijay Pal Singh
Rs. 20.00

स्नेहमयी मा
श्रीमती चम्पादेवी जी
को
सादर, सभक्ति समर्पित

भूमिका

भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा, रीतिकालीन आचार्यत्व और काव्य से मेरा सम्बन्ध रहा है। इनके पुनर्मूल्यांकन और पुनःस्थापना में मेरी रुचि और इनकी सम्भावनाओं में मेरी आस्था रही है। इस दिशा में होने वाले शोध-कार्य से मैं किसी न किसी रूप में बौद्धिक या भावात्मक तादात्म्य का अनुभव करता हूं। डा० विजय पाल सिंह के प्रस्तुत शोधकार्य के साथ भी मैंने इसी प्रकार के सम्बन्ध का अनुभव किया। केशव के जीवन, काव्य और आचार्यत्व को स्पष्ट करते हुए कुछ प्रयत्न हो चुके थे। इन प्रयत्नों ने केशव और उनके साहित्य पर छाये हुए कुहास को बहुत कुछ समाप्त भी किया। इन प्रबन्धों के अनन्तर एक ऐसे विशिष्ट अध्ययन की प्रतीक्षा की जा रही थी जो केशव के आचार्यत्व का पूर्ण विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत कर सके। प्रस्तुत ग्रन्थ इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

इस शोध-प्रबन्ध से मेरा कोई औपचारिक या प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं रहा, तथापि विषय के निर्धारण, उसकी रूपरेखा के निश्चय और शोध-विधि के सम्बन्ध में लेखक ने मुझसे विचार-विमर्श अवश्य किया था। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ का जो प्रारूप मेरी दृष्टि में था, उसका परिपालन ग्रन्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त भी आवश्यक विस्तृति लेखक ने दी है। विषय और पद्धति की दृष्टि से जो समग्रता प्रस्तुत ग्रन्थ में दिखलाई पड़ती है, उससे लेखक की निष्ठा और अनुसंधित्सा ही सिद्ध होती है।

भारतीय काव्यशास्त्र की समृद्ध परम्परा को हिन्दी में व्यवस्थित रूप से अवतरित करने का विशद प्रयत्न केशव ने किया था। काव्यशास्त्र की धारा का बहुविध शृंगार केशव के पूर्व हो चुका था। अनेक सम्प्रदाय स्वीकृत और तिरस्कृत हो चुके थे। प्रत्येक सिद्धान्त निरूपण और विश्लेषण की दृष्टि से चरम पर पहुंच गया था। इसमें सन्देह नहीं कि रस और ध्वनि सिद्धान्तों को सर्वातिशय विस्तार और महत्त्व प्राप्त हुआ, किन्तु अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के सिद्धान्तों ने भी किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं किया। रस और नायिका-भेद का भक्ति-परक संस्कार बंगाली वैष्णव आचार्यों के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस संस्कार ने लक्ष्य साहित्य के सृजन को प्रेरणा दी। इन लक्षणों की संरचना में हिन्दी की सर्वातिशायिनी सगुण काव्यधारा प्रवाहित हुई। केशव का परिवेश भक्ति-संस्कृत लक्षण और लक्ष्य साहित्य की प्रक्रियाओं से पुष्ट था। केशव प्रवृत्तितः अलंकारवादी होते हुए भी इस परिवेश से अपने आचार्यत्व को अछूता न रख सके। अपने इन्हीं संस्कारों और प्रभावों की छाया में वे सर्वांग निरूपक आचार्य बन गए। केशव के व्यक्तित्व के इस वैशिष्ट्य का विकास और स्वरूप प्रस्तुत प्रबन्ध में वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट किया गया है। 'रसिकप्रिया'

भूमिका

भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा, रीतिकालीन आचार्यत्व और काव्य से मेरा सम्बन्ध रहा है। इनके पुनर्मूल्यांकन और पुनःस्थापना में मेरी रुचि और इनकी सम्भावनाओं में मेरी आस्था रही है। इस दिशा में होने वाले शोध-कार्य से मैं किसी न किसी रूप में बौद्धिक या भावात्मक तादात्म्य का अनुभव करता हूँ। डा० विजयपालसिंह के प्रस्तुत शोधकार्य के साथ भी मैंने इसी प्रकार के सम्बन्ध का अनुभव किया। केशव के जीवन, काव्य और आचार्यत्व का स्पर्श करते हुए कुछ प्रयत्न हो चुके थे। इन प्रयत्नों ने केशव और उनके साहित्य पर छाये हुए कुहासे को बहुत कुछ समाप्त भी किया। इन प्रबन्धों के अनन्तर एक ऐसे विशिष्ट अध्ययन की प्रतीक्षा की जा रही थी जो केशव के आचार्यत्व का पूर्ण विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत कर सके। प्रस्तुत ग्रन्थ इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

इस शोध प्रबन्ध से मेरा कोई औपचारिक या प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं रहा, तथापि विषय के निर्धारण, उसकी रूपरेखा के निश्चय और शोध विधि के सम्बन्ध में लेखक ने मुझसे विचार विमर्श अवश्य किया था। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ का जो प्रारूप मेरी दृष्टि में था, उसका परिपालन ग्रन्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त भी आवश्यक विस्तृति लेखक ने की है। विषय और पद्धति की दृष्टि से जो समग्रता प्रस्तुत ग्रन्थ में दिखलाई पड़ती है, उससे लेखक की निष्ठा और अनुसंधित्सा ही सिद्ध होती है।

भारतीय काव्यशास्त्र की समृद्ध परम्परा को हिन्दी में व्यवस्थित रूप से अवतरित करने का विशिष्ट प्रयत्न केशव ने किया था। काव्यशास्त्र की धारा का बहुविध शृंगार केशव से पूर्व हो चुका था। अनेक सम्प्रदाय स्वीकृत और तिरस्कृत हो चुके थे। प्रत्येक सिद्धान्त निरूपण और विश्लेषण की दृष्टि से चरम पर पहुँच गया था। इसमें सन्देह नहीं कि रस और ध्वनि सिद्धान्तों को सर्वाधिक विस्तार और महत्त्व प्राप्त हुआ, किन्तु अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के सिद्धान्तों ने भी किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं किया। रस और नायिका भेद का भक्ति-परक संस्कार बंगाली वैष्णव आचार्यों के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस संस्कार ने लक्ष्य साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी। इन लक्षणों की संरचना में हिन्दी की सर्वातिशायिनी सगुण काव्यधारा प्रवाहित हुई। केशव का परिवेश भक्ति-संस्कृत लक्षण और लक्ष्य साहित्य की प्रक्रियाओं से पुष्ट था। केशव प्रवृत्तितः अलंकारवादी होते हुए भी इस परिवेश से अपने आचार्यत्व को अछूता न रख सके। अपने इन्हीं संस्कारों और प्रभावों की छाया में वे सर्वांग निरूपक आचार्य बन गए। केशव के व्यक्तित्व के इस वैशिष्ट्य का विकास और स्वरूप प्रस्तुत प्रबन्ध में वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट किया गया है। 'रसिकप्रिया'

कृष्णधारा की काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय भक्ति पद्धति की परम्परा से आती है। शृंगार और नायिका भेद की भक्ति पद्धति की परम्परा में जयदेव विद्यापति सूरदास और नन्ददास का साहित्य आता है। केशव ने इसी परम्परा का अनुसरण करके रसिकप्रिया का प्रणयन किया। इसमें केशव की राधा के प्रति भक्ति भावना का भी आभास मिलता है और कृष्ण की रस पुरुष के रूप में प्रतिष्ठा भी मिलती है। इस योजना में केशव शृंगार को रसराज मानने और सिद्ध करनेवाले आचार्यों की परम्परा में भी स्थान बना लेते हैं।

कविप्रिया में आचार्यत्व कविशिक्षा के रूप में प्रकट हुआ है। लेखक ने यह सिद्ध किया है कि केशव की अलंकारवादिता के अतिरिक्त समग्र काव्य-सामग्री का सकलन-सर्वेक्षण भी हुआ है और इसके आधार पर उनका कवि शिक्षक रूप गौरव प्राप्त करता है। रामचन्द्रिका का प्रणयन उस परम्परा में हुआ है जिसमें लक्षण निरूपण दिव्य नायक के चरित्र के उदाहरणों से पुष्ट किया गया है। लक्षण ग्रन्थ से निरपेक्ष पर लक्षणों से अनुप्राणित उदाहरणों को महाकाव्य के रूप में संयोजित करके केशव ने आचार्यत्व-सम्बन्धी एक नवीन प्रयोग किया। इस रूप में केशव का महत्वांकन लेखक ने किया है। इस प्रकार केशव के आचार्यत्व सम्बन्धी ग्रन्थों की परम्परा का पर्यवेक्षण करके केशव की कृतियों का मौलिक रूप से स्थान निर्धारित किया गया है।

जहाँ तक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण का प्रश्न है लेखक ने तुलनात्मक पद्धति से निष्कर्ष निकाले हैं। पहले केशव की सिद्धान्त दृष्टि को स्वच्छ रूप से प्रस्तुत किया गया है। फिर संस्कृत के आचार्यों से तुलना करके स्रोतों का निर्धारण किया गया है। स्रोत निर्धारण का कार्य पर्याप्त बोध और मनोयोग की अपेक्षा रखता है। प्रस्तुत प्रबन्ध का यह भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केशव की कृतियों और उनके सिद्धान्तों को सम्बद्ध परम्परा के सन्दर्भ में देखा गया है। समग्र रूप में परम्परा को रखकर ही केशव का सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी निष्कर्ष देकर लेखक ने इतिहास एवं अनुसंधान की विधि का परिपालन किया है।

सिद्धान्त निरूपण के साथ-साथ यह भी आवश्यक होता है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्पराओं को आदान और प्रदान के रूप में उपस्थापित किया जाए। आरम्भ में काव्यशास्त्र के केशव-पूर्व विकास-सूत्रों को उचित रूप से केशव के साथ सम्बद्ध करके दिखा गया है। अन्तिम भाग मुझे विशेष पसन्द आया है। सामान्य रूप से यह मान्यता रही है कि केशव के परवर्ती आचार्यों ने केशव के आचार्यत्व को अपना उपजीव्य नहीं बनाया। पर यह पूर्ण सत्य नहीं है। केशव की रसिकप्रिया और कविप्रिया की प्रणाली पर कुछ कृतियाँ लिखी गई और सामान्य रूप से भी केशव का प्रभाव रहा। लेखक ने केशव से प्रभावित परवर्ती परम्परा की खोज और दृष्टिपूर्ण की है। यदि प्रभाव खंड रूप में भी प्राप्त होता है तो भी उसका आकलन अनुसंधान का अनिवार्य अंग है। खंड प्रभावों का निर्धारण लेखक ने तथ्यपरक पद्धति से किया है। अन्तिम भाग का वैशिष्ट्य इससे स्पष्ट हो जाता है।

मुझे प्रसन्नता है कि केशव के आचार्यत्व का अध्ययन जितनी विशद पीठिका पर होना चाहिए था वह प्रस्तुत प्रबन्ध में हुआ है। केशव-सम्बन्धी धारणाएँ इस अध्ययन के लिए एक बौद्धिक परिप्रेक्ष्य ग्रहण करता हैं। अनेक भ्रान्तियों का निवारण भी प्रस्तुत ग्रन्थ करता है। केशव की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए आचार्यत्व और काव्यशास्त्रीय परम्परा का उचित अवगाहन भी किया गया है। इस रूप में प्रस्तुत प्रबन्ध भावी शोध के लिए प्रेरक बन सकता है।

डा० विजयपालसिंह हिन्दी-संस्कृत के गम्भीर विद्वान और हिन्दी के वरिष्ठ प्राध्यापक हैं। उन्होंने अपने गहन अध्यवसाय के द्वारा रीतिकाव्य के मर्मज्ञों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से रीतिकाव्य सम्बन्धी ज्ञान भण्डार की श्रीवृद्धि होगी और हिन्दी-साहित्य के शोधार्थी अध्येता इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

दिल्ली विश्वविद्यालय
शिवरात्रि, सं० २०२३ वि०
९ मार्च, १९६७ ई०

—नगेन्द्र

प्रस्तावना

प्रस्तुत प्रबन्ध मेरे डी० लिट० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध का यत्किञ्चित् परिवर्तित मुद्रित स्वरूप है। हिन्दी साहित्य का मध्ययुग साहित्यिक वैभव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इस युग के कलाकारों ने कवित्व के साथ साथ आचार्य की भी पदवी प्राप्त की। उनमें आचार्य केशव का स्थान सर्वोपरि है। केशव के कवि व्यक्तित्व और आचार्य व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते रहे हैं। उनके कवि व्यक्तित्व को उनके आचार्य व्यक्तित्व की सापेक्षता में समझने पर ही केशव के प्रति न्याय किया जा सकता है यह मेरा निश्चित धारणा है। केशव हिन्दी समीक्षा के लिए बहुपठित एवं बहुचर्चित आचार्य रहे हैं। केशवदास पर 'आचार्य केशवदास', 'केशव और उनका साहित्य' तथा 'केशवदास जीवनी कला और कृतित्व' नामक तीन शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। द्विवेदी युगीन नैतिकता एवं आदर्श से अत्यधिक प्रभावित होकर आचार्य केशवदास की जो अनुदार आलोचना हुई उसका निष्पक्ष रूप से विचार करना ही उक्त शोध प्रबन्धों का मूल उद्देश्य रहा है।

जहाँ तक केशव के भावपक्ष का सम्बन्ध है इस कवि को हृदयहीन कह दिया गया। कला की दृष्टि से प्रयत्न की सघनता और असंगतियों का नीड़ उनको उपेक्षित करती रही। इन्हीं कारणों से वे 'कठिन काव्य के प्रेत' बने हुए अनेक सहृदय आलोचकों को डराते रहे। अलंकारवाद के समर्थक होने के नाते रसवादी आलोचकों को उनमें रसविरोध ही दिखलाई दिया। शास्त्रीय सैद्धान्तिक समीक्षा के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को भ्रान्त कहकर टाल दिया गया। रीतिकाल का आरम्भ चिन्तामणि से मानकर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उन्हें युगप्रवर्तक होने के गौरव से भी वंचित कर दिया। इस प्रकार भक्तिकाल के इस प्रबल अपवाद पर सभी प्रकार के प्रहार हुए। उक्त प्रबन्धों ने केशव के साहित्यिक उन्मेषों का पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। उनमें केशव के जीवन कृतियों समकालीन परिस्थितियों जीवन दर्शन एवं आदान प्रदान के साथ साथ कवित्व को ही प्राथमिकता दी गई है। आचार्यत्व का स्थान नगण्य है। केशव के सर्वांगीण चित्रण एवं विषयों की विविधमुखी व्यापकता के कारण इन शोध प्रबन्धों में आचार्यत्व को प्राथमिकता देते हुए काव्यशास्त्र जैसे गहन विषय को लेकर तलस्पर्शी अध्ययन करना सम्भव भी न था।

रीतिकालीन आचार्यत्व पर इस युग में डा० रसाल डा० नगेन्द्र डा० भगीरथ मिश्र तथा डा० ओमप्रकाश जैसे विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनमें समस्त रीतिकाल का मूल्यांकन ही आयासित है। डा० नगेन्द्र जी ने 'महाकवि' देव की पृष्ठ-भूमि में संस्कृत और रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा का विश्लेषणात्मक पर्यवेक्षण

किया है। उक्त ग्रन्थो मे केशव के आचार्यत्व का सामान्य परिचय दिया गया है। इस प्रकार रीतिकाल के किसी भी आचार्य का शुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से अध्ययन नहीं किया गया है। देव भिखारीदास मतिराम का भी समग्र रूप से अध्ययन हुआ है शुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से नही। इन सभी के सैद्धान्तिक पक्षो का अध्ययन अपेक्षित है। केशव के आचार्यत्व के सम्बन्ध मे और फलत कवित्व के सम्बन्ध मे भी समीक्षको ने प्राय भ्रान्त निर्णय ही प्रस्तुत किये हैं। अध्ययन की गहराई मे न जाने के कारण केशव की जैसी उल्टी सीधी आलोचना हुई है वैसी किसी आचार्य की नही।

केशव के जिस पक्ष मे अधिक गम्भीरता लाई जा सकती है वह आचार्यत्व का क्षेत्र है। यह क्षेत्र काव्य शास्त्रीय सम्पत्ति से विकसित हुआ। भक्ति साहित्य मे शैली और तत्सम्बन्धी शास्त्र की उपेक्षा हुई थी अत इसकी प्रतिक्रिया काव्यशास्त्रीय पुनरुत्थान शिल्प एव निरूपण विधान की पुन स्थापना के रूप मे हुई। इसके अग्रदूत केशव बने। यह पक्ष एव पूर्वाग्रह मुक्त विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक एव अनुसधानात्मक अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहा था। इसी आवश्यकता की पूर्ति स्वरूप मेरा यह विनम्र प्रयास शोध प्रबन्ध के रूप मे विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत है।

केशव सर्वांग निरूपक आचार्य हैं। अत उनके आचार्यत्व का क्षेत्र भी कम विस्तृत नही है। सस्कृत के आचार्यों मे केशव की मान्यताओ के स्रोतो का अन्वेषण विषय को और भी विस्तृत कर देता है। यह भी आवश्यक समझा गया है कि रीतिकाल के अन्य आचार्यों से भी यत्र-तत्र तुलना की जाए। इस प्रकार केशव की पूर्ववर्ती एव परवर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा के बीच केशव की स्थिति को देखने के प्रयास मे विस्तार कर तो गया है परन्तु केशव के ऐतिहासिक मूल्याकन के लिए यह सब परमावश्यक भी है। रीतिकाल के अन्य आचार्यों के स्रोतो मे अधिकाश वैविध्य नही मिलता। मम्मट विश्वनाथ अप्पयदीक्षित जयदेव भानुदत्त जैसे परवर्ती आचार्यों मे अधिकाश रीतिकालीन लक्षणकारो के सिद्धान्त सूत्र मिल जाते हैं। परन्तु केशव मे सिद्धान्त सूत्रो के स्रोत काव्यशास्त्र के अत्यन्त प्राचीन आचार्य भामह तक पहुचते हैं। इस प्रकार स्रोतान्वेषण भी एक दीर्घ प्रक्रिया बन गई है। पर यह प्रयत्न किया गया है कि स्रोतान्वेषण मे सत्य की अवहेलना और विकास की कडियो की खोज मे प्रमाद न हो।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध नौ प्रकरणो मे विभाजित किया गया है। अध्ययन की सुविधा और वैज्ञानिक प्रक्रिया का ध्यान मे रखते हुए विषयो का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है कि विश्लेषण एव अध्ययन मे एक सोपानिक क्रम एव व्यवस्था रहे तथा शोध की गरिमा भी बनी रहे। प्रथम प्रकरण पृष्ठभूमि का है और अन्तिम उपसंहार का। मध्यवर्ती सात प्रकरणो मे केशव के आचार्यत्व का अतरग अध्ययन है जिनमे उनके द्वारा विरचित सभी प्रमुख काव्यागो की परम्परा और केशवीय चिन्तन के विश्लेषण के साथ विचार विवेचन है। केशव के द्वारा प्रतिष्ठित लक्षणो का स्पष्ट निरूपण विश्लेषण का पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। आचार्यत्व के रूप निरूपण मे निरूपण मात्र मे भ्रान्तियो उपेक्षाओं और अभावों की ओर सकेत करते हुए लक्षण एव उदाहरणों की सगतियो या विसगतियो पर भी विचार किया गया है। उदाहरण

भाग यदि आचार्य का स्वरचित ग्रन्थ होता है तो उसकी लक्षणानुकूलता कभी-कभी कल्पना, सौन्दर्य वृत्ति और रुचि के द्वारा बाधित हो जाती है। अन्य लक्ष्य ग्रन्थों से उदाहरणों का चयन अपेक्षाकृत निष्पक्ष और शुद्ध होता है। केशव का उदाहरण भाग इन दोषों से प्रायः बचा हुआ है। उदाहरणों को लक्षणानुकूल बनाने के प्रयत्न में केशव ने हृदयहीन होने के संभावित आक्षेप की भी चिन्ता नहीं की है फिर भी यत्र तत्र त्रुटि का रह जाना स्वाभाविक ही है। किसी भी आचार्य के लक्षण और उदाहरणों की संगति अध्ययन का अनिवार्य भाग है। अतः इस प्रबन्ध में इस संगति को विस्तार से देखने की चेष्टा की गई है। कहीं-कहीं लक्षण के पूरक के रूप में उदाहरण हैं। जो बात लक्षण कथन में छूट गई है उसकी पूर्ति उदाहरण से हो जाती है। इस संगति निरूपण में इस प्रकार के अन्वेषण का भी ध्यान रखा गया है। उदाहरणों के भावपक्ष अथवा कलापक्ष से सयत्न बचा गया है। यहां प्रकरण क्रम से प्रबन्ध में निहित अध्ययन का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

प्रथम प्रकरण पृष्ठभूमि का है। इसमें आचार्य, आचार्य कर्म का स्वरूप और विकास, शास्त्र और आचार्यत्व के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्र और आचार्यत्व के सत्रहवीं शती में संस्कृत काव्यशास्त्र एवं तन्निहित आचार्यत्व आदि ऐसे सम्बद्ध विषयों पर विचार किया गया है जो केशव जैसे किसी भी आचार्य के आचार्यत्व के एक वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सर्वथा अपेक्षित हैं। इस विचार विमर्श से केशव के आचार्यत्व के विषय एवं समीक्षागत अध्ययन के लिए एक अभीष्ट पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है। द्वितीय प्रकरण में केशव के आचार्यत्व के क्षेत्र पर एक विहंगम दृष्टि डाली गई है। पृष्ठभूमि के रूप में तत्कालीन अभिरुचि, आचार्य केशव के व्यक्तित्व उनकी सैद्धान्तिक दृष्टि, अनुबन्ध चतुष्टय तथा निरूपण पद्धति आदि पर विचार किया गया है। तदुपरान्त केशव की आचार्यत्व सम्बन्धी कृतियों रसिकप्रिया, कविप्रिया एवं छन्दमाला पर विचार किया गया है। आचार्य केशव की रस, अलंकार एवं छन्द सम्बन्धी प्रवृत्तियों पर क्षेत्र विस्तार एवं क्षेत्र-संकोच की दृष्टि से विचार किया गया है। अन्त में कहा गया है कि केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र चाहे सम्पूर्ण काव्यांगों और काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को लेकर न चला हो परन्तु रीतिकाल के सन्दर्भ में वह सर्वथा पूर्ण है। तृतीय प्रकरण में रसविवेचन है। इसमें रसिकप्रिया के प्रतिपाद्य रस के स्वरूप और उससे सम्बद्ध बातों का यथासाध्य गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। रसिकप्रिया नवरस ग्रन्थ नहीं रसराज शृंगार का ग्रन्थ है जो विशिष्ट दृष्टि सम्पन्न है। नायक नायिका भेद इसी रसराज शृंगार से सम्बद्ध तथा उसका ही एक विकसित उपांग है। अतः अगले चतुर्थ प्रकरण में उसका ही अध्ययन है। पंचम प्रकरण में अलंकार निरूपण शीर्षक से केशव के विशिष्ट अलंकारों का शास्त्रीय परीक्षण प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ प्रकरण में छन्द निरूपण है। इसमें हिन्दी के प्रथम छन्द शास्त्री आचार्य केशव के ऐतिहासिक महत्त्व तथा उनके योगदान का विश्लेषण एवं विवेचन है। सप्तम प्रकरण का शीर्षक है अन्य काव्यांग। इसमें वे काव्यांग रखे गए हैं जो महत्त्वपूर्ण होते हुए भी केशव द्वारा विस्तार से निरूपित नहीं हुए हैं अथवा जिनका

आपेक्षिक महत्त्व पूर्व प्रकाशों के विषयों के समकक्ष नहीं है। कविशिक्षा को भी एक काव्यांग स्वीकार किया गया है। केशव के समय तक संस्कृत के काव्यशास्त्र तथा हिंदी के नवोदित काव्यशास्त्र में कविशिक्षा एक काव्यांग का रूप ग्रहण कर चुकी थी। केशव ने इसे अपना एक उद्देश्य बनाया था। अतः इस प्रकाश में चार विषयों का अध्ययन किया गया है—दोष, वृत्तियाँ, चित्रकाव्य एवं कविशिक्षा। अष्टम प्रकाश आदान प्रदान का है। तुलना पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों एवं परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों से की गई है। पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों की तुलना से प्राप्त समानताओं अथवा विषमताओं से स्रोत समर्थन एवं खण्डन सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले गए हैं। परवर्ती आचार्यों के साथ मिलनेवाली समानताओं एवं विषमताओं के आधार पर आचार्य केशव की भावी प्रभाव परम्परा को स्पष्ट किया गया है। यह परम्परा कभी स्रोतगत हुई तो कभी आकस्मिक भी। इन निष्कर्षों की प्राप्ति साधन को अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ बनाने में प्रयत्नशील रही है। अंतिम एवं नवम प्रकाश उपसंहार है। इस प्रकाश में संस्कृत काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में केशव के सिद्धान्तों पर विचार करते हुए अन्ततोगत्वा समस्त अध्ययन की परिधि में केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन किया गया है।

जहाँ तक पद्धति का प्रश्न है वह विश्लेषणात्मक एवं विवेचनात्मक ही रही है। तुलना का अपना स्वतन्त्र महत्त्व भी है। पर उससे विश्लेषण क्रम में सहायता और पुष्टि भी मिलती रही है। विश्लेषण और विवेचन स्वाभाविक रूप से निष्कर्ष देते रहे हैं। यथास्थान तुलनात्मक तालिकाओं का समावेश करके निष्कर्ष निकाले गए हैं। कहीं-कहीं ऐतिहासिक पद्धति को भी ग्रहण किया है और काव्यशास्त्रीय दृष्टि पर विशेषतः विचार गया है। साथ ही काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विकासक्रम प्रस्तुत किया गया है। केशव द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिपादित सिद्धान्त बिन्दुओं का विकास भी आकलित करता रहा है। इस प्रकार एक स्वस्थ शास्त्रीय समीक्षक भूमि पर स्थित होकर केशव के आचार्यत्व का तटस्थ रूप से मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनसे मैंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पाया है। विशेष रूप से मैं गुरुवर प्रोफेसर जगन्नाथ जी तिवारी तथा श्रद्धेय डा० हरवंशलालजी शर्मा का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन एवं सत्परामर्श से ही यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका। डा० ओमप्रकाशजी तथा डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने मेरी बहुमुखी सहायता की है परन्तु उन्हें धन्यवाद देना आत्मीयता के अनुकूल न होगा। श्रद्धेय डा० नगेन्द्र जी ने ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसका जो गौरव बढ़ाया है तदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मित्रवर विश्वनाथजी ने इस ग्रन्थ को सद्यः प्रकाशित किया है अतः वे भी साधुवाद के पात्र हैं।

—विजयपालसिंह
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

तिरुपति (आन्ध्र)
[illegible] संवत् २०२४
१६ [illegible] १९६७

विषयानुक्रमणिका

प्रथम प्रकाश पृष्ठभूमि १७-८३

आचार्य निरुक्ति और अर्थ विकास १७ शास्त्र और आचार्य २१ काव्यशास्त्र और आचार्य २८ सत्रहवीं शती में संस्कृत काव्यशास्त्र और आचार्यत्व ४६, हिन्दी काव्यशास्त्र तथा आचार्यत्व का स्वरूप (सत्रहवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात्) ४६ राज्याश्रय और काव्यशास्त्र ५३ उद्देश्य ५७ कवि आचार्य लक्ष्य और लक्षण ६२, शास्त्रीय आधार ७० नायिका भेद तथा रस निरूपक आचार्यों का आधार ७२ अलंकार निरूपक आचार्यों का आधार ७३ हिन्दी के आचार्यों का वर्गीकरण ७७, रीतिकालीन आचार्यत्व का मूल्यांकन ८०,

द्वितीय प्रकाश केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र ८४-१४१

प्रस्तावना ८४, तत्कालीन अभिरुचि ८४ आचार्य केशव का व्यक्तित्व ८८ आचार्य केशव सैद्धांतिक दृष्टि ६५ अनुबन्ध चतुष्टय ६६, निरूपण पद्धति ६७ केशव की आचार्यत्व सम्बन्धी कृतियां ६७ (अ) रसिकप्रिया ६६ (आ) कविप्रिया १०२, (इ) छन्दमाला १०४ आचार्यत्व का क्षेत्र विस्तार विहंगम दृष्टि १०६ प्रस्तावना भाग १०७ रस—(रसिकप्रिया) १०८ विषय अनुक्रम १११, रससम्बन्धी आचार्यत्व का क्षेत्र विभाजन ११६, केशव का अलंकार-सम्बन्धी आचार्यत्व (कविप्रिया) १२१, विस्तार की प्रवृत्ति १३०, क्षेत्र संकोच १३४, गणना और लक्षण १३५, छन्द शास्त्रीय आचार्यत्व छन्दमाला १३६, प्रस्तावना (छन्दमाला) १३७, प्रथम खण्ड वार्णिक छन्द १३७, खण्ड दो मात्रिक छन्द १४०, निष्कर्ष १४१,

तृतीय प्रकाश केशव का रस विवेचन १४२-१६१

केशव का रस विवेचन १४२ भाव १५६ भावों के प्रकार १६० विभाव १६३, अनुभाव १७० सात्त्विकभाव १७२ स्थायीभाव १७३, व्यभिचारीभाव १७४, अन्य रस एवं उनका अन्तर्भाव १७८, निष्कर्ष १६०,

चतुर्थ प्रकाश नायक-नायिका भेद १६२ २४५

प्रस्तावना १६२, लक्षण एवं स्वरूप २०१ नायक २०२ विविध आचार्यों द्वारा गृहीत नायक गुण २०५ अनुकूल नायक २०६, दक्षिण नायक २०७ शठ नायक २०७ धृष्ट नायक २०८ नायिका भेद २०६ जात्यनुसार नायिकाएं २१६ कर्मानुसार नायिकाएं २२२ नायिकाओं का अष्टविध वर्गीकरण २३३

वियोग के अनुसार नायिकाएं २३८ गुणानुसार नायिका भेद २४१ अगम्या नारियां २४३ उपसंहार २४४

पंचम प्रकाश अलंकार विवेचन २४६ ३०४

केशव का अलंकारवाद २४६ काव्य में अलंकारों का स्थान २४६ रसों की रस वदलंकार के रूप में स्वीकृति २४७ अलंकार निरूपण में प्राचीन आचार्यों का आधार परिग्रहण २४८ अलंकार शब्द की व्यापक परिधि २४८ सामान्य और विशिष्ट अलंकार २४९ स्वभावोक्ति २५० विभावना २५१ हेतु २५२ विरोध या विरोधाभास २५७ विशेष २६ उत्प्रेक्षा २६३ आक्षेप २६ गणना २६६ आशी २७० प्रेमालंकार २७१ श्लेष २७२ सूक्ष्म २७४ लेश २७५ निदर्शना २७५ ऊर्जालंकार २७५ रसवद् अलंकार २७६ अर्थान्तरन्यास २८० व्यतिरेक २८२ अपह्नुति २८२ उक्ति २८३ व्याजस्तुति-व्याजनिन्दा २८६, अमित २८६ पर्यायोक्ति २८७ युक्त २८८ समाहित २८९ सुसिद्ध प्रसिद्ध एवं विपरीत २९० रूपक २९१ दीपक २९४ प्रहेलिका २९८ परिवृत्त २९८, उपमा ३० यमक २ निष्कर्ष ३०२

षष्ठ प्रकाश छन्द निरूपण ३०५ ३३६

अध्ययन सामग्री ३०५, कतिपय सामान्य तथ्य ३ ५ केशव का छन्द निरूपण ३ ६ वर्णिक वृत्त ३०८ मात्रिक वृत्त ३२५ गुण विचार ३३३ निष्कर्ष ३३५

सप्तम प्रकाश अन्य काव्यांग ३३७ ३७५

दोष निरूपण ३३७ वृत्ति विवेचन ३४२ संस्कृत काव्यशास्त्र में वृत्ति निरूपण ३४३ नाट्य वृत्तियां ३४, काव्य वृत्तियां ३४६ काव्यवृत्तियां में नाट्यवृत्तियां ३४८ केशव का वृत्ति निरूपण ३५० वृत्तियों की विशिष्ट रससम्बद्धता ३५२ उदाहरणों का सामंजस्य ३५६, चित्रकाव्य ३६१ कविशिक्षा ३६३ केशव और कविशिक्षा ३६७ कवि समय ३६८ नखशिख वर्णन ३६९ सख्या निरूपण ७१ ऋतुवर्णन (बारहमासा) ३७१ सामान्यालंकार ३७२ वर्णालंकार ३७३ वर्ण्यालंकार ३७३ भूमि और राजश्री ३७३

अष्टम प्रकाश केशव का आदान प्रदान ३७६ ४४७

आदान ३७६ रसिकप्रिया ३७६ नाट्यशास्त्र ३७६ काव्यप्रकाश ३७६ और साहित्यदर्पण ७ सरस्वतीकण्ठाभरण ३७८ रसार्णवसुधाकर ७९ अनंगरंग ३८० कामसूत्र ८१ कविप्रिया ३८२ चन्द्रालोक वृत्तरत्नाकर ८ छन्दमाला ९० केशव और परवर्ती आचार्य प्रभाव प्रदान ३९२ रस-पुरुष ९४ रस-क्षत्र ९८ शृंगार का रसराजत्व ९८ रसों का पारस्परिक सम्बन्ध ४०१ प्रच्छन्नप्रकाश ४०२ रस और वृत्तियां ४०३,

नायिका भेद ४०५ रसदोष ४०७, दूती सखी प्रकरण ४०८, दंपति चेष्टा, मिलन-स्थान शृंगार की विस्तृति ४११ मान मानमोचन ४१३ रसावयव ४१४, रसिकप्रिया रूप-दान ४२० निष्कर्ष ४२२ अलंकार-क्षेत्र ४२२, उदाहरण परम्परा ४२३ अलंकार के महत्त्व की घोषणा ४२५ अलंकारों की संख्या ४२६ (क) दण्डी के अनुरूप अलंकारों की तुलनात्मक तालिका ४२७, (ख) दण्डी के प्राय अनुरूप अलंकारों की तुलनात्मक तालिका ४२८ (ग) दण्डी से भिन्न अलंकारों की तुलनात्मक तालिका ४२६ (घ) नवीन अलंकारों की तुलनात्मक तालिका ४३० अलंकार निरूपण की पद्धति ४३१, चित्रालंकार— कविशिक्षा का भाग ४३७ निष्कर्ष ४४१ दोष निरूपण ४४१ कविशिक्षा सामान्यालंकार ४४२ काव्यसम्बन्धी विचार ४४६

नवम प्रकाश उपसंहार ४४८-४६७

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय एवं केशव ४४८ सम्बन्ध जिज्ञासा ४४८, संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय ४४६ रस सम्प्रदाय एवं केशव ४४६ अलंकार सम्प्रदाय और केशव ४५३ रीति सम्प्रदाय और केशवदास ४५५, ध्वनि सम्प्रदाय और केशवदास ४५६ वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और केशव ४५७, निष्कर्ष ४५८, मूल्यांकन ४५८,

परिशिष्ट—१ ४६८

परिशिष्ट—२ ४७५

प्रथम प्रकाश

पृष्ठभूमि

आचार्य निरुक्ति और अर्थ विकास

पाणिनि ने आचार्य शब्द का व्युत्पत्त्यर्थक विश्लेषण इस प्रकार दिया है आ+चर+ण्यत्[1]। चर धातु आ—उपसर्ग से युक्त होकर जब—ण्यत् प्रत्यय ग्रहण करता है तब आचार्य शब्द व्युत्पन्न होता है। आ—उपसर्ग दार्शनिक और धार्मिक विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली की संरचना का एक प्रमुख उपसर्ग रहा है।[2] भारतीय मस्तिष्क गत्यात्मक परिवर्तन क्रिया से प्रभावित रहा है। व्याकरण और दर्शन के क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। पूर्व प्रत्ययों या उपसर्गों से क्रिया में अन्तर्निहित सम्भावित गति ही प्रकट नहीं होती उसको दिशा भी मिलती है। इस दृष्टि से उपसर्ग क्रिया तथा उनसे व्युत्पन्न नामों का सहकारी होता है।[3] उपसर्गों में अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है जो क्रिया में धातु के साथ सम्बद्ध हो जाता है। इसीलिए इन्हें उपसर्ग कहा गया है उप (ओर या ऊपर)+सर्ग (=प्रवाहित)। प्रातिशाख्य[4] तथा पाणिनि[5] में भी उपसर्ग की स्वतन्त्र अर्थवत्ता का समर्थन मिलता है। इनसे गत्यात्मक (Motional) तथा भावात्मक (Emotional) अर्थ धातु को प्राप्त होते हैं। इनसे काल का बोध नहीं दिशा या दिशा का बोध होता है। आ—उपसर्ग तीव्र तथा सान्निध्य अग्रगति से सम्बन्धित है। अग्र गति का उद्देश्य सामीप्य होता है। कहीं-कहीं गति इसके योग में उलट भी जाती है पर इस उलटने का उद्देश्य भी प्रयोक्ता की ओर गति को सिद्ध करना ही है। आ—प्रत्यय में अर्द्धयान्त्रिक (Quasi mechanical) गति का भाव और निहित है। साथ ही ग्रहण का भाव भी

१ पाणिनि अष्टाध्यायी ३।१।१२४

२ Betty Heimann *The Significance of Prefixes in Sanskrit Philosophical Terminology* (1951)

३ भर्तृहरि वाक्यपदीय पुण्यराज की टीका, कारिका १९०

४ यास्क निरुक्त १।३ दुर्गभाष्य—आख्यातम् उपसृज्य अर्थविशेष इमं तस्य इवो सूर्नव्नि इत्युपसर्गा। तथा पुण्यराज टीका (वाक्यपदीय) कारिका १९

ऋग्वेद प्रातिशाख्य १२।५

५ अष्टाध्यायी १।४।५९

६ आ Used (as a prefix to verbs and nouns) (a) it expresses the senses of near near to towards from all sides all around (b) with verbs of motion taking carrying it shows the reverse of action as गम् to go' आ गम् to come' दा to give' आ दा to take' नी to carry' आ नी to bring' (V S Apte *Skt Eng Dictionary* Vol 1)

मस व्यक्त होता है।[१] दार्शनिक क्षेत्र में आन्तरिक प्रेरणा से बल ग्रहण करके परमतत्व की ओर अग्रसर होना इससे द्योतित होता है। वेदान्त के आलम्बन आयतन आश्रय जैसे पारिभाषिक शब्दों में आ उपसर्ग से यही भाव व्यक्त होता है। धार्मिक अनुष्ठानों तथा प्रक्रियाओं में मीमांसा दर्शन की अपेक्षा अधिक सम्बद्ध रहा। इस क्षेत्र के पारिभाषिक शब्द अर्थापत्ति (पंचम प्रमाण) में भी अर्थ की ओर (आ) गति (पद) हो स्पष्ट है। सांख्य में उपादान (=उप+आ+दान) पारिभाषिक शब्द है जिसका शब्दार्थ प्राप्ति या पकड़ना है। दार्शनिक अर्थ होता है बहिर्गत इन्द्रियों को आत्मोन्मुख करना। योग के प्रत्याहार (प्रति+आ+हार) का भी यही भाव है। इसमें भी आ उपसर्ग अन्तर्मुख गति का द्योतक है।[१] आश्रम का अर्थ भी विश्राम की ओर आना ही है। इस प्रकार आ उपसर्ग (उद्देश्य) की ओर आध्यात्मिक या आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर अग्रगति की ओर संकेत करता है। आ-जीवन जैसे शब्दों से समग्रता या पूर्णता का भाव भी प्रकट होता है। यह एक अर्थगर्भित उपसर्ग है जिसमें विस्तार और विकास के बीज अन्तर्निहित हैं।—ण्यत् प्रत्यय संबंध सूचक है।

चर—भी विभिन्न अर्थों में युक्त है। चलना इस धातु का मूल अर्थ है। कुछ विद्वानों ने चर—तथा कृ का मूलगत साम्य भी माना है।[३] इसलिए जहाँ चलना प्रसारित होना व्यवहार करना जैसे अर्थ इस धातु से संबद्ध रहे वहाँ किसी निश्चित आचार क्रम या सिद्धान्त का पालन या सम्पादन करने का अर्थ भी इसमें व्याप्त रहा।[४] किसी विशेष कार्य में व्यस्त रहना भी इसी भाव का समर्थन करता है।[६] धार्मिक क्षेत्र में इस अर्थ के साथ एक वशिष्ट्य आया यज्ञानुष्ठान में व्यस्त। इसका प्रेरणार्थक रूप चारयति होता है चलने के लिए प्रेरित करना भेजना पथ प्रदर्शन करना आदि। इस धातु के अर्थों की इस सूची से स्पष्ट होता है कि इसमें भी अर्थ विकास

१ Betty Heimann पृ ७

२ आवृत्तचक्षु (जिनकी आँखें पीछे की ओर मुड़ गई हैं) का उप० ४।१

३ As to the etymology it seems that the root K*et—derived in Indo Iranian consequent on the second palatalisation to produce two roots on the one hand intransitive √चर to move to go and on the other a transitive √कृ to do make (T Burrow *The Sanskrit Language* London p 324)

४ To move one s self go walk move stir roam about wander to spread ■ diffused (as fire) to move or travel through pervade go along follow to behave conduct one s self act live treat (Sir Monier Williams *Skt Eng Dictionary*)

५ to practise perform observe (Apte *Skt Eng Dictionary*)

६ To be engaged be busy with (वही)

७ ऋग्वेद १।१०१।९ यथा १।११२।१ आदि

८ (1) To cause to move or go (2) to send direct move (3) to

की सम्भावनाएं थीं। प्रेरणायक रूप में विशेष रूप में 'अध्यापक' वाले अर्थ के बीज निहित हैं। एक ओर इसका विकास यदि बौद्धिक उपलब्धियों या कार्य-सम्पादन में दीखता है तो दूसरी ओर आनुष्ठानिक धर्माचार से। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'चार्य' शब्द भी मिलता है।[1] 'आ' उपसर्ग से युक्त होकर यही 'आचार्य' हो गया। इससे 'आचार' तथा 'आचरण' जैसे शब्द भी उत्पन्न होते हैं।

धर्म के क्षेत्र में आचार का एक विशिष्ट स्थान हो गया। शास्त्र विहित वैध जीवन-क्रम आचार है। यही आचार प्रथम धर्म है। उस धर्म में संलग्न या उसका पालक आचार्य है।[2] 'आ' उपसर्ग ने गति को अभिमुख कर दिया। आचार धर्म के विधिवत् पालन में अर्थोपलब्धि सम्भव है। जो इस अर्थ की उपलब्धि के लिए अनुष्ठान करता है वही आचार्य है।[3] धर्मशास्त्र ने आचार के अनुसरण से अभीप्सित फल प्राप्ति का विधान किया। सन्तान,[4] अक्षय धन,[5] आयु[6] प्राप्त होते हैं और बुरे लक्षण आचार-मार्ग में नष्ट हो जाते हैं।[7] इस धर्मशास्त्रीय निष्ठा से आचार और आचार्य की प्रतिष्ठा बढ़ी और लोकप्रियता की सम्भावना हुई। इस प्रकार के आचार को कराने वाला भी धीरे-धीरे आचार्य बना। इसका बीज इसके प्रेरणायक रूप में था। धर्म के क्षेत्र में आचार्य का अर्थ हुआ शास्त्रविहित शास्त्रानुमोदित धर्माचार का पालन करने और कराने वाला तथा अर्थ की प्राप्ति के लिए उचित अनुष्ठान कार्य में संलग्न या उसको कराने वाला। धर्मानुष्ठान कराने के उपलक्ष्य में आचार्य को प्रभूत दक्षिणा का उल्लेख ऐतरेय के कुछ उद्धरणों में स्पष्ट मिलता है।[8] इसमें पालन करना अथवा सम्पादन कराना अर्थ ही व्याप्त है।

आचार्य का तात्पर्य होता है वह जिसका अग्र गमन हो अथवा सर्वत्र गमन हो। बौद्धिक क्षेत्र में आचार्य का अर्थ होता है वह जिसके लिए समस्त बौद्धिक क्षेत्र गम्य हो। रहस्यमय ज्ञान स्तरों का स्पर्श करने की शक्ति भी आचार्य में होती है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समग्र स्पर्श दृष्टि से परे के पथ पर अग्रसर होने वाले आचार्य या बुद्धिमान् होते हैं।[9] इस प्रकार आचरण की अपेक्षा यहां ज्ञान क्षेत्र के ज्ञान

---

drive away (4) to cause to perform or practise (5) to cause to copulate (Apte *Skt Eng Dictionary*)

1 William Dwight Whitney *Roots verbs forms and primary derivatives of the Skt Language* (American Oriental Society 1945)

2 आचार प्रथमो धर्म — तस्मादस्मिन् सदा युक्त (मत्रमुक्तिकोपनिषद्, ४।१)
आचार्या एव अत्र। (भगवद्गीतोपनिषद् १६।४०)

3 आचाराल्लभते प्रजा (लभते) (मत्रमुक्तिकोपनिषद् ४।२)

4 आचाराद्धनमक्षय्य (लभत) (वही)

5 आचाराल्लभते ह्यायु (वही)

6 आचारो हन्त्यलक्षणम् (वही)

7 आचार्य गजश्चमे ... स्वाम्येष्ट्या ... इति ... महाभिषेको (३४।६।३)
आचार्याय ... शत ... मुख्यं हिरण्य ... चतुष्पाद अपरिमितम् (३४।६।२)

8 ... (ऐत ब्रा १।६।)

अनजान पथ पर यात्रा करने का भाव मुख्य है। उपनिषदों के अनुसार आचार्यवान पुरुष ही जानता है[1] अर्थात वह सर्वोच्च गुह्य प्रकट ज्ञान का अधिष्ठान है। शास्त्र के गहन अर्थों का संग्राहक निर्वाहक और तदनुसार आचरण करने वाला ही आचार्य है।[2] कुछ ग्रंथ संकोच भी ज्ञान के क्षेत्र में हुआ। वर्गिक मंत्रों की मं रहस्य व्याख्या करने वाला ही आचार्य है।[3] एक दिशा का उद्घाटन हुआ जो किसी विशेष सिद्धान्त का स्थापक हो वही आचार्य है।[4] इस प्रकार शास्त्रगत ग्रंथों का संग्राहक उनका व्याख्याता अथवा किसी विशिष्ट शास्त्रीय सिद्धान्त का उन्नायक पोषक अथवा स्थापक आचार्य कहा जाता है।

स्पष्ट ज्ञानोपलब्धि के पश्चात उसका सामाजिक पक्ष सामने आता है। ज्ञान का आदान प्रदान आचार्य का एक अनिवार्य सामाजिक दायित्व हो जाता है। यह पक्ष इतना प्रबल हुआ कि आचार्य अध्यापक के पर्याय में ही परिगणित होने लगा। जिसको शास्त्र का साग सम्पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान हो वही अध्यापक हो सकता है।[5] इस शास्त्र और उसके अर्थ तथा उसकी उपलब्धि के माध्यम के रूप में आचार्य प्रतिष्ठित हो गया। आचार्य के माध्यम से ही अभीष्ट विद्या की प्राप्ति होती है (एतन्त) वह (विद्यार्थी के द्वारा) गम्य है। विद्यार्थी को आचार्य के पास जाकर उसका सामीप्य लाभ करके यथाविधि वेदाध्ययन करके ही जीवन में प्रविष्ट होना चाहिए।[6] जो ब्राह्मण अपने सामीप्य से शिष्य को वेद का साग सरहस्य अध्यापन कराता है वही आचार्य है।[7] इस प्रकार विद्यार्थी को आचार्य के पास जाना चाहिए। आचार्य के पास जाकर ही अभ्युदय के लिए आवश्यक विद्या की प्राप्ति होती है। अतः आचार्य अभ्युदय प्राप्त कराने वाला भी है।[8] आचार्य विद्यार्थी को अनुशासित करता है।[11] आचार्य देव है।[12] आचार्य के लिए कुछ गुण और आदर्शों

१ आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य छान्दो ६।१४।
२ आचिनोति हि शास्त्रार्थान् आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते॥ (न्यायनिरु ४)
३ मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य। (अमरकोश [illegible] श्लोक ७)
४ One who propounds a particular doctrine (Apte *Practical Skt English Dictionary*)
५ [illegible] गुरु।
आचार्य शिक्षक [illegible]॥
(शास्त्री [illegible] पृ० १६६ [illegible])
६ आचार्य [illegible] साधयति॥ छान्दो ४।
७ [illegible] ३।१।
८ [illegible] छान्दो ८।१५।
९ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते। (मनु २।१४०) तथा [illegible] (निरुक्त अध्याय १ श्लो ४)
१० [illegible] छान्दो ४।६।१
११ [illegible]॥ [illegible] १।१।११
१२ आचार्यदेवो भव। (तैत्ति०)

का भी विधान किया गया। आचार्य को वेदविद्, विष्णुभक्त तथा गतमत्सर होना चाहिए।[1] चरक ने आचार्य के गुणों पर प्रकाश डाला है। इन गुणों के आधार पर आचार्य का परीक्षण किया जा सकता है : स्पष्ट ज्ञान, उदारता तथा शिष्य-वत्सलता, अपने कार्य के लिए अपेक्षित उपकरणों से सम्पन्न तथा अपने कार्य में सिद्धि और लाघव से युक्त, ज्ञान-दान में सक्षम, मन में निर्दम्भ और निरभिमान और अक्रोध, दूसरों के स्वभाव और दूसरों के अपने प्रति दृष्टिकोण से सुविज्ञ, शास्त्र के शब्द और अर्थ से पूर्ण अवगत : इन गुणों से युक्त ही आचार्य होता है। इस गुण-गणन में आचार्य की प्रकृति, उसकी नम्रता, विद्यार्थियों के प्रति स्नेहक व्यवहार और शास्त्र के प्रति उसकी गति-मति पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। आचार्य शिष्य की समस्त [illegible] से सुपरिचित ही नहीं होता, वह उनका शमन भी करता है।[3] आचार्य और शिष्य में अभेद[4] बताकर इनके सम्बन्ध की घनिष्ठता को स्पष्ट किया है। एक स्थान पर इस घनिष्ठ सम्बन्ध का बाधक और विच्छेदक धन माना गया है : आचार्य को धन देकर उसके साथ अपने सम्बन्ध का विच्छेद मत करो।[5] विशिष्ट या संकुचित अर्थ में धार्मिक अध्यापक जो यज्ञोपवीत देकर वेदाध्ययन में दीक्षित करे, वही आचार्य है।[6] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य शब्द एक विस्तृत क्षेत्र में तथा विशिष्ट एवं सामान्य अर्थों में युक्त होकर प्रयुक्त होता रहा। आध्यात्मिक चिन्तन, सदाचार एवं अनुष्ठान—आचार के अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ यह शब्द अन्ततः अध्यापकवाची बन गया—यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र से भी इसका गहरा सम्बन्ध रहा। लोक और परलोक का शास्त्रज्ञानी वही तो आचार्य था। इन्हीं कारणों से आचार्य को महत्त्व मिला। विद्या के लिए आचार्य के समीप जाना चाहिए (आचार्य)। आचार्य ज्ञान-दान में समर्थ-सक्षम होना चाहिए (उप-दानक) तथा अपने विषय का परिपूर्ण ज्ञाता होना चाहिए (उप अधि आय)। इस प्रकार बौद्धिक व्यापार के संग्राहक, संचालक, संपोषक और आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में आचार्य की प्रतिष्ठा हुई।

शास्त्र और आचार्य

भारतीय मस्तिष्क और चिन्तन की एक मूल विशेषता है : रहस्यात्मकता। भारत की जलवायु और प्राकृतिक ऋतुचक्र की त्वरित परिवर्तनशीलता ने उसकी

1 आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।

2 पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्यमनहंकृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेत्येवंगुणो ह्याचार्यः। चरक-विमानस्थान ८ से उद्धृत।

3 आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता। (छान्दोग्य ४।१४।१)

4 आचार्य ह वै वदन्ति। (दश ७।२५।२)

5 आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः॥ (तैत्ति० १।११।१)

6 Apte *Practical Sanskrit English Dictionary*

मानसिक प्रक्रिया को गत्यात्मक बना दिया है। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों में यह गत्यात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। ज्ञान विज्ञान की अनेक दिशाएँ हैं दर्शन व्याकरण छन्द काव्य आदि। वेद विद्या के व्याख्यान बोध से सबंधित छः वेदांगों[1] की अभिसृष्टि चिंतन की गत्यात्मकता का प्रतीक है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये छः पृथक ग्रंथ नहीं हैं ये तो विषय हैं जो वैदिक अध्ययन के अभिन्न अंग थे। इनका ज्ञान वेद के भिन्न रूपों के पूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक था।[2] ये वेदांग १० [illegible] ६०० ई० पू० के बीच स्थित थे।[3] इनमें छन्दशास्त्र शिक्षा (ध्वनिशास्त्र) व्याकरण निघण्टु—के विषय थे जिनका व्यक्त अव्यक्त रूप से काव्य और काव्यशास्त्र से सम्बन्ध है। ये सभी अपने आप में शास्त्र हैं। आचार्य को वस्तुज्ञान में ही सम्पन्न नहीं होना चाहिए उन्हें इन सभी शास्त्रों का ज्ञाता होना भी अनिवार्य है। यह शास्त्र परम्परा गतिशील रही। प्रत्येक दिशा में पूर्ण व्यवस्थित तथा सुनिश्चित वैज्ञानिक नियमों का अभिसृष्टि और प्रतिष्ठा होती रही है। कभी बुद्धिवादी जिज्ञासुओं की परितृप्ति अथवा किसी विशिष्ट प्रवृत्ति या सिद्धान्त के पोषण या समर्थन के लिए उन नियमों का समय समय पर विस्तृत व्याख्यान अन्वाख्यान अथवा प्रत्याख्यान भी होता रहा। इस प्रकार बौद्धिक शास्त्रीय प्रक्रिया के फलस्वरूप चिन्तन गतिमान रहा चिन्तन की नवीन दिशाओं और दृष्टियों का उद्घाटन हुआ वैज्ञानिक अनुसंधान में एक सजीव स्वस्थ नैरन्तर्य बना रहा। सिद्धान्तों की स्पष्टता और सुबोधता के लिए उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों की खोज और व्यवस्था भी शास्त्र का एक अंग बन गया। फलतः बौद्धिक साधना के साथ प्रतिभा उद्भावनाओं का योग हुआ कभी उदाहरण खोज गए कभी उनका सृजन किया गया। बुद्धि और प्रतिभा के इस योग ने शास्त्र को लोक और जीवन से सम्बद्ध कर दिया। इस जटिल शास्त्रीय ऊहापोह में मौलिक योगदान करने वाला (उद्भावक) उनका व्याख्यान विस्तार करने वाला (व्याख्याता) उनमें [illegible] और उनको मार्गदान करने वाला—ये सभी आचार्य के कर्म-क्षेत्र में आ गए। इन समस्त रूपों का परम्परा पर संक्षेप में विचार कर लेना समीचीन होगा।

ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में शास्त्रों का प्रणयन हुआ। शास्त्र का अर्थ और उसका दायित्व [illegible] विचारणीय है। इस [illegible] का सम्बन्ध शास् धातु से है। निर्देश ग्रंथ ही

1 छः वेदांगों का [illegible] (Maxmuller *Hist of Ancient Skt Lit* London 1860 p 112 113) [illegible] (Winternitz *Hist of Indian Lit* Vol I p 26" Calcutta 19 6) [illegible] (गौतम ध [illegible] १९८) [illegible] धर्मसूत्र [illegible] वेदांग का उल्लेख हुआ है [illegible] वेदांगों में [illegible] है।

2 [illegible] पृ [illegible] हिन्दी [illegible]

3 [illegible]

[illegible]

शास्त्र हैं।[१] जो ग्रंथ किसी विशिष्ट जीवन गति के सम्बन्ध में शासना दें, वे ही शास्त्र हैं।[२] जिस विषय से उस शास्त्र का सम्बन्ध होता है वह शास्त्र के साथ बहुधा संयुक्त हो जाता है।[३] आचार्य दंडी ने शास्त्र का (सम्भवत उनका तात्पर्य काव्य शास्त्र से ही है) महत्त्व बड़ी दृढ़ता से प्रतिपादित किया है। शास्त्र से अनभिज्ञ गुण दोष विवेक से शून्य ही रहता है। ज्ञान के विविध क्षेत्रों में शास्त्र की रचना हुई है। शास्त्र का उद्देश्य विभिन्न क्षेत्र के विद्यार्थियों या जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति ही है।[४] ज्ञान के आदान प्रदान के माध्यम आचार्य का जो महत्त्व था वही शास्त्र ग्रंथों को प्राप्त हुआ। शास्त्र की प्रभुता धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में अक्षय मानी गई। शास्त्र के प्रति विश्वास आस्तिकता का ही एक भाग बन गया।

शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य का रूप उद्भावक का ही नहीं था उसका व्याख्यान भी शास्त्र के अन्तर्गत ही आता है। उदाहरण के लिए पाणिनि व्याकरण के क्षेत्र का उद्भावक आचार्य कहा जा सकता है। पर वार्तिककार कात्यायन या महाभाष्यकार पतञ्जलि को भी आचार्य की कोटि में ही रखा जाता है। कात्यायन ने शास्त्र की ही रचना की। महाभाष्यकार ने वार्तिकों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि सिद्ध शब्दार्थ में सिद्ध शब्द शुभ है। प्राय इस शब्द से शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। इसमें शास्त्रों की सफलता निश्चित सी हो जाती है।[५] पतंजलि ने इस शास्त्र की रचना का कारण भी लिखा है। कात्यायन के समय से पूर्व उपनयनोपरान्त ब्राह्मण को सर्वप्रथम व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। तत्पश्चात् वेदाध्ययन प्रारम्भ होता था। कात्यायन और पतञ्जलि के समय में क्रम उलटा पहले वेद ही पढ़ाया जाता था और व्याकरण के प्रति उदासीनता बढ़ती जाने लगी थी। विद्यार्थियों का तर्क यह था बल्कि शब्द हम वेद से और लौकिक शब्द प्रयोग व्यवहार से सीख लेते हैं। अत व्याकरण का अध्ययन व्यर्थ है। कात्यायन ने एक विशिष्ट और विकसित शास्त्र के प्रति यह उदासीनतामय भ्रान्ति देखी और उन्होंने (आचार्य कात्यायन ने) शास्त्र का सृजन किया इसमें व्याकरण के महत्त्व का विशेष रूप से प्रतिपादन किया[६] व्याकरण

१ निदेशग्रन्थः शास्त्रम्। अमरकोश

२ शिष्यते शास्यते अनेन शासनम् शास्त्रम्। नामलिंगानुशासनम् पूना १९४१ पृ० २१३

३ The word शास्त्र is often found + ifc after the word denoting the subject of the book or is applied collectively to the whole department of knowledge : काव्यशास्त्र a poetical work or poetry in general (*Skt Eng Dictionary*, Sir Monier Williams)

४ गुणदोषावशास्त्रज्ञ कथं विभजते नरः। किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु। अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः। वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥ (दण्डी)

५ R G Bhandarkar *Collected Works* Vol I (Poona) 1933 Page 138

६ नागोजी भट्ट ने यहाँ 'शास्त्र' का अर्थ व्याकरण का प्रयोग को व्याख्या दी जाती है। पर शास्त्र का इस प्रकार का अवमूल्यन यहाँ उचित नहीं लगता। पतंजलि ने इस शब्द का प्रयोग यहाँ व्याकरण शास्त्र के लिए ही किया है। (वही)

मानसिक प्रक्रिया को गत्यात्मक बना दिया है। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों में यह गत्यात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। ज्ञान विज्ञान की शाखाएँ [illegible] जाती हैं इनमें व्याकरण छन्द काव्य आदि। वेद विद्या के अध्ययन में योग देने वाले 'वेदांगों'[1] की अभिसृष्टि चिंतन की गत्यात्मकता की प्रतीक है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये छः पृथक ग्रंथ नहीं हैं, ये तो विषय हैं जो वैदिक अध्ययन के अभिन्न अंग थे। इनका ज्ञान वेद के भिन्न रूपों के पूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक था। ये लगभग १००० ई० पू० से ६०० ई० पू० के बीच स्थित थे।[2] ध्वनिशास्त्र शिक्षा (फोनेटिक्स) व्याकरण निरुक्त— ये विषय थे जिनका व्यक्त अव्यक्त रूप से काव्य और काव्यशास्त्र से सम्बन्ध है। ये सभी अपने आप में शास्त्र हैं। आचार्य को यदि कलाकार से ही सम्बन्ध रखना चाहिए तो उसे इन सभी शास्त्रों का ज्ञाता होना भी अनिवार्य है। यह शास्त्र परम्परा गतिशील रही। प्रत्येक विद्या में पूर्ण व्यवस्थित तथा सुनिश्चित कलात्मक नियमों की अभिसृष्टि और प्रतिष्ठा होती रही है। कभी बुद्धिवादी जिज्ञासुओं की परितृप्ति अथवा किसी विशिष्ट प्रवृत्ति या सिद्धान्त के पोषण या समर्थन के लिए उन नियमों का समय समय पर विस्तृत व्याख्यान, प्रत्याख्यान अथवा प्रत्याख्यान भी होता रहा। इस प्रकार बौद्धिक शास्त्रीय प्रक्रिया के फलस्वरूप विचार गतिमान रहा, चिन्तन की नवीन दिशाओं और दृष्टियों का उद्घाटन हुआ, कलात्मक अनुसंधान में एक स्वाभाविक स्वरूप निरन्तर बना रहा। सिद्धान्तों की स्पष्टता और सुबोधता के लिए उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों की खोज और व्यवस्था भी शास्त्र का एक अंग बन गया। फलतः बौद्धिक साधना के साथ प्रतिभा सम्भावनाओं का योग हुआ, कभी उदाहरण खोजे गए कभी उनका सृजन किया गया। बुद्धि और प्रतिभा के इस योग ने शास्त्र को गौरव और जीवन से सम्बद्ध कर दिया। इस जटिल शास्त्रीय ऊहापोह में मौलिक आविष्कार करने वाले (उद्भावक), उनका व्याख्यान विस्तार करने वाले (व्याख्याता), उनके विरोधी और उनका सांगोपांग दान करने वाले—ये सभी आचार्य के कर्मक्षेत्र में आ गए। इन समस्त रूपों की परम्परा पर संक्षेप में विचार कर लेना समीचीन होगा।

ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में शास्त्रों का प्रणयन हुआ। शास्त्र का अर्थ और उसका दायित्व अनन्त विशाल है। इस शब्द का सम्बन्ध शास् धातु से है। जिसका अर्थ ही

1 छः वेदांगों का सर्वप्रथम उल्लेख षड्विंश ब्राह्मण (५ारे७ ग मर्ग म) में हुआ है (Maxmuller *Hist of Ancient Skt Lit* London 1860 p 112 113) मुण्डकोपनिषद् में भी वेदांगों की चर्चा है (Winternitz *Hist of Indian Lit* Vol I p 26? Calcutta 1976) ब्राह्मण के लिए वेदांग अध्ययन आवश्यक बताया गया है। (गौतम धर्मसूत्र ८।८) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में दो बार वेदांगों का उल्लेख हुआ है (२।४ ।२८ २१ तथा ४। १?)। प्रारम्भिक भारतीय बौद्धिक जीवन की गतिविधि वेदांगों में प्रतिबिंबित है।

2 मैक्समूलर हिस्ट्री आव एन्शेंट संस्कृत लिटरेचर पृ [illegible] ; विन्टरनित्ज हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर जिल्द १ पृ ६८

3 निर्मेश्वर वर्मा [illegible] शास्त्रीय [illegible] आलोचना में [illegible] हिन्दुस्तानी एकेडेमी १९२९ पृ २४

शास्त्र हैं।[१] जो ग्रंथ किसी विशिष्ट जीवन-गति के सम्बन्ध में आज्ञा दें, वे ही शास्त्र हैं।[२] जिस विषय से उस शास्त्र का सम्बन्ध होता है वह 'शास्त्र' के साथ बहुधा संयुक्त हो जाता है।[३] आचार्य दण्डी ने शास्त्र का (सम्भवतः उनका तात्पर्य काव्य शास्त्र से ही है) महत्त्व बड़ी दृढ़ता से प्रतिपादित किया है। शास्त्र से अनभिज्ञ गुण-दोष विवेक से शून्य हो रहता है। ज्ञान के विविध क्षेत्रों में शास्त्र की रचना हुई है। शास्त्र का उद्देश्य विभिन्न क्षेत्र के विद्यार्थियों या जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति ही है।[४] ज्ञान के आदान प्रदान के माध्यम आचार्य का जो महत्त्व था वही शास्त्र ग्रंथों को प्राप्त हुआ। शास्त्र की अनुज्ञा धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में अवश्य मानी गई। शास्त्र के प्रति विश्वास आस्तिकता का ही एक अंग बन गया।

शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य का रूप उद्भावक का ही नहीं था उसका व्याख्यान भी शास्त्र के अन्तर्गत ही आता है। उदाहरण के लिए पाणिनि व्याकरण के क्षेत्र का उद्भावक आचार्य कहा जा सकता है। पर वार्तिककार कात्यायन या महाभाष्यकार पतञ्जलि को भी आचार्य की कोटि में ही रखा जाता है। कात्यायन ने शास्त्र की ही रचना की। महाभाष्यकार ने वार्तिकों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि सिद्ध शब्दार्थ में सिद्ध शब्द शुभ है। प्रायः इस शब्द से शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। इससे शास्त्रों की सफलता निश्चितसी हो जाती है।[५] पतञ्जलि ने इस शास्त्र की रचना का कारण भी लिखा है। कात्यायन के समय में पूर्व उपनयनोपरान्त ब्राह्मण को सर्वप्रथम व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। तत्पश्चात् वेदाध्ययन प्रारम्भ होता था। कात्यायन और पतञ्जलि के समय में क्रम उलटा, पहले वेद ही पढ़ाया जाता था और व्याकरण के प्रति उदासीनता बढ़ती जाने लगी थी। विद्यार्थियों का तर्क यह था कि वैदिक शब्द हम वेद से और लौकिक शब्द प्रयोग व्यवहार में सीख लेते हैं। अतः व्याकरण का अध्ययन व्यर्थ है। कात्यायन ने एक विशिष्ट और विकसित शास्त्र के प्रति यह उदासीनतामय भ्रान्ति देखी और उन्होंने (आचार्य कात्यायन ने) शास्त्र का सृजन किया इसमें व्याकरण के महत्त्व का विशेष रूप से प्रतिपादन किया।[६] व्याकरण

१ निदेशग्रन्थयोः शास्त्रं। अमरकोश

२ शिष्टि शासनं शास्यतेऽनेन शास्त्रम्। नामलिङ्गानुशासन् पृष्ठ १६४। प० २१३

३ The word शास्त्र is often found +isc after the word denoting the subject of the book or is applied collectively to the whole department of knowledge काव्यशास्त्र a poetical work or poetry in general (*Skt Eng Dictionary*, Sir Monier Williams)

४ गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः। किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु। अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः। वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।। (दण्डी)

५ R G Bhandarkar *Collected Works* Vol I (Poona) 1933 Page 138

६ नागोजी भट्ट ने यहाँ 'शास्त्र' का अर्थ व्याकरण के उपयोग की व्याख्या ही माना है। पर 'शास्त्र' का इस प्रकार का अर्थ यहाँ उचित नहीं लगता। पतञ्जलि ने इस शब्द का प्रयोग यहाँ व्याकरण शास्त्र के लिए ही किया है। (वही)

मानसिक प्रक्रिया को गत्यात्मक बना दिया है। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में यह गत्यात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। ज्ञान विज्ञान की शाखाएँ शिक्षा हैं, न्याय, व्याकरण, छन्द, काव्य आदि। वेद विद्या के व्याख्यान बोध से सम्बन्धित इन वेदांगों[1] का अभिसृष्टि चिन्तन की गत्यात्मकता की प्रतीक है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये पृथक् ग्रंथ नहीं हैं ये तो विषय हैं जो वैदिक अध्ययन के अभिन्न अंग थे। इनका ज्ञान वेद के भिन्न रूपों के पूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक था।[2] ये वेदांग १००० ६०० ई० पू० के बीच स्थित थे।[3] इनमें छन्दशास्त्र, शिक्षा (ध्वनिशास्त्र) व्याकरण निरुक्त— के विषय थे जिनका व्यक्त परवर्ती रूप से काव्य और काव्य शास्त्र से सम्बद्ध है। ये सभी अपने आप में शास्त्र हैं। आचार्य को केवल वेदों में ही सम्पन्न नहीं होना चाहिए उसे इन सभी शास्त्रों का ज्ञाता होना भी अनिवार्य है। यह शास्त्र परम्परा गतिशील रही। प्रत्येक शिक्षा में पूर्ण व्यवस्थित तथा सुनिश्चित कतिपय नियमों की अभिसृष्टि और प्रतिष्ठा होती रही है। कभी बुद्धिवादी जिज्ञासुओं की परितृप्ति अथवा किसी विशिष्ट प्रवृत्ति या सिद्धान्त के पोषण या समर्थन के लिए उन नियमों का समय-समय पर विस्तृत व्याख्यान प्रत्याख्यान अथवा पुनर्व्याख्यान भी होता रहा। इस प्रकार बौद्धिक शास्त्रीय प्रक्रिया के फलस्वरूप विचार गतिमान रहा चिन्तन की नवीन दिशाओं और दृष्टियों का उद्घाटन हुआ कदाचित अनुसंधान में एक सजीव स्वरूप निरन्तर बना रहा। सिद्धान्तों की स्पष्टता और सुबोधता के लिए उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों की खोज और व्यवस्था भी शास्त्र का एक अंग बन गया। फलतः बौद्धिक साधना के साथ प्रतिभा उद्भावनाओं का योग हुआ कभी उदाहरण खोजे गए कभी उनका सृजन किया गया। बुद्धि और प्रतिभा के इस योग ने शास्त्र को लोक और जीवन से सम्बद्ध कर लिया। इस प्रकार शास्त्रीय ऊहापोह में मौलिक योगदान करने वाला (उद्भावक) उनका व्याख्यान विस्तार करने वाला (व्याख्याता) उसके विरोध और उसको सांगोपांग दान करने वाला—ये सभी आचार्य के कर्म-क्षेत्र में आ गए। इन समस्त रूपों की परम्परा पर संक्षेप में विचार कर लेना समीचीन होगा।

ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में शास्त्रों का प्रणयन हुआ। शास्त्र का अर्थ और उसका दायित्व कल्पित किया है। इस शब्द का सम्बन्ध शास् धातु से है। जिसका अर्थ ही

[1] इन वेदांगों का सर्वप्रथम उल्लेख षड्विंश ब्राह्मण (सामवेद से संबंधित) में हुआ है (Maxmuller *Hist of Ancient Skt Lit* London 1860 p 112 113) मुण्डकोपनिषद् में भी वेदांगों की चर्चा है (Winternitz *Hist of Indian Lit* Vol I p 269 Calcutta 1926) ज्ञान के लिए वेदांग अध्ययन आवश्यक बताया गया है। (बौधायन धर्मसूत्र ११।१६) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में छः बार वेदांगों का उल्लेख हुआ है (२।४ ।२८ २१ तथा ४। १९)। आरम्भिक भारतीय बौद्धिक जीवन की सन्निधि वेदांगों में प्रतिबिंबित है।

[2] मैक्समूलर हिस्ट्री आव ऐंशेंट संस्कृत लिटरेचर पृ १ ६ विंटरनित्ज हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर जि १ पृ २६८

[3] सिद्धेश्वर वर्मा क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनेटिक आब्जरवेशन्स आव इण्डियन ग्रैमेरियन्स १९२९ पृ २४

शास्त्र हैं।[१] जो ग्रंथ किसी विशिष्ट जीवन पद्धति के सम्बन्ध में आज्ञा दें, वे ही शास्त्र हैं।[२] जिस विषय से उस शास्त्र का सम्बन्ध होता है वह शास्त्र के साथ बहुधा संयुक्त हो जाता है।[३] आचार्य दंडी ने शास्त्र का (सम्भवतः उनका तात्पर्य काव्य शास्त्र से ही है) महत्त्व बड़ी दृढ़ता से प्रतिपादित किया है। शास्त्र से अनभिज्ञ गुण-दोष विवेक से शून्य ही रहता है। ज्ञान के विविध क्षेत्रों में शास्त्र की रचना हुई है। शास्त्र का उद्देश्य विभिन्न क्षेत्र के विद्यार्थियों या जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति ही है।[४] ज्ञान के आदान प्रदान के माध्यम आचार्य का जो महत्त्व था वही शास्त्र ग्रंथों को प्राप्त हुआ। शास्त्र की अनुज्ञा धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में अलंघ्य मानी गई। शास्त्र के प्रति विश्वास आस्तिकता का ही एक अंग बन गया।

शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य का रूप उद्भावक का ही नहीं था उसका व्याख्यान भी शास्त्र के अंतर्गत ही आता है। उदाहरण के लिए पाणिनि व्याकरण के क्षेत्र के उद्भावक आचार्य कहे जा सकते हैं। पर वार्तिककार कात्यायन या महाभाष्यकार पतंजलि को भी आचार्य की कोटि में ही रखा जाता है। कात्यायन ने शास्त्र की ही रचना की। महाभाष्यकार ने वार्तिकों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि सिद्ध शब्द्य में सिद्ध शब्द शुभ है। प्रायः इस शब्द से शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। इससे शास्त्रों की सफलता निश्चित-सी हो जाती है।[५] पतंजलि ने इस शास्त्र की रचना का कारण भी लिखा है। कात्यायन के समय में पूर्व उपनयनोपरांत ब्राह्मण को सर्वप्रथम व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। तत्पश्चात् वेदाध्ययन प्रारम्भ होता था। कात्यायन और पतंजलि के समय में क्रम उलटा पहले वेद ही पढ़ाया जाता था और व्याकरण के प्रति उदासीनता बढ़ती जाने लगी थी। विद्यार्थियों का तर्क यह था वैदिक शब्द हम वेद से और लौकिक शब्द प्रयोग व्यवहार से सीख लेते हैं। अतः व्याकरण का अध्ययन व्यर्थ है। कात्यायन ने एक विशिष्ट और विकसित शास्त्र के प्रति यह उदासीनतामय भ्रान्ति देखी और उन्होंने (आचार्य कात्यायन ने) शास्त्र का सृजन किया इसमें व्याकरण के महत्त्व का विशेष रूप से प्रतिपादन किया[६] व्याकरण

१ निदेशग्रन्थयोः शास्त्रं। अमरकोश

२ निदेश आज्ञा शासनं शास्यतेऽनेन शास्त्रम्। नामलिंगानुशासन् पूना १९४१ पृ० २१३

३ The word शास्त्र is often found+sfc after the word denoting the subject of the book or is applied collectively to the whole department of knowledge काव्यशास्त्र a poetical work or poetry in general (*Skt Eng Dictionary*, Sir Monier Williams)

४ गुणदोषावशास्त्रज्ञ कथं विभजते नरः। किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु। अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः। वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥ (दण्डी)

५ R G Bhandarkar *Collected Works* Vol I (Poona) 1933 Page 138

६ नागोजी भट्ट ने यहां 'शास्त्र' का अर्थ व्याकरण के उपयोग की व्याख्या ही माना है। पर शास्त्र' का इस प्रकार का अर्थसंकोच यहां उचित नहीं दीखता। पतंजलि ने इस शब्द का प्रयोग यहां व्याकरण शास्त्र के लिए ही किया है। (वही)

के महत्त्व और उपयोग की स्थापना व्याकरण से उपयोगी विचारियों को प्रारम्भ करने के लिए की। शास्त्र के निगूढ़ नियमों को जिज्ञासुओं के हित के लिए सरल सुगम बनाना भी शास्त्र माना गया। भाष्यकारों का मुख्य कार्य पाणिनि नियमों का सम्पादन और सरलीकरण ही था। साथ ही कात्यायन की रचना को प्रत्याख्यान भी दो स्थलों पर पतञ्जलि ने कहा है।[1] प्रत्याख्यान का अर्थ है विशेष सिद्धान्तों के अनुसार कथन करना। प्रत्याख्यान करने वाले का कार्य अभीष्ट सिद्धान्त-सूत्रों का स्पष्टीकरण, परिवर्द्धन अथवा उनका अनुमोदन करना होता है। व्याकरण ग्रंथ में इसको अनुतन्त्र भी कहा गया है। कात्यायन ने ऐसा बहुत कम स्थलों पर किया है कि पाणिनि के सूत्रों के पूरक कथन किए हों। इस प्रकार अध्यापन की सुविधा के लिए पाणिनि के सूत्रों का मात्र विशेषीकरण करने वाला, कहीं कहीं पूरक कथन करके उनको और अधिक स्पष्ट करने वाला कात्यायन भी पतञ्जलि के द्वारा आचार्य नाम से अभिहित किया गया। पूरक कथन भी पाणिनि के सूत्रों की मूल भावना की पहचान कर ही किए गए हैं। कात्यायन की रचना को शास्त्र ने भी स्वीकार किया है।

कात्यायन के ग्रंथों तथा पाणिनि के ग्रंथ का व्याख्यान पतञ्जलि ने किया। पतञ्जलि के महाभाष्य में व्याख्यास्याम का अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है।[2] व्याख्यान के अतिरिक्त प्रत्याख्यान का भी कुछ स्थलों पर प्रयोग मिलता है। पतञ्जलि ने व्याख्यानकर्ता के कार्य का भी स्पष्टीकरण किया है। व्याख्याता का कार्य केवल सूत्रों का पदच्छेद मात्र से विश्लेषण करना नहीं है, वरन् उसका काम उदाहरण प्रत्युदाहरण देना, शब्दों को समझाना और उनका उपयोग करना है।[4] इस प्रकार से पतञ्जलि का कार्य वार्तिक को और अधिक विस्तार के साथ समझाना ही था। उदाहरण और प्रत्युदाहरणों की युक्त योजना, स्पष्टीकरण और विशेषीकरण करना व्याख्याता आचार्य के मूल आधार पतञ्जलि ने स्वीकार किए हैं। साथ ही पूरक नियम देना भी उनका कार्य है (इष्टि)। पूरक नियम भी किसी मौलिक उद्भावना की दृष्टि से नहीं, अभीष्ट सूत्रों के स्पष्ट और निगूढ़ तत्त्वों को प्रकाशित करने की दृष्टि से किए जाते हैं। पतञ्जलि का मुख्य काम कात्यायन का खण्डन करना नहीं था। इस दृष्टि से कात्यायन भी पतञ्जलि के समकक्ष है। उसने लिखा है कि ये पूरक नियम पाणिनि के नियमों का उल्लंघन नहीं करते।[5] इस प्रकार प्रत्याख्यान व्याख्यान शास्त्र के अंग हैं

१ प्रयोजनमन्वाख्यायते। आहोस्वित् सतोऽप्यन्वाख्यानम्॥ I p 22 a (b)

तथा

एवं तर्हि वार्तिकानुपस्थापयति वक्तव्यमिति। नायं वाक्ययत्नविकारो अनवकाश इति। एव एव न्यायाय I [illegible] विकारा अनुवर्तेरन् नानि॥ (III p 58a)

Prof Kielhorn Ind Anti Vol V p ?47 Notes

२ महाभाष्य I p 13a I p 4? I p 49 III 67a आदि स्थलों पर इसका प्रयोग मिलता है।

४ न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धि आत् ऐजिति। किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति। (I p 189) ५ वार्तिक सूत्र ४।३।६

और तत्सम्बन्धी रचना करने वाला भी आचार्य सम्मत होता है। छ वेदांगों में यहां सिद्धान्त काय कर रहा था।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका विश्लेषण इस प्रकार होगा वि+आ+ख्या। इसका तात्पर्य होता है विस्तृत स्पष्टीकरण। आ+ख्या का जो अर्थ है उसका निषेध करने के लिए 'वि' पूर्व प्रत्यय प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रत्युत वह अर्थ के वशिष्ट्य की वृद्धि करता है। आ से यह अर्थ है कि अभीष्ट सिद्धान्त के पास सभी सम्भव मार्गों और दृष्टिकोण से पहुंचना।[1] शास्त्र के इस व्याख्यान नामक अनिवार्य अंग की रचना और उसका विधान करना आचार्य का एक प्रमुख काय है। इसीलिए अमरकोश ने कहा अथ व्याख्याऽध्यापः।[2]

किसी शास्त्र विषय की व्याख्या और उसके विशदीकरण के लिए उपयुक्त उदाहरणों को वय्याकरणों ने काय से भी ग्रहण किया है। पतञ्जलि ने स्वयं का य शली म लिखे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वररुचि रचित का य की ओर पतञ्जलि ने सकेत किया है।[3] वररुचि को कुछ विद्वान् कात्यायन से अभिन्न मानते हैं। अलकृत शली म निबद्ध अनेक पद्यों या पद्यांशों को पातञ्जलि ने उदाहरण प्रत्युदाहरणों के रूप म उपयोग किया है। ये पद्यांश पतञ्जलि रचित भी हो सकते हैं और पतञ्जलि से पूर्ववर्ती किसी अन्य कवि के भी। पर इस सम्बन्ध म निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रयुक्त उदाहरणों की रचना एक सुनिश्चित छन्द विधान के अनुसार हुई है।[4] इस प्रकार उपयुक्त उदाहरणों की खोज अथवा रचना वय्याकरण आचार्यों की परम्परा म आरम्भ से ही मिलती है। स्पष्टीकरण और विशदीकरण के लिए उदाहरणों का सयोजन अनिवाय होता है।

वय्याकरणों की परम्परा म ही यह तत्त्व नहीं मिलता दर्शन के क्षेत्र म भी इसका प्रचलन रहा। जमिनी के पूर्व मीमांसा सूत्र दर्शन के क्षेत्र म वही स्थान रखते हैं जो व्याकरण के क्षेत्र म पाणिनि के सूत्र रखते हैं। पूर्व मीमांसा सूत्रों के स्पष्टीकरण और विशदीकरण के लिए शबर ने लगभग २००० उदाहरण दिए हैं। शबर भाष्य का इस क्षेत्र म वही महत्त्व है जो पतञ्जलि के महाभाष्य का। शबर के द्वारा प्रयुक्त उदाहरणों के तीन मुख्य स्रोत हैं श्रुति स्मृति तथा लोक।[5] अनेक उदाहरण

१ व्याख्या is detailed explanation here the prefix वि does not negate but specifies the meaning of आख्या The approach (आ) is traced in all its possibilities (Betty Heimann *The Significance of Prefixes in Skt Philosophical Terminology* p 66)

२ शब्दादि काण्ड, नाट्यवर्ग, श्लोक ७

३ वररुचि काव्यम्। महाभाष्य ४। ३।१०१

४ रामायण शास्त्री, वाक्य संग्रह भूमिका, पृ० ३

५ Kilhorn ने २५० पद्यांशों के छन्द आदि के विषय में विवरण दिया है (*Indian Antiquity*, Vol XIV p 3 266 Vol XV p 22)) इनके अनुसार आर्या—४० आर्या के शब्द—२ शलि में रचे पद्यांश

६ Citations in *Sabar Bhashya* by Damodar Vishnu Garge

गद्य म हैं। कुछ पद्य या काव्य म भी हैं। स्वय नवर ने उदाहरण देने क अपने काय क विषय म सकेत किया है।[१] कुछ काव्य क उदाहरणो क स्रोत क सम्बन्ध म कुछ पता नही चलता है। हो सकता है इनम से कुछ थवर क स्वरचित उदाहरण ही हो। इस प्रकार दशन क क्षत्र म भी उदाहरणो की सयोजना शास्त्र और भाषायत्व की अनिवाय परम्परा है।

व्याख्यान अन्वाख्यान उदाहरण प्रत्युदाहरण शास्त्र क अभिन्न अग बन गए। प्राचीन साहित्य म स्वाध्याय क विषयो म वेदाध्ययन क साथ इनका स्थान मिलता रहा। इतिहास पुराण आदि एक प्रकार स धम दशन क गूढ विषयो को स्पष्ट करने वाली उदाहरण-परम्परा म ही आते हैं। शतपथ ब्राह्मण न १० विषयों की सूची दी है।[२] इसम ४ वदो क अतिरिक्त छ विषय इस प्रकार हैं अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्य इतिहास पुराण नाराशसी। अनुशासनानि से तात्पर्य विभिन्न क्षत्रो म विकसित शास्त्रो स है। वाकोवाक्य छन्द व्याकरण जस विषयो स सम्बद्ध है। अतिम तीन उदाहरण व्याख्यान परम्परा क विषय हैं। छान्दोग्य १६ विषयो की सूची देता है[३] ४ वद वद बद (व्याकरण) पित्र्य राशि दव वाकोवाक्य एकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूत विद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सपविद्या देवजन विद्या इतिहास तथा पुराण। बृहदा रण्यक की सूची इस प्रकार है[४] ४ वद इतिहास पुराण विद्या उपनिषद सूत्राणि अनुव्याख्यानानि तथा व्याख्यानानि। इस सूची म सूत्रो—सम्भवत धमसूत्रो को जहा स्थान मिला है वहा व्याख्यान तथा अनुव्याख्या को भी स्थान मिला है। बिना इन व्याख्याओ स अवगत हुए सूत्रो का निभ्रम ज्ञान सम्भव नही है। मुण्डकोपनिषद न परा अपरा ज्ञान भेद को आधार दिया और अपरा म ४ वद तथा छ वेदागों को सम्मिलित किया।[५] इस प्रकार इस उपनिषद ने केवल वैदिक साहित्य को लिया और स्पष्टीकरण तथा विशदीकरण करने वाले माध्यमो इतिहास पुराण व्याख्या आदि को छोड दिया। कौटिल्य ने चार विद्याओ का विधान किया[६] आन्वीक्षिकी (इसम साख्य योग तथा लोकायत आते हैं) त्रयी (वद अथववद इतिहास) वार्ता (कृषि पशु पालन वाणिज्य तथा दण्ड नीति)। इतिहास वद क अतगत पुराण इतिवृत्त आख्या उदाहरण धम शास्त्र तथा अथशास्त्र रख गए है। इस प्रकार कौटिल्य ने पुरानी परम्परा क अनुसार शास्त्र और उसक विशदीकरण क माध्यमो आख्या उदाहरण पुराण आदि को विषय सूची म रखा। आख्यायिका वस्तुत किसी शास्त्रीय तत्त्व की व्याख्या म प्रयुक्त कथाए

(Poona 1952) Introduction

१ जैमिनी सूत्र भा। ४।४।२४ ८ आदि

२ शतपथ ११।५।

३ छान्दोग्य ७।१

४ बृहदारण्यक ।४

५ मुण्डकोपनिषद १।१।५

६ Dr H L Hariyappa द्वारा *The Poona Orientalist* Vol XV Nos 1 to 4 में पृ० ४७ पर उद्धृत।

ही हो सकती थी। इतिहास को वेद के साथ इतना आवश्यक समझा गया कि इसे पंचम वेद ही कह दिया गया।[1] कौटिल्य ने इस वेद की छः शाखाएँ गिनाकर उसे छः दर्शनों की परम्परा का निर्वाह किया है। पुराण में प्राचीनता का भाव निहित है। सम्भवतः मौखिक परम्परा से चले आने वाले अनेक आख्यान उपाख्यान वैदिक साहित्य तथा शास्त्रों के स्पष्टीकरण के लिए अप्रस्तुत सामग्री की भाँति अपना लिए गए। ब्राह्मण ग्रंथों और सूत्र-बद्ध शास्त्रों के साथ इस सामग्री का संयोग होता गया। पुराण उदाहरण आदि की परम्परा इतनी बलवती हुई कि महाकाव्य के लिए इसने स्वतंत्र भूमि प्रस्तुत की। ये वेद शिक्षा के माध्यम बने।[2] ये अब उनके विशदीकरण के साधन मात्र नहीं रहे उनके प्रचार के भी माध्यम हो गए। इस माध्यम से ही वेद शिक्षा समाज के सभी वर्गों की सम्पत्ति बन सकी। इस सबका यही सार निकाला जा सकता है कि वेद-शास्त्र के साथ व्याख्यान-उदाहरण-परम्परा अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध रही और इस परम्परा को विविध स्रोतों और कल्पना से समृद्ध और उपयुक्त बनाना भी आचार्य का काम था।

इस परम्परा में काव्यशास्त्र का क्या स्थान है? इसका स्पष्ट और उपयुक्त उत्तर राजशेखर ने काव्यमीमांसा में दिया है। राजशेखर के अनुसार वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है शास्त्र और काव्य। शास्त्र दो प्रकार का हो सकता है—अपौरुषेय तथा पौरुषेय। वेद (४) उपवेद (४) तथा वेदांग (६) अपौरुषेय शास्त्र हैं। राजशेखर के अनुसार काव्य शास्त्र सातवाँ वेदांग है। पौरुषेय शास्त्र में पुराण आन्वीक्षिकी पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा स्मृति १४ या १८ विद्याएँ आती हैं। इस प्रकार छन्दशास्त्र यदि छः वेदांगों में था तो काव्य शास्त्र सातवाँ वेदांग है। यदि वेदांग है तो इसकी उत्पत्ति अपौरुषेय होनी चाहिए। काव्यमीमांसा के आदेश की शिष्य परंपरा इस प्रकार बताई गई। पहले शिव ने इस काव्य विद्या का उपदेश अपने चौंसठ शिष्यों को दिया। प्रथम शिष्य स्वयंभू ब्रह्मा ने अपनी इच्छा से उत्पन्न (अयोनिज) द्वितीय बार अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया। इनमें एक काव्यपुरुष भी था। काव्यपुरुष को यह आदेश मिला कि भूः भुवः तथा स्वः में इसका प्रचार करो। काव्यपुरुष ने समस्त विषय को १८ भागों में विभक्त करके अपने सहस्राक्ष आदि शिष्य स्नातकों को इसका उपदेश दिया। शिष्यों ने १८ भागों में विभक्त विषय का अलग अलग ग्रंथों के द्वारा प्रचार किया।[5] इसी विभाजन को काव्य

१ छान्दोग्य ७।७ सुत्तनिपात ३।७

२ Maxmuller *Hilbert Lectures* p 154

३ महाभारत १।२६७

४ इसके दूसरे अध्याय का नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसी के आधार पर ये सूचनाएँ दी गई हैं।

५ तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः—इति। (काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय शास्त्रसंग्रह)।

अलंकार के पश्चात् साहित्य शब्द मिलता है। साहित्य की उत्पत्ति के बीज भामह के शब्दार्थो सहितौ काव्यम् में मिलते हैं।[1] इसका तात्पर्य है कि शब्दार्थ साहित्य ही काव्य है। आचार्य कुन्तक ने इसको और स्पष्ट करते हुए लिखा — शब्द और अर्थ की शोभाशालिनी स्थितियों का साहित्य ही काव्य है।[2] कुन्तक ने इस साहित्य को अपने काव्य लक्षण में समाविष्ट किया।[3] राजशेखर (नवम शती) ने साहित्य विद्या का निर्देश किया है।[4] रुय्यक (१२वीं शती) ने अपने ग्रंथ का नाम साहित्य मीमांसा तथा विश्वनाथ (१४वीं शती) ने अपने ग्रंथ का नाम साहित्य दर्पण रखा। साहित्य के प्रयोग ने वस्तुतः अलंकार के अन्तर्निहित अर्थ को ही और स्पष्ट किया। शब्द और अर्थ की नियमानुकूल स्थिति पर व्याकरण का शासन आधारित था तथा इनकी सुन्दर मनोहारिणी स्थिति पर अलंकार शास्त्र। साहित्य शब्द में कवि की भाषा के दोनों अंग शब्द और अर्थ दोनों ही ध्वनित हैं पर उस अर्थ में नहीं जिसमें वैयाकरण के भाषा के शब्दार्थ। शब्दार्थ की अलंकृत स्थिति ही यहाँ अभिप्रेत है। साहित्य के अन्तर्गत नाटक भी समाविष्ट है। रुय्यक के साहित्य मीमांसा ग्रंथ में काव्यशास्त्र तथा नाटक दोनों का विवेचन है। भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक में साहित्य शब्द सम्भवतः विस्तृत अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[5] कुछ कोशों में भी साहित्य का यही अर्थ दिया गया है।[6]

पीछे काव्य शास्त्र शब्द इस विद्या के लिए प्रयुक्त होने लगा। शास्त्र की व्युत्पत्ति पर पीछे विचार किया जा चुका है। इसके अर्थ की दो दिशाएँ हैं: शासन करने वाली पुस्तकें ही शास्त्र हैं।[7] दूसरी दिशा है गूढ़ तत्त्व के विवेचन, विश्लेषण और प्रतिपादन की।[8] इनमें से प्रथम अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग भोज (११वीं शती) ने किया।[9] इसके अनुसार विधि निषेधमय अनुशासनग्रंथ ही शास्त्र हैं। विधि निषेध ज्ञान के इन स्रोतों का भोज ने उल्लेख किया है: काव्य शास्त्र, इतिहास, काव्य शास्त्र, काव्येतिहास तथा शास्त्रेतिहास।[1] चाहे काव्यशास्त्र का विधि निषेधमय

१ काव्यालंकार १।१६
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ वक्रोक्तिजीवित १।१७

३ वही १।७

४ पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। काव्यमीमांसा पृ० ४

५ साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ॥

६ शब्दकल्पद्रुम (बंगला शब्दकोश) साहित्य (सहित+य—भावे ष्यञ्) में समग मिलना, शब्दशास्त्र काव्यशास्त्र से के परस्पर एकक्रियान्वयित्व।

७ शासनात् शास्त्रं।

८ शंसनात् शास्त्र

९ यन्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेवकारणं।
तद्ध्येयं विन्दनेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २।१ ॥

१ काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥ वही २।१ ६

अन्य कुछ विद्वानों को मान्य न हो पर काव्य के साथ शास्त्र शब्द के प्रयोग से इस विद्या की प्रतिष्ठा में अवश्य वृद्धि हुई। शास्त्र की गरिमा और शास्त्र सुलभ सूक्ष्म विवेचना इसमें आने लगी। इस प्रकार काव्य और अलंकार के क्षेत्र पर एक सुनिश्चित शास्त्र विकसित हुआ। व्याकरण वेदान्त आदि को शास्त्र के रूप में जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी वही प्रतिष्ठा अलंकार क्षेत्र के मूर्धन्य आचार्यों की वर्णनातीत उपलब्धियों सूक्ष्म विवेचन और तर्कपूर्ण संयोजन के फलस्वरूप अलंकार शास्त्र को भी प्राप्त हुई।[1] अन्य ज्ञान क्षेत्रों में जिस प्रकार शास्त्रीय उद्भावनाओं व्याख्याओं तथा समीक्षाओं की नवनव शाखा प्रशाखाएं फलीं उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास हुआ। भरत से लेकर जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र की जो वर्णनातीत उपलब्धियाँ हुई हैं वे उन्नततम शास्त्रों की पंक्ति में काव्यशास्त्र को प्रतिष्ठित करने में समर्थ हैं। काव्यशास्त्र की एक दीर्घ परम्परा है।

वेद में साहित्य शास्त्र के बीज प्राप्त नहीं होते। पर वेद को देवों का अमर काव्य अवश्य कहा गया है।[2] अपौरुषेय वेद के आदि निर्माता को भी अनेक स्थलों पर कवि कहा गया है। वस्तुतः वेद में काव्यगत समस्त सौन्दर्य उपकरण प्रयुक्त हुए हैं। वेदों में प्रयुक्त अलंकारों पर शोधकार्य भी हुआ है।[3] सबसे मुख्य अलंकार उपमा है। इस प्रकार के सैकड़ों मन्त्र पाए जाते हैं जिनमें साहित्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है। वेदों से सम्बद्ध विषयों को छः वर्गों (वेदांगों) में विभाजित किया गया शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष। इनमें साहित्य नहीं है। पर छन्दशास्त्र को अवश्य रखा गया। इससे छन्द विचार की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। कुछ विद्वान् छन्दशास्त्र को काव्यशास्त्र से भिन्न समझते हैं।[4] इस वेदांग की वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त छन्द बोध और विश्लेषण के लिए आवश्यकता थी। पर वेद के सौन्दर्योपकरणों के तात्त्विक विश्लेषण के लिए किसी वेदांग का विकास नहीं हुआ। कुछ विद्वान् छन्द शास्त्र के गणित विधान को काव्य के व्याकरण से, तथा उसके प्रभाव वाले अंश को काव्यशास्त्र से सम्बद्ध करने के पक्ष में हैं।[5] उपनिषदों में तो काव्योपकरणों विशेषतः अलंकारों का प्रयोग विषय के स्पष्टीकरण के लिए बहुत बढ़ गया। आत्म-परमात्म तत्त्व का बोध तुलनात्मक

१ सदाशिव लक्ष्मीधर कत्रे, अलंकार मंजूषा, उज्जैन १९४० की भूमिका (१)

२ पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति अथर्व० १०।८।३२

३ विशेष रूप से द्रष्टव्य 'Abel Bergaigne *Syntax of the Vedic Comparison* (ABOR9 Vol XVI, pp 232 36) *Some observations on the figures of speech in the Rgveda* (ABOR9 Vol XVIII pp 61 63 and pp 256-288 Translated by Venkat Subbiah) *Rgvedic Similes* H P Velankar (Similes of the वामदेव JBBRAS Vol 14 1938) तथा *Similes of the Atris* (JBBRS Vol 16 pp 1 42 आदि   ४ आचार्य विश्वेश्वर—काव्यप्रकाश भूमिका १

५ C M Gaylay *Methods for Literary Criticism* pp 245 246

६ डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ५

७ जैसे द्वा सुपर्णा १।८।२, कारक उप० ३।१।१

अलंकारों के माध्यम से ही सम्भव था। पुराण महाकाव्य तो अलंकारों से भरे पड़े हैं। पीछे के संस्कृत काव्य साहित्य में छन्द अलंकार की प्रमुखता होती गई। इस प्रकार काव्य में उपकरणों की महत्ता बढ़ती गई। काव्य उत्तरोत्तर अलंकृत होता गया। उदाहरणों के रूप में उनकी जो परम्परा मिलती है वह काव्य की शैलीगत स्थिति की ओर भी ध्यान कर देता है। पतंजलि ने काव्य शैली में लिखे गए पद्यों को उदाहरणवत् प्रयुक्त किए हैं। कवियों के सम्बन्ध में भी पतंजलि ने कतिपय उल्लेख किए हैं। पतंजलि ने छन्दःशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख किया है। उदाहृत पद्यों की रचना सुनिश्चित छन्दों के नियमों से युक्त जान पड़ती है। हो सकता है कि पतंजलि के समय या उससे पूर्व कोई इस प्रकार का शास्त्र रहा हो। जितने उदाहरण हैं सबकी रचना एक सुनिश्चित छन्द विधान के अनुसार हुई है। वैदिक या महाकाव्यों में प्रयुक्त शैली में रचित पद्यों के स्थान पर इस प्रकार की छन्दोबद्ध अलंकृत काव्यांशों का पतंजलि द्वारा प्रयुक्त होना काव्यशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इनकी रचना केवल व्याकरण के उदाहरणों की योजना के लिए ही नहीं हुई होगी। पतंजलि ने इस काव्य धारा को स्वीकार किया यह भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण बात है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि छन्द अलंकार आदि काव्य उपादानों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया। वैदिक साहित्य की परम्परा में प्रमुखता आधिदैविक वर्ण्य विषयों की रही। अतः इन उपकरणों से युक्त शैली का विकास गौण रहा। पुराण भी इसी परम्परा के विवरण ग्रन्थ हैं। महाकाव्यों में भी धार्मिक तत्त्व मुख्य हुए। पर एक लौकिक काव्य की ऐसी परम्परा भी चल रही थी जिसमें काव्योपकरणों का चमत्कारी प्रयोग ही मुख्य होता जा रहा था। इसकी सूचना पतंजलि के उदाहरणों में प्राप्त हो जाती है। वेद पुराण शास्त्र की धारा में काव्योपकरणों का प्रयोग स्वाभाविक था जिसका लक्ष्य सौन्दर्य विधान उतना नहीं था जितना विषय का स्पष्टीकरण।[4] इनके प्रयोग में दृष्टि कलात्मक शैली सौन्दर्य के सम्पादन की नहीं

१ छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति। महाभाष्य ४।४।१३

महाभाष्य ४।३।१२

३ कीलहार्न *Indian Antiquity* Vol XIV p 3 266 Vol XV p 279

४ The richness and elaboration of metre in striking contrast to the comparative freedom of Vedic and epic literature must certainly have arisen from poetical use it connot have been invented for grammatical memorial verses for which a simple metre might better suffice Brajnath Puri *India in the June of Patanjali* (Bombay 1957 p 213)

५ The Prime purpose of a figure of speech is to familiarise the unfamiliar The poet speaks of certain experiences which are originally personal But as the criterian of art is universality he tries to familiarise to us his personal experiences Thereby he removes the

थी बौद्धिक उपयोगिता की थी। जब इनके प्रयोग का लक्ष्य सौन्दर्य विधान होने लगा तभी इन सौन्दर्योपकरणों की व्याख्या समीक्षा अपेक्षित होने लगी। साथ ही इन उपकरणों की व्यवस्था अपने आपमें व्यक्त अव्यक्त रूप से लक्ष्य बनने लगी। इस वस्तुस्थिति से अलंकार के पारिभाषिक शास्त्र की आवश्यकता और सम्भावना हो गई। इनके वैज्ञानिक नियमन का आरम्भ इसी स्थिति में हुआ।

सम्भवतः यास्क और पाणिनि के पूर्व ही इस शास्त्र का आरम्भिक सूत्रपात हो गया होगा। यास्क ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के मत का उल्लेख करके[1] उपमा का लक्षण दिया है 'यद् अतत् तत्सदृशम् तदासां कर्म इति गार्ग्यः'। ऊपर से भिन्न होने पर भी जो उसके सदृश हो वही उपमान का विषय है। आगे यास्क ने इस आचार्य का मत लेकर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है।[2] इसमें पूर्वाचार्य के सूत्र का विश्लेषण ही हुआ है। फिर ऋग्वेद से एक उदाहरण अपने मत के पोषण और स्पष्टीकरण में दिया है।[3] निरुक्तकार ने उपमा के भेदों का भी उल्लेख किया है कर्मोपमा भूतोपमा रूपोपमा सिद्धोपमा और लुप्तोपमा आदि। इस प्रकार यास्क ने काव्यशास्त्र के सभी तत्त्वों को प्रस्तुत किया पूर्वाचार्य के मत का उद्धरण उसकी व्याख्या उदाहरण तथा वर्गीकरण। यद्यपि यास्क ने केवल उपमा पर विचार किया पर संक्षेप में काव्यशास्त्र का रूप निर्धारित कर दिया। व्याकरण भी छः वेदांगों में से एक है। पाणिनि ने अपने से पूर्व के वैयाकरण आचार्यों का उल्लेख किया है पर उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने उपमा आदि का कुछ विवेचन किया या नहीं कुछ नहीं कहा जा सकता। पर पाणिनि ने उपमा का विशद निरूपण किया है। पाणिनि ने उपमान उपमेय सामान्य धर्म वाचक शब्द आदि का उल्लेख किया है। उपमा के श्रौती तथा आर्थी भेदों का भी पूर्ण निरूपण पाणिनि ने किया है।[4] इस प्रकार काव्यशास्त्र के मूल सूत्र चाहे वेदों में न मिलते हों पर वेदांगों में उनकी स्पष्ट स्थिति मिलती है। पाणिनि के पश्चात् तो काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न परम्परा चलती रही।

भरतमुनि ने पारिभाषिक दृष्टि से काव्यशास्त्र की रचना तो नहीं की पर

---

element of strangeness from his vision For this purpose the figure of speech becomes a potent vehicle and has been used as such from ancient times P S Sastri *Figures of Speech in Rgveda* (ABOR 9, Vol XXVIII 1947 p 34)

1 निरुक्त तृतीय अध्याय, तृतीय पाद १३ ३।१८ आदि

2 ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते। (वही)

3 तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
इयं ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः॥ ऋ० १०।४।६

4 तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। अष्टाध्यायी २।३।७२
उपमानानि सामान्यवचनैः। अष्टा० २।१।५५
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। अष्टा० २।१।५६

5 अष्टा० ३।४।१।१६ ५।१।११५, ६।२।७२ ३।१।११ ३।४।४५

नाट्यशास्त्र का एक सांगोपांग शास्त्र रचा। नाट्य के विभिन्न अंगों और उपकरणों पर भरत ने प्रामाणिक रूप से लिखा। रस निष्पत्ति का आचार्य ने विवेचन किया।[1] भाव विभाव अनुभाव संचारी आदि पर भी विचार व्यक्त किया। दोष, गुण, छन्द आदि पर भी उनका विचार मिलता है।[2] भरत मुनि की शास्त्रकार रूप की प्रतिष्ठा इस बात से प्रकट होती है कि इनका नाम पुराणों में पौराणिक विशेषता से सम्बद्ध करके लिया गया है।[3] कालिदास ने भरत सम्बन्धी पुराण कथा की ओर निर्देश भी किया है। शास्त्र के रूप में इनकी प्रतिष्ठा इससे प्रकट होती है कि नाट्यशास्त्र को पंचम वेद माना गया। षट्साहस्रीसंहिता अथवा द्वादशसाहस्रीसंहिता के नाम से भी इसको अभिहित किया गया।[5] इसपर अभिनव परम्परा के अनुसार इसे संहिता कहा गया। भरत और भामह के बीच एक मेधावी नामक आचार्य का उल्लेख यत्र तत्र मिलता है पर इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। भामह ने इस आचार्य के द्वारा निरूपित सात उपमा-दोषों के सम्बन्ध में चर्चा की है। साथ ही यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा के सम्बन्ध में भी इनको उद्धृत किया गया है।[6] टीका में इस आचार्य का नामोल्लेख किया है। मेधावी के दोष विभाग-सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा भी उत्तरकालीन साहित्य में मिलती है। आचार्य मेधावी के सिद्धान्तों की सूचना और उनपर होने वाली उत्तरकालीन चर्चा से मेधावी के आचार्यत्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। राजशेखर ने उनको जन्मान्ध प्रतिभावान और कवि लिखा है।[9] इनके पश्चात् भामह और भामह के पश्चात् काव्यशास्त्र और तत्सम्बन्धी आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा आती है।[10] यह परम्परा लगभग २००० वर्ष की है। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषाओं में भी इसकी कुछ परम्परा चली पर शिथिल। पालि में भी कुछ काव्य ग्रन्थों की रचना हुई।[11] छन्दशास्त्र पर वुत्तोदय (=वृत्तोदय) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ

१ नाट्यशास्त्रम् अध्याय ६
२ वही अध्याय १७
३ मत्स्यपुराण २४।२७ ३
४ विक्रमोर्वशीय ।१८
५ शारदातनय ने इन दोनों संस्करणों का उल्लेख किया है। भावप्रकाशन
६ काव्यालंकार २।३९ ४ ८८
७ काव्यालंकार ११। ४ की टीका
८ नमिसाधु रुद्रट काव्यालंकार टीका २।२
९ काव्यमीमांसा, पृ ११ १२
१० आचार्यों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार दी जा सकती है भामह (छठी शती) दण्डी (सातवीं शती) वामन उद्भट (आठवीं शती) रुद्रट (नवीं शती) आनन्दवर्धन (नवीं शती का मध्य) अभिनवगुप्त (१० वीं शती) राजशेखर (१० वीं शती), कुन्तक (११ वीं शती) धनंजय (११वीं शती ?) क्षेमेन्द्र (११वीं शती) भोज (११वीं शती) मम्मट (११वीं १२वीं शती) रुय्यक (१२वीं शती) विश्वनाथ (१४वीं शती) जयदेव भानुदत्त (१४वीं शती) रूपगोस्वामी (१५ १६वीं शती) अप्पय्यदीक्षित (१६ १७वीं शती) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती)।
११ भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृ ५८४

मिलता है —रचयिता स्थविर सघ रक्खित (१२वीं शती)। इस ग्रन्थ पर एक टीका वुत्तोदयपञ्जिका भी मिलती है।[1] सघ रक्खित की एक और रचना सुबोधालकार भी है। इस प्रकार छन्द और अलकारशास्त्र की परम्परा पालि में टूटते टूटते बच जाती है। प्राकृत और अपभ्रंश में शास्त्र की परम्परा अधिक बलवती तो नहीं हुई, फिर भी हेमचन्द्र का छन्दोऽनुशासन काव्यानुशासन प्राकृत पगल वर्णरत्नाकर जैसे ग्रन्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। हिन्दी में भी काव्यशास्त्र के आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। परिमाण की दृष्टि से भी यह शास्त्र शाखा अत्यन्त समृद्ध है। अब तक १००० से ऊपर संस्कृत के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों की खोज हो चुकी है। इनमें से बहुत से प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ प्राचीन ग्रन्थ संग्रहालयों में अप्रकाशित पड़े हैं।[2] हिन्दी में भी सकड़ो ग्रन्थ मिलते हैं।

काव्यशास्त्र का ऊपर जो ऐतिहासिक विकास क्रम दिया गया है उससे विषयगत विकास का आभास भी मिल जाता है। यास्क और पाणिनि ने उपमा का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह अन्य शास्त्रों के अंग के रूप में है स्वतन्त्र नहीं। भरत ने नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर प्रासंगिक रूप में लिखा। नाटकों में प्रयुक्त रस व्यभिचारी भाव सात्त्विक भाव रसों के वर्ण रसों के देवता आदि पर विस्तृत विचार किया गया है विभाव अनुभाव आदि का निरूपण भी वैज्ञानिक है। अलकार निरूपण काव्य-दोष गुण तथा छन्द रस-संश्रयत्व पर सामान्य रूप में लिखा गया है।[3] इस प्रकार भरत में भी काव्यशास्त्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं ग्रहण कर पाया।[4] सम्भवत मेधावी या मेधाविरुद्र ने अलकारशास्त्र को स्वतन्त्र रूप देना आरम्भ किया। पर इनका शास्त्र स्वतन्त्र रूप में प्राप्त नहीं है केवल इनके तीन सिद्धान्तों की चर्चा बाद के आचार्यों में मिलती है उपमा दोषों पर तथा उत्प्रेक्षा और यथासंख्य पर लिखते हुए भामह ने तथा शब्द विभाग के सबंध में नमि साधु ने इनके नाम और सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इन सिद्धान्तों से किसी नाट्यशास्त्र से स्वतन्त्र काव्यशास्त्र की स्थिति की सूचना मिलती है। नाट्य और पुराण से स्वतन्त्र होकर काव्यशास्त्र को पीछे स्पष्टत स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त होने लगी।

१ भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृ० ६१६

२ ग्रन्थों तथा आचार्यों की सूची के लिए द्रष्टव्य डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ४१ ४७ तथा हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (ना०प्र० सभा, काशी), षष्ठ भाग, तृतीय खण्ड द्वितीय, चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ अध्याय।

३ सदाशिव एल० कत्रे—अलकार मजूषा की भूमिका, पृ० १

४ नाट्यशास्त्रम्, अध्याय ६-अध्याय ७

५ वही अध्याय १७

६ कुछ विद्वानों के अनुसार अग्निपुराण का साहित्य भाग काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन रूप है। इसमें काव्य के भेद अलकार रस रीति गुण दोष और ध्वनि इत्यादि पर विचार मिलता है। पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह बहुत बाद की रचना है। (पा० वी० काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ०)

७ इनका उल्लेख ऊपर ऐतिहासिक परम्परा में किया जा चुका है।

भामह, दंडी तथा वामन प्रभृति आचार्यों ने नाटय को छोड़कर काव्य का व्याख्या की तथा इन शास्त्र रचना की है। सर्वोतयोपत नाटय न शाय समस्त काव्य अना लक्षणाविन नाटय ने सानकार काव्य को जन्म दिया। ये दोनों ही नाट्य साहित्य और अलंकार प्रारम्भिक काव्यशास्त्रों के दृढ़ आधार बने। लक्षणों की परिणति अलंकारों में हो गई। इससे इस शास्त्र को बल मिला। इस परिवर्तन के कारण काव्य सत्ता अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध कर सकी और नाट्यशास्त्र-प्रथित विवेचनाएं अलंकारों में समाविष्ट हो गई। भरत ने निर्दोष अर्थयुक्त गुणों से सम्पन्न अलंकारों तथा लक्षणों से युक्त होना आवश्यक बताया है। अलंकार केवल चार मान गए।[1] उपमा के पाच भेद और स्वीकृत किए।[2] पर लक्षणों की संख्या ३६ है। इनका स्वरूप-कथन तो है पर परिभाषाएं नहीं हैं। भामह ४ अलंकार बखान है पर लक्षणों की चर्चा नहीं करते। इससे प्रकट होता है कि लक्षणों का अलंकारों में अन्तर्भाव हो गया। महाकाव्य[3] आख्यायिका तथा कथा का अन्तर तथा काव्य के उपयोग[4] पर भामह ने स्वतन्त्र रूप से लिखकर अलंकार शास्त्र की सुदृढ़ भूमिका प्रस्तुत की। भामह ने अलंकारों की प्रतिष्ठा बहुत दृढ़ता के साथ की।[5] साथ ही काव्य का वर्गीकरण भी हुआ—महाकाव्य नाटक आख्यायिका कथा तथा मुक्तक। इस प्रकार नाट्य को काव्य के अन्तर्गत रखा गया। आगे भी कुछ आचार्य ऐसे हुए जो नाट्यशास्त्र और काव्य शास्त्र की मिली जुली परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं दशरूपककार धनंजय रामचन्द्र गुणचन्द्र (नाटयदर्पण)। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रस्तावना परिच्छेद में काव्य लक्षण उसका वर्गीकरण भाषा के आधार पर साहित्य का चतुर्विध विभाजन काव्य गुण तथा उत्तम कवि के साधनों का उल्लेख किया है। आगे के परिच्छेदों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अलंकारों के साथ दोषों का निरूपण करके काव्य के निर्दोष होने पर दंडी ने बहुत बल दिया। अलंकारशास्त्र अपने चरम पर उद्भट के काव्यालंकार सारसंग्रह में पहुंचा। भामह ने ४० दण्डी ने ३५ तथा उद्भट ने ४१ अलंकारों के निर्णय निरूपण में शास्त्र की रचना की है। उद्भट ने दण्डी का अनुसरण उतना नहीं किया जितना भामह का। भामह उद्भट और रुद्रट की त्रयी ने अलंकार-सम्प्रदाय की भरत के पश्चात स्थापना की। इन्हीं के उद्योग का फल था कि काव्य

1 उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥१७।४३
2 नाट्यशास्त्र १७।८ ५५
3 काव्यालंकार १।१९
4 वही १। ५ ३
5 वही १।१
6 न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।१। १३
7 सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥ १।१८
8 तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ काव्यादर्श १।७

शास्त्र अपनी स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न कर सका। इन्होंने रस की उपेक्षा नहीं की। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित और समाहित—इन चार प्रकार के अलंकारों को रसवदलंकार माना गया और इन्हीं में रस का अन्तर्भाव कर दिया गया।[1]

दण्डी ने गुणों का निरूपण और दोषों का निराकरण अत्यन्त दृढ़ता से करके रीति सम्प्रदाय का बीजवपन किया। इसका पल्लवन वामन ने करके रीति सम्प्रदाय की स्थापना की। रीति की परिभाषा की गई।[2] विशिष्ट पद रचना ही रीति है। माधुर्यादि गुणों के समावेश से पद रचना विशिष्ट होती है।[3] यही रीति काव्य की आत्मा है।[4] इस प्रकार रीति और गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इस सम्प्रदाय ने अलंकार और रीति का तुलनात्मक निरूपण करके काव्य शोभा के उत्पादक गुणों[5] को अलंकारों[6] से विशेष महत्त्व दिया।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय ने रीति के स्थान पर वक्रोक्ति की स्थापना की। यह एक प्रकार से गुणों की स्थापना के प्रति अलंकार की उग्रतम और प्रबल प्रतिक्रिया ही कही जा सकती है। कुन्तक ने इस सम्प्रदाय की संस्थापना की। इसका बीज भी भामह और दण्डी[8] के द्वारा वक्रोक्ति के महत्त्व की स्वीकृति में ही है। रीतिकार वामन ने भी 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[9] लिखकर वक्रोक्ति को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान माना है। पर यह महत्ता एक अलंकार के रूप में ही वक्रोक्ति को मिली। वक्रोक्तिजीवितकार ने रीति का परिमार्जित रूप भी वक्रोक्ति के साथ समाविष्ट कर दिया।

रससम्प्रदाय की सुदृढ़ स्थापना भरतमुनि ही कर चुके थे। पर नाट्य के क्षेत्र में यह स्थापना थी। भरत का 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र इस सम्प्रदाय का आधारभूत सिद्धान्त था। इस सूत्र के आधार पर चार आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करके रस सम्प्रदाय की काव्यक्षेत्रीय स्थापना की—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त। इसकी स्थापना में 'अभिनवभारती' टीका का प्रमुख हाथ रहा।

आनन्दवर्धन ने एक प्रबल ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना की।[10] वैयाकरणों,

१ रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा। भामह, काव्यालंकार ३।६
मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। दण्डी काव्यादर्श १।५१
२ विशिष्टा पदरचना रीतिः। काव्यालंकार सूत्र १।२।७
विशेषो गुणात्मा। वही १।२।८
४ रीतिरात्मा काव्यस्य। वही १।२।६
५ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। वही ३।१।१
६ अलंकार केवल गुणों से शोभा की अभिवृद्धि करने वाले हैं—
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। वही ३।१।२
७ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ काव्यालंकार २।८५
८ भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श । ०३
९ काव्यालंकार सूत्र ४।३।८ की वृत्ति
१० ध्वन्यालोककार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा भी कहा और इस सिद्धान्त को प्राचीन भी।

भामह, दंडी तथा वामन प्रभृति आचार्यों ने नाट्य को छोड़कर शेष काव्यांगों को लेते हुए शास्त्र रचना की है। अर्थोक्तयोपेत नाट्य शब्दार्थ संयुक्त काव्य बना। लक्षणान्वित नाट्य ने सालंकार काव्य को जन्म दिया। ये दोनों ही 'शब्दार्थ साहित्य' और 'अलंकार' आरम्भिक काव्यशास्त्रों के दृढ़ आधार बने। लक्षणों की परिणति अलंकारों में हो गई। इससे इस शास्त्र को बल मिला। इस परिवर्तन के कारण काव्य चर्चा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध कर सकी और नाट्यशास्त्र-प्रथित विशेषताएँ अलंकारों में समाविष्ट हो गईं। भरत ने निर्दोष, नययुक्त, गुणों से सम्पन्न, अलंकारों तथा लक्षणों से युक्त होना आवश्यक बताया है। अलंकार केवल चार माने गए।[1] उपमा के पाँच भेद और स्वीकृत किए।[2] पर लक्षणों की संख्या ३६ है। इनका स्वरूप-वर्णन तो है पर परिभाषाएँ नहीं हैं। भामह ४० अलंकार बताते हैं पर लक्षणों की चर्चा नहीं करते। इससे प्रकट होता है कि लक्षणों का अलंकारों में अन्तर्भाव हो गया। महाकाव्य[3] आख्यायिका तथा कथा का अन्तर तथा काव्य के उपयोग[4] पर भामह ने स्वतन्त्र रूप से लिखकर अलंकार शास्त्र की सुदृढ़ भूमिका प्रस्तुत की। भामह ने अलंकारों की प्रतिष्ठा बड़ी दृढ़ता के साथ की।[5] साथ ही काव्य का वर्गीकरण भी हुआ—महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा तथा मुक्तक। इस प्रकार नाटक को काव्य के अन्तर्गत रखा गया। आगे भी कुछ आचार्य ऐसे हुए जो नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र की मिली-जुली परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं—दशरूपककार धनंजय, रामचन्द्र गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण)। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रस्तावना परिच्छेद में काव्य के लक्षण, उसका वर्गीकरण, भाषा के आधार पर साहित्य का चतुर्विध विभाजन, काव्य गुण तथा उनमें कवि के साधनों का उल्लेख किया है। आगे के परिच्छेदों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अलंकारों के साथ दोषों का निरूपण करके काव्य के निर्दोष होने पर दंडी ने बहुत बल दिया। अलंकारशास्त्र अपने चरम पर उद्भट के काव्यालंकार सारसंग्रह में पहुँचा। भामह ने ४०, दण्डी ने ३५ तथा उद्भट ने ४१ अलंकारों के विशद निरूपण में शास्त्र की रचना की है। उद्भट ने दण्डी का अनुसरण उतना नहीं किया जितना भामह का। भामह, उद्भट और रुद्रट की त्रयी ने अलंकार-सम्प्रदाय की भरत के पश्चात् स्थापना की। इन्हीं के उद्योग का फल था कि काव्य

१ उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥१७।४
२ नाट्यशास्त्र १७।१ ५५
३ काव्यालंकार १।१६
४ वही १।२५ ३
५ वही १।१
६ न स [illegible] निभृतं [illegible] ।१। ३३
७ सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥ १।१८
८ [illegible] काव्य [illegible] कथयन।
[illegible] विशेषयन [illegible] ॥ काव्यादर्श, १।७

शास्त्र अपना स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर सका। इन्होंने रस की उपेक्षा नहीं की। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित और समाहित—इन चार प्रकार के अलंकारों को रसवदलंकार माना गया और इन्हीं में रस का अन्तर्भाव कर दिया गया।[1]

दण्डी ने गुणों का निरूपण और दोषों का निराकरण अत्यन्त दृढ़ता से करके रीति सम्प्रदाय का बीजवपन किया। इसका पल्लवन वामन ने करके रीति सम्प्रदाय की स्थापना की। रीति की परिभाषा की गई।[2] विशिष्ट पद रचना ही रीति है। माधुर्यादि गुणों के समावेश से पद रचना विशिष्ट होती है।[3] यही रीति काव्य की आत्मा है।[4] इस प्रकार रीति और गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इस सम्प्रदाय ने अलंकार और रीति का तुलनात्मक निरूपण करके काव्य शोभा के उत्पादक गुणों[5] को, अलंकारों[6] को विशेष महत्त्व दिया।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय ने रीति के स्थान पर वक्रोक्ति की स्थापना की। यह एक प्रकार से गुणों की स्थापना के प्रति अलंकार की उदात्त और प्रबल प्रतिक्रिया ही कही जा सकती है। कुन्तक ने इस सम्प्रदाय की संस्थापना की। इसका बीज भी भामह[7] और दण्डी[8] के द्वारा वक्रोक्ति के महत्त्व की स्वीकृति में ही है। रीतिकार वामन ने भी सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः[9] लिखकर वक्रोक्ति को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान माना है। पर यह महत्ता एक अलंकार के रूप में भी वक्रोक्ति को मिली। वक्रोक्तिजीवितकार ने रीति का परिमार्जित रूप भी वक्रोक्ति के साथ समाविष्ट कर लिया।

रससम्प्रदाय की सुदृढ़ स्थापना भरतमुनि ही कर चुके थे। पर नाट्य के क्षेत्र में यह स्थापना थी। भरत का विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः सूत्र इस सम्प्रदाय का आधारभूत सिद्धान्त था। इस सूत्र के आधार पर चार आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करके रस सम्प्रदाय की काव्यक्षेत्रीय स्थापना की—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त। इसकी स्थापना में अभिनवभारती टीका का प्रमुख हाथ रहा।

आनन्दवर्धन ने एक प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना की।[10] वैयाकरणों,

1 रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा। भामह, काव्यालंकार ३।६
मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। दण्डी, काव्यादर्श १।५१
2 विशिष्टा पदरचना रीतिः। काव्यालंकार सूत्र १।२।७
3 विशेषो गुणात्मा। वही १।२।८
4 रीतिरात्मा काव्यस्य। वही १।२।६
5 काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। वही ३।१।१
6 अलंकार यद्यपि गुणों की शोभा की अभिवृद्धि करते हैं—
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। वही ३।१।२
7 सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ काव्यालंकार २।८५
8 भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श २।३६३
9 काव्यालंकार सूत्र ४।३।८ की वृत्ति
10 ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा भी कहा और इस सिद्धान्त को प्राचीन भी।

साहित्यिकों वेदान्तियों मीमांसकों नैयायिकों आदि ने इस सम्प्रदाय का विरोध किया। पर यह सम्प्रदाय इतना समन्वयकारी सूक्ष्म वैज्ञानिक और व्यापक था कि यह चमकता ही गया। अभिनवगुप्त की टीका लोचन ने इसको और सुदृढ़ किया। पीछे मम्मटाचार्य ने अनेक विरोधी तर्कों का निराकरण करते हुए ध्वनि सिद्धान्त को पूर्ण और पुष्ट समर्थन दिया। इस प्रकार काव्यशास्त्र का विषय सम्प्रदाय की सीमाओं में निबद्ध होता गया। आचार्यों का वर्गीकरण भी सम्प्रदायों के अनुसार हो गया। जो आचार्य किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थे उन्होंने समस्त काव्यांगों पर विस्तृत विवेचन किया। ऐसे आचार्यों में राजशेखर मम्मट और विश्वनाथ का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। इन्होंने सम्प्रदाय की कारा से मुक्त होकर काव्यशास्त्र का साग विस्तार किया। राजशेखर ने तो जैसे एक काव्यशास्त्रीय विश्वकोश की रचना की।[1] यदि इस परम्परा को कविशिक्षा सम्प्रदाय कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। कविशिक्षा सम्प्रदाय में आगे चलकर क्षेमेन्द्र अरिसिंह अमरचन्द्र आदि इसी परम्परा में आते हैं।

राजशेखर ने कविशिक्षा के उद्देश्य से इस शास्त्र की सीमाओं को अत्यन्त विस्तृत कर दिया। इसके १८ विभाग किए कविरहस्य उक्ति रीति अनुप्रास यमक चित्रकाव्य शब्दश्लेष स्वभावोक्ति उपमा अतिशयोक्ति अर्थश्लेष शब्दार्थालंकार विवाद नाट्य रस दोष गुण तथा औपनिषदिक विषय। शास्त्र की दिव्य उत्पत्ति बताकर राजशेखर ने काव्यशास्त्र को अपौरुषेय शास्त्र परम्परा में रखना चाहा। कई विषय तो स्वतन्त्र ग्रन्थकारों से सम्बन्धित हैं। इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर ने ग्रन्थकारों पर बल दिया। साथ ही भाषा पर पृथक् से विचार करके काव्यपुरुष की संरचना में विभिन्न प्रचलित भाषाओं का स्थान निर्धारित किया शब्दार्थ संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश पैशाची तथा मिश्र भाषाओं का उल्लेख है।[1] इसके साथ छन्दशास्त्र तथा प्रश्नोत्तर प्रहेलिका आदि काव्यरूपों की भी चर्चा की और रस को उसकी आत्मा कहा।[2] काव्य और काव्यशास्त्र के विनोद पक्ष का महत्त्व देकर जीवन के साथ साहित्य का सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया। वाक्कलि के रूप में यह

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्व। ध्वन्यालोक १।१

१ इनका विस्तृत विषय-सूची से पता चल जाता है। काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय में ही १८ विभागों में विषय को बाँटा गया है। इनका अलग-अलग अठारह शिष्यों ने प्रवचन किया। [illegible] तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत् औक्तिकमुक्तिगर्भः रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्रासिकं प्रचेता यमो यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः शब्दश्लेषं शेषः वास्तवं पुलस्त्यः औपम्यमौपकायनः अतिशयं पराशरः अर्थश्लेषमुतथ्यः उभयालंकारिकं कुबेरः वैनोदिकं कामदेवः रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः दोषाधिकरणं धिषणः गुणौपादानिकमुपमन्युः औपनिषदिकं कुचमारः इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ उरो मिश्रम् [illegible]। काव्यमीमांसा, अध्याय ३

२ [illegible] रस आत्मा [illegible]

राजकीय जीवन का भी अंग बनता गया और अपने आश्रय के मान को प्रशस्त करता गया। इसमें सन्देह नहीं कि कविशिक्षा-सम्प्रदाय को राजकीय क्षेत्र में तथा शिष्ट उच्च वर्गों में विशेष लोकप्रियता प्राप्त होती गई। कविशिक्षा के सम्प्रदाय की इस लोकप्रियता और इसके अन्तर्गत हुए काव्यशास्त्रीय विस्तार ने एक प्रकार से उद्भावक आचार्यों के सम्प्रदायों और विशिष्ट सिद्धान्तों को अभिभूत कर लिया। ध्वनि और रस सम्प्रदायों ने भी अन्य सम्प्रदायों को बहुत दुर्बल कर दिया था। उपेक्षित सम्प्रदायों ने एक प्रकार से अलंकार सम्प्रदाय के साथ समझौता करके एक मोर्चा बनाया। व्याख्याता आचार्यों के माध्यम से काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों ने फिर प्रतिक्रिया की। व्याख्याता आचार्यों ने अपना समर्थन किसी सम्प्रदाय विशेष को दिया। वैसे इनकी प्रवृत्ति प्रायः समस्त काव्यांगों के विवेचन की रही। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने ध्वनि सम्प्रदाय का समर्थन किया। रस सम्प्रदाय को शारदातनय, सिंह भूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि का समर्थन प्राप्त हुआ। जयदेव, जगन्नाथ, विश्वेश्वर भट्ट आदि ने अलंकार के महत्त्व की स्थापना की। इस प्रकार सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया ने काव्यशास्त्र की परम्परा को प्राण दिया और इसको समृद्ध भी किया। कविशिक्षा सम्प्रदाय ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। इन व्याख्याता आचार्यों ने भी कविशिक्षा-कार्य को प्रच्छन्न रूप से सम्पन्न किया।

काव्यशास्त्र ने तत्त्वतः अनेक शास्त्रों से सामग्री ली। तर्क और छन्दशास्त्र ने इसके रूप को प्रभावित किया। इसने अपने पारिभाषिक शब्द भी भिन्न भिन्न शास्त्रों से लिए। तर्क से काव्यशास्त्र ने यह शब्दावली ली — प्रति-भा, वि-भावना, वि-क्षेप या विच्छित्ति, परिकर (परि=round about), सा-हित्य, रूपक, ध्वनि आदि। कुछ विवरणात्मक पारिभाषिक शब्दों का आविष्कार हुआ — अपह्नुति, निन्दा, प्रशंसा, अतिशय-उक्ति, पर्याय-उक्ति आदि। इस प्रकार एक मिली-जुली पारिभाषिक शब्दावली को लेकर काव्यशास्त्र का रूप खड़ा हुआ। इसकी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए अन्य शास्त्रों या विद्याओं की आवश्यकता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। भामह ने काव्य-साधन ये बताए हैं — शब्द, छन्द, कोष प्रतिपादित अर्थ, ऐतिहासिक कथाएं, लोक-व्यवहार, युक्ति और कलाएं।[1] दण्डी ने इस प्रकार की सूची तो नहीं दी पर प्रतिभा (प्रज्ञा) के साथ विशुद्ध नानाविध शास्त्र-ज्ञान को आवश्यक बताया है।[2] वामन के अनुसार लोक-व्यवहार, विद्या (१४ या १८) प्रकीर्ण (=काव्यज्ञान, काव्यरचना की सेवा, पद निर्वाचन का कौशल आदि) काव्य के आवश्यक साधन माने हैं।[3] इस प्रकार इस शास्त्र को विद्याओं और वेदांगों की परम्परा[4] से बल प्राप्त

१ शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्ययैर्ह्यमी ॥ काव्यालंकार सूत्र १।९

२ काव्यादर्श १।१०३

३ लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि । १।३।१

४ इसका सर्वेक्षण पीछे हो चुका है।

करते रहने का आदेश आचार्यों ने दिया। रुद्रट ने व्युत्पत्ति के अंतर्गत छंद व्याकरण कला लोकस्थिति पद तथा पदार्थों का विशिष्ट ज्ञान एवं उचित अनुचित परिज्ञान को रखा है।[1] यही नहीं इस जगत के सभी वाच्य तथा वाचक काव्यांग हैं।[2] राजशेखर ने बारह स्रोत गिनाए हैं वेद स्मृति इतिहास पुराण प्रमाणविद्या (तर्कशास्त्र और मीमांसा) राजसिद्धांतत्रयी (अर्थशास्त्र नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र) लोक विरचना (अन्य कवियों का काव्य) प्रकीर्णक (६४ कलाएं आयुर्वेद ज्योतिष वृक्षशास्त्र अश्व गज लक्षण आदि) उचित संयोग योक्तृ संयोग उत्पाद्यसंयोग तथा संयोग विकार।[3] इस प्रकार समस्त भारतीय ज्ञान परम्परा को काव्य के साधना में सम्मिलित कर लिया गया। इससे जहां काव्यशास्त्र की सीमाएं बहुत अधिक विस्तृत हुई वहां कविशिक्षा के आचार्यों का दायित्व भी बहुत अधिक बढ़ गया। इसीलिए काव्यशास्त्र के आचार्यों को सहायक शास्त्रों को भी व्यक्त अव्यक्त रूप से अपनाना पड़ा। भामह ने सम्भवतः एक छंदशास्त्र की भी रचना की थी। अभिनवगुप्त के ४१ ग्रंथों[4] में विविध विषयों का स्पर्श किया है। क्षेमेन्द्र के नाम से भी ग्रंथों की एक सूची मिलती है। इन ग्रंथों में बृहत्कथामंजरी चतुर्वर्गसंग्रह देशोपदेश वात्स्यायन सूत्र आदि हैं। इससे काव्यशास्त्र से संबंधित अन्य रचनाओं की सृष्टि का उद्देश्य स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र द्वारा सिद्ध हेम (व्याकरण) काव्यानुशासन छंदानुशासन तथा देशीनाममाला (कोशग्रंथ) लिखे गए। वाग्भट ने छंदोऽनुशासन तथा अष्टांगहृदय[5] (आयुर्वेद ग्रंथ) की रचना की। अप्पयदीक्षित ने काव्यशास्त्र के साथ साथ दार्शनिक ग्रंथों की भी रचना की।

काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के उद्भावक या आविष्कर्ता ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य नहीं कहे गए अपितु टीका और व्याख्यान करने वाले भी आचार्य हुए। काव्य-टीका और व्याख्यान की परम्परा भी काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही मिलती है। भरत मुनि के छः टीकाकारों का उल्लेख संगीतरत्नाकर में मिलता है। अभिनवगुप्त ने तीन टीकाकारों का उल्लेख और किया है। पर इन नौ टीकाकारों में से केवल अभिनवगुप्त की टीका उपलब्ध है। अन्य प्रमुख आचार्यों की टीका या व्याख्याकारों सहित सूची इस प्रकार है

(१) भामह उद्भट भामहविवरण[6] (अप्राप्य)

1 रुद्रट काव्यालंकार [illegible]
विस्तरतस्तु [illegible] वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति [illegible] [illegible] वही [illegible]
3 काव्यमीमांसा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५४ पृ [illegible]
4 ग्रंथ उपलब्ध नहीं है पर [illegible] के टीकाकार [illegible] के उल्लेख से इसका [illegible] है। [illegible] पृ ६
5 [illegible] भूमिका पृ० ५
6 कुछ विद्वान इन [illegible] को इनसे पृथक मानते हैं।
7 [illegible] अभिनवगुप्त और [illegible]।
8 [illegible]।

(२) दण्डी	प्रेमचन्द्र तर्कवागीश तरुण वाचस्पति हृदयगमा टीका (लेखक का नाम अज्ञात) हरिनाथ की मार्जन टीका कृष्णकिंकर तर्कवागीश विरचित काव्यतत्त्व विवेक कौमुदी टीका वादिघंघ की श्रुतानुपालिनी टीका मल्लिनाथ की वैमल्यविधायिनी टीका।
(३) उद्भट	प्रतिहारेन्दुराज राजानक तिलक।
(४) वामन	सहदेव।
(५) रुद्रट	वल्लभदेव (अप्राप्य) नमिसाधु आशाधर।
(६) आनन्दवर्धन	अभिनवगुप्त की लोचन 'चन्द्रिका' टीका (लेखक का नाम अज्ञात)।
(७) मम्मट	माणिक्यचन्द्र कृत संकेत सबसे प्रसिद्ध। केवल मम्मट पर ७५ टीकाएं लिखी गई।[1]
(८) रुय्यक	समुद्रबन्ध जयरथ राजानक विद्याधर।
(९) जयदेव	प्रद्योतन भट्टाचार्य (शरदागम) वैद्यनाथ पायगुण्डे (रामा टीका) विश्वेश्वर पण्डित (सुधा धाराकाव्यम्)

यह सूची पूर्ण नहीं है पर इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि आचार्यों पर टीका और व्याख्या लिखने वाले भी आचार्य हुए। इन्होंने जो कार्य किया उससे काव्यशास्त्र को सुदृढ़ प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई और शास्त्र का विकास विस्तार भी हुआ। साथ ही शास्त्र के सिद्धान्तों का अधिक स्पष्टीकरण भी हुआ।

ऐसे आचार्य भी मिलते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त सूत्रों पर स्वयं ही वृत्ति या टीका लिखी है। इन आचार्यों के ग्रन्थों के तीन भाग हो सकते हैं सूत्र वृत्ति और उदाहरण। वामन ने अपने ग्रन्थ के सूत्र और वृत्ति दोनों भागों की रचना स्वयं की है।[2] इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है। उन्होंने अपनी वृत्ति को कविप्रिया नाम दिया है। उदाहरण वाले भाग में कुछ उदाहरण वामन कृत भी हैं पर अधिकांश अन्यों के हैं।[3] अमरुशतक उत्तररामचरित कादम्बरी किरातार्जुनीय कुमारसम्भव मालतीमाधव मृच्छकटिक मेघदूत रघुवंश विक्रमोर्वशीय वेणीसंहार अभिज्ञानशाकुन्तल शिशुपालवध हर्षचरित आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों से उदाहरण संगृहीत हैं। ध्वन्यालोककार ने सूत्र+वृत्ति+उदाहरण की पद्धति को कारिका+वृत्ति+उदाहरण की पद्धति में बदला। कारिका और वृत्ति दोनों भागों के रचयिता स्वयं आनन्दवर्धन ही हैं। उदाहरणों में से कुछ उदाहरण उन्होंने स्वरचित

1 विश्वेश्वर काव्यप्रकाश भूमिका ७२
2 प्रणम्य परं ज्योतिः वामनेन कविप्रिया।
3 [illegible] प्रयोजन स्थापना
4 [illegible] कविप्रिया की रचना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर अधिकांश विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं।

वर्णन करने का आदेश आचार्यों ने दिया। रुद्रट ने व्युत्पत्ति के अंतर्गत छन्द व्याकरण कला लोकस्थिति पद तथा पदार्थों का विशिष्ट ज्ञान एवं उचित अनुचित परिज्ञान को रखा है।[1] यहां तक कि इस जगत के सभी वाच्य तथा वाचक काव्यांग हैं।[2] राजशेखर ने बारह स्रोत गिनाए हैं वेद स्मृति इतिहास पुराण प्रमाणविद्या (तर्क शास्त्र और मीमांसा) राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र) लोक विरचना (अन्य कवियों का काव्य) प्रकीर्णक (६४ कलाएं आयुर्वेद ज्योतिष वृक्ष शास्त्र अश्व गज लक्षण आदि) उचित संयोग योक्तृ संयोग उत्पाद्यसंयोग तथा संयोग विकार।[3] इस प्रकार समस्त भारतीय ज्ञान परम्परा को काव्य के साधना में सम्मिलित कर लिया गया। इसमें जहां काव्यशास्त्र की सीमाएं बहुत अधिक विस्तृत हुईं वहां कविशिक्षा के आचार्यों का दायित्व भी बहुत अधिक बढ़ गया। इसीलिए काव्यशास्त्र के आचार्यों को सहायक शास्त्रों को भी व्यक्त अव्यक्त रूप से अपनाना पड़ा। भामह ने सम्भवतः एक छन्दशास्त्र की भी रचना की थी। अभिनवगुप्त के ४१ ग्रंथों[4] में विविध विषयों का स्पर्श किया है। क्षेमेन्द्र के नाम से भी ग्रंथों की एक सूची मिलती है। इन ग्रंथों में बृहत्कथामंजरी चतुर्वर्गसंग्रह देशोपदेश वात्स्यायन सूत्र आदि हैं। इनमें काव्यशास्त्र से संबंधित अन्य रचनाओं की सृष्टि का उद्देश्य स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र द्वारा सिद्ध हेम (व्याकरण) काव्यानुशासन छन्दानुशासन तथा देशीनाममाला (कोशग्रंथ) लिखे गए। वाग्भट ने छन्दोऽनुशासन तथा अष्टांगहृदय[5] (आयुर्वेद ग्रंथ) की रचना की। अप्पयदीक्षित ने काव्यशास्त्र के साथ-साथ दार्शनिक ग्रंथों की भी रचना की।

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के उद्भावक या आविष्कर्ता ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य नहीं कहे गए अपितु टीका और व्याख्यान करने वाले भी आचार्य हुए। काव्य-टीका और व्याख्यान की परम्परा भी काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही मिलती है। भरत मुनि के ६ टीकाकारों का उल्लेख संगीतरत्नाकर में मिलता है। अभिनवगुप्त ने तीन टीकाकारों का उल्लेख और किया है। पर इन नौ टीकाकारों में से केवल अभिनवगुप्त की टीका उपलब्ध है। अन्य प्रमुख आचार्यों की टीका या व्याख्याकारों सहित सूची इस प्रकार है

(१) भामह   उद्भट   भामहविवरण[6] (अप्राप्य)

१ रुद्रट काव्यालंकार १।१८

[illegible] वाच्य न वाचक लोके।

न भवति यत्काव्याङ्गं [illegible] ॥ वही [illegible]

३ काव्यमीमांसा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५४ पृ ९७

४ ग्रंथ उपलब्ध नहीं है पर [illegible] के [illegible] से इनका [illegible] है। [illegible] पृ ८

५ [illegible] भूमिका पृ ४

६ [illegible] पृथक मानते हैं।

७ [illegible] अभिनवगुप्त और [illegible]।

[illegible]

(२) दण्डी — प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, तरुण वाचस्पति हृदयगमा टीका (लेखक का नाम अज्ञात) हरिनाथ की मार्जन टीका कृष्णकिंकर तर्कवागीश विरचित काव्यतत्त्व विवेक कौमुदी टीका वादिघंघल की श्रुतानुपालिनी टीका मल्लिनाथ की वैमल्यविधायिनी टीका।

(३) उद्भट — प्रतिहारेन्दुराज राजानक तिलक।

(४) वामन — सहदेव।

(५) रुद्रट — वल्लभदेव (अप्राप्य) नमिसाधु आशाधर।

(६) आनन्दवर्धन — अभिनवगुप्त की लोचन चन्द्रिका टीका (लेखक का नाम अज्ञात)।

(७) मम्मट — माणिक्यचन्द्र कृत संकेत सबसे प्रसिद्ध। अब मम्मट पर ७५ टीकाएँ मिली हैं।[1]

(८) रुय्यक — समुद्रबन्ध जयरथ अलक विद्याधर।

(९) जयदेव — प्रद्योतन भट्टाचार्य (शरदागम) वैद्यनाथ पायगुण्ड (रमा टीका) विश्वेश्वर पण्डित (सुधा धारावाणम्)

यह सूची पूर्ण नहीं है पर इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि आचार्यों पर टीका और व्याख्या लिखने वाले भी आचार्य हुए। इन्होंने जो कार्य किया उससे काव्यशास्त्र को सुदृढ़ प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई और शास्त्र का विकास विस्तार भी हुआ। साथ ही शास्त्र के सिद्धान्तों का अधिक स्पष्टीकरण भी हुआ।

ऐसे आचार्य भी मिलते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त सूत्रों पर स्वयं ही वृत्ति या टीका लिखी है। इन आचार्यों के ग्रन्थों के तीन भाग हो सकते हैं — सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। वामन ने अपने ग्रन्थ के सूत्र और वृत्ति दोनों भागों की रचना स्वयं की है।[2] इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है। उन्होंने अपनी वृत्ति को कविप्रिया नाम दिया है। उदाहरण वाले भाग में कुछ उदाहरण वामन कृत भी हैं पर अधिकांश अन्यों के हैं।[3] अमरुकशतक, उत्तररामचरित, कादम्बरी, किरातार्जुनीय, कुमारसम्भव, मालतीमाधव, मृच्छकटिक, मेघदूत, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, वेणीसंहार, अभिज्ञानशाकुन्तल, शिशुपालवध, हर्षचरित आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों से उदाहरण संगृहीत हैं। ध्वन्यालोककार ने सूत्र+वृत्ति+उदाहरण की पद्धति को कारिका+वृत्ति+उदाहरण की पद्धति में बदला। कारिका और वृत्ति दोनों भागों के रचयिता स्वयं आनन्दवर्धन ही हैं।[4] उदाहरणों में से कुछ उदाहरण उन्होंने स्वरचित

१ आचार्य विश्वेश्वर काव्यप्रकाश भूमिका ७२

२ प्रणम्य परं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति प्रथमाधिकरण स्थापना

३ निदर्शनाय स्वीयं ग्रन्थ परकीयस्तु पुष्कलै। वही ४।३

४ डा० [illegible], कीथ आदि ने इन दोनों भागों को दो भिन्न व्यक्तियों की रचना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं।

विषमबाण लीला और अर्जुनचरित आदि ग्रंथों से दिए हैं परन्तु अधिकांश उदाहरण दूसरों के ही हैं। मुकुलभट्ट ने अपने अभिधावृत्तिमातृका ग्रंथ में कारिकाएं और उनकी वृत्ति स्वयं लिखी है। कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित ग्रंथ के भी कारिका वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। कारिका और वृत्ति कुन्तक की ही रचनाएं हैं। उदाहरण स्वरचित नहीं प्रसिद्ध *काव्यग्रंथों से संकलित हैं। मम्मट का काव्यप्रकाश मम्मट और अलट की सम्मिलित* रचना है।[1] इस ग्रंथ के भी तीन भाग हैं कारिका वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण सभी अन्य प्रसिद्ध काव्यग्रंथों के हैं। कुछ विद्वान् कारिका और वृत्ति को दो भिन्न व्यक्तियों की रचना मानते हैं। कारिका भाग को भरतमुनि की रचना माना जाता है। पर अब दोनों में अभेद ही स्थापित हो गया है।[2] रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण की रचना भी कारिका और वृत्ति की शैली में की है। रचयिताओं ने वृत्ति स्वयं भी दी है।[3] जयदेव ने वृत्ति की परम्परा को नहीं अपनाया। उदाहरण स्वरचित दिए। अनुष्टुप श्लोक के पूर्वार्द्ध में अलंकार लक्षण तथा उत्तरार्द्ध में उदाहरण की योजना करके जयदेव ने एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। आगे यह ग्रंथ बहुत लोकप्रिय हुआ। विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में मम्मट की कविशिक्षा तथा विश्वकोश की शैली को अपनाया। साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विवरण दिया है काव्य और नाट्यशास्त्र की सम्मिलित परम्परा को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा की। विश्वनाथ में शास्त्रीय और कवि सुलभ प्रतिभा का सामंजस्य मिलता है। *इसका परिणाम यह हुआ कि सुन्दर उदाहरणों के उपन्यास से इस ग्रंथ की रोचकता* अधिक बढ़ गई है।[4] विश्वनाथ में उदाहरणों में सुन्दरता लाने की प्रवृत्ति प्रधान होती दीखती है। शाकुन्तल और नैषधकाव्य से पद्यों को उदाहरणवत् उद्धृत किया है। इस प्रकार विश्वनाथ से काव्यशास्त्र की परम्परा एक मोड़ लेती है। नया मोड़ देने में जयदेव का भी हाथ था। रस निरूपण के साथ नायक-नायिका भेद का निरूपण भी किया गया है। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन के दस अधिकारों में से दो में नायक और नायिका भेद का निरूपण किया है।[5] साथ ही नाट्य पर भी विचार किया है। इस प्रकार रस नायिका निरूपण और नाट्य की सम्मिलित परम्परा फिर से चलने लगी। भानुदत्त की रसमंजरी तथा रसतरंगिणी भी रस और नायिका निरूपण के ग्रंथ हैं। शास्त्र की प्रतिभा के साथ काव्य प्रतिभा का समावेश भानुदत्त में भी दीखता है। भानुदत्त भी सहृदय कवि था। गीतिगौरीपति नामक गीतिकाव्य की रचना जयदेव के गीतगोविन्द की शैली पर की।

अस्तु विश्वनाथ शारदातनय तथा भानुदत्त ने काव्यशास्त्र को काव्य *प्रतिभा से रंजित किया और उदाहरण-सौष्ठव पर ध्यान विशेष रूप से दिया जाने*

1 भारतीय [illegible] काव्यकला भूमिका ५
2 वही पृ ७
3 बलदेव उपाध्याय संस्कृत आलोचना पृ ७८
4 साहित्यदर्पण [illegible] उल्लास
5 भावप्रकाशन [illegible] ४ ५

लगा। स्वरचित उदाहरणों की भी लोकप्रियता होने लगी। इसका कारण यह था कि ये आचार्य स्वयं कवि भी थे। विश्वनाथ ने कई काव्य नाटकों की भी रचना की थी।[1] जयदेव और भानुदत्त तो अपने गीतिकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं ही। जयदेव के चन्द्रालोक की कई टीकाएँ हुई और इस ग्रंथ के अनुकरण पर आचार्यों ने ग्रंथों की रचना भी की।[2] काव्य प्रतिभा के अतिरिक्त भक्ति और दर्शन की धाराएँ भी १५ १६वीं शती में काव्यशास्त्र को प्रक्षालित करने लगीं। भक्ति-सम्पृक्त काव्यशास्त्र की परम्परा का सूत्रपात करने में रूपगोस्वामी का प्रमुख हाथ माना जा सकता है। रूपगोस्वामी के तीन ग्रंथ अलंकारशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं भक्तिरसामृतसिंधु उज्ज्वल नीलमणि तथा नाटक चन्द्रिका। ये श्री चैतन्य के शिष्य थे। प्रथम दो ग्रंथों में रस विवेचन है। भक्तिरस की स्थापना इतने सुदृढ़ रूप से अन्य किसी आचार्य ने नहीं की। उज्ज्वलनीलमणि भक्तिरसामृतसिंधु का पूरक ग्रंथ है जिसमें 'मधुर' रस का सूक्ष्म विवेचन है। इनके भतीजे जीवगोस्वामी ने उक्त दोनों ग्रंथों पर क्रमशः दुर्गमसंगमनी तथा लोचनरोचनी नामक टीकाएँ लिखकर भक्तिपरक काव्यशास्त्र की परम्परा को परिपुष्ट किया। आगे विभिन्न सम्प्रदायों में इस परम्परा का अनुसरण किया गया। अप्पयदीक्षित जैसे दार्शनिक ने भी काव्यशास्त्र पर लिखा। इन्होंने वेदान्त भक्ति रामानुज-दर्शन मध्व दर्शन पर अनेक ग्रंथों की रचना की।[3] ये भी परिमाण की दृष्टि से भक्ति की ओर ही मुड़ हुए थे। अप्पयदीक्षित के साथ ही काव्यशास्त्र की परम्परा सत्रहवीं शती में प्रविष्ट होती है।[4] अतः केशवदास जी के कुछ समय तक ये समकालीन भी रह थे।[5] काव्यशास्त्र के इस विषय विकास के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आचार्य ऐसे थे जिन्होंने मौलिक काव्य सिद्धान्तों की उद्भावना की। इन आचार्यों के द्वारा किसी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा अथवा उसका प्रवर्तन हुआ। कुछ अन्य आचार्यों ने मूल सिद्धान्तों का प्रकाश में लाने स्पष्ट करने अथवा तुलनात्मक दृष्टि से सामने रखने और उदाहरण आदि से संयुक्त आवश्यक विस्तार करने का कार्य किया। उद्भावक आचार्यों के साथ अमर भाष्यकार टीकाकार या व्याख्याता आचार्यों की परम्परा भी लगी हुई है। राजशेखर ने कविशिक्षा की

[1] साहित्यदर्पण में इन कृतियों का उल्लेख है राघवविलास कुवलयाश्वचरित (प्राकृत) प्रभावती परिणय (नाटक), चन्द्रकला (नाटिका) नरसिंहविजय, प्रशस्तिरत्नावली।

[2] जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह प्रथम ने 'चन्द्रालोक' के आधार पर 'भाषाभूषण' नामक अलंकार ग्रन्थ रचा। अन्य रीतिकालीन कवियों ने भी इनका अनुसरण किया। अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द की रचना भी इसीपर आधारित है। शैली भी न्यूनाधिक की अपनाई गई है।

[3] इनकी सूची के लिए देखिए—डा० भोलाशंकर व्यास कुवलयानन्द, भूमिका पृ० २ ३ (बनारस १९५६)

[4] 'इस प्रकार अप्पयदीक्षित का रचनाकाल मोटे तौर पर १५५४ तथा १६२३ ई० के बीच जान पड़ता है। अतः दीक्षित को सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में रखना असंगत न होगा।' (वही पृ० २)

[5] 'केशवदास जी का जन्म-संवत् अनुमानतः १६१८ विक्रमी और मृत्यु-संवत् १६८ विक्रमी के लगभग' केशव और उनका साहित्य।

म काय करन वाल विद्वाना क लिए हाता था।[1]

इन ग्राचार्यों न काव्यशास्त्र को शास्त्र का रूप दन की बडी साधना की। साथ ही काव्यशास्त्र का शास्त्र का प्रतिष्ठा दन का भी प्रयत्न किया। शास्त्र क ग्रधिकारियों की चचा पहल भी होती रही थी। भास्काचाय न ग्रनधिकारी क हाथ म पडी हुई विद्या क विनाश का विवरण दिया है। भामह न भी एक प्रकार स ग्रकवि को शास्त्र ज्ञान क लिए ग्रनधिकारी ठहराया है।[1] मूख भी गुरु क माध्यम स शास्त्र ज्ञान ग्रजित कर सकता है पर ग्रकवि नहीं। ग्राचाय वामन न कवि क भी दो भद किए हैं ग्ररोचकी (=विवेकी) तथा सतृणाभ्यवहारी (=ग्रविवकी)। इनम स विवकी ही काव्यशास्त्र का ग्रधिकारी हो सकता है।[2] इस प्रकार काव्यशास्त्र का सम्बन्ध एक विशिष्ट वग स कर दिया गया है। कवि ही उसका ग्रधिकारी है। कवि को उसकी ग्रावश्यकता क सम्बन्ध म भी ग्राग्रह किया गया है। सदोष काव्य का रचयिता समाज म निन्द्य माना जाता है। यह एक साहित्यिक पाप है।[3] काव्य की विफलता क कारण भी दोष ही हैं। सदोष काव्य रचना स बचन क लिए गुण' क सम्बन्ध म निर्भ्रान्त ज्ञान क लिए शास्त्र नितान्त ग्रावश्यक है। इस प्रकार कवि के लिए काव्यशास्त्र ग्रपरिहाय कर दिया गया। वामन न शास्त्र ज्ञान क लिए गुरुसवा का विधान भी किया। इस प्रकार काव्यशास्त्र ग्रौर ग्राचाय' को वह प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जो ग्रन्य दार्शनिक या धार्मिक क्षत्रों म इनको प्राप्त थी। हिन्दी तक ग्राते ग्राते काव्यशास्त्र ग्रौर ग्राचाय की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

सत्रहवीं शती मे सस्कृत काव्यशास्त्र ग्रौर ग्राचायत्व

१६वीं तथा १७वीं शती क सस्कृत काव्यशास्त्र के क्षत्र म ग्रन्य ग्राचाय प्रमुख रूप स ग्रात हैं रूपगोस्वामी (१५ १६वीं शती) भानुदत्त (१६वीं शती का मध्य भाग) क्शव मिश्र (१६वीं शती का उत्तरार्ध) कवि कर्णपूर (१६वीं शती) ग्रप्पय दीक्षित (१६ १७वीं शताब्दी) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती)। प्राय इन सभी का हिन्दी क रीतिकालीन ग्राचार्यों पर प्रभाव पडा था। रूपगोस्वामी क भक्ति-रसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि भक्तिपरक साहित्य तथा भक्तिपरक साहित्य

शास्त्र को प्रभावित करते रहे। भानुदत्त की रसमंजरी के प्रभाव में रीतिकालीन आचार्यों का नायिका निरूपण प्रभावित रहा। केशव मिश्र का प्रभाव शास्त्र-च्युत अलंकाराचार्यों पर रहा। सबसे अधिक प्रभाव अप्पयदीक्षित का ही पड़ा। पण्डितराज समकालीन होने के कारण तथा कुछ दुरूह होने के कारण अधिक प्रभावित न कर सके। इन मौलिक ग्रंथकारों के अतिरिक्त तीन प्रसिद्ध टीकाकारों को भी नहीं भुलाया जा सकता गोविन्द ठक्कुर नागेश भट्ट तथा वैद्यनाथ।

रूपगोस्वामी ने भक्तिरस का सम्यक् परिमान और विवेचन करके एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भक्तिरसामृतसिन्धु के पूर्व पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण नामक चार विभाग हैं। विभागों को लहरियों में विभाजित किया गया है। पूर्व विभाग में भक्ति का सामान्य लक्षण निरूपित किया गया है। दक्षिण विभाग में ये काव्यांग हैं विभाव अनुभाव सात्त्विक भाव व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव। भक्ति-सम्बन्ध में ही इनका विवेचन किया गया है। पश्चिम विभाग में शान्त भक्तिरस प्रीत भक्तिरस प्रेयोभक्तिरस वत्सल भक्तिरस तथा मधुर भक्तिरस आदि भक्ति भेदों का निरूपण किया गया है। उत्तर विभाग में हास्य अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों का विवरण तथा रस विरोधाविरोध आदि का वर्णन है। उज्ज्वलनीलमणि में मधुर शृंगार की व्याख्या है। इस ग्रंथ की रूप रेखा और इसका उद्देश्य शुद्ध काव्यशास्त्रीय नहीं है। इसमें भक्ति का काव्यशास्त्रीय निरूपण ही अभिप्रेत है। साथ ही भक्ति साहित्य के रचयिताओं के लिए यह रस शिक्षा ग्रंथ भी है। भक्ति दर्शन को काव्यशास्त्रीय रूपों में प्रस्तुत करने का यह प्रयत्न अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। हिंदी के तथा अन्य क्षेत्रों के कृष्णभक्ति साहित्य पर जयदेव तथा रूपगोस्वामी का सम्मिलित प्रभाव माना जा सकता है।

भानुदत्त को शेरशाह और निजामशाह का संरक्षण मिला था।[1] संस्कृत काव्यशास्त्र में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके प्रकाशित ग्रंथ हैं—गीतगौरीश काव्य, रसमंजरी तथा रसतरंगिणी। अप्रकाशित ग्रंथ ये माने जाते हैं कुमारभार्गवीय अलंकार तिलक तथा शृंगारदीपिका।[2] ये विदेह (मिथिला) के रहने वाले तथा गणेश्वर के पुत्र थे।[2] रसमंजरी की लोकप्रियता इस बात से प्रमाणित होती है कि इसपर ११ टीकाएं उपलब्ध हो चुकी हैं।[3] रस और नायिका भेद पर सुरुचि सरसता और कविशिक्षा की दृष्टि से लिखी हुई यह कृति आगे के हिंदी रीत्याचार्यों को बहुत प्रभावित करती रही। इसमें चाहे मौलिक चिंतन इतना न हो पर सरस सुबोध शैली अनुकरणीय रही। इस अनुकरण के अन्य कारण भी हैं। नायक-नायिका निरूपण नाट्यशास्त्र काव्य-शास्त्र और कामशास्त्र के अंतर्गत हुआ था। भरत का निरूपण तो मौलिक है धनंजय

१ J B Chaudhary Muslim Patronage and Contribution to Skt Learning *Introducing India* Part II Calcutta 1949

२ रसमंजरी का अन्तिम श्लोक—

तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणिः।
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता॥

३ आचार्य विश्वेश्वर काव्यप्रकाश, भूमिका, पृ० ६०

सागरनन्दी तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र का विवरण काव्यशास्त्रकारों का अनुकरण मात्र है। काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों में नायिका निरूपण या तो शृंगार के अन्तर्गत हुआ[1] या स्वतन्त्र रूप से। स्वतन्त्र रूप से नायिका निरूपण भानुदत्त तथा रूपगोस्वामी ने किया। तीसरा ग्रंथ अकबर शाह प्रणीत शृंगारमंजरी है। इस विषय का स्वतन्त्र निरूपण पहले पहल भानुदत्त ने किया। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य नायक नायिका भेद के लक्षणपक्ष में भानुमिश्र से प्रायः प्रभावित हैं और उदाहरणपक्ष में रूपगोस्वामी से।[2] भानुदत्त ने नायिका निरूपण को एक स्वतन्त्र रूप प्रदान किया। रीतिकालीन आचार्यों ने इनसे प्रेरणा विषय तथा नाम लिए।

अप्पयदीक्षित में भी मौलिकता का अभाव है[3] फिर भी इनके कुवलयानन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा में कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न भी किया है पर उनकी सभी मौलिक उद्भावनाओं का पंडितराज ने आगे चलकर सयत्न खंडन किया है। अतः मौलिकता आच्छादित हो जाती है। इतना होने हुए भी अप्पयदीक्षित के ग्रंथों का दो कारणों से कम महत्त्व नहीं है—प्रथम तो उनके कुवलयानन्द में उनके समय तक उद्भावित समस्त अलंकारों का साधारण परिचय मिल जाता है दूसरे उनका उल्लेख स्थान स्थान पर रसगंगाधर अलंकार कौस्तुभ तथा उद्योत में मिलने के कारण इन ग्रंथों के अध्येता के लिए दीक्षित के विचारों का जानना जरूरी हो जाता है। इस प्रकार कुवलयानन्द को अलंकार कोश की स्थिति प्राप्त हो गई थी। सभी अलंकारों का एक समग्र स्रोत हिन्दी के अलंकाराचार्यों को कुवलयानन्द में मिला। सभी ग्रंथों से अधिक यही ग्रंथ रीत्याचार्यों का अनुकरणीय रहा। अप्पयदीक्षित ने सबसे अधिक अलंकारों की संख्या भी दी। भरत ने ४ भामह ने ३९ दंडी ने ३५ उद्भट ने ४० वामन ने ३३ रुद्रट ने ५२ भोजराज ने ७२ मम्मट ने ६७ रुय्यक ने ८१ जयदेव ने १ विश्वनाथ ने ८२ अप्पयदीक्षित ने १२४ और पंडितराज ने ७१ अलंकार माने। रीतिकालीन आचार्यों की प्रवृत्ति भी विस्तार की ओर थी। यह भी एक कारण हो सकता है कि अप्पय दीक्षित का अनुकरण सर्वाधिक हुआ। ये किसी वाद से सम्बन्धित आचार्य भी नहीं थे। इसी प्रकार हिन्दी के आचार्यों को भी किसी वाद अथवा सम्प्रदाय का समर्थक कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। यदि हम अलंकारवादी मानेंगे तो इस दृष्टि से नहीं कि ये भामह दंडी एवं उद्भट के समान अन्य आचार्यों का अन्तर्भाव अलंकार में

१ इनमें भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण विशेष उल्लेखनीय हैं।

२ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठ भाग पृ ३३६

३ कुवलयानन्द की रचना जयदेव के चन्द्रालोक के आधार पर हुई है। लक्षण चन्द्रालोक के हैं तथा उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य अंश भी हैं। अन्त में केवल २४ अलंकार दिए हैं जो चन्द्रालोक में नहीं मिलते।

४ डॉ० भोलाशंकर व्यास हिन्दी कुवलयानन्द (बनारस १९५६) पृ १

५ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठ भाग पृ ८८

करने के समर्थक हैं अपितु इसलिए मानेंगे कि इन्होंने जयदेव एवं अप्पयदीक्षित के समान अलंकारों का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत कर प्रकारान्तर से अलंकारवाद की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखाई है।[1] अप्पयदीक्षित की लोकप्रियता उनपर हुई टीकाओं से सिद्ध होती है। दस टीकाओं का पता चल चुका है, गंगाधर वाजपेयी की रसिकरंजनी, वैद्यनाथ कृत अलंकारचन्द्रिका, आशाधर की अलंकारदीपिका, नागोजीभट्ट की अलंकारसुधा तथा विषमपद व्याख्यान षट्पदानन्द, न्यायवागीश भट्टाचार्य की काव्यमंजरी, मथुरानाथ की कुवलयानन्द टीका, कुरवीराम की कुवलयानन्द टिप्पण, देवदत्त की लघ्वलंकारचन्द्रिका, बॅगल सूरि की बुधरंजनी।

पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभाशाली कवि और विलक्षण पंडित थे। इन्होंने रस गंगाधर में उदाहरण स्वरचित ही दिए हैं।[2] विचारों में पर्याप्त मौलिकता है। स्वरचित उदाहरण देने की पद्धति का अनुकरण सभी रीतिकालीन आचार्यों ने किया है। रसगंगाधर पर नागेशभट्ट की गुरुमर्मप्रकाशिका टीका प्रसिद्ध है। पंडितराज ने ध्वनि सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया। रीतिकालीन आचार्य भी ध्वनि सिद्धान्त का प्रेमी था। पंडितराज में विवरणप्रियता भी मिलती है। शेष आचार्य सामान्य हैं।

इस प्रकार १६वीं तथा १७वीं शती में केवल एक ही मौलिक विचारक पंडितराज मिलते हैं। इनके साथ भी कवि प्रतिभा संलग्न थी। शेष आचार्य कवि शिक्षा के उद्देश्य से सरस शैली में तथा कोषकार की भांति प्राचीन काव्यशास्त्र की उद्धरणी कर रहे थे। टीकाकार भी काव्यशास्त्र के उन्नयन और विकास में योग दे रहे थे। इसी वातावरण की छाया हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यत्व पर पड़ रही थी। संग्रह, नियोजन, वर्गीकरण, टीका तथा सुबोध कविशिक्षा ग्रंथ रचना ही इस काल के आचार्यत्व की सीमाएं बन गई।

हिन्दी काव्यशास्त्र तथा आचार्यत्व का स्वरूप

(सत्रहवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात्)

संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा और उससे सम्बद्ध आचार्यों की विविध कोटियों का सर्वेक्षण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत की यह परम्परा किसी न किसी रूप में १८वीं शताब्दी तक चलती रही। इस परम्परा के साथ-साथ इस स्रोत से निःसृत संस्कृत काव्यशास्त्र के पृष्ठाधार पर अवलंबित पर अपनी निजी भाषा तथा युगीन परिवेश की सीमाओं से निबद्ध और प्रभावित, हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा भी चली। सामान्य रूप से १६वीं शती में ही इसका सूत्रपात हो गया था

1. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—षष्ठ भाग, पृ० २८६
2. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
   काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
   किं सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्धः
   कस्तूरिका जननशक्तिभृता मृगेण॥

और सत्रहवीं तथा अठारहवीं शती में प्रबल और पुष्ट होती हुई यह परम्परा १९वीं शती तक चली आई। एकाध देशी भाषा ही इतनी दीर्घ काव्यशास्त्र की परम्परा का गर्व कर सकती है। यद्यपि हिंदी के आचार्य का उपजीव्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही था तथापि उसकी अपनी विचित्रताएं और विशेषताएं भी थी। उसको एक ओर अपनी निजी सीमाओं के भीतर कार्य करना था और युग की प्रवृत्ति और माग को संतुष्ट करना था। आचार्यत्व का रूप इन तत्त्वों के आधार पर निर्धारित हुआ।

संस्कृत भाषा के प्रति देशी भाषा की मृदु क्रांति हुई। अपने समय में प्राकृत और अपभ्रंश ने साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत के समान ही लोकप्रियता और प्रतिष्ठा प्राप्त की। प्रेम काव्य गीत रचना मुक्तक रचना और चरित काव्य के क्षेत्र में प्राकृत और अपभ्रंश की उपयुक्तता दृढ़ता से स्वीकार की गई। यदि हम संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टि फेरें तो देखेंगे कि आठवीं शताब्दी के बाद का संस्कृत साहित्य उत्तरोत्तर पंडितों की चीज बनता गया। इस साहित्य में लोक जीवन से हटे हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है।[1] अपभ्रंश की विकसित परम्परा में अब्दुल रहमान स्वयंभू तथा विद्यापति ने भाषा को दृढ़ता से पकड़ा। स्वयंभू ने देशी भाषा उभय तट उज्ज्वल कहकर उसकी जीवनाभा की घोषणा की। विद्यापति ने देसिल बयना सब जन मिट्ठा' कहकर उसके माधुर्य में अपना विश्वास प्रकट किया। स्वयंभू ने अपनी भाषा नीति के सम्बन्ध में कहा—

सामण्ण भास छुडु मा विहडउ, छुडु आगम जुत्ति किंपि घडडउ।
छुडु होंति सुहासिय—वयणाइं गामेल्ल भास परिहरणाइं।
एहु सज्जण लोयहु किउ विणउ जं अबुहु पदरिसिउ अप्पणउ।[2]

इस प्रकार सामान्य भाषा के ग्राम्य रूप को स्वयंभू अपनाना चाहता है। इस भाषा परम्परा का कवि यद्यपि काव्यशास्त्र से यत्किंचित परिचित था फिर भी चाहे अपनी विनय भावना से ही हो काव्यशास्त्र के प्रयोग के प्रति उदासीनता प्रकट करता है। स्वयंभू ने लिखा कि न तो मैं व्याकरण का पंडित हूं न वृत्ति सूत्र ही जानता हूं न पिंगल को जानता हूं और न भामह-दंडी के अलंकार विधान को ही जानता हूं—

वायरणु कयाइ ण जाणियउ णहि वित्ति सुत्त वक्खाणियउ।
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु।
णउ बुज्झिउ पिंगल पच्छारु णउ भामह दंडिय अलंकारु॥[1]

तुलना तक आते आते इस लोकभाषा का स्वरूप और इसकी क्रांति विशद

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०
२ इसका रूपान्तर राहुल जी ने इस प्रकार किया है—
सामान्य भाष [illegible] दाक्षिण्य युक्ति किछू गढ़उं।
[illegible] सुभाषित [illegible] परिहरिआउं।
[illegible] विनय जो अबुध [illegible]॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४२५

हो गए। इस क्रांति ने जहाँ शास्त्रीय संस्कृत भाषा के प्रासाद को डगमगा दिया, और भाषा को दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित किया वहाँ शास्त्रीयकाव्य नियोजन के स्थान पर लोकप्रवृत्ति में पुष्ट काव्य की स्थापना हुई। 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच' कहकर तुलसी ने भाव की प्रतिष्ठा की, इससे काव्य रूप से सम्बद्ध शास्त्र की उपेक्षा हुई। उन्होंने रघुनाथ गाथा को भाषा निबद्ध किया। उन्होंने अपनी भाषा भणिति की सफलता के लिए शिव पार्वती से प्रार्थना की—

> सपनेहु साचेहु मोहि पर, जौं हरगौरि पसाउ।
> तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ।[1]

साथ ही स्वयंभू के समान तुलसी ने भी काव्यशास्त्र के विधि विधान की ओर उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया—

> कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
> आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।
> भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
> कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥

इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुलसी इस सब शास्त्रीय विधान से सामान्यतः भी परिचित नहीं थे या इस विधान का प्रयोग उन्होंने नहीं किया, इसका तात्पर्य यही है कि इन सभी काव्यांगों के शास्त्रीय संविधान को भाव की अपेक्षा कम महत्त्व देते थे। वस्तुतः मानस रूपक में इनकी स्थिति भी बताई गई है: उपमा बीचि बिलास मनोरम, पुरइनि सघन चारु चौपाई, छंद सोरठा सुंदर दोहा, अरथ अनूप सुभाव सुभासा, धुनि अवरेब कबित गुन जाती, नवरस जप तप जोग बिरागा। इस सूची में प्रायः सभी काव्यांग आ जाते हैं। स्वयंभू ने भी इनके प्रयोग की बात कही है।[3] 'महाकाव्य' के क्षेत्र में भाषा और महाकाव्य की इस लोक भूमिका पर केशव झुँझला रहे थे। केशव कवियों के उस आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधि थे जो संस्कृत भाषा और उसके काव्यशास्त्र के समर्थक थे। पर युग की प्रवृत्ति के दबाव की विवशता थी कि केशव को भी भाषा अपनानी पड़ी[4] पर काव्यशास्त्र को दृढ़ता से पकड़े रखा। यह महाकाव्य या प्रबंध के क्षेत्र की स्थिति थी।

जहाँ तक मुक्तक और गीतों का प्रश्न था उनकी भी भाषा और भाव सरलता की ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। एक ओर साध्य भाषा सिद्ध सचित थी।

[1] बालकाण्ड, दोहा १५
[2] वही, दोहा ८ १ के बीच
[3] स्वयंभू पंक्तियों का रूपान्तर राहुल जी ने इस प्रकार किया है—
अक्षर-व्यास जलौघ मनोहर सुअलंकार छन्द मत्स्योदर।
दीर्घ समास प्रवाहंकित, संस्कृत प्राकृत पुलिनालंकृत।
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० २८
[4] भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कविता भी करी, जड़मति केशवदास॥ —कविप्रिया

इसके साथ काव्यशास्त्र का सम्बद्ध होना किसी दृष्टि से सम्भव नहीं था। अलंकारों के स्थान पर आध्यात्मिक संकेतों से युक्त शब्द प्रतीकों का प्रयोग होता था। इनकी व्याख्या के लिए अलंकारशास्त्र की ओर जाना आवश्यक नहीं था। इस परम्परा में आगे निर्गुणियों के गीत सबद-दोहरा की परम्परा आती है। यह भी प्रतीक विधान पर आधारित धारा थी।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी या देशी भाषा की प्रारंभिक परिस्थितियों में काव्यशास्त्र को विकास के लिए उपयुक्त वातावरण प्राप्त नहीं हुआ। एक प्रकार से उच्च वर्गीय काव्य साधना के प्रति एक प्रतिक्रिया भी परिलक्षित की जा सकती है। पर रूपगोस्वामी के सूक्ष्म रस और नायक-नायिका विवेचन ने काव्य शास्त्र के भक्ति रंजित रूप की सुदृढ़ परम्परा का सूत्रपात कर दिया था। भक्ति के स्वरों ने काव्यशास्त्र की दिशा दृष्टि में तो परिवर्तन उपस्थित किया, पर उसे देश व्यापी भक्ति आंदोलन से सम्बद्ध करके उसे गति दी। जयदेव की वाणी भी इस परम्परा में गृहीत हुई। विद्यापति और चण्डीदास ने काव्यशास्त्र तो नहीं लिखा पर मधुर भाव नायिका निरूपण को साहित्य में स्थान प्रदान किया। सिद्ध नाथ सन्त परम्परा की काव्यशास्त्र की ओर बरती हुई उपेक्षा को एक प्रकार से ललकारा। भक्ति से सम्बद्ध होने से काव्यशास्त्र में कुछ विशेषताएं आ गई थीं काव्यशास्त्र अलंकारों के विधान की अपेक्षा रस-संयोजन की ओर विशेष रूप से झुका भक्ति भावना की प्रबलता ने शास्त्रीय आचार्यत्व की अपेक्षा उदाहरणों की रचना की ओर विशेष ध्यान दिया अर्थात् शुद्ध शास्त्रीय विचारधारा का प्राय अन्त हो गया उदाहरणों में राधा-कृष्ण अथवा इष्टदेव का विशेष रूप से प्रवेश हो गया राधा-गोपी कृष्ण के त्रिकोण पर आश्रित मधुर भाव सवलित लीला काव्य में नायिका निरूपण प्रधान होता गया जिसका कामशास्त्र ने विशेष रूप से पोषण किया और रस रीति को समझने के माध्यम स्वरूप अव्यक्त रूप से काव्यशास्त्र को बल मिला। कृपाराम की *हिततरंगिणी* सूर की *साहित्यलहरी* तथा नन्ददास की रसमंजरी तथा रहीम की बरवै नायिकाभेद जैसी रचनाओं में भक्ति आश्रित काव्यशास्त्र का रूप दीखता है। हिततरंगिणी में हित शब्द यह प्रकट करता है कि ये राधावल्लभ सम्प्रदाय के थे।[1] नन्ददास ने स्पष्ट रूप से रसमंजरी का उद्देश्य प्रेम रीति-परिचय बताया है बिन जाने यह भेद सब प्रेम न परचै होय। गोपा ने अपने 'रामभूषण' में अपनी रामभक्ति-भावना और अलंकार निरूपण की रुचि का समन्वय किया है। मोहनलाल मिश्र के 'शृंगारसागर' का उद्देश्य भी भक्तिमूलक था। सूर की साहित्यलहरी उद्देश्यत शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है उसमें भक्ति ही उच्छ्वसित है। इस प्रकार सगुण भक्ति शाखा में काव्यशास्त्र का प्रवेश हो गया था। आगे के साहित्य पर इस परम्परा का इतना तो प्रभाव अवश्य हो पड़ा कि राधाकृष्ण का शृंगारिक

[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त एवं साहित्य

—डा० विजयेन्द्र स्नातक

रूप रीतिकालीन कवियों द्वारा रचित उदाहरणों में ओतप्रोत रहा। भक्त्याश्रित काव्यशास्त्र की इस परिस्थिति में वैष्णव न स्वतन्त्र काव्यशिक्षा की दृष्टि से काव्यशास्त्र की पुनः प्रतिष्ठा की। यही हिन्दी के काव्यशास्त्र का सूत्रपात था। आगे भक्ति और काव्यशास्त्र की परम्परा चली तो अवश्य पर शिथिल रूप में। भक्ति का स्थान शृंगार ने लिया और काव्यशास्त्र के प्रति कवि और आचार्य विशेष उद्बुद्ध हो गए। भक्ति ने काव्य के साथ संगीत का संयोग करके काव्यशास्त्र को सीमित कर दिया था। मुक्तकों के उदय ने इसे फिर बल प्रदान किया।

राज्याश्रय और काव्यशास्त्र

जिस प्रकार भक्ति के आश्रय ने काव्यशास्त्र को प्रभावित करना आरम्भ किया उसी प्रकार १७वीं शती के संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र को राज्याश्रय की प्रवृत्ति ने भी प्रभावित किया। अत्यन्त प्राचीन काल से शास्त्र को राज्याश्रय मिलता रहा था। उपनिषद युग में जनक आदि के दरबार में दार्शनिक विद्वान् रहते थे और सत्यानुसन्धान के लिए शास्त्रार्थ करते रहते थे। वैदिक सूक्तियों में अतिशयोक्तिपूर्ण नाराशंसियों तथा प्रशस्तियों का उल्लेख भी मिलता है।[1] ऋग्वेद में भी आश्रयदाता प्रभुओं की प्रशंसा और कुशल प्रशंसित गायकों को दिए जाने वाले पुष्कल पारितोषिकों का वर्णन करने वाली दानस्तुतियाँ पाई जाती हैं। देवताओं की विजयों की प्रशस्तियाँ तो मिलती ही हैं।[2] पुरूरवा[3] और नहुष जैसे कुछ राजाओं की चर्चा भी है। इन वर्णनों में कहीं-कहीं अलंकृत शैली का प्रयोग है।[4] पतंजलि द्वारा प्रयुक्त श्लोकों अथवा श्लोकांशों को उद्धृत करके कीथ ने शृंगार, प्रशस्ति, करुणा, सुभाषित आदि काव्य-रूपों के बीजों तथा उनके अंकुरण को सिद्ध किया है।[5] प्रशस्ति की स्थिति राज्याश्रय का प्रमाणित करती है। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवियों के संरक्षण का श्रेय बहुत कुछ राजाओं को ही था।[6] बाण के आश्रयदाता हर्ष और अनेक कवियों और आचार्यों के आश्रयदाता भोज को नहीं भुलाया जा सकता।

मध्यकाल में राज्याश्रय का द्विविध रूप हो गया—मुस्लिम शासकों का राज्याश्रय तथा हिन्दू सामन्तों का आश्रय। शासनीय समस्याओं से बहुत कुछ मुक्त होकर तथा अवकाश प्राप्त हिन्दू राजाओं तथा सामन्तों ने शास्त्र और काव्य के संरक्षण, सृजन एवं पुनरुत्थान में सक्रिय रुचि ली। भाषा ही नहीं, संस्कृत कवियों और काव्यशास्त्र के आचार्यों को भी मुस्लिम बादशाहों का आश्रय प्राप्त हुआ। प्रमुख

१ Macdonell and Keith *Vedic Index* I p 443

२ ऋ० १ का शम्बर विजय, ऋ० ७।१९।५, २।१२।६

३ यजु० ५।२

४ ऋ० ८।८।३ ११२ ११ ७।१८।५ १०।६२।१२ ८।१।२४

५ कीथ, हिन्दी अनुवाद पृ० ५८

६ राजशेखर ने, काव्यमीमांसा में कुछ प्रसिद्ध आश्रयदाता राजाओं का उल्लेख किया है—वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसाङ्क आदि।

आश्रयदाता और आश्रित संस्कृत कवि ये हैं[1] —

भानुकर (भानुदत्त)	शेरशाह, निजामशाह
गोविन्दभट्ट	अकबर
पण्डितराज जगन्नाथ	शाहजहाँ, आसफखाँ[2]
हरिनारायण मिश्र	शाहजहाँ
वंशीधर मिश्र[3]	मुमताज महल, शाहजहाँ
चतुर्भुज[4]	शायस्ताखाँ (औरंगजेब)
लक्ष्मीपति	मुहम्मदशाह
उदयराज	मुहम्मद बेगड़ा (गुजरात)
मदन[5]	होशंग गोरी अथवा अलपखाँ (मालवा)

उक्त सूची में सं० १, ३, ६, ७ तथा ९ ने संस्कृत में काव्यशास्त्रीय रचनाएँ कीं। काव्य और काव्यशास्त्र के अतिरिक्त ज्योतिष, संगीत, व्याकरण, दर्शन, कोष आदि शास्त्रीय विषयों पर मुस्लिम शासकों के संरक्षण में रचनाएँ हुईं। ये विद्याएँ भी काव्य के लिए सहायक अप्रस्तुत सामग्री प्रस्तुत करती थीं। नाममाला साहित्य (कोषशास्त्र) विशेष रूप से काव्य और काव्यशास्त्र के लिए आवश्यक था। नन्ददास ने भी 'नाममाला' की रचना की थी। हिन्दी में आरम्भ से ही छन्दबद्ध नाममालाओं की परम्परा मिलती है। यह परम्परा इस सूची से स्पष्ट हो जाती है—

खालिकबारी	अमीरखुसरो
अनेकार्थमंजरी	नन्ददास
मानमंजरी	नन्ददास

१ यह सूची J B Chaudhari Muslim Patronage and Contribution to Sanskrit Learning (*Introducing India* Part II Calcutta 1949 p 83) के आधार पर है।

२ इनको अकबरीय कालिदास भी कहा जाता था। [illegible]

३ 'आसफविलास'—[illegible]

[illegible]

४ [illegible]

५ [illegible]

६ [illegible] (१६८६ [illegible])

७ [illegible]

८ [illegible]

९ [illegible]

नाममाला	नन्ददास
नाममाला	बनारसीदास
अमरकोषभाषा	हरिजू मिश्र
नाममाला कोष	चन्दन
शब्दरत्नावलि	प्रयागदास

मुसलमान बादशाहों ने नाममालाकारों तथा अन्य संस्कृत के शास्त्रियों को अपने दरबार में आश्रय दिया। हर्षकीर्ति की लिखी 'नाममाला' एक प्रसिद्ध पर्याय कोष है।[1] हर्षकीर्ति के गुरु चन्द्रकीर्ति जहांगीर के द्वारा सम्मानित और संरक्षित थे।[2] हर्षकीर्ति ने अपनी 'धातु पाठ तरंगिणी' में संस्कृत के विभिन्न आश्रित शास्त्रकारों की सूची आश्रयदाताओं के नाम के साथ दी है।[3] सूची से अलाउद्दीन से लेकर जहांगीर तक की परम्परा स्पष्ट होती है। अकबर से पूर्व ही संस्कृत के शास्त्राचार्यों को मुस्लिम प्रश्रय प्राप्त होता रहा। संगीत आदि अन्य शास्त्रकारों को भी संरक्षण मिला। अनेक हिन्दी का यशास्त्र के रचयिताओं को भी मुस्लिम संरक्षण प्राप्त था।

केशव पूर्व हिन्दी काव्याचार्यों का विशेष विवरण तो प्राप्त नहीं पर वे भी या तो स्वतन्त्र थे अथवा भक्तिपरक काव्यशास्त्र से सम्बद्ध थे अथवा राज्याश्रित थे। पुण्ड या पुष्य राजा मान के आश्रित था।[4] केशवदास का सम्बन्ध यद्यपि एक हिन्दू राजा से था फिर भी जहांगीर से उनका गहरा सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता। आगे के आचार्यों का सम्बन्ध तो प्रायः राजाओं या मुस्लिम बादशाहों से था। इनका राज्याश्रय विवरण यों दिया जा सकता है—

सुन्दर कवि	शाहजहां
चिन्तामणि	नागपुर के मकरन्द शाह[5]
मतिराम	बूंदी के भावसिंह
भूषण	शिवाजी

१ पूना से १९६१ ई० में प्रकाशित। सम्पादक मधुकर मंगरापटवर

२ वही भूमिका पृ० vii

३ वज्रसेन—अलाउद्दीन (अलावदी) रत्नशेखर—फीरोजशाह (१३५१ १३८८ ई०) हमकीर्ति—सिकन्दरशाह (सुल्तान सिकन्दर लोदी १४८८ १५१८ ई०), आनन्दराय—हुमायूं (१५३० १५५४), चन्द्रकीर्ति—शाहसलीम (जहांगीर), पद्मसुन्दर मणि—अकबर (१५५६ १६०५)

४ *Journal of Indian History* Cultural Activities During the Reign of Allauddin Khilji *Introducing India* Part II Muslim Patronage and Contribution to Sanskrit Learning' J K Chaudhary

५ शिवसिंह सरोज, पृ० ७३ (सं० १९३४ वि०), शिवसिंह सरोज, पृ० ६ (भूमिका)

६ सुन्दर कवि आगरा समेत साहि मकरन्द।

महाराज दिवान जिमि भल मसुन्द सुचन्द ॥

इनको दक्षिण स्तोनकी तथा शाहजहां की कृपा भी प्राप्त था।

कुलपति मिश्र	महाराज रामसिंह (जयपुर)[1]
सुखदेव मिश्र	औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली
देव	कई आश्रयदाता पर मुख्य रूप से भोगीलाल
कालिदास त्रिवेदी	वीना के जालिम जोगाजीत
सूरति मिश्र	जहानाबाद के नेवाज मुहम्मद
आचार्य श्रीपति	सम्भवत स्वतन्त्र
सोमनाथ	प्रतापसिंह (भरतपुर)
करन कवि	पन्ना नरेश
भिखारीदास	अलवर नरेश हिंदूपति
प्रतापसाहि	चरखारी नरेश विक्रमसाहि
नवीन	नाभा नरेश जसवन्तसिंह
पद्माकर	जगतसिंह (जयपुर)[2]

राजाओं ने ही नहीं उनके अमीर उमरावों ने भी हिन्दी के आचार्यों को आश्रय दिया। वैसी वन्दीजन वजीर टिकैतराय (लखनऊ) के कृष्ण कवि जयपुर नरेश हरनाथ सिंह के पुत्र गोविन्द सिंह के आश्रित थे। इनके अतिरिक्त अनेक ज्ञात अज्ञात आचार्यों को राजाओं के अमीर उमरावों ने आश्रय दिया था।

इस प्रकार राज्याश्रय का द्वार हिन्दी और संस्कृत आचार्यों के लिए उन्मुक्त रहा। इस राज्याश्रय ने आचार्य का स्वरूप निर्धारित किया। हिन्दी के आचार्यत्व की सीमा निश्चित करने में संस्कृत की सुदीर्घ काव्यशास्त्र परम्परा का भी हाथ था। काव्यशास्त्र के प्रत्येक अंग पर प्राय अंतिम शब्द कहा जा चुका था। सिद्धान्तों का परीक्षण खण्डन-मण्डन तथा उनकी आलोचना प्रत्यालोचना हो चुकी थी। इस समृद्ध परम्परा ने प्रेरणा तो भरपूर दी पर हिन्दी के आचार्य के कर्तव्य पथ को जटिल बना दिया। काव्यशास्त्र में सक्रिय रूप से उद्भावक या व्याख्याता के रूप में भाग ले सकना सम्भव नहीं था। पर राज्याश्रय विनोद और विलास के रूप में काव्य और काव्यशास्त्र की सृष्टि की प्रेरणा दे रहा था। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र को स्रोत के रूप में स्वीकार करके और राज्याश्रय से प्रेरणा लेकर हिन्दी का आचार्य चला। हिन्दी के आचार्य के साथ कवि भी लगा रहा। आचार्यत्व की पूर्णता के लिए कवि ने उदाहरणों की योजना की। विजयी या पराजित आश्रयदाता के अवकाश क्षणों को प्रमोदित और विनोद विलास में मन्दित और स्फीत बनाना आश्रित कवि आचार्य का कर्तव्य-कर्म सुनिश्चित हुआ। इस काल का आश्रयदाता भोज और हर्ष की परम्परा में नहीं था जो काव्यशास्त्रीय सूक्ष्म ऊहापोह को आश्रय देता। वह सम्भवत शास्त्र में नहीं विनोद में काव्यशास्त्र में नहीं कविता के वाक्य

१ [illegible]

२ यह सूची [illegible] है। इसकी सूचना के लिए हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) देखिए।

शास्त्रीय रसास्वाद तथा तत्सवर्धी शक्ति सचय म अभिरुचि रखता था। उसकी रुचि का एक और पक्ष था वह काव्यशास्त्रीय उपलब्धि म इतना विश्वास नही रखता था, उस स्वय भी कविता की रचना (चाहे प्रयत्नसाध्य ही क्यो न हो) की अभिलाषा थी। तत्कालीन सामतीय जीवन का आदश वह था जो कामशास्त्र ने निश्चित किया था। नागरक की दिनचर्या म परिष्कृत रुचि और कला विलास का स्थान था। उसके लिए बहुमुखी ज्ञान अनिवाय था। साहित्य सगीत-कला की गोष्ठियां आयोजित होती रहती थीं। यह वातावरण 'कवि नही तो प्रयत्नसाध्य कवि अवश्य बना सकता था। कई राजाओ ने स्वय कविता की तथा काव्यशास्त्र की रचना भी की। कुछ प्रसिद्ध राजा या राजकुमार जिन्होन काव्यशास्त्र की रचना की ये थे —नरवरगढ क राजा रामसिंह तेरवा-नरेश यशवतसिंह अमेठी नरेश भूपति सिहरामऊ के रईस जमींदार रणधीर सिंह काशिराज (काशी-नरेश महाराज चेतसिंह क पुत्र) तथा भानकवि (राजा जोरावरसिंह के पुत्र)।[1] कवि क द्वारा प्रशस्ति गायन म राजा को अपने अमरत्व की ज्योति दीखती थी। इसक पुरस्कार म कवि को निश्चित अवकाश मिलता था। राजा प्रशस्ति के आधार पर ही अमरत्व के लोभी नही थे काव्य-नपुण्य प्राप्त करक कवि रूप म भी यश शरीर की प्राप्ति के इच्छुक थे।[2] कवियों और काव्याचार्यों क लिए यह सौभाग्य की बात थी। ऐस काव्यज्ञ राजाओ का अस्तित्व सस्कृत काल म भी था।[3] बाण क आश्रयदाता हप स्वय काव्य साधक थे। राजा भोज ने अपनी साहित्य साधना से अपने बहुशास्त्र ज्ञान को सिद्ध किया है। हाल सातवाहन का नाम प्राकृत साहित्य म प्रसिद्ध है ही। वाकपति राज ने गोडवहो नामक महाकाव्य की रचना कनोज क राजा यशोवमन क लिए की थी। इसस काश्मीराधिपति ललितादित्य क हाथों उसकी पराजय हो जान पर भी उसकी कीर्ति अक्षुण्ण रह सकी।

उद्देश्य

उक्त सामतीय वातावरण न हिन्दी क काव्यशास्त्र की दिशा निर्धारित की और उद्देश्य निश्चित किया। कुछ काव्यशास्त्र क ग्रथा क साथ 'विनोद सम्बद्ध हुआ— पद्माकर का जगद्विनोद' कालिदास का वधविनोद, चन्द्रशेखर का रसिकविनोद जनराज का कवितारसविनोद प्रतापसाहि का काव्यविनोद आदि। कुछ ग्रथा का नामकरण विलास क आधार पर हुआ—गोपाल राय का भूषणविलास मडन का रसविलास देव क भवानीविलास रसविलास और कुशलविलास समनेस का

[1] इनके विशेष परिचय के लिए देखिए हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) पृ ४२६, ४२ ४४१, ४५७ ४७४

[2] देव ने इस अमरत्व की चर्चा की है —
रहत न घर बर धाम धन तरवर सरवर कूप।
जस सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप॥ (काव्यरसायन)

[3] कीथ हिन्दी अनुवाद, पृ० ६६

कुलपति मिश्र	महाराज रामसिंह (जयपुर)[1]
सुखदेव मिश्र	औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली
देव	कई आश्रयदाता पर मुख्य रूप से भोगीलाल
कालिदास त्रिवेदी	बीजा के जालिम जोगाजीत
सूरति मिश्र	जहानाबाद के नेवाज मुहम्मद
आचार्य श्रीपति	सम्भवत स्वतंत्र
सोमनाथ	प्रतापसिंह (भरतपुर)
करन कवि	पन्ना नरेश
भिखारीदास	अलवर नरेश हिंदूपति
प्रतापसाहि	चरखारी नरेश विक्रमसाहि
नवीन	नाभा नरेश जसवन्तसिंह
पद्माकर	*जगतसिंह (जयपुर)*[1]

राजाओं ने ही नहीं उनके अमीर उमरावों ने भी हिंदी के आचार्यों को आश्रय दिया। बेनी बन्दीजन वजीर टिकतराय (लखनऊ) के कृष्ण कवि जयपुर नरेश हरनाथ सिंह के पुत्र गोविन्द सिंह के आश्रित थे। इनके अतिरिक्त अनेक ज्ञात अज्ञात आचार्यों को राजाओं के अमीर उमरावों ने आश्रय दिया था।

इस प्रकार राज्याश्रय का द्वार हिंदी और संस्कृत आचार्यों के लिए खुला रहा। इस राज्याश्रय ने आचार्य का स्वरूप निर्धारित किया। हिंदी के आचार्यत्व की सीमा निश्चित करने में संस्कृत की सुदीर्घ काव्यशास्त्र-परम्परा का भी हाथ था। काव्यशास्त्र के प्रत्येक अंग पर प्राय अन्तिम शब्द कहा जा चुका था। सिद्धान्तों का परीक्षण खण्डन-मण्डन तथा उनकी आलोचना प्रत्यालोचना हो चुकी थी। इस समृद्ध परम्परा ने प्रेरणा तो भरपूर दी पर हिंदी के आचार्य के कर्तव्य पथ को जटिल बना दिया। काव्यशास्त्र में सक्रिय रूप से उद्भावक या व्याख्याता के रूप में भाग ले सकना सम्भव नहीं था। पर राज्याश्रय विनोद और विलास के रूप में काव्य और काव्यशास्त्र की सृष्टि की प्रेरणा दे रहा था। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र को स्रोत के रूप में स्वीकार करके और राज्याश्रय से प्रेरणा लेकर हिंदी का आचार्य चला। हिंदी के आचार्य के साथ कवि भी लगा रहा। आचार्यत्व की पूर्णता के लिए कवि ने उदाहरणों की योजना की। विजयी या पराजित आश्रयदाता के अवकाश क्षणों को उत्तेजित और विनोद विलास से मंडित और स्फीत बनाना आश्रित कवि आचार्य का कर्तव्य कर्म सुनिश्चित हुआ। इस काल का आश्रयदाता भोज और हर्ष की परम्परा में नहीं था जो काव्यशास्त्रीय सूक्ष्म ऊहापोह को आश्रय देता। वह सम्भवत शास्त्र में नहीं विनोद में काव्यशास्त्र में नहीं कविता के कान्त

[1] [illegible]

[2] [illegible] है। [illegible] सूची के लिए हिन्दी साहित्य के [illegible] (२८ [illegible]) [illegible]।

शास्त्रीय रसास्वाद तथा तत्सम्बन्धी शक्ति-सचय में अभिरुचि रखता था। उसकी रुचि का एक और पक्ष था वह काव्यशास्त्रीय उपलब्धि में इतना विश्वास नहीं रखता था उसे स्वयं भी कविता की रचना (चाहे प्रयत्नसाध्य ही क्यों न हो) की अभिलाषा थी। तत्कालीन सामन्तीय जीवन का आदर्श वह था जो कामशास्त्र ने निश्चित किया था। नागरक की दिनचर्या में परिष्कृत रुचि और कला विलास का स्थान था। उसके लिए बहुमुखी ज्ञान अनिवार्य था। साहित्य-संगीत-कला की गोष्ठियाँ आयोजित होती रहती थीं। यह वातावरण 'कवि' नहीं तो प्रयत्नसाध्य कवि अवश्य बना सकता था। कई राजाओं ने स्वयं कविता की तथा काव्यशास्त्र की रचना भी की। कुछ प्रसिद्ध राजा या राजकुमार जिन्होंने काव्यशास्त्र की रचना की थे—नरवरगढ़ के राजा रामसिंह, तेरवा-नरेश यशवन्तसिंह, अमेठी-नरेश भूपति, सिन्धामऊ के रईस जमींदार रणधीर सिंह, काशिराज (काशी-नरेश महाराज चेतसिंह के पुत्र) तथा मानकवि (राजा जोरावरसिंह के पुत्र)।[1] कवि के द्वारा प्रशस्ति-गायन में राजा को अपने अमरत्व की ज्योति दीखती थी। इसके पुरस्कार में कवि को निश्चिन्त अवकाश मिलता था। राजा प्रशस्ति के आधार पर ही अमरत्व के लोभी नहीं थे वरन् पुण्य प्राप्त करके कवि रूप में भी यशःशरीर की प्राप्ति के इच्छुक थे।[2] कवियों और काव्याचार्यों के लिए यह सौभाग्य की बात थी। ऐसे काव्यचतुर राजाओं का अस्तित्व संस्कृत काल में भी था।[3] बाण के आश्रयदाता हर्ष स्वयं काव्य साधक थे। राजा भोज ने अपनी साहित्य साधना से अपने बहुशास्त्र ज्ञान को सिद्ध किया है। हाल सातवाहन का नाम प्राकृत साहित्य में प्रसिद्ध है ही। वाक्पति राज ने 'गौडवहो' नामक महाकाव्य की रचना कन्नौज के राजा यशोवर्मन के लिए की थी। इससे काश्मीराधिपति ललितादित्य के हाथों उनकी पराजय हो जाने पर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण रह गयी।

उद्देश्य

उक्त सामन्तीय वातावरण ने हिन्दी के काव्यशास्त्र की दिशा निर्धारित की और उद्देश्य निश्चित किया। कुछ काव्यशास्त्र के ग्रंथों के साथ 'विनोद' सम्बद्ध हुआ—पद्माकर का 'जगद्विनोद', कालिदास का 'वधूविनोद', चन्द्रशेखर का 'रसिकविनोद', जनराज का 'कवितारसविनोद', प्रतापसाहि का 'काव्यविनोद' आदि। कुछ ग्रंथों का नामकरण 'विलास' के आधार पर हुआ—गोपाल राय का 'भूषणविलास', मदन का 'रसविलास', देव के 'भवानीविलास', 'रसविलास' और 'कुशलविलास' मतराम का

[1] इनके विशेष परिचय के लिए देखिए, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ४७६, ४२ ४८१, ४१३, ४३४

[2] देव ने इस अमरत्व की चर्चा की है—
रहत न घर बर धाम धन तरुवर सरवर कूप।
जस सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप॥ (काव्यरसायन)

[3] कीथ हिन्दी अनुवाद पृ० ६६

रसिकविलास, बेनी बंदीजन का रसविलास,[1] बलवीर का दंपतिविलास, लाल कवि का विष्णुविलास, भोगीलाल दुबे का बखतविलास, देव का भावविलास, रूपसाहि का रूपविलास, प्रतापसाहि का काव्यविलास आदि। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत के काव्यशास्त्रों की शैली पर नामकरण हुआ ही नहीं। सबसे लोकप्रिय नाम भूषण या उसके पर्यायों के आधार पर बना।[2] इससे अलंकार प्रियता स्पष्ट होती है। वैसे अलंकार लक्षण ग्रंथों का नामकरण इस प्रकार का हुआ। संस्कृत में भी इस प्रकार के नाम थे—काव्यालंकार, काव्यालंकारसूत्र, प्रतापरुद्र यशोभूषण, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि। प्रकाश,[3] आलोक, चन्द्रिका[4] आदि से युक्त नाम भी संस्कृत की परम्परा में आते हैं। दर्पण[5] की शैली के भी कुछ नाम हैं। फिर भी विनोद और विलास वाला नामकरण नवीन प्रतीत होता है और प्रवृत्ति की दृष्टि से एक प्रमुख प्रेरणा स्रोत की ओर संकेत करता है।

इन राज्याश्रित आचार्यों का उद्देश्य निरूपण भी युग की परिस्थितियों और राजरुचि के अनुसार हुआ। इनके ग्रन्थों में विकास हुआ है। काव्यशास्त्र काव्य-साधना का एक अंग था। सदोष काव्य कर्ता को समाज में निन्द्य बना देता है।[6] आचार्यों ने काव्य की सफलता के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को आवश्यक माना है। व्युत्पत्ति विविध शास्त्रों का ज्ञान है तथा अभ्यास का आधार काव्यशास्त्र का ज्ञान है। इस साधना के लिए पद्माकरदास ने काव्यशास्त्र तथा अन्य सम्बद्ध शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता बताई है। इससे ही प्रवीण हो वही सुकवि है।[7] दूलह ने इस बात को और भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अलंकार ज्ञान से युक्त और अलंकार प्रयोग में निष्णात कवि भरकुनी होता है और सभा में उसका आदर होता है।[8] सभा में शोभित होने और राजदरबार में सम्मान पाने के इच्छुकों के लिए इसीलिए काव्यशिक्षा की आवश्यकता थी। यदि कवित्व शक्ति जन्मसिद्ध होता है तो उसके लिए कविशिक्षा और निरीक्षण भी आवश्यक होता है। वैसे सत्कवियों (=आचार्यों) ने पूर्वकाल में

[1] [illegible] का [illegible]भूषण, [illegible] का कण्ठाभरण, [illegible] भूषण तथा भूषभूषण, [illegible] का सभाभूषण, भूषण का शिवराजभूषण, भूपति का कंठाभूषण, [illegible] का [illegible] का [illegible]।

[2] [illegible] का [illegible]प्रकाश, [illegible] का रूपप्रकाश, [illegible] का अलंकाराभा[illegible], [illegible] मिश्र का [illegible]प्रकाश, [illegible] का [illegible]प्रकाश।

[3] [illegible] का [illegible], [illegible] सुमति का [illegible], सूरति मिश्र का [illegible]।

[4] [illegible] का [illegible], [illegible] का [illegible]।
[illegible]

[5] [illegible] कथ में [illegible] ग्रंथ का ज्ञान।
[illegible] निपुन सुकवि [illegible] जान ॥—[illegible]

[6] [illegible]।—[illegible]कंठाभरण ४

[7] [illegible] ग्रन्थ में [illegible] किये।
[illegible] सुना [illegible] लोक का बानि ॥
—[illegible]

बड़े-बड़े सिद्धान्तों की सृष्टि की थी, पर अलंकृती बनने के इच्छुक कवियों के लिए ऐसे लघु प्रयत्नों की भी आवश्यकता थी जो उन सिद्धान्तों को सुगम सुलभ कर दें।[1] जो सिद्धान्तों के इन लघु संस्करणों को कंठस्थ कर लेंगे उनको भारती की सिद्धि हो सकती है।[2] इस युग के काव्यशास्त्र और आचार्य का उद्देश्य इसी आवश्यकता से निश्चित हुआ। राज्याश्रय का मोह अनेक नवीन कवियों को काव्यशास्त्र की ओर आकर्षित कर रहा था। इसीलिए कविशिक्षा और तत्सम्बन्धी ग्रंथों की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। सभी कवियों के पास इतनी शक्ति सम्पत्ति कहाँ थी कि काव्यशिक्षा के सहारे के बिना ही युगकवि बनकर अपना स्थान बना सकें। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' परम्परा का कवि अपनी अनिंद्य भाव सम्पदा के आधार पर चल सकते थे। आरम्भ से ही हिन्दी के आचार्य ने कवि की इस आवश्यकता को ध्यान में रखा। कृपाराम ने अपनी हिततरंगिणी की रचना कविहित की।[3] केशव का उद्देश्य स्पष्टतः शास्त्रोन्मुख हो जाता है। उनकी दृष्टि में कवि ही नहीं पाठक भी आता है। भामह की भाँति वे भी दोषयुक्त काव्य और उसके कर्ता को समाज में निन्द्य समझते थे।[4] साथ ही अलंकाररहित कविता की स्थिति की भी वे कल्पना नहीं कर सकते थे।[5] अतः उन्होंने कविहित का ध्यान में रखकर ही 'कविप्रिया' की रचना की। जो कवि बनना चाहते हैं उन्हें 'कविप्रिया' कंठस्थ कर लेनी चाहिए।[6] केशव की दृष्टि कविशिक्षा की थी। वे बाला-बालकों की शिक्षा के लिए शिक्षाग्रन्थ की रचना कर रहे थे। कविशिक्षा की परम्परा राजशेखर से निश्चित रूप में चली थी। इसका वर्णन पीछे दिया जा चुका है। इस शिक्षा सम्प्रदाय का उद्देश्य काव्यशास्त्र को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाले नौसिखिए कवियों को इस शास्त्र की ओर आकर्षित करना था। राज्याश्रय का लाभ अनेक कवियों को आकर्षित तो कर रहा था पर कविपथ से अनजान रहकर उनकी साधना पूर्ण नहीं हो पाती थी। व्याकरणशास्त्र से विमुख विद्यार्थियों को इस शास्त्र की ओर आकर्षित करने के लिए यही काम

१ सिद्धान्त मत कविन के अर्थाशय लघुरूप।
कवि दूलह याते किया कविकुलकंठाभरण॥

२ ग्रन्थ काव्य सिद्धान्त जो समुझि करहिंगे कंठ।
तिन्हें बसैगी भारती हिय रसना उपकंठ॥—दूलह

३ हित तरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकास।
इसे [illegible] माना है हिन्दी साहित्य पृ० ८

४ राजत रंच न दोषयुत कविता बनिता मित्र।
बुंदक हाला होत ज्यों, गंगाघट अपवित्र॥—कविप्रिया ।४

५ जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥ कविप्रिया ।१

६ कंठन ज्यों कविप्रिया करयहु कविराज।—कविप्रिया २।३ दूलह ने भी [illegible]
मिलाया।

७ समुझैं बाला बालकनि बरनन पंथ अगाध।
कविप्रिया केसव करी छमियो कवि अपराध॥—क० प्रि० ३।१

कात्यायन ने पाणिनि सूत्रों की वार्तिक की रचना द्वारा किया था। केशव ने पूर्वाचार्यों के पुष्ट और सुनिश्चित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की आलोचना प्रत्यालोचना या उनका खण्डन मण्डन न करके उनको भाषा की सरल शैली में निबद्ध किया। विषय की सुस्पष्टता के लिए केशव ने उदाहरण प्रत्युदाहरणों की रचना की। इस प्रकार व्याख्याकार आचार्य के कार्य का सम्पादन भी किया[1] और कवि शिक्षाचार्य का भी। इस प्रकार केशव ने कवि-यशेच्छु नवीन कवियों के हितार्थ पूर्वाचार्यानुमोदित सिद्धान्तों को सुबोध शैली में प्रस्तुत किया और लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण प्रत्युदाहरणों की योजना की। उदाहरणों में राम-कृष्ण को स्थान देकर भक्तिक्षेत्रीय नवीन कवियों को भी काव्यशास्त्रीय शिक्षा की ओर आकर्षित किया। केशव का 'बालाबालकनि' वाला उद्देश्य अप्पयदीक्षित से साम्य रखता है।[2] केशव का लक्ष्य शुद्ध कविशिक्षा था। पर अप्पयदीक्षित ने ललित नियते लिखकर उदाहरणों के लालित्य की ओर सम्भवतः संकेत किया है। मतिराम ने ललितललाम नामकरण करके इसी परम्परा से अपना सम्बन्ध जोड़ा था। डा० ओमप्रकाश ने इसका अर्थ 'सुकुमारोपयोगी' दिया है।[3] भूषण का उद्देश्य अलंकार निरूपण नहीं शास्त्रीय माध्यम से शिवा-चरित्र गायन था। इस प्रकार कविशिक्षा से ललितललाम और उससे शिवराज भूषण उद्देश्य विकास की दिशा को स्पष्ट करते हैं। केशव का उद्देश्य प्रायः शास्त्रीय था। जसवन्तसिंह ने भाषाभूषण की रचना भाषा में निपुण और कविता विष प्रवीनों के लिए की।[5] यहाँ बालाबालकनि वाला उद्देश्य नहीं दीखता। कविता विष प्रवीन से तात्पर्य सम्भवतः काव्यशक्ति से युक्त होना है जो दूलह के अनुसार जन्मजात होती है। उसको विकसित कविशिक्षा करती है। रसलीन ने ब्रजभाषा सीखने के लिए ही लक्षण ग्रन्थ रचा[6]। इस प्रकार उद्देश्य का विस्तार होता रहा। भूषण और रसलीन ने स्वयं अपने हित के लिए अलंकार निरूपण किया। केशव का जो उद्देश्य आरम्भ में था वह ज्यों का त्यों पीछे न रह सका शुद्ध कविशिक्षा का उद्देश्य न रहकर उद्देश्य मिश्रित होता गया।

उद्देश्य की दूसरी दिशा और है। रसिकों के लिए भी काव्यशास्त्र की रचना हुई। पाठक को सामान्य से अधिक रस प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करने में काव्य

१ व्याख्याता आचार्य का कार्य पाणिनि ने भी स्पष्ट किया है — न ह्येतावता [illegible] व्याख्यानं [illegible] [illegible] । किं तर्हि । उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति । (I [illegible] 189)

२ [illegible] बालानाम् [illegible] निबद्ध । ललित [illegible] लक्षण [illegible] ॥ कुवलयानन्द ४

३ हिन्दी अलंकार [illegible] पृ० [illegible]

४ शिव चरित्र [illegible] कवि भूषण के चित्त । [illegible] भूषन [illegible] ॥—शि० भू० [illegible]

५ [illegible] ग्रन्थ [illegible] । [illegible] निपुन कविता [illegible] प्रवीन ॥—भाषाभूषण

६ [illegible] ।—[illegible] १०८

शास्त्र का योग रहना है।[१] भक्तों का उद्देश्य प्रेम रस परिचय देना था।[२] एक मित्र ने नन्ददास में विशेष आनन्द प्राप्ति के लिए नायक-नायिका भेद के लिए जिज्ञासा प्रकट की।[३] केशव की दृष्टि में भी यह रसिक जिज्ञासु वर्ग था। नन्ददास की भांति उन्होने भी विशिष्ट और सामान्य द्विविध उद्देश्य से रसिकप्रिया की रचना की। सामान्य दृष्टि से उनके सामने रसिक जिज्ञासु वर्ग है।[४] विशिष्ट रूप से उनकी दृष्टि में प्रवीणराय है जिसको सविता ने कविता शक्ति प्रदान की थी। अतः उसके विकास के लिए उसे कविशिक्षा अपेक्षित थी।[५] पर कविशिक्षा का सम्बन्ध मुख्यतः अलंकार शिक्षा से माना गया। इस विशिष्ट शिक्षा की अधिकारिणी प्रवीणराय मानी गई है, अतः रसिकप्रिया की उपयोगिता भी भाषाकवि के लिए है।[६] पर पारिभाषिक रूप में रस रीति का परिचय कराने को रसिकप्रिया और कविशिक्षा देने के लिए कविप्रिया की रचना मानी जानी चाहिए। छन्दमाला की रचना भी कविशिक्षा से सम्बद्ध है। भाषाकवि को संस्कृत छन्दों की शिक्षा ही केशव को इस ग्रन्थ में अभीष्ट है। इस प्रकार केशव का उद्देश्य उन्हें आचार्य के पद पर अधिष्ठित कर देता है। रसिकों के हितार्थ काव्यशास्त्र की रचना की परम्परा आगे भी चलती रही। भिखारीदास का उद्देश्य भी रसिकों के सामान्य ज्ञान से सम्बद्ध है।[८] दास के अनुसार बुद्धिमानों तथा रसिकों के लिए काव्यचर्चा सदैव सुखद होती है।[९] इस प्रकार रीतिकालीन आचार्यों के उद्देश्य में १८वीं शती तक विकास होता है। कविशिक्षा का शुद्ध शास्त्रीय उद्देश्य पीछे रसिकजनों को सामान्य परिचय देने की ओर मुड़ गया। संस्कृत के काव्याचार्यों का भी उद्देश्य इसी प्रकार द्विविध बना रहा यश प्राप्ति और आनन्द प्रदान करना।[१०] यश प्राप्ति के इच्छुक कवि भी इससे लाभान्वित होते थे।

१ डा० भगीरथ मिश्र "यथार्थ में काव्यशास्त्र के उद्देश्य दो ही होते हैं। एक तो उपरियन काव्य के सौन्दर्य को स्पष्ट करके उसके द्वारा सामान्य से अधिक आनन्द प्राप्त करना दूसरा लोपा से बचाते हुए उत्तम काव्य सृष्टि की प्रबल प्रेरणा भर देना।"
—हिन्दी काव्यशास्त्र का इति।न

२ बिन जाने यह भेद सब प्रेम न परचै होय। नन्ददास, रसमंजरी—प्रस्तावना

३ एक मीत हमसों अस गुन्यो। मैं नायका भेद नहिं सुन्यो।
अरु जो भेद नायक के गुने। तेहू मैं नहिं नीके गुने॥ रसमंजरी—प्रस्तावना

४ रसिकन को रसिकप्रिया कीनी केशवदास॥ रसिकप्रिया १।१२

५ सविता जू कविता दई ता कहँ परम प्रकास।
ताते काज कविप्रिया कीन्ही केशवदास॥ कविप्रिया १।६१

६ जैसे रसिक प्रिया बिना देखिय दिन दिन दीन।
त्यों ही भाषा कवि सबै रसिकप्रिया बिनु हीन॥ रसिक० १०।२५

७ भाषा कवि समुझै सबै सिगरे छन्द सुभाय।
छन्दन की माला करी सोभन केशवराय॥ छन्दमाला।

८ चाहत जानि जु थोर ही रस कवित्त को वंश।
तिन रसिकन के हेत यह कीन्हो रस सारांश॥ रससारांश

९ दास कवित्तन की चरचा बुधिवन्तन को सुख दै सब ठाँइ॥ काव्यनिर्णय

१० 'The two great ends which appeal to them are—the winning of

रसिकों के लिए काव्यानन्द की अनुभूति कराने का शास्त्रीय पद्धति प्रतिष्ठित करके आनन्द प्रदान करने में भी आचार्य समर्थ थे।

कवि आचार्य : लक्ष्य और लक्षण

हिन्दी में आचार्य के साथ कवि भी लगा हुआ था। इस समन्वय से आचार्यत्व और कवित्व दोनों ही प्रभावित हुए थे। वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरणों की योजना संस्कृत काव्यशास्त्र का अभिन्न अंग रहा है इसपर पहले विचार किया जा चुका है। धनञ्जय ने 'व्याख्याता आचार्य' के कर्तव्य में उदाहरण प्रत्युदाहरण भी सम्मिलित किए थे। वैसे कुछ संस्कृत के आचार्यों ने भी स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किए थे।[1] इस समन्वय का कारण युग की परिस्थितियों में निहित है। अकेला कवित्व या आचार्यत्व सामन्तीय युग की उच्चवर्गीय रुचि और विनोद वृत्ति को तुष्ट नहीं कर सकता था। वातावरण शुद्ध शास्त्रीय ऊहापोह, भाष्य, व्याख्यान या विवेचन के उपयुक्त नहीं रहा। इस वातावरण ने आचार्यत्व को सीमित कर दिया। पर पारिभाषिक रूप से उदाहरण रचना भी आचार्य-धर्म की विरोधी प्रवृत्ति का द्योतन न करके पूरक प्रवृत्ति की सूचना देती है। इन आचार्य का उद्देश्य भी काव्यशास्त्र का सामान्य परिचय कवि और रसिक को देना था। इस कार्य की सफलता सरस उदाहरणों पर निर्भर करती थी।[2] कृपाराम ने लक्षणयुक्त उदाहरणों को सरस बनाने की दृष्टि भी रखी है।[3] लक्षण निरूपण सिकुड़ता हुआ सूत्र शैली अपना रहा था। जयदेव और अप्पयदीक्षित ने प्रथम पंक्ति में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण प्रस्तुत किया था। इस प्रकार लक्षण उदाहरण दोनों को संक्षिप्त बनाने की चेष्टा मिलती है। कृपाराम ने विस्तृत छन्दों को छोड़कर दोहे को लक्षण निरूपण के लिए अपनाया। अक्षर थोरे भेद बहु कहकर सूत्र शैली की ओर अपनी रुचि प्रदर्शित की है।[4] उदाहरणों में भक्ति के प्रवेश ने उनको और भी स्फीत कर दिया। भक्ति का सम्बन्ध आध्यात्मिक राग से है। भाषा ने रामभूषण में राम के चरित्र को उदाहरणों में व्यक्त किया। चरित्र जब उदाहरणों में प्रविष्ट हो जाता है तो उदाहरणों में एक प्रबन्ध सूत्र रखना भी आवश्यक सा हो जाता है। केशव ने राम-कृष्ण को उदाहरणों में स्थान दिया चाहे भक्ति-भावना न रही हो पर आगे कृष्ण और राधा ही उदाहरणों में अधिक लोकप्रिय

---

fame and the giving of pleasure ' (Keith *Hist of Skt Lit* p 338)

२ इनमें जयदेव, अप्पयदीक्षित प्रभृति आचार्यों का नाम लिया जा सकता है।

३ 'रीति कवि का ध्येय भाषा के पाठक को काव्यशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से परिचित करा देना भर था। सरसता के कारण वह इस कार्य में अधिक सफल हो सकता था।' —डा० ओम्प्रकाश, हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ५१।

रच्यो ग्रन्थ कविमित धर धर कृष्ण को ध्यान।
रामभूषण उदाहरन लक्षन जुत म्यान॥

४ सतसई कविन कियो रस ... बहु विस्तारि।
मैं अपनी मति सिंह किय ... बिचारि॥

५ अक्षर थोरे भेद बहु पूरन रस को धाम॥

होते गए। इसका कारण यह था कि कृष्णचरित्र ऐसे प्रेम रस प्रसंगों की शृंखला है जो मुक्तक और गीतों के लिए पूर्ण विषय बन सकते थे। 'रामचन्द्रिका' जैसे एक उदाहरण ग्रन्थ ही कहा जा सकता है[1] पर राम चरित्र की प्रबन्धात्मक प्रकृति के कारण यह लक्षणों से मुक्त ग्रन्थ है। केवल शीर्षकों से छन्द ज्ञान होता है। साथ ही रसराज की विभाव भूमिका में राम का मर्यादा वेष्टित चरित्र उपयुक्त नहीं हो सकता था। अतः राधा कृष्ण अपने समस्त पौराणिक, सांस्कृतिक और माधुर्य की पृष्ठभूमि के साथ इस युग के आचार्यों के उदाहरणों में विराजमान हुए। रीतिकालीन अधिकांश आचार्यों में द्विविध मंगलाचरण की परम्परा चली। केशव जैसे आचार्यों ने यदि शास्त्र की सफलता की दृष्टि से सिद्धि सदन गजवदन गणेश या शिव की वंदना की तो उदाहरणों के प्राण रसविग्रह कृष्ण की वंदना भी संलग्न रही। पीछे केवल कृष्ण वंदना अवशिष्ट रह गई। यह उदाहरणों की लक्षण निरूपण पर क्रमशः विजय की सूचना देती है। कुलपति ने कृष्ण की वंदना की। तोष ने हरि राधिका की कथा को ही उदाहरण रूप में ग्रहण किया।[2] मतिराम ने तो उदाहरणों में राधा कृष्ण का अतुल सौन्दर्य माधुर्य उड़ेल दिया। पर भक्ति शृंगारयुक्त उदाहरणों की विजय यात्रा केशव के पश्चात् विशेष रूप से सफल हो गई। तोष कवि (सुधानिधि) में राधा-कृष्ण-केलि का रसग्राही वर्णन ही अभिप्रेत है। रस-नायिका शास्त्र का रूप मात्र यत्र-तत्र उपलब्ध है। सेवादास ने अपने रस दर्पण में राधा-कृष्ण और सीता राम के मधुर रूप के उदाहरण सजाते रहे। पर एक विशेष बात दीखती है भक्ति भाव और रसमयता के आधार पर उदाहरणों की विजय मुख्यतः रस नायिका-नखशिख निरूपण की परम्परा में मिलती है। कृष्णभक्ति साहित्य के मधुर रस की छाया रस-सम्बन्धी आचार्यत्व पर बनी रही। कृष्ण भट्ट ने 'शृंगाररसमाधुरी' में शृंगार का माहात्म्य विवेचन से संयुक्त किया है। साथ ही इनमें भूषण-दूषण की जटिल पारिभाषिक पद्धति के प्रति एक भ्रांति भी परिलक्षित होती है।[3] चन्द्रदास कृत 'शृंगार सागर' का आधार 'रासपंचाध्यायी' है इसको भक्ति शृंगार रस ग्रन्थ कहा जा सकता है इसमें लक्षण निरूपण गौण और राधारहस मुख्य है।[4] इस प्रकार रस-सम्बन्धी शास्त्र प्रणयन में उदाहरणों की ओर विशेष आकर्षण रहा।

अलंकार निरूपण काव्यशास्त्र का विशेष पारिभाषिक अंग था। यहां रस में

१ रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द।
२ केलि कथा हरि राधिका की पर ह्वै म जथामति प्रेम दसानो॥
३ भाषों सिंगार महातम माधुरी भूषन दूषन ना न दूषन जानौ॥ ७॥
४ पंचाध्यायी ध्यान यह बरना सुक मुनि व्यास।
पढ़त सुनत पावन सुयश नरनारी कैलास।
नौरस पारस सार रस दरस भूषन मन।
बरनऊं सीता कृष्ण सुभ गोचार सात्विक धन॥३॥
लालदन ज नत रसिक जन साधु जानत ध्यान।
चन्द बखानत कृष्णगुन राधारहस विधान।

रसिकों के लिए काव्यानन्द की अनुभूति कराने की शास्त्रीय पद्धति प्रतिष्ठित करके आनन्द प्रदान करने में भी आचार्य समर्थ थे।

कवि आचार्य : लक्ष्य और लक्षण

हिन्दी के आचार्य के साथ कवि भी लगा हुआ था। इस समन्वय से आचार्यत्व और कवित्व दोनों ही प्रभावित हुए थे। वस्तुतः उपयुक्त उदाहरणों की शास्त्र दृष्टि और योजना शास्त्र का अविच्छिन्न अंग रहा है इसपर पहले विचार किया जा चुका है। पतंजलि ने व्याख्याता आचार्य के कर्तव्य में उदाहरण प्रत्युदाहरण भी सम्मिलित किए थे। बड़े बड़े संस्कृत के आचार्यों ने भी स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किए थे।[1] इस समन्वय का कारण युग की परिस्थितियों में निहित है। अकेला कवित्व या आचार्यत्व तत्कालीन युग की उच्चवर्गीय रुचि और विलास वृत्ति को तुष्ट नहीं कर सकता था। वातावरण शुद्ध शास्त्रीय ऊहापोह, शास्त्र व्याख्यान या विवेचन के उपयुक्त नहीं रहा। इस वातावरण ने आचार्यत्व को सीमित कर दिया। पर परिमाणिक रूप से उदाहरण रचना भी आचार्य-कर्म की विशिष्ट उन्नति का द्योतन न करके पूरक प्रवृत्ति की सूचना देता है। इस आचार्य का उद्देश्य भी काव्यशास्त्र का सामान्य परिचय कवि और रसिक को देना था। इस कार्य की सफलता सरस उदाहरणों पर निर्भर करती थी। कृपाराम ने लक्षणानुकूल उदाहरणों को 'सरस' बनाने की दृष्टि भी रखी है।[2] लक्षण निरूपण विशुद्धता हेतु सूत्र शैली अपना रहा था। जयदेव और अप्पयदीक्षित ने प्रथम पंक्ति में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण प्रस्तुत किया था। इस प्रकार लक्षण उदाहरण दोनों को संक्षिप्त बनाने की चेष्टा मिलती है। कृपाराम ने विस्तृत छन्दों को छोड़कर दोहे को लक्षण निरूपण के लिए अपनाया। अमरदास ने बढ़कर सूत्र शैली की ओर अपनी रुचि प्रदर्शित की है।[3] उदाहरणों में भक्ति के प्रवेश ने उनको और भी स्पष्ट कर दिया। भक्ति का सम्बन्ध आध्यात्मिक राग से है। गोप ने 'रामभूषण' में राम के चरित्र को उदाहरणों में व्यक्त किया। चरित्र जब उदाहरणों में प्रविष्ट हो जाता है तो उदाहरणों में एक प्रबन्ध सूत्र रखना भी आवश्यक सा हो जाता है। रसरूप ने 'राम-कृष्ण' को उदाहरणों में स्थान दिया, चाहे भक्ति-भावना न रही हो, पर आगे कृष्ण और राधा ही उदाहरणों के अधिक लोकप्रिय

---

fame and the giving of pleasure [1](Keith Hist of Skt Lit p 338)

[2] इसके उदाहरण [illegible] ग्रन्थों से [illegible] दिया जा सकता है।

"रसिकों कवि का ध्येय [illegible] के पाठक को काव्यानन्द के आनन्द सिद्धान्तों से परिचित कराना [illegible] इस कारण वह इस कार्य में अधिक सफल हो सकता था।" —डा० [illegible] हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० ४[illegible]।

रस [illegible] के [illegible] की [illegible]।
[illegible] सुन [illegible], [illegible]॥

[4] [illegible] कवि [illegible] दोउ [illegible]।
है [illegible] [illegible] सूर [illegible]॥

[5] [illegible] बहु सूत्र [illegible] की [illegible]॥

होते गए। इसका कारण यह था कि कृष्णचरित्र ऐसे प्रेम रस प्रसंगों की शृंखला है जो मुक्तक और गीतों के लिए पूर्ण विषय बन सकते थे। रामचंद्रिका जैसे एक उदाहरण ग्रंथ ही कहा जा सकता है[1] पर राम चरित्र की प्रबंधात्मक प्रकृति के कारण यह लक्षणों से मुक्त ग्रंथ है। केवल शीर्षकों से छंद ज्ञान होता है। साथ ही रसराज की विभाव भूमिका में राम का मर्यादा वेष्टित चरित्र उपयुक्त नहीं हो सकता था। अत राधा कृष्ण अपने समस्त पौराणिक सांस्कृतिक और माधुर्य की पृष्ठभूमि के साथ इस युग के आचार्यों के 'उदाहरणों में विराजमान हुए। रीतिकालीन अधिकांश आचार्यों में द्विविध मंगलाचरण की परम्परा चली। केशव जैसे आचार्यों ने यदि शास्त्र की सफलता की दृष्टि में सिद्धि सदन गजवदन गणेश या शिव की वंदना की तो उदाहरणों के प्राण रसविग्रह कृष्ण की वंदना भी संलग्न रही। पीछे केवल कृष्ण वंदना अवशिष्ट रह गई। यह उदाहरणों की लक्षण निरूपण पर क्रमश विजय की सूचना देती है। कुलपति ने 'कृष्ण' की वंदना की। तोष ने हरि राधिका की कथा को ही उदाहरण रूप में ग्रहण किया।[2] मतिराम ने तो उदाहरणों में राधा कृष्ण का अतुल सौन्दर्य माधुर्य उडेल दिया। पर भक्ति शृंगारयुक्त उदाहरणों की विजय यात्रा केशव के पश्चात् विशेष रूप से सफल हो गई। तोष कवि (सुधानिधि) में राधा-कृष्ण-केलि का रसग्राही वर्णन ही आयासित है। रस-नायिका शास्त्र का स्वर मात्र यत्र तत्र उपलब्ध है। भवानीदास ने अपने रस दर्पण में राधा-कृष्ण और सीता राम के मधुर रूप के उदाहरण सजाए रहे। पर एक विशेष बात दीखती है भक्ति भाव और रसमयता के आधार पर उदाहरणों की विजय मुख्यत रस नायिका अलंकार निरूपण की परम्परा में मिलती है। कृष्णभक्ति साहित्य में मधुर रस की छाया रस-सम्बन्धी आचार्यत्व पर बनी रही। कृष्ण भट्ट ने शृंगाररसमाधुरी में शृंगार को महारस विशेषण से संयुक्त किया है। साथ ही इसमें भूषण दूषण की जटिल पारिभाषिक पद्धति के प्रति एक भ्रांति भी परिलक्षित होती है।[3] चन्ददास कृत शृंगार सागर का आधार रासपंचाध्यायी है इसको भक्ति शृंगार रस ग्रंथ कहा जा सकता है इसमें लक्षण निरूपण गौण और राधारहस मुख्य है।[4] इस प्रकार रस-सम्बन्धी शास्त्र प्रणयन में उदाहरणों की ओर विशेष आकर्षण रहा।

अलंकार निरूपण काव्यशास्त्र का विशेष पारिभाषिक अंग था। यहां रस में

१ रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द।

२ केलि कथा हरि-राधिका की पर छंद जथामति प्रेम बखानो ।।

३ भाषों सिंगार महारस माधुरी भूषन जानो न दूषन जानो ।।१०।।

४ पंचाध्यायी व्यास सुत बरनी सुक मुनि व्यास।
पठत सुनत पावन सुपन नरनारी कैलास।
तीरथ धाम भजन रस हास भूषन मन।
बरनऊं लीला कृष्ण गुन गोचार सात्विक धन ।।३।।
लच्छन न नर रसिक जन, साधू जानत ध्यान।
चन्द बपजत कृष्णगुन राधारहस विधान।

प्रवाहित होने की सम्भावना कम थी । भक्ति भी व्यक्त रूप में प्रविष्ट होकर उदाहरणों को विशेष आकर्षक और तन्मयकारी नहीं बना सकती थी । साथ ही अलंकारों और दोषों को व्यक्त करने वाले उदाहरणों की रचना भी रस सम्बन्धी उदाहरणों की अपेक्षा कठिन होता है । केशव ने तो कविप्रिया में अलंकार दोष आदि के उदाहरण प्रस्तुत किए । इन उदाहरणों में लक्षणों का पुष्ट ज्ञान ही अपेक्षित नहीं था, उदाहरण रचना में भी विशेष कौशल अपेक्षित था । केशव के पश्चात् के अलंकार निरूपक आचार्यों ने भी उदाहरणों की रचना की दुष्करता का अनुभव किया । जसवतसिंह ने अनेक पूर्वकालिक उदाहरणों का अनुवाद मात्र किया और कुछ मौलिक उदाहरणों की रचना की ।[1] कुलपति का आचार्यत्व तो अपेक्षाकृत शुद्ध और सुलझा हुआ है पर उदाहरण रचना में आचार्यत्व कम प्रस्फुटित है । देव का तो आचार्यत्व के लक्षण और उदाहरण दोनों अंगों में शिथिलता है लक्षण अस्पष्ट और उदाहरण अनुपयुक्त । दूलह में आचार्यत्व के लक्षण उदाहरण उभयपक्षपुष्ट और स्पष्ट हैं । कुछेक आचार्य ऐसे भी हुए जिन्होंने अपने से पूर्व के हिन्दी कवियों के उदाहरण भी लिए । आचार्य श्रीपति ने दोषों को केशव के पद्यों से उदाहृत किया है ।[2] केशव ही नहीं अन्य कवियों के दोषपूर्ण पद्यों को भी उदाहरणों के रूप में ग्रहण किया गया है ।[3] रसिक गोविन्द ने रसिकगोविन्दानन्दघन में भी दूसरों के उदाहरण दिए हैं । रसरूप ने तुलसीभूषण में रामचरितमानस के उदाहरणों के द्वारा १११ अलंकारों का निरूपण किया है । उन्होंने लक्षण औरों के लिए और उदाहरण तुलसी के ।[4] पदमाभरण में पद्माकर ने भी दूसरों से उदाहरण लिए हैं बरीनाल और बिहारी के उदाहरण विशेष रूप से लिए गए हैं । इनका स्मरण भी लेखक ने किया है । इस प्रकार अलंकारशास्त्र से सबद्ध कुछ आचार्यों ने औरों के उदाहरण भी लिए भक्ति और रस से भी शृंगार आचार्यों की अपेक्षा कम प्रभावित रहे ।

उदाहरणों की सरसता और कविकर्म ने आचार्यत्व को प्रभावित किया । डा नगेन्द्र ने इसको स्पष्ट रूप से लिखा है संस्कृत के आचार्यों ने प्राय आचार्यत्व और कविकर्म को पृथक रखा था वहाँ हिन्दी के आचार्य कवियों ने दोनों को मिला दिया । इससे काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई किन्तु काव्यशास्त्र का विकास न

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ ४४७
मिश्रबन्धु विनोद भाग २ पृ ५१८ १९ (१८६४ का संस्करण)
३ डा भगीरथ मिश्र हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ११२
४ वही पृ १७
५ ना तुलसी निज मतिन में भूषण धरे दुराय ।
नाहि प्रकाशन की म मर तिन में गाय ॥
६ औरन के लच्छन लिए रामायन के लच्छ ।
तुलसी भूषन ग्रन्थ को या विधि कियो प्रतच्छ ॥
विशेष विवरण के लिए द डा० ओमप्रकाश हिन्दी का अलकार साहित्य पृ १७६ १७७
७ वही पृ १६ १६०

हो सका।[1] डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार उदाहरण रचना इन आचार्यों के उद्देश्य का भाग था। ' इनमें नवीन सिद्धान्त सिद्धान्त निरूपण तो है ही नहीं प्राचीन सिद्धान्तों की पूर्णतया व्याख्या भी नहीं है। संस्कृत में निरूपित काव्यशास्त्र के उन नियमों को हिन्दी में रखकर उनके उदाहरण उपस्थित करना ही इनका उद्देश्य है।[2] डा० नारायणदास खन्ना ने उदाहरण रचना का मूल्यांकन यों किया है आचार्य वे विद्वान् हैं जिन्होंने कविता करने के लिए जिन नियमों एवं सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है उनका विधिवत विवेचन किया है। काव्य नियमों एवं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में हृदयग्राहिणी एवं आनन्दप्रदायिनी कविता भी जिस आचार्य ने की हो उसे वस्तुतः बड़ा आचार्य मानना चाहिए।[3] डा० बच्चन सिंह ने आचार्यत्व के कारण कविता को प्रभावित माना है वस्तुतः आचार्यत्व का मोह इन निसर्गसिद्ध कवियों की कविता के पावों की लौह शृंखला बन गया।[4] आगे उन्होंने कहा उपर्युक्त कवियों की दृष्टि आचार्यत्व की ओर अधिक रहने पर भी अपने कवि के प्रति सर्वथा सचेत रही। इस दुहरे कार्य के निर्वाह में उनकी शक्ति पूरा-पूरा उनका साथ न दे सकी।[5] आचार्य शुक्ल ने अपना मन्तव्य यों व्यक्त किया है इन रीतिग्रन्थों के कर्ता भावुक सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगाररस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या नहीं होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा।[6] वस्तुतः इन आचार्यों की परिस्थिति ही ऐसी थी कि इनको कवित्व और आचार्यत्व को मिला देना पड़ा। सामन्तों के ऐश्वर्यपूर्ण दिनचर्या में काव्यशास्त्र की पद्धति पर बने-ढले उदाहरण आवश्यक अंग बन सकते थे। दूसरी ओर रसिक वर्ग का आग्रह था। वह सामान्य काव्यशास्त्रीय ज्ञान और उदाहरण रचने तथा ग्रन्थों के काव्य का आस्वाद लेने का इच्छुक था।[7] आभिजात्य और नागरिक रुचि, जो ग्राम्य रुचि से भिन्न है शास्त्रीय पद्धति के काव्य की ओर उन्मुख होते हैं। कवि ने यह किया। नागरी रुचि की चर्चा रीतिकाल के कवियों ने की है।[8] 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्' की भावना से

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग पृ० ४६५

२ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ३४

३ आचार्य भिखारीदास पृ० १६२

४ रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना (काशी, सं० २०१५ वि०), पृ० ६२

५ वही, पृ० ६३

६ हिन्दी साहित्य का इतिहास (२००७ वि०), पृ० २०५

७ अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में रसिक की परिभाषा यों दी है 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यास वशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय संवाद भाजः सहृदयाः।'

८ वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गवई गाँव गुलाब॥

प्राकृत राजसभा में भी सरस उदाहरणों का विशेष आग्रह था। काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा ने इस काल के आचार्य के लिए विशेष कार्य नहीं छोड़ा।[1] उदाहरणों की रचना इस क्षति की पूर्ति कर रही थी। कामशास्त्र की दीर्घ परम्परा काव्यशास्त्र और काव्य को प्रभावित करती आ रही थी। रीतिकाल के आचार्यों के उदाहरणों को भी इसने प्रभावित किया। साथ ही अन्य पूर्वप्रचलित काव्यरूपों ने भी रीतिकालीन आचार्यों के उदाहरण विधान को प्रभावित किया। प्राकृत के गाथा साहित्य का पारलौकिक चिन्ता से मुक्त उन्मुक्त प्रेम से सिक्त मुक्तक काव्य की परम्परा में सर्वोच्च स्थान है। हाल की सतसई[2] रसिक जनों का कण्ठहार ही बना रहा। ये गाथाएं सालंकार हैं — सालंकाराण गाहाणम्। प्रेम की इन सरस स्वच्छन्द छवियों, काम रत सुन्दरियों के अभिराम छविचित्रों, ग्राम्य नायिकाओं के निश्छल प्रेम शृंगार की अकूत चेष्टाओं के आकलन ने शास्त्रीय शृंगाराधारित प्रेम रूपों को हिला दिया। इसपर शास्त्रीय पद्धति का शालीनत प्रभाव अवश्य द्रष्टव्य है। वज्जालग्गा[3] भी प्राकृत गाथाओं का एक ऐसा ही संग्रह है। संस्कृत में भी इस प्रकार की रचनाएं होने लगी। संस्कृत में अमरुकशतक और आर्यासप्तशती प्रमुख हैं। आनन्दवर्धन जैसे आचार्य ने अमरुक की प्रशंसा में अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते लिखकर संस्कृत की समस्त प्रबन्ध सम्पदा के प्रति मुक्तकों की सफल प्रतिक्रिया की ओर संकेत किया। काव्यशास्त्र में गाथाओं की उपयोगिता और लोकप्रियता भी इससे अनुसूचित है। आर्यासप्तशती बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के आश्रित कवि गोवर्धन की रचना है। इसमें सरस पदावली, रसार्द्रता और रसिक सज्जनों को मोहित करने की अनुपम शक्ति है।[5] रीतिकालीन रीतिमुक्त कवियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा[6] और रीतिबद्ध कवियों के उदाहरणों पर भी। संस्कृत की इसके अतिरिक्त शृंगार मुक्तक परम्परा ने

१ उनके पास शताब्दियों में प्रतिपादित एवं विवेचित संस्कृत में काव्यशास्त्र के नियमों एवं सिद्धान्तों का अक्षय कोश था ही। इन नियमों और सिद्धान्तों का संस्कृत साहित्य में इतना अधिक खण्डन मण्डन हो चुका था कि हिन्दी के कवियों के लिए नई उद्भावनाएं करना और फिर उन्हें संस्कृत का ज्ञान रखनेवाले विद्वानों से मान्य करा लेना न तो आसान ही था और न सहज सम्भव ही। नारायणदास खन्ना : आचार्य भिखारीदास, पृ० १० ६।

२ वात्स्यायन और कक्कोक पण्डित के कामशास्त्रों से होती हुई यह परम्परा आनन्द कवि कृत कोकमंजरी (रचना सं० १७११ वि०) तक चली आती है।

३ कीथ (संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २२४) के अनुमार इसका समय ... स० ४५ ई० के बीच मानते हैं। डा० वेबर (Das saptasatakam daes hala Introduction pp xxii) इसकी रचना तीसरी और सातवीं शती के बीच हुई। डा० भण्डारकर ने इसको छठी शताब्दी की रचना सिद्ध किया है। (आर० जी० भण्डारकर स्मारक ग्रन्थ में विक्रम संवत् पर लेख, पृ० १८४)

४ रचयिता जयवल्लभ, समय काल लगभग १४वीं शती विक्रमीय

५ आर्यासप्तशती १।५२

६ पद्मसिंह शर्मा ने सञ्जीवन भाष्य में बिहारी पर गाथा साहित्य के प्रभाव को विस्तार से विवेचित किया है।

भी उदाहरणों को प्रभावित किया।[1] शृंगार युक्त स्तोत्र भी इन्हीं के प्रभावस्वरूप भक्ति साहित्य के अंग बन गए।[2] अपभ्रंश साहित्य में जो स्फुट शृंगारिक दोहे यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं वे शृंगारिक दोहों की अपभ्रंश परम्परा को स्पष्ट करते हैं। अपभ्रंश के मुक्तक पद्य प्रबन्धों के अन्तर्गत चारण गोप आदि पात्रों द्वारा सूक्ति सुभाषित के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[3] अलंकार ग्रन्थों में उदाहरणवत् इनके प्रयोग की परम्परा भी चली। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक रुद्रट के काव्यालंकार भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण धनंजय के दशरूपक आदि ग्रंथों में कतिपय अपभ्रंश पद्य उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त मिलते हैं। रीतिकालीन काव्याचार्यों को भी इन परम्पराओं ने आकर्षित किया। पर उनका प्रयोग न करके आचार्य ने उस शैली पर अपनी रचनाएं कीं। 'रीतिकालीन कविता का ढांचा जहां संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक तत्त्वों से निर्मित हुआ है वहां उसका अंतस संकीर्ण अर्थ में भक्तियुगीन कविता का विकसित रूप है।'[4] मध्यकालीन भक्त कवियों के शृंगाराश्रित रहस्यवादी रचनाओं ने राधा कृष्ण गोपी तत्त्वों के आधार पर जो भक्ति शृंगार जाह्नवी प्रवाहित की वह रीतिकालीन आचार्यों के उदाहरणों को स्नात करती रही। गोपियां स्वकीया परकीया विवेचन में आ गईं। मधुर भाव लौकिक शृंगार में परिणत हो गया। ये प्रमुख परम्पराएं थीं जिन्होंने रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों के उदाहरण भाग को अनुप्राणित किया। साथ ही कुछ और भी परम्पराएं थीं। इनमें नखशिख की परम्परा मुख्य है। संस्कृत में भी नखशिख की प्रबल परम्परा थी।[5] लोकभाषा में भी यह परम्परा चलती रही।[6] षड्ऋतु बारहमासा की परम्परा[7] भी इन उदाहरणों को प्रभावित करती रही। नायक

१ इनमें कालिदास के नाम से प्रसिद्ध शृंगारतिलक, घटकर्पर, बिल्हण की चौरपंचाशिका, भर्तृहरि का शृंगारतिलक आदि प्रसिद्ध हैं। संस्कृत में शतकों की परम्परा भी चली। उत्प्रेक्षावल्लभ का सुन्दरीशतक, जनार्दन गोस्वामी की शृंगारकलिका, भर्तृहरि का शृंगारशतक, कामराज दीक्षित की शृंगारकलिकात्रिशती और विश्वेश्वर का रोमावलीशतक।

२ कालिदास ने देवादि विषयक रति का शृंगारयुक्त रूप प्रस्तुत करके मार्ग प्रशस्त किया। पीछे 'चण्डीकुचपंचाशिका' जैसे स्तोत्रग्रंथों की रचना हुई। ऐसे ग्रंथों पर मध्यकालीन मधुराभक्ति का भी प्रभाव माना जा सकता है।

३ कालिदास विक्रमोर्वशीय चतुर्थ अंक, हेमचन्द्र, छन्दोऽनुशासन प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य, सोमप्रभाचार्यकृत कुमारपालप्रतिबोध, मेरुतुंगाचार्यकृत प्रबन्धचिन्तामणि राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोश, प्राकृत पैंगल पुरातन प्रबन्धसंग्रह।

४ डा० बच्चन सिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० ३ [illegible]।

५ नैषध (द्वितीय सर्ग) दमयन्ती का नखशिख सातवां तथा दसवां सर्ग भी कालिदास का पार्वती नखशिख वर्णन शतकस्तोत्र ग्रन्थों में भी यह परम्परा चली।

६ मुनि स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र की एक वेश्या का नखशिख वर्णन किया है। (डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य पृ० २८२-८३) पुष्पदन्त का नारी चित्रण। (राहुल हिन्दी काव्य धारा पृ० [illegible]) हेमचन्द्र संकलित दोहों में नारी चित्रण, सन्देशरासक में नारी चित्रण, चन्दबरदाई ने भी पृथ्वीराज रासो में ऐसा वर्णन किया है। छिताई वार्ता के कवि नारायणदास के 'छिताई' के वर्णन में भी इस परम्परा का प्रभाव है। छीहल कवि के पंच सहेली में भी परम्परा का निर्वाह है।

७ संस्कृत में प्रकृति-वर्णन की परम्परा के अतिरिक्त, सन्देशरासक का षड्ऋतु-वर्णन प्राकृत

नायिका निरूपण की नाट्यशास्त्रीय काव्यशास्त्रीय कामशास्त्रीय और भक्तिशास्त्रीय परम्पराएं सबसे अधिक तीव्र और व्यापक प्रभाव डालती रही। इस प्रकार रीतिकालीन आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त उदाहरणों को अनेक दीर्घ परम्पराओं का प्रभाव भार वहन करना पड़ा। केवल दृष्टि का अन्तर रहा। केशव चिन्तामणि कुलपति जसवन्तसिंह आदि आलंकारिकों ने उदाहरण रचना को लक्ष्य नहीं होने दिया उस रचना में सरसता को गौण रखते हुए लक्षण निरूपण की स्पष्टता के उद्देश्य को मुख्य रखा। केशव को हृदयहीन कवि आदि विशेषणों से अभिहित करनेवाले आलोचक यह भूल जाते हैं कि सरसता और भावुकता की दृष्टि से उन्होंने काव्य ही नहीं किया शास्त्रीय आचार्यत्व की दृष्टि प्रधान रही। यही विशेषता केशव को रीतिकालीन आचार्यों से कुछ भिन्न विशिष्टता प्रदान करती है। जिन आचार्यों ने उदाहरणों की सरसता और कवि प्रतिभा की साधना को प्रमुखता दी उनका आचार्यत्व अवश्य ही प्रभावित हो गया। सम्भवत उन्होंने लक्षण इसलिए दिए कि रसिक उनके द्वारा रचित काव्य का विशिष्ट रसास्वादन कर सकें। उनका उद्देश्य कवि शिक्षक आचार्यों की भांति सिद्धान्त बोध नहीं था। कवि शिक्षक आचार्यों में उदाहरण रचना आचार्यत्व का अंग ही थी। उत्तरकालीन संस्कृत आचार्यत्व भी कविशिक्षा और उदाहरण रचना की समन्विति पर आधारित हो गया था। उदाहरणों की ओर विशेष आकर्षण उन आचार्यों का था जो या तो भक्त थे या रस निरूपक। अलंकार निरूपक तथा सर्वांग-निरूपक आचार्यों में सरस उदाहरण रचना की ओर विशेष आकर्षण नहीं था।

डा० नगेन्द्र जी के अनुसार इस काल के आचार्यत्व की एक और परिसीमा गद्य का अभाव थी।[1] इसका समर्थन अन्य विद्वानों ने भी किया है।[2] गद्य के अभाव में सूक्ष्म विचारणा और विश्लेषण सम्भव नहीं थे। डा० बच्चन सिंह के शब्दों में— विश्लेषण के कार्य के लिए गद्य का माध्यम ही समीचीन है। किसी रीति या पद्धति पर विचार करने के लिए गद्य में पूरा पूरा अवकाश मिलता है। अनेक नियमों की शृंखलाओं में दबे रहने के कारण विचारों का ठीक ठीक स्फुरण पद्य में सम्भव नहीं है। ब्रजभाषा का गद्य कभी भी इतना विकसित न हो सका कि विचारों के विश्लेषण के लिए उसे ग्रहण किया जाता। लक्षण निरूपण की शिथिलता का यह भी एक बहुत बड़ा कारण है।[3] यह सीमा हिन्दी के आचार्यों की ही नहीं है। संस्कृत गद्य के होते हुए भी जयदेव भानुदत्त और केशव मिश्र प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने उसका प्रयोग नहीं किया। अत ब्रजभाषा की गद्य की अप्रयोज्यता या अनुपयुक्तता नहीं प्रवृत्तिगत विकास की गतिविधि ही गद्य के प्रयोग न करने के मूल में है। कारिका' को

पंगचम्पू में स्फुट ऋतु-वर्णन के पद पृथ्वीराज रासो का षड्ऋतुवर्णन नेमिनाथ चौपई का बारहमासा तथा नरहरिभट्ट का बारहमासा आदि प्रसिद्ध हैं। (दे सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य पृ ३१६)

[1] डा नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका पृ १४८

[2] डा नारायणदत्त खन्ना आचार्य भिखारीदास पृ० ७१

[3] रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना पृ ६३

संक्षिप्त रूप में देने की परिपाटी प्रायः संस्कृत काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही मिलती है। वृत्ति में कारिका का व्याख्यान विस्तार होता था। वृत्ति में गद्य का प्रयोग प्रायः होता था। अतः गद्य के प्रयोग की परम्परा के समाप्त होने से काव्यशास्त्र का एक प्रमुख अंग वृत्ति शिथिल पड़ गया। संस्कृत के कुछ आचार्यों ने स्वरचित वृत्ति नहीं दी थी तो भाष्य और टीका की परम्परा इस अभाव की पूर्ति करती थी। हिन्दी के आचार्य को परम्परा से 'वृत्ति' की प्रवृत्ति ही नहीं मिली। साथ ही पतंजलि, अभिनवगुप्त की भाष्य-टीका परम्परा भी इस समय तक शिथिल हो गई। वस्तुतः जो कुछ आचार्यों की टीकाएं तो पर्याप्त हुई पर उनकी अपनी निजी परिसीमाएं हैं। इस प्रकार रीतिकालीन आचार्य द्वारा कथित सिद्धान्तों के पूरक सिद्धान्त बनाने वाले वृत्तिकार या भाष्यकार नहीं हुए। गद्य के अभाव ने वृत्ति को शिथिल कर दिया।

जहां प्राचीन काव्याचार्य के तीन क्षेत्र—कारिका, वृत्ति और उदाहरण में से वृत्ति प्रायः समाप्त हो गई, उदाहरण स्फीत हो गए, वहां सिद्धान्त भाग संस्कृत के आधार पर कभी सदोष, कभी अदोष, कभी पूर्ण, कभी अपूर्ण रूप में प्रस्तुत हुआ। लक्षण निरूपण के लिए इस काल के आचार्य ने संस्कृत की सूत्र शैली से प्रभावित होकर छोटे छन्द को अपनाया। अक्षर थोर भेद बहु में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। कृपाराम ने प्राचीन कविमत को धारण करने तथा लक्षणयुक्त सरस उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रण किया था।[1] जयदेव और अप्पयदीक्षित ने पद्य के पूर्वार्द्ध में लक्षण देकर संक्षिप्तता की प्रवृत्ति का ही परिचय दिया था। हिन्दी में भी लक्षण निरूपण दोहों में होता रहा। संस्कृत के आचार्यों को प्राचीन और नवीन वर्गों में संस्कृत के कुछ आचार्य भी विभाजित करते थे। इस भेद से हिन्दी का रीत्याचार्य भी अवगत था।[2] इस आधार पर हिन्दी के आचार्यों का द्विविध वर्गीकरण किया जा सकता है : प्राचीन आचार्यों का आधार लेकर चलनेवाले आचार्य तथा आधुनिकों के आदर्श पर चलने वाले आचार्य। प्राचीनों में संस्कृत के उद्भावक या सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य आते हैं तथा आधुनिकों में व्याख्याता, भाष्यकार या कविशिक्षाचार्य आते हैं। हिन्दी में प्राचीन उद्भावक आचार्यों के पृष्ठाधार को अधिकांश स्वीकार नहीं किया गया। आधुनिकों का ही अनुगमन किया गया। केशव की दृष्टि प्राचीनों पर विशेष रही। अन्य आचार्यों ने आधुनिकों का आधार ग्रहण किया। यदि अपवादस्वरूप कुछ और आचार्यों ने भी प्राचीनों के सिद्धान्तों की निरखा-परखा तो अधिकांश केशव के माध्यम से ही। स्वतन्त्र रूप से प्राचीनों के सूक्ष्म और मूल सिद्धान्तों का अध्ययन

१ रची ग्रंथ कविमत धरे धरे कृष्ण को ध्यान।
राखे सरस उदाहरन लच्छन जुत सज्ञान ॥ हितरंगिणी।

२ अप्पयदीक्षित ने 'प्राचीनों' और 'आधुनिकों' के मत को लेकर ही अपने ग्रंथ की रचना की थी — 'प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वत: ।' कुवलयानन्द १६६

३ दूलह ने अलंकार निरूपण में 'प्राचीन' 'आधुनिक' दोनों ही वर्गों के आचार्यों का मत लिया है—
अरथालंकृत मत प्राचीन कहे ते कह।
आधुनिक सत्तरि, बहत्तर प्रमाने ई ॥

करने की क्षमता सम्भवतः उनमें नहीं थी। व्याख्याताओं, भाष्यकारों तथा कवि शिक्षाचार्यों द्वारा सरलीकृत और स्पष्टीकृत सिद्धान्तों को ही ग्रहण करने की सामर्थ्य इनमें थी। नीचे के विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

शास्त्रीय आधार

आरम्भिक आचार्यों ने सम्भवतः मूल काव्यशास्त्रीय आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों पर दृष्टि डाली। कृपाराम ने भरत के नाट्यशास्त्र को आधार बनाया।[1] पर स्वाधीनपतिका आदि १० रूपों में नायिका भेद निरूपित करना भरत के अनुसार नहीं भानुदत्त के अनुसार है।[2] केशव ने संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से ग्रहण किया। इसी आधार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि केशवदास जी हिन्दी के पहले आचार्य हैं जिन्होंने शास्त्रीय पद्धति पर काव्यरीति के विभिन्न अंगों की सम्यक् विवेचना की।[3] केशव ने नायिका भेद की पद्धति रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक के आधार पर रखी। पर डा० नगेन्द्र ने नवयौवना, नवल अनंगा तथा सलज्जाप्रायरति को क्रमशः विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण यौवना, प्रथमावतीर्ण मदनविकारा और समधिक लज्जावती के पर्याय माना है और नववधू को मुग्धा का सामान्य रूप माना है।[4] इस प्रकार डा० नगेन्द्र के अनुसार केशव इस नायिका भेद-सम्बन्धी सामग्री के लिए विश्वनाथ के ऋणी हैं। पर सभी विद्वान् इस प्रश्न पर एकमत नहीं हैं।[5] ये रुद्रभट्ट रुद्रट हैं या और कोई इस बात पर मतभेद है। वेबर और पिशल के मत में दोनों अभिन्न हैं। दुर्गादास और डा० जकोबी इस मत का विरोध करते हैं।[6] अधिकांश विद्वान् इनमें अभेद मानने के ही पक्ष में हैं। प्राचीन सूक्ति संग्रहों में दोनों के पद्य एक दूसरे के नाम से दिए गए हैं।[7] रुद्रट एक प्रसिद्ध आलंकारिक कवि थे। हो सकता है कि केशव ने इनसे नायिका भेद सम्बन्धी सामग्री भी ली हो। हमने इस क्षेत्र में अनेक आचार्यों के सम्मिलित प्रभाव की चर्चा की थी। नायिका भेद के विषय में केशव ने भरत के नाट्यशास्त्र, धनंजय के दशरूपक, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण तथा भानुदत्त के रसमंजरी आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से ही सहायता नहीं ली। अपितु वात्स्यायन के कामसूत्र की भी

१ कृपाराम यों कहत हैं भरत ग्रन्थ अनुमानि।

२ भरत ने ८ भेद किए हैं और भानुदत्त ने १०।

३ डा० बच्चन सिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० ५९

४ वही पृ० ६६

५ रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पूर्वार्द्ध पृ० १६२

६ 'पर वस्तुतः केशव ने विश्वनाथ से यह सामग्री नहीं ली है इसके लिए वे रुद्रभट्ट के ऋणी हैं।' — बच्चन सिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० ६६

७ पी० वी० काणे, साहित्यदर्पण आव विश्वनाथ, ऐन्ड दी हिस्ट्री आव संस्कृत पोयटिक्स (१९५१) पृ० १४७

८ वही

९ आचार्य विश्वेश्वर, काव्यप्रकाश, भूमिका पृ० ४८

आधार बनाया है।[1] इसपर आगे के अध्यायों में विशेष विचार किया गया है। केशव का नखशिख इतना परम्परायुक्त है कि इसके मूल स्रोत का पता लगना कठिन है। सरदार कवि ने कविप्रिया की टीका में लिखा है "नखशिख प्राचीन पुस्तक में नाहीं मिलत परन्तु हमारे जान के सब छोड़ ऐसे कवित्त बनावनहार आन नाहीं यातें लिखियतु है।" रत्नाकर को केशवकृत नखशिख की अलग प्रति मिली थी।[3] पर केशव के आचार्यत्व का मुख्य क्षेत्र अलंकार है। संस्कृत में अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम पुरस्कर्ता भामह और दण्डी थे। केशव पर दण्डी का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। केशव ने प्राचीन आलंकारिकों का आधार मुख्यतः लिया। यदि उनके निरूपण की कुछ समानता नवीनों से है तो वह इसलिए कि भामह दंडी आदि का प्रभाव इन नवीनों पर भी पड़ा। रस निरूपण में भी केशव ध्वनिवादियों से अधिक प्रभावित दीखते हैं। वे रस सम्बन्धी विविध धारणाओं से परिचित थे।[4] केशव भरत की भांति सभी रसों की सत्ता पृथक स्वीकार करते हैं।[5] वे सभी रसों का अन्तर्भाव शृंगार में करते हैं पर भोज की भांति सभी रसों का मूल शृंगार में नहीं मानते। बस शृंगार के रसराजत्व की घोषणा करने के लिए ही 'रसिकप्रिया' की रचना हुई है।[6] पर ध्वनिवादियों की भांति विशिष्ट अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अर्थहीन काव्य मृतक है। अभिनवगुप्त की भांति रस को वे विभावानुभाव संचारी के संयोग से व्यंजित स्थायी ही मानते हैं। इस प्रकार केशव की रस सम्बन्धी मान्यताओं का स्रोत भरत, ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त जैसे प्राचीन आचार्यों में ही मिलता है। इस प्रकार केशव का आचार्यत्व मूल पुरस्कर्ता आचार्यों के मौलिक सिद्धान्तों के परिज्ञान पर आधारित है व्याख्याकारों या नवीन आचार्यों के विवेचन पर नहीं। यही केशव के आचार्यत्व का वैशिष्ट्य है। आगे के आचार्यों ने इन मूल स्रोतों को स्पर्श ही नहीं किया और यदि किया भी तो बहुत कम और वह भी रस के क्षेत्र में। नीचे की सूचियों से यह स्पष्ट हो जाएगा

१ केशव और उनका साहित्य, पृ० १४७
२ सरदार कवि की टीका कविप्रिया, १५वां प्रकाश पृ० १
३ ना० प्र० स०, काशी, खोज रिपोर्ट पृ० २३
४ अलिरति गति मति एक करि विविध विवेक विलास। रसिकप्रिया १।१३
५ वही १।१५
६ नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि नायक है शृंगार॥ वही १।१६
७ सुनत बढ़ावे अर्थ बिनु केशव सुनहु प्रवीन। वही ३।७
८ आचार्य कवि केशव प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा, पृ० १३६
मिले विभाव अनुभाव पुनि संचारी सु अनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो सोई रस सुर रूप॥

करने की क्षमता सम्भवतः उनमें नहीं थी। व्याख्याताओं भाष्यकारों तथा कवि शिक्षाचार्यों द्वारा सरलीकृत और स्पष्टीकृत सिद्धान्तों को ही ग्रहण करने की सामर्थ्य इनमें थी। नीचे के विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

शास्त्रीय आधार

प्रारम्भिक आचार्यों ने सम्भवतः मूल काव्यशास्त्रीय आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों पर दृष्टि डाली। कृपाराम ने भरत के नाट्यशास्त्र को आधार बनाया।[1] पर स्वाधीनपतिका आदि १ रूपों में नायिका भेद निश्चित करना भरत के अनुसार नहीं भानुदत्त के अनुसार है।[2] केशव ने संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का दृढ़ता से ग्रहण किया। इसी आधार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि केशवदास जी हिन्दी के पहले आचार्य हैं जिन्होंने शास्त्रीय पद्धति पर काव्यरीति के विभिन्न अंगों की सम्यक् विवेचना की।[3] केशव ने नायिका भेद की पद्धति रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक के आधार पर रखी।[4] पर डा० नगेन्द्र ने नवयौवना नवल अनंगा तथा लज्जाप्रायरति को क्रमशः विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण यौवना प्रथमावतीर्ण मदनविकारा और समधिक लज्जावती के पर्याय माना है और नववधू को मुग्धा का सामान्य रूप माना है।[5] इस प्रकार डा० नगेन्द्र के अनुसार केशव इस नायिका भेद-सम्बन्धी सामग्री के लिए विश्वनाथ के ऋणी हैं। पर सभी विद्वान् इस प्रश्न पर एकमत नहीं है।[6] ये रुद्रभट्ट रुद्रट हैं या और कोई इस बात पर मतभेद है। वेबर और पिशल के मत में दोनों अभिन्न हैं। दुर्गाप्रसाद और डा० जकोबी इस मत का विरोध करते हैं। अधिकांश विद्वान् इनमें अभेद मानने के ही पक्ष में है। प्राचीन सूक्ति संग्रहों में दोनों के पद्य एक दूसरे के नाम से दिए गए हैं।[7] रुद्रट एक प्रसिद्ध आलंकारिक कवि थे हो सकता है कि केशव ने इनसे नायिका भेद सम्बन्धी सामग्री भी ली हो। हमने इस क्षेत्र में अनेक आचार्यों के सम्मिलित प्रभाव की चर्चा की थी। नायिका भेद के विषय में केशव ने भरत के नाट्यशास्त्र धनंजय के दशरूपक विश्वनाथ के साहित्यदर्पण तथा भानुदत्त के रसमंजरी आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से ही सहायता नहीं ली। अपितु वात्स्यायन के कामसूत्र को भी

१ कृपाराम यों कहत है भरत ग्रन्थ अनुमानि।
२ भरत ने ८ भेद किए हैं और भानुदत्त ने ? ।
३ डा० बच्चन सिंह रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना पृ ५६
४ वही पृ ६६
५ रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पूर्वार्द्ध पृ १६२
६ 'पर वस्तुतः केशव ने विश्वनाथ से यह सामग्री नहीं ली है इसके लिए वे रुद्रभट्ट के ऋणी हैं।' डा० बच्चन सिंह रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ ६६
७ पी० वी० काणे साहित्यदर्पण आव विश्वनाथ ऐण्ड दी हिस्ट्री आव संस्कृत पोइटिक्स (१९५१) पृ १४७
८ वही
९ आचार्य विश्वेश्वर काव्यप्रकाश, भूमिका पृ ४८

आधार बनाया है।[1] इनपर आगे के अध्यायों में विशेष विचार किया गया है। केशव का नखशिख इतना परम्परायुक्त है कि इसके मूल स्थान का पता लगाना कठिन है। सरदार कवि ने कविप्रिया की टीका में लिखा है "नखशिख प्राचीन पुस्तक में नाहीं मिलत परन्तु हमारे जान के सब छोड़ इस कवित्त बनायबे हारे आन नाहीं याते लिखियतु है।"[2] रत्नाकर को केशवकृत नखशिख की अलग प्रति मिली थी।[3] पर केशव के आचार्यत्व का मुख्य क्षेत्र अलंकार है। संस्कृत में अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम पुरस्कर्ता भामह और दण्डी थे। केशव पर दण्डी का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। केशव ने प्राचीन आलंकारिकों का आधार मुख्यतः लिया। यदि उनके निरूपण की कुछ समानता नवीनों में है तो वह इसलिए कि भामह दंडी आदि का प्रभाव इन नवीनों पर भी पड़ा। रस निरूपण में भी केशव ध्वनिवादियों से अधिक प्रभावित दीखते हैं। वे रस-सम्बन्धी विविध धारणाओं से परिचित थे। केशव भरत की भाँति सभी रसों की सत्ता पृथक् स्वीकार करते हैं।[4] वे सभी रसों का अन्तर्भाव शृंगार में करते हैं पर भोज की भाँति सभी रसों का मूल शृंगार में नहीं मानते। बस शृंगार के रसराजत्व की घोषणा करने के लिए ही रसिकप्रिया की रचना हुई है।[5] पर ध्वनिवादियों की भाँति विशिष्ट अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अर्थहीन काव्य मृतक है।[7] अभिनवगुप्त की भाँति रस को वे विभावानुभाव संचारी के संयोग से व्यंजित स्थायी ही मानते हैं। इस प्रकार केशव की रस-सम्बन्धी मान्यताओं का स्थान भरत ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त जैसे प्राचीन आचार्यों में ही मिलता है। इस प्रकार केशव का आचार्यत्व मूल पुरस्कर्ता आचार्यों के मौलिक सिद्धान्तों के परिज्ञान पर आधारित है व्याख्याकारों या नवीन आचार्यों के विवेचन पर नहीं। यही केशव के आचार्यत्व का वैशिष्ट्य है। आगे के आचार्यों ने इन मूल स्रोतों का स्पर्श ही नहीं किया और यदि किया भी तो बहुत कम ने और वह भी रस के क्षेत्र में। नीचे की सूचियों से यह स्पष्ट हो जाएगा

१ केशव और उनका साहित्य, पृ० १४७
२ सरदार कवि की टीका कविप्रिया १५वाँ प्रकाश, पृ० १
३ ना० प्र० स०, काशी खोज रिपोर्ट, पृ०
४ अनिरति गति, मति एक करि विविध विवेक विलास। रसिकप्रिया १।१२
५ वही १।१८
६ नवहू रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको 'केशवदास' हरि नायक है शृंगार॥ वही १।१६
७ मृतक कहावै अर्थ बिनु केशव सुनहु प्रवीन। वही ३।७
८ आचार्य कवि केशव डा० कृष्णचन्द्र वर्मा, पृ० १३६
जिमि विभाव अनुभाव पुनि संचारी सु अनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो, सोइ रस सुर रूप॥

नायिका भेद तथा रस निरूपक आचार्यों का आधार

	भरत	भानुदत्त	रचना
कृपाराम	×	×	हिततरंगिणी
नन्ददास[1]	—	×	रसमंजरी
सोमनाथ	—	×	रसपीयूषनिधि या रसप्रकरण
दास	—	×	शृंगारनिर्णय
जगतसिंह[2]	—	×	साहित्यसुधानिधि
करनकवि	×	—	रसकल्लोल
रसलीन	—	×	रसप्रबोध
शम्भुनाथ	—	×	रसतरंगिणी
उजियारे कवि	×	—	जुगल रसप्रकाश रसचन्द्रिका
रामसिंह	—	×	रसनिवास
पद्माकर	—	×	जगद्विनोद
बेनी प्रवीन	—	×	नवरसतरंग (नायिका भेद)
नवीन कवि	—	×	रंगतरंग
चन्द्रशेखर	×[3]	×	नायिका भेद रसवर्णन (रसिकविनोद)
सुखदेव	—	×	रस[4] रत्नाकर रसार्णव
सुन्दर	×	×	सुन्दरशृंगार
मण्डन	×	—	रसरत्नावली
मतिराम	—	×	रसराज
उदयनाथ	—	×	रसचन्द्रोदय
रामसिंह	—	×	रसशिरोमणि
भगवतसिंह	—	×	शृंगारशिरोमणि

१ पं० उमाशंकर शुक्ल 'नन्ददास ग्रंथावली', प्रथम भाग (प्रथम संस्करण, पृ० ६३)
रसमंजरि अनुसार कै नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेमसार विस्तार।। वही पृ० १४५

२ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ३५८

३ भानुदत्त आदिक मत करि अनुमान।
किया प्रकट करि भाषा कविन विधान।।

४ खण्डित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में है।

५ उपज नयादि भाव को ज्ञान अनुभव होइ।
ताहि कहत अनुभाव हैं भरत मता कवि जोइ।।

६ प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में है।

देव[1]	×	—	भावविलास

अलकार निरूपण आचार्यों का आधार

	प्राचीन	मम्मट	विश्वनाथ	जयदेव	अप्पय	
गोपा[1]	—	—	—	×	×	अलकारचन्द्रिका
जसवन्तसिंह	—	—	—	—	×	भाषाभूषण
मतिराम	—	—	—	—	×	ललितललाम
भूषण	—	—	—	×	—	शिवराजभूषण
कुलपति मिश्र	—	×[3]	—	—	—	रसरहस्य
देव	×[4]	—	—	—	—	काव्यरसायन
श्रीधर कवि	—	—	—	×[5]	×	भाषाभूषण
रसिक सुमति	—	—	—	—	×[6]	अलकारचन्द्रोदय
दूलह	—	—	—	—	×	कविकुलकठाभरण
दास	—	×[7]	—	×[7]	—	काव्यनिर्णय
पद्माकर	—	×	×	—	×	पद्माभरण

ऊपर की तालिकाए इन आचार्यों की पूर्ण सूची नही प्रस्तुत करती केवल कुछ प्रतिनिधि कवियो को लेकर निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की गई है। रस' के आचार्यों ने भरत का आश्रय अधिक लिया है यद्यपि इन आचार्यों पर भानुदत्त की रसमजरी छाई रही। पर अलकार क्षेत्र के आचार्यों ने किसी न भी प्राचीन आचार्यों का अनुसरण नही किया। केवल देव ने केशव के माध्यम से प्राचीनो का अनुसरण किया। इससे हिन्दी के आचार्यत्व के क्षेत्र में केशव की स्थिति अन्य सभी रीतिकालीन आचार्यों से विशिष्ट हो जाती है। शुक्ल जी ने आधार को दृष्टि में रखकर एक सामान्य कथन

१ भुवन मान भारती सुमिरि, भरतादिक ध्याये। पर आधार ग्रन्थों का भी है।

२ हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० ७८

३ जिते साज हैं कवित के, मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा में कहे, रसरहस्य में आनि॥ रसरहस्य
मगलाचरण में अभिनवगुप्ताचार्य का नामोल्लेख किया है।

४ "देव कवि पर भामह, दण्डी आदि का सीधा प्रभाव उतना नहीं, जितना केशव के माध्यम से, वे संस्कृत के आचार्यों से अनुप्रमाणित हैं परन्तु केशव ने अधिक मात्रा में अनुप्रेरित।"
—डा० ओमप्रकाश, हिन्दी अलकार साहित्य, पृ० १३७

५ उन्होंने शैली के विषय में लिखा है—
लच्छन भाष दोहरा, उदाहरन पुनि आनु।

६ रसिक सुवलयानन्द लखि अलि नन्दन हरस बढ़ाइ।
अलकार चन्द्रोदयहि बरनत हिय हुलसाइ॥

७ सूक्ति सुचन्द्रालोक अरु काव्यप्रकाशहु ग्रंथ।
समुझि सुरुचि भाषा कियो, लै आरी कवि पथ॥

नायिका भेद तथा रस निरूपक आचार्यों का आधार

	भरत	भानुदत्त	रचना
कृपाराम	×	×	हिततरंगिणी
नन्ददास[1]	—	✓	रसमंजरी
सोमनाथ	—	×	रसपीयूषनिधि वा रसप्रकरण
दास	—	×	शृंगारनिर्णय
जगतसिंह[2]	—	×	साहित्यसुधानिधि
करनकवि	×	—	रसकल्लोल
रसलीन	—	×	रसप्रबोध
शम्भुनाथ	—	×	रसतरंगिणी
उजियार कवि	×	—	जुगल रसप्रकाश, रसचन्द्रिका
रामसिंह	—	✓	रसनिवास
पद्माकर	—	×	जगद्विनोद
बेनी प्रवीन	—	×	नवरसतरंग (नायिका भेद)
नवीन कवि	—	×	रसतरंग
चन्द्रशेखर	×[5]	×	नायिका भेद रसवर्णन (रसिकविनोद)
सुखदेव	—	×	रस[6] रत्नाकर रसार्णव
सुन्दर	×	×	सुन्दरशृंगार
मण्डन	×	—	रसरत्नावली
मतिराम	—	×	रसराज
उदयनाथ	—	×	रसचन्द्रोदय
रामसिंह	—	×	रसशिरोमणि
यशवंतसिंह	—	×	शृंगारशिरोमणि

१ प० उमाशंकर शुक्ल 'नन्ददास ग्रंथावली', प्रथम भाग (प्रथम संस्करण, पृ० ६१)
रसमंजरी अनुसार कै नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जेहि प्रेमसार बिस्तार॥ वही पृ० १४८

२ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ३५८

३ भानुदत्त भाषक मत करि अनुमान।
लिया प्रकट करि भाषा कवित विधान॥

४ ग्रन्थ प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में है।

५ बरनत नवरस मांझ को नाम अनुभव होइ।
ताहि कहत अनुभव है भरत मता कवि जोइ॥

६ प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में है।

देव[1] × — भावविलास

अलंकार-निरूपक आचार्यों का आधार

	प्राचीन	मम्मट	विश्वनाथ	जयदेव	अप्पय	
गोपा[1]	—	—	—	×	×	अलंकारचंद्रिका
जसवंतसिंह	—	—	—	—	×	भाषाभूषण
मतिराम	—	—	—	—	×	ललितललाम
भूषण	—	—	—	×	—	शिवराजभूषण
कुलपति मिश्र	—	×[3]	—	—	—	रसरहस्य
देव	×	—	—	—	—	काव्यरसायन
श्रीधर कवि	—	—	—	×[5]	×	भाषाभूषण
रसिक सुमति	—	—	—	—	×[6]	अलंकारचंद्रोदय
दूलह	—	—	—	—	×	कविकुलकंठाभरण
दास	—	×[7]	—	×[7]	—	काव्यनिर्णय
पद्माकर	—	×	×	—	×	पद्माभरण

ऊपर की तालिका में इन आचार्यों की पूर्ण सूची नहीं प्रस्तुत करके केवल कुछ प्रतिनिधि कवियों को लेकर निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की गई है। 'रस' के आचार्यों ने भरत का आश्रय अधिक लिया है यद्यपि इन आचार्यों पर [illegible] की '[illegible]' छाई रही। पर अलंकार क्षेत्र के आचार्यों में किसी ने भी प्राचीन आचार्यों का अनुसरण नहीं किया। केवल देव ने भावविलास के माध्यम से प्राचीनों का अनुसरण किया। अतएव हिन्दी के आचार्यत्व के क्षेत्र में देव की स्थिति अन्य सभी रीतिकालीन आचार्यों से विशिष्ट हो जाती है। शुक्ल जी ने आधार की दृष्टि में रखकर एक [illegible]

1 [illegible]
2 हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० ७८
3 जिहि लागि है कवित्त के, मम्मट कहे बखाने।
ते सब भाषा में कहे, रसरहस्य में जानि॥ रसरहस्य
मंगलाचरण में अभिनवगुप्ताचार्य का नाम लिया है।
4 "देव कवि पर मम्मट, [illegible] आदि का सीधा प्रभाव [illegible], [illegible] म, वे मुख्यतः प्राचीन आचार्यों से अनुप्रेरित हैं [illegible]"
—डा० [illegible], हिन्दी [illegible], पृ० [illegible]
5 उदाहरण गाथी के विषय में लिखा है—
[illegible]
6 रसिक कुवलयानन्द [illegible]।
अलंकार [illegible], [illegible]॥
7 बूझि सुभाषा [illegible] काव्यप्रकाश, [illegible]।
समुझि सुकवि भाषा [illegible]॥

किया संस्कृत की ही एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई।[1] डा० भगीरथ मिश्र ने विवेचन यों किया है केशव ने तथा उनके समकालीन कुछ आचार्यों ने भामह आदि प्राचीन संस्कृत काव्याचार्यों को आधार बनाया। परवर्ती हिन्दी आचार्यों ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को अधिकांश में आधार बनाया। कुछ ग्रंथों में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का भी आधार पाया जाता है। यह निष्कर्ष ऊपर की तालिकाओं में स्पष्ट हो जाता है। किसी किसी कवि ने पूर्ववर्ती आचार्यों की एक लंबी सूची भी दी है। उदाहरण के लिए जगतसिंह को लिया जा सकता है।[3] पर यह सूची मात्र सूची है। रसिकगोविन्दानन्दघन में रसिक गोविन्द ने भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनव गुप्त, मम्मट के काव्यप्रकाश तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण आदि का मत देकर फिर ग्रंथकर्ता का मत के रूप में अपना निर्णय दिया है।

कुछ आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी के आचार्यों का आधार भी पूर्ण रूप में या अंश रूप में ग्रहण किया। मतिराम पर केशव[5] और जसवंतसिंह का ऋण स्वीकार किया जा सकता है। भूषण ने मतिराम से बहुत कुछ लिया है।[6] देव के भावविलास पर तो केशव का प्रभाव स्पष्ट है। केशव का आधार यद्यपि इतिहासकारों के मतानुसार विशेष नहीं लिया गया फिर भी आगे के अनेक हिन्दी आचार्य उनके ऋणी थे। केशव के आधार की परम्परा को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

आचार्य	विशेष ऋण
पद्मनदास (काव्यमंजरी)	कविशिक्षा शैली अलंकार निरूपण
देव[8]	दोष निरूपण

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९९७ वि०) पृ० २८१
२ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ९५
३ चन्द्रालोक आदि है भाषा ज्ञान।
कहि साहित्य सुधानिधि बरवै पीन॥

×

भरत भोज अरु मम्मट श्री जदेव
विश्वनाथ गोविन्द भट्ट लखि भेव।
भानुदत्त आदिक मत करि अनुमान।
किया प्रकट करि भाषा कविन विधान॥ (साहित्य सुधानिधि)
४ डा० भगीरथ मिश्र हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास द्वितीय संस्करण पृ० १६६
५ जिस अलंकार केशव की शब्दावली में ही लिया गया है —
सुरचन्द की चन्दना को कपि प्रतिकूल (केशव)
मरचन्द की चान्दनी को कहिए प्रतिकूल (मतिराम)
६ डा० भगीरथ हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० १ १
७ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ३ ७
८ वही पृ० ३३७। देव ने केशव के अनेक स्थलों से प्रेरणा प्राप्त की।

श्रीपति	काव्यदोष[1]
चिन्तामणि	भाव[2]
मतिराम[3]	भाव चित्र अलंकार
भिखारीदास	कौशिकी आदि चार रसवृत्तियाँ
जगतसिंह	दोष प्रकरण[5]
कृष्णभट्ट[6]	अनरस (रसदोष)
शिवनाथ	रस प्रकरण
सुन्दर[8]	वियोग शृंगार

इस प्रकार रस निरूपक आचार्यों ने बहुधा केशव के दोष प्रकरण से प्रेरणा या आधार ग्रहण किया। अलंकार के क्षेत्र में केशव की परम्परा अवश्य ही अधिक उन्नतशील होकर चली। केशव की परम्परा के कुछ चिह्न आगे पदुमनदास की काव्यमंजरी (सं० १७४१) गुरुदीन पाण्डे के वाग मनोहर (सं० १८६०) और बेनी नवीन के नानारावप्रकाश (सं० १८७०) में दिखलाई पड़ते हैं। 'देव के अलंकार नाम और उनके लक्षणों पर केशव का प्रभाव स्पष्ट है।' दूलह पर चाहे सीधा प्रभाव न हो पर अलंकार के महत्त्वांकन पर केशव की छाया है।[10] रामसिंह ने भी यही बात कही है।[11] अतः यह सामान्य प्रातिनिधिक रूप में केशव का प्रभाव आगे के आचार्यों पर परिलक्षित होता है। अतः यह सामान्य अलंकार के महत्त्वांकन पर केशव की छाया है। इसी उदाहरण के लेखन के

१ केशव के काव्य में दोषों के उदाहरण दिए हैं। रसिकप्रिया के 'काना करैगे रस लैनन के ढोला सुंग' वाले छन्द में 'भ्रम' ने अनिष्ट दोष बनाया है। यदि 'अग' के उदाहरण में भी रसिकप्रिया का एक छन्द लिया गया है। कवित्त में 'रसिकप्रिया' और 'शिथिल' में 'कविप्रिया' के छन्दों को लेकर दोष स्थापन कराया गया है। इस प्रकार केशव इनके अध्ययन का विषय रहा।

२ 'केशव ने केवल भाव को सुख और वचन से ही मन की बात को प्रकट करना भाव कहा था, चिन्तामणि ने भी इसी प्रकार' ''डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८३

३ मतिराम ने अभिव्यक्तिकारक अंगों की संख्या तो बढ़ा दी पर शैली वही रही—

लोचन बचन प्रसाद मृदु हास बास धन मोद।

इनते परगट जानिए बरनत सुकवि विनोद ॥ रसराज

४ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० १५८

५ वही, पृ० ३७०। इसमें अंध बधिर, नगन, विरस निरस आदि दोष केशव की पद्धति पर दिए हैं।

६ वही, पृ० ३५६। शृंगाररसमाधुरी, सोलहवाँ स्वाद।

अनरस का वर्णन केशव के रसदोष निरूपण से साम्य रखता है।

७ रसवाटिका में केशव की रसिकप्रिया का आधार लिया गया है। वही पृ० ४८

८ वही पृ० ४१६

९ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ४४३

१० हिन्दी अलंकार साहित्य, डा० ओमप्रकाश पृ० १२७, पाद टिप्पणी— 'सम्भव है केशव के अनुयायी और भी कुछ आचार्य इनसे पूर्व हुए हों, जिनके विषय में यहाँ इतिहास मौन है।'

११ ... बरन, लच्छन मति रीति रीझै बरनार।

बिन भूषण नहिं भूषई कविता बनिता यार ॥ कविन्दकण्ठाभरण ?

१२ कविता अरु बनितान को अलंकार छवि देत। अलंकारदर्पण ?

कथन कि केशव का प्रभाव आगे के आचार्यों पर नहीं पड़ा एक अति साधारणीकरण कहा जा सकता है। डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी केशव प्रभाव की परम्परा को स्वीकार नहीं किया है। पर इन्होंने लिखा है कि चाहे उनके अनुयायी न हों पर उनका स्थान उच्च है।[1] इतना निश्चित है कि प्रेरणा का स्रोत केशव के आचार्यत्व में ही है। जैसे संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राचीन और नवीन का भेद हो गया था उसी प्रकार हिन्दी में भी दो परम्पराएं मिलती हैं प्राचीन या केशव परम्परा तथा पीछे की परम्परा। आधार की दृष्टि से केशव परम्परा प्राचीनों पर तथा नवीनों की परम्परा पिछले सब के संस्कृत आचार्यों पर आधृत थी।

इस प्रकार परम्परा के प्रवर्तक के रूप में भी केशव का स्थान हिन्दी आचार्यत्व के इतिहास में बन जाता है। केशव के इस ऐतिहासिक महत्त्व के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। डा० मिश्र ने इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया है[2] केशवदास का महत्त्व संस्कृत के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्र के विषयों पर लक्षण उदाहरणपूर्ण ग्रंथ लिखने की परम्परा डालने में है और उसमें वे सफल भी हुए। डा० ओमप्रकाश के अनुसार[3]— केशव ने भाषा में काव्यशास्त्र को प्राप्य बनाने का मार्ग दूसरों के लिए भी प्रशस्त कर दिया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीति परम्परा का आरम्भ चिंतामणि से माना है। पर केशव के ऐतिहासिक महत्त्व को उन्होंने भी स्वीकार किया है इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिन्दी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के प्रायः ५० वर्ष पीछे चला।[4] शुक्ल जी के मत का समर्थन करते हुए डा० ओमप्रकाश ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है— यदि चिन्तामणि और केशव की दूरी को पाटने वाला आचार्य मिल भी जाए तब भी प्राचीन और नवीन दो प्रकार के आचार्य मान जाएंगे। पूर्वार्द्ध केशव के अनुकरण कर्ताओं का होगा और उत्तरार्द्ध मम्मट जयदेव और विश्वनाथ का।[5] चिन्तामणि से पद्माकर तक जो आचार्य हुए प्रायः स्वच्छन्द कवि मात्र थे किसी परम्परा के

१ It is also a fact that Keshava a great master or writer of poetics with sufficient originality could not attract people to follow him There is hardly to be found any poet or scholar of Hindi who is ready to recognise the authority and accepts his view on poetics (not to say this scholars like Sripati have criticised him and have tried to show his work on poetics as faulty) However he has been allowed a very high place in the field of Hindi literature ? (*Evolution of Hindi Poetics*)

२ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ ५

३ हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ५

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ २ २

५ वही पृ ०२

६ डा० ओमप्रकाश हिन्दी अलंकार साहित्य पृ ५

प्रवर्तक नहीं। कभी कभी उनमें आचार्यत्व अधिक चमक अवश्य जाता था। केशव ने संस्कृत के व्याख्याता आचार्यों या स्पष्टीकरण करने वाले आचार्यों का अनुकरण नहीं किया। उन्होंने संस्कृत के उदभावक प्राच्याचार्यों को ही अनुकरणीय माना। यह उनके अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है—

भामह ४०—४(३ का निरसन तथा १ का तिरस्कार)+१ (आशी)=३७
दण्डी ३४+२(यमक तथा चित्र)+१ (आवृत्ति दीपक)=३७
उदभट ४१—३ (अनुप्रास)—१ (पुनरुक्तवदाभास)=३७
केशव =३७

इस प्रकार केशव की अलंकार संख्या प्राचीनों में ही मिलती है। उनपर दण्डी और उद्भट का प्रचुर प्रभाव था।

हिन्दी के आचार्यों का वर्गीकरण

हिन्दी के आचार्यों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है। कुछ तत्कालीन आचार्यों ने भी वर्गीकरण का आभास दिया है। दूलह ने अपने कविकुल-कण्ठाभरण में साहित्य-साधकों के तीन वर्गों की सूचना दी है कर्ता सत्कवि और अलंकृती।[1] इनकी व्याख्या करते हुए डा० ओमप्रकाश लिखते हैं[2]— कर्ता वह है जो रमणीय रचना कर सके आज की भाषा में उसको कवि कहा जाएगा सत्कवि शब्द यहाँ आचार्य के लिए प्रयुक्त है जो व्यक्ति एक से अधिक अंगों का निरूपण (एक ही पुस्तक में) कर सकता था वह उस युग का आचार्य था। अलंकृति से दूलह का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो अलंकारयुक्त कविता रच सके और अलंकार विषय का ज्ञाता भी हो। देव ने प्राचीन और नवीन भेद करके 'पुरानन मुनि तथा आधुनिक कवि भेद किए हैं।[3] प्राचीन से तात्पर्य कुछ विद्वानों ने संस्कृत के आचार्य माना है। यहाँ मुनि शब्द से सम्भवतः देव का अभिप्राय भरत से ही। हो सकता है कि पुरानन के अन्तर्गत वे हिन्दी के भी प्राचीन आचार्यों को रखते हों। 'कवि' से सम्भवतः वे पिछले लेवे के रीत्याचार्यों को द्योतित करना चाहते हैं। इस

१ करता, करत सच्छन्द ललित, रचि रीके करतए।
×
दारय मन सुन कविन के अर्थमाय लघु तए
×
सभा मध्य सोभा लहै अलकृती टहराय॥
२ हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० ५४
३ अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहें,
येई पुरानन मुनि मतन में पाये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इनही के भेद और विविध बताये॥ (भावविलास)
४ हिन्दी अलंकार साहित्य पृ ५५

रीतिकालीन आचार्यत्व का मूल्यांकन

इस काल को मिश्र बन्धुओं ने 'अलकृत काल' नाम दिया है। कुछ के अनुसार इसे शृगार-काल ही कहना चाहिए। पर रीतिकाल नाम ही अधिक लोकप्रिय बहुप्रयुक्त तथा उपयुक्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' एक पारिभाषिक शब्द था। विशिष्टा पदरचना व्याख्या सहित वामन ने (६वीं शती) इसे काव्यात्मा माना था। रीति शब्द का शास्त्रीय अर्थ हिन्दी के आचार्यों ने ग्रहण किया। पर इसका एक विकसित अर्थ भी प्रकट हुआ — काव्य रचना पद्धति तथा तत्सबधी शास्त्र। तुलसी ने भी कवित रीति का उल्लेख किया है।[1] यहा कविमार्ग ही इसका अर्थ है। रीति या कविमार्ग के नियमो को वे वर्ण्य विषय के उपकारक रूप में ही स्वीकार करके उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत नहीं करते थे।[2] रीतिकालीन कवियो ने इस अर्थ में पथ का भी उल्लेख किया है।[3] केशव के पश्चात् बहुधा 'रीति' शब्द का प्रयोग ही मिलता है। चिन्तामणि मतिराम[4] देव[5] सुरति मिश्र दास[6] प्रभृति आचार्यों ने रीति शब्द का प्रयोग किया है। अत रीति शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर व्यापक अर्थ में विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय काव्य विधान तथा तत्सम्बन्धी बोध और अभिरुचि की पुनर्स्थापना का यह युग था। भक्तिकाव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया शैली को गौण स्थान मिला। रीति काल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया।[1] भक्तिकालीन आध्यात्मिक अथवा सामाजिक उपयोगितावाद के स्थान पर शैली शिल्प के कलात्मक तत्त्वो को मान्यता दी गई। यदि उपयोगिता मानव की एक प्रमुख आवश्यकता है तो कला उसके अन्तर्मन की एक प्रमुख प्रवत्ति है। भक्ति साहित्य यदि एक आन्दोलन से बल ग्रहण करके हिन्दी में एक सुदीर्घ परम्परा बना सका तो रीति काल मानव मन की कलाप्रियता से बल ग्रहण करके एक दीर्घ परम्परा स्थापित कर सका। इसीलिए इस काल के आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की पूर्ण समृद्ध परम्परा को भाषा के कगारों में प्रवाहित होने के लिए बाध्य किया।

रीतिकाल की दीर्घ अविच्छिन्न परम्परा स्वयं अपने आपमें कुछ निजी शक्तिया रखती है जो इसे जीवन रस देती रही। इन्होंने प्रेम को अलौकिक धरातल से उतार

१ कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
२ भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
३ समुझै बाला बालकहु बरनन पथ अगाध।
४ रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार।
५ सो विश्रब्ध नवोढ यो बरनत कवि रस रीति।
६ अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।
७ बरनत मनरजन जहा रीति अलौकिक होइ।
८ काव्य की रीति सिखी सुकवीन सो।
९ हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास षष्ठ भाग पृ० १८
१ डा. नगेन्द्र, कला कल्पना और साहित्य पृ २१२

कर शुद्ध मानवीय लौकिक धरातल पर स्थापित किया। भक्तिकाल में प्रेम को जन जीवन व व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया उसे अपने से इतर पुरुष निर्गुण अथवा सगुण के लिए समर्पित कर दिया, उसकी अपनी भावना का अपने ही हाड़-मांस के लिए कोई भी स्थान और उपयोग नहीं रहा। [1]प्रेम का भक्तिकालीन उदात्तीकरण एक सामयिक आवश्यकता और युगधर्म से प्रेरित था। रीतिकाल ने मानव की मूल भावना उसे वापस दी। प्रेम का यह उच्छलित रूप आचार्यप्रणीत उदाहरणों में समाकर युगरुचि का सामान्यतः तथा राजरुचि का विशेषतया परिष्कार किया। राजरुचि को काव्य और काव्यशास्त्र की ओर मोड़कर एक प्रकार से इस काल के कवि आचार्य ने बड़ा उपकार किया। यदि राज्याश्रय इस कवि के लिए एक बन्धन माना जाता है, तो उसने राजवर्ग के रागतत्त्व को भी नियन्त्रित किया है। इस प्रकार राज्याश्रय और अपनी निजी शक्तियों के बल से यह युग दीर्घ काल तक चलता रहा। भक्तिकाल में अर्थात् सत्रहवीं शती में ही रीत्याचार्यों का कार्य प्रारम्भ हो गया था।[2] पर यह धारा इतनी सघन और बलवती नहीं हो पाई थी। केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक आचार्य मानने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।[3] केशव और चिन्तामणि के बीच काल की जो खाई है उसको पाटने वाली कड़ियों के अभाव में प्रस्तावना काल और रीतिकाल को अलग मान लिया जाता है। बीच की लुप्त कड़ियों का अनुमान भी तर्कसंगत ही होगा। पर इस प्रश्न पर यहाँ नहीं आगे विचार किया है। यहाँ यह मत देकर सन्तोष कर लिया जाता है रीतिकाल का सीमा निर्धारण संवत् १७०० से १९०० तक ही होना चाहिए। सत्रहवीं और बीसवीं शती के रीतिकाव्य का क्रमशः प्रस्तावना और उपसंहार के रूप में आकलन किया जा सकता है। यथार्थ रीतिकाल का विस्तार तो संवत १७०० से संवत् १९०० तक ही है। इस प्रकार २०० वर्ष में कम का इतिहास रीतिकाल का नहीं है। यह अवधि इस युग के कवि आचार्य तथा उनके कविकर्म के मूल्य का प्रमाण है।

इस दीर्घ कालावधि में सैकड़ों ज्ञात अज्ञात रीतिग्रंथों की रचना हुई। इस युग के कवि आचार्य का परिमाणगत मूल्यांकन कठिन है। बहुत-से ग्रंथ अप्रकाशित पड़े हैं, बहुत-से अज्ञात हैं, बहुत-से लुप्त हो गए हैं। फिर भी प्राप्य सामग्री कम नहीं है। डा० भगीरथ मिश्र की सूची[4] के आंकड़े इस प्रकार हैं अलंकार ग्रंथ ४९+

[1] डा० सत्येन्द्र, कला, कल्पना और साहित्य, पृ० २११

[2] कृपाराम का समय सं० १५९८ वि० माना जाता है और सेनापति का १७००। इस काल के आचार्य कवियों की सूची के लिए देखिए, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग पृ० १६७-१६८

[3] "अतः केशव के प्रादुर्भाव-काल में रीतिकाल का प्रवर्तन स्वीकार न करके चिन्तामणि के समय से ही रीतिकाल का प्रवर्तन मानना अधिक युक्तिसंगत है। कृपाराम, करनेस और केशव की रचनाओं को रीतिकाव्य की प्रस्तावना के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। उक्त प्रस्तावना के साथ आगे के रीतिकाव्य का अध्ययन करने पर रीतिकाल का प्रारम्भ अठारहवीं शती में मानना होगा।"

—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग पृ० १७०

[4] वही पृ० १७२

[5] हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ३७-४३

रसग्रंथ ३८+शृंगार और नायिका भेद ग्रंथ ३०+काव्यशास्त्र ग्रंथ ३२=(योग) ११६। हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' की सूचियों में आंकड़े इस प्रकार हैं: सर्वांग निरूपक आचार्यों के ग्रंथ १५+नवरस निरूपक ग्रंथ ३१+शृंगार रस निरूपक ग्रंथ १६+नायिका भेद ग्रंथ १७+अलंकार निरूपक आचार्य ३७(लगभग इतने ही ग्रंथ)+पिंगल निरूपक आचार्य १५ (लगभग इतने ही ग्रंथ)=(योग) ११४। नाट्य विधान से संबंधित केवल एक ग्रंथ नारायणकृत नारायणदीपिका है और कविशिक्षा सम्बन्धी ग्रंथ कवि प्रिया। इन आंकड़ों से रीति आचार्यों का परिमाणगत महत्त्व स्थापित हो जाता है।

इनके आचार्यत्व की सीमाएं हैं। इस युग के आचार्य के साथ कवि संलग्न था, जो सरस उदाहरणों की रचना का आग्रह करता रहता था। पर उदाहरण रचना या योजना भी आचार्यत्व का अंग ही माना जाना चाहिए। संस्कृत में काव्यशास्त्रीय ऊहापोह उस कोटि तक पहुंच चुका था कि मौलिकता दिखाने का अवकाश ही नहीं था।[१] प्राचीन सिद्धान्तों का उपयुक्त वैज्ञानिक व्याख्या भी इन आचार्यों से प्रायः नहीं हो सकी। उदाहरण रचना, वर्णन विस्तार[२] नायिका भेद, वर्गीकरण तथा कुछ भाषा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में मौलिकता के दर्शन होते हैं। नवीनता लाने का मोह प्रायः सभी आचार्यों में दिखाई पड़ता है पर जहां नवीनता है, उसका आधार दृढ़ और वैज्ञानिक नहीं है। संस्कृत के तत्कालीन आचार्य भी न कोई मौलिक चिंतन ही प्रस्तुत कर सके थे और न सूक्ष्म विवेचना ही। हिन्दी के आचार्यों की भांति उनका भी झुकाव वर्णन विस्तार की ओर ही विशेष था। पंडितराज में मौलिक चिंतन और मेधा दिखाई देती है पर वर्णन प्रियता से वे भी मुक्त नहीं हैं।

रीतिकालीन कवि आचार्य का सिद्धान्त प्रतिपादन अस्पष्ट, उलझा हुआ और दोषपूर्ण था। इसका कारण यह था कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सम्यक ज्ञान बहुत कम आचार्यों को था। संस्कृत काव्यशास्त्र की उत्तरवर्ती परम्परा से इनका सम्बन्ध होना भी एक कारण था, वह परम्परा मौलिक चिंतन और उद्भावना की दृष्टि से निर्जीवप्राय हो चुकी थी। इस परम्परा में पंडितराज ही देदीप्यमान नक्षत्र के समान चमक रहे हैं। कविशिक्षा की परम्परा से ही इनका सीधा सम्पर्क हुआ जिसमें सिद्धान्तों का सूक्ष्म ऊहापोह अथवा परीक्षण अपेक्षित नहीं था, उसका सामान्य बोध ही पर्याप्त था।

इन आचार्यों का साहित्य-संवर्द्धन और समीक्षा पद्धति की स्थापना में जो महत्त्वपूर्ण योगदान है उसे भुलाना नहीं देना चाहिए। इनके प्रयत्नों से काव्यशास्त्रीय अभिरुचि सुरक्षित रह सकी। काव्य रचना के लिए तथा काव्यास्वादन के लिए शास्त्रीय पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई। भाषा काव्य का इस पृष्ठभूमि में समुचित उन्नयन और समृद्ध काव्यरूपीय विकास सम्भव हो सका। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' तथा

१ हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ३८६-३८८
२ नारायणदास खन्ना, आचार्य भिखारीदास, पृ० १६१
३ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ४१४
४ डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १६१

'कलम गही नहिं हाथ' के आन्दोलन से प्रेरित बलवती प्रवृत्ति और परम्परा के वातावरण में काव्यशास्त्रीय परम्परा को इन्होंने लुप्त नहीं होने दिया। साथ ही कविकर्म के योग से शास्त्रीय चिन्तन को जहां क्षति पहुंची वहां उसे सरसता भी प्राप्त हुई। अब यह उच्च मनीषितायुक्त विचारक वर्ग के एकाधिकार का क्षेत्र नहीं रह गया, सामान्य कवि और रसिक के लिए भी रमणीय हो गया। इसके अतिरिक्त संस्कृतेतर हिन्दी आचार्यों में मौलिकता का सर्वथा अभाव भी नहीं है।

'हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का योगदान स्पष्ट है। बौद्धिक ह्रास के उस अन्धकार युग में काव्य के बुद्धिपक्ष को जाने अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।'[1] इनका एक पारिभाषिक और शास्त्रीय योगदान भी है। 'संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है—रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत अंग रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराजशृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहां शृंगारवाद एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।'[2] इन आचार्यों की साधना इतिहासकारों की उपेक्षा पाती रही है। नवीन दृष्टि से इसका पुनर्मूल्यांकन अपेक्षित है।

१ डा० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० ४६७
२ वही, पृ० ४६८

द्वितीय प्रकाश

केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र

प्रस्तावना

केशव से पूर्व काव्यशास्त्रीय आचार्यत्व का बीजारोपण हो चुका था। १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में कृपाराम, सूरदास, नन्ददास, रहीम, मोहनलाल, सुन्दर आदि नायिका भेद पर भक्ति की प्रेरणा से या वैसे ही कुछ लिख चुके थे। गोपा एवं करनेस अलंकार-सम्बन्धी कुछ शास्त्रीय रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके थे। इन रचनाओं में आचार्यत्व-सम्बन्धी जो प्रारम्भिक प्रयत्न मिलता है, उसके पीछे भक्ति की प्रेरणा का व्यक्त अव्यक्त सूत्र मिल ही जाता है। केशवपूर्व आचार्यों ने नायक-नायिका भेद और अलंकार निरूपण की दिशाओं में कुछ प्रगति की। इनमें से भी प्रथम को कवि-सुलभ भावात्मकता और विषय की रसात्मकता के कारण विशेष ख्याति और विस्तृति मिली। आचार्य केशव के प्रयत्नों में जो प्रौढ़ता आई उसने आचार्यत्व के क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार किया। केशव के आचार्यत्व के प्रमुख आधार-स्तम्भ तो शृंगार और अलंकार ही रहे पर सामान्यतः इसके क्षेत्र में प्रायः सभी का योग आ गए। केशव के आचार्यत्व की सीमाएँ निर्दिष्ट करने में उनके व्यक्तित्व और युगरुचि का विशेष हाथ रहा। अतः प्रस्तुत प्रकाश में तत्कालीन रुचि, केशव के व्यक्तित्व और उनके काव्यशास्त्रीय क्षेत्र का विवेचन अभीष्ट है।

तत्कालीन अभिरुचि

पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल की देहली पर आचार्य केशव की स्थिति है। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से पूर्व मध्यकाल की प्रमुख विशेषता आचारमूलक धर्म और बुद्धिवादी दर्शन की भावात्मक सरकारिता मानी जा सकती है। धर्म की भावात्मक परिणति ने धर्म और साहित्य का गठबन्धन कर दिया था। इस प्रवृत्ति में एक प्रतिक्रिया की तीव्रता और एक आन्दोलन का वेग था। इस आन्दोलन ने युगरुचि का निर्माण किया। निर्गुण काव्य में बौद्धिकता खण्डन-मंडन, योगाचार या अद्वैतवादी दर्शन की चेतना के रूप में कुछ रही पर प्रधान स्वर भावात्मक ही रहा। ऊपर से बौद्धिक लगने वाले समस्त तर्क भावात्मक प्रभाव और बल ग्रहण किए हुए हैं। राम-साहित्य में नैतिकता और व्यापक सामाजिक आदर्शों की चेतना के रूप में यद्यपि किंचित् बौद्धिकता बनी रही पर दृष्टिकोण भावात्मक ही रहा। कृष्णकाव्य में भावात्मकता चरम कोटि को पहुँच गई, बौद्धिकता के सभी अवशेष लुप्त होने लगे। रामकाव्य धारा में नैतिकता या धार्मिकता काव्य की सतह पर स्पष्ट झलकती थी। धार्मिकता और काव्य में अभेद की स्थिति

नहीं आई थी। कृष्णकाव्य में साधन साध्य काव्य और अध्यात्म का भेद समाप्त हो गया था। काव्य का रसशास्त्रीयपक्ष आध्यात्मिक साधना से और भावपक्ष साध्य से घुलमिलकर एक हो गए। भक्ति साधना को रसशास्त्रीय रूप बंगाल के वैष्णव आचार्य दे चुके थे। शृंगार के स्थान पर हरि शृंगार की स्थापना हो गई थी। शृंगार के रसराजत्व की परंपरा से अनुप्राणित, एक हरि शृंगार शास्त्र बनने और प्रचलित होने लगा। इस प्रकार केशव से बहुत पहले ही भक्ति आंदोलन की साहित्यिक परिणति काव्यशास्त्रीय संस्कार ग्रहण करने लगी थी। आगे चलकर भक्तिवादी लक्ष्य-साहित्य में लक्षण निरूपण के रोड़ों की खड़क नहीं सुनाई पड़ती है। लक्ष्य-साहित्य में लक्षण का सैद्धांतिक पक्ष निमज्जित था। पर अव्यक्त रूप से युग रुचि एक ओर शृंगार से और दूसरी ओर प्रच्छन्न शास्त्रीय सिद्धांतों से प्रभावित अवश्य होने लगी। इस नवोदित मध्यकालीन अभिरुचि का सम्बन्ध राजवर्ग से सीधा नहीं था। इसका रूप छनकर जन-जीवन का स्पर्श अवश्य करने लगा था। जन से संस्पृष्ट होने पर ही अभिरुचि व्यक्ति की सीमाओं से निकलकर युगव्यापी होती है। जयदेव ने जिस शृंगार-वृत्ति को हरि शृंगार का रूप देने के लिए काव्य शास्त्रीय और कामशास्त्रीय रूपरेखा प्रदान की जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी ने स्पष्टतः जिसको काव्यशास्त्रीय लक्षणों में बांधकर रखा, हिंदी के रस सम्प्रदायी कवियों ने जिस शृंगार को प्रचुर लक्ष्य साहित्य दिया उसने यदि युगरुचि को गहराई से प्रभावित किया तो आश्चर्य की बात नहीं है। इसके प्रभाव में रामशाखा के रसिक सम्प्रदाय भी आ गए। पर जन मन में यह शृंगार रुचि कृष्ण के आधार पर ही बढ़ती पनपती रही। राधा-कृष्ण जैसे भक्ति के प्रतीक शृंगार प्रतीक बन गए। शृंगार की अलौकिक परिणति में ही नहीं, उसकी लौकिक परिणतिवाले साहित्य और लोक साहित्य में भी इन प्रतीकों का प्रयोग होता रहा। इस प्रकार एक व्यापक अभिरुचि साहित्य में अभिव्यक्ति पाने लगी। पर इसके साथ-साथ एक क्षीण अवचेतन अध्यात्म भावना अवश्य रही। अध्यात्म का सहारा पाकर अश्लीलता भी उदात्तीकृत हो गई थी। विधि निषेधमय नैतिकता से संत्रस्त सामूहिक अवचेतन उदात्तीकृत अभिव्यक्ति को पाकर तुष्ट हो रहा था।

आध्यात्मिक शृंगार की धारा तो प्रबल थी ही इन तीन शतियों में लौकिक शृंगार की अविरल धारा भी पूरे वेग के साथ प्रवाहित होने लगी। कभी वीरगाथाओं के रोमांस से इसका शृंगार हुआ तो कभी लौकिक प्रेमगाथाओं के रूप में इसका विस्फोट हुआ। शृंगार की एक सुदीर्घ परम्परा ने युगरुचि को एक सुनिश्चित दिशा प्रदान की। लौकिक शृंगार कभी आध्यात्मिक ऊंचाइयों पर रमता जाता था कभी आध्यात्मिक भावना लौकिक शृंगार से आवेग और तीव्रता उधार लेती थी। मध्यकाल की यही केन्द्रीय प्रवृत्ति बन गई। समस्त विश्व में ही मध्यकालीन संस्कृति शृंगार मूलक भावात्मकता से उद्वलित थी।

इस व्यापक जनरुचि का राज संस्करण भी प्रस्तुत होने लगा। एक बार भक्तिमूलक शृंगार के प्लावन में जो लौकिक शृंगार भावना लीन हो गई थी,

राजाश्रय की छाया मे फिर उलहने लगी। राजवर्ग की क्षतिपूरक प्रवृति विभिन्न रूप ग्रहण कर रही थी। सुंदरी अब शौय का साध्य नहीं हो सकती थी। युद्धों की विभीषिका अब नारी अपहरण के रूप म घटित नहीं हो सकती थी। विदेशी शासन क प्रति विद्रोह भावना सो चुकी थी या अत्यन्त क्षीण हो गई थी। भक्ति की भावना ने शृंगार को जो रूप प्रतिष्ठा की थी उससे नवीन प्रतीक लेकर लौकिक शृंगार नव जीवन ग्रहण कर चुका था। इससे राजरुचि भी अप्रभावित नहीं रह सकती थी। नवीन आध्यात्मिक प्रेम प्रतीकों की आड म अश्लील शृंगार सामाजिक स्वीकृति भी पाने लगा था। राजवर्ग का पराजित मन उन्मुक्त प्रेम और शृंगार क अवसरों को प्रश्रय देने लगा था। यह तो एक सामान्य स्थिति थी जो राजरुचि की पट भूमिका तयार कर रही थी। वस्तुत राजरुचि और तदगत शृंगार का निर्माण अन्य स्रोतो स हुआ। रीतिकालीन राजवर्गीय विलास वृत्ति और उसके विकास विस्तार क लिए प्राप्त अवकाश नवीन ललित आवश्यकताओ को जन्म दे रहा था। इनम सबस प्रथम आवश्यकता थी विनोद और विलास के आस्वाद्य क्षणो को विस्तृत बनाने की। आस्वाद क क्षण का विस्तार अवकाश प्राप्त उच्चवग की प्रमुख मनोवैज्ञानिक आवश्यकता होती है। आस्वाद क क्षण का विस्तार व्यावहारिक रूप स भी हो सकता है और सद्धान्तिक रूप स भी। दोनों ही दिशा विस्तारो क लिए शास्त्रों की रचना हुई। इन शास्त्रों ने आस्वाद की प्रक्रिया को एक विशेष पद्धति म ढालकर इसे विलंबित किया। कामशास्त्र ने विलास-क्षण क व्यावहारिक या क्रियात्मक पक्ष को विस्तार दिया और काव्यशास्त्र उस क्षण को शुद्ध मनोवैज्ञानिक पद्धति से विस्तृत करता था। समस्त व्यवहार पक्ष काव्यशास्त्रीय पद्धति स नियोजित एक मन स्थिति म ही स्फीत होता है। काव्यशास्त्र विनोदेन का यही रहस्य है। भक्तिगत शृंगार विलास क क्षणों को भी विस्तृत करने के लिए शास्त्र का सहारा लिया गया था। राजरुचि का यह शास्त्रीय संस्कार ही उसे जनरुचि स विशिष्ट कर दता है।

इस राजरुचि के कारण रीतिकालीन आचार्यत्व कुछ विस्तृत हुआ। कामशास्त्र का पुन काव्यशास्त्रीय शृंगार विधान के लिए अनिवार्य-सा हो गया। कामशास्त्र नारी क मानसिक और शारीरिक सौन्दय-स्तरों को क्रमश उद्घाटित करन सुप्त सौन्दय को जाग्रत करन और उसक भोग की क्रियाओ को विलंबित करन का शास्त्र है। रतिचेष्टाओ का कामशास्त्रीय विवरण भावन और उत्तजना क लिए आवश्यक हो गया। राजरुचि स अभिव्यक्ति पक्ष भी प्रभावित हुआ। कविता भी एक कामिनी है। राजशेखर न कभी काव्य-पुरुष की साग कल्पना की थी अब कविता कामिनी रूप म ही स्वीकाय थी। जिस प्रकार नारी प्रकृति का केन्द्र शृंगार है उसी प्रकार कविता की प्रकृति भी शृंगारमय मान ली गई। नारी सौन्दय क उपभोग और आस्वाद को यदि शास्त्रीय पद्धति स नियोजित किया गया और समस्त उपभोग क्रिया को विलंबित करन की चेष्टा की गई तो कविता कामिनी क आस्वाद को भी विलंबित करन की आवश्यकता हुई। परिणाम यह हुआ कि रस और ध्वनि जसे

सूक्ष्म काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की उपेक्षा हुई। शास्त्र के उन अंगों का पुनरुत्थान किया जाने लगा, जो काव्य के 'रूप' को शास्त्रीय आवरणों में ढक देते थे। क्रमशः आवरण हटते जाए वस्तु सौन्दर्य की क्रमशः प्राप्ति और उसका विलंबित आस्वाद मिल सके। सामंतीय अभिरुचि में 'रूप' की उलझनों के प्रति एक आग्रह अनिवार्य रूप से होता है। जिस प्रकार नारी का स्थूल सौन्दर्य राजवर्ग की आंखों में मदिरा की भांति ढल गया था उसी प्रकार काव्य के बाह्य रूप की चमत्कारपूर्ण भंगियों के लिए उनके कान आकुल थे।

अलंकारशास्त्र ने शैली की आवश्यकता को पूरा किया। अलंकार जहां एक ओर सौन्दर्याधायक था वहां दूसरी ओर राजरुचि की संतृप्ति के लिए समुचित चमत्कार और आस्वाद के क्षण का विस्तार भी इनके द्वारा ही संभव था। 'चमत्कार' भी राजरुचि की एक विशेषता होती है। चमत्कार-सम्बन्धी रुचि को भी थोड़ा समझा जा सकता है। चमत्कार वस्तु-सम्बन्धी भी हो सकता है और रूपगत भी। चमत्कार का मूल वैचित्र्य में है। एक प्रकार की असाधारणता चाहिए जो तत्काल चमत्कृत कर दे। चमत्कार जब शैलीगत होता है तो अर्थ निरपेक्ष होकर भी प्रफुल्लित कर सकता है। ध्वन्यात्मक नादात्मक या मात्र शब्दों के आधार पर उत्पन्न होनेवाला चमत्कार अर्थबोध की अपेक्षा नहीं रखता। अर्थबोध से पूर्व का चमत्कार भी विविध अलंकार विधान पर आधृत होता है। अर्थबोध की प्रक्रिया भी चमत्कारपूर्ण हो सकती है। चमत्कार अपने आप में यदि लक्ष्य बन जाए तो अर्थ संकुचित होता जाता है। शुद्ध चमत्कार अर्थबोध के लिए एक जिज्ञासा उत्पन्न करता है। अर्थबोध की बौद्धिक प्रक्रिया भी चमत्कार के कारण आस्वाद्य बन जाती है। चमत्कारजन्य तुष्टि की प्रकृति बौद्धिक होती है। इस प्रकार जटिल अलंकार विधान राजरुचि से संबद्ध होता गया। वस्तुगत चमत्कार की दृष्टि से रूढ़ और विस्तृत वर्णन और विवरणों की भीड़ जुट गई। इसके द्वारा अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करके कवि भी एक बौद्धिक तुष्टि प्राप्त करता था और यह ज्ञान पर आधारित काव्यास्वाद राजवर्ग को इसलिए तुष्ट करता था कि वह इसके कारण साधारण जन से अपने को विशिष्ट अनुभव करता था। उसका आभिजात्य एक विशिष्ट शैली और असाधारण आस्वाद प्रक्रिया से संतुष्ट होता था। चमत्कार की प्रवृत्ति और अभिजात भावना ने एक बौद्धिक प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया। भक्ति साहित्य की सघन भावात्मकता जिस आस्वाद में संभव थी वह सीमित हो गई। बौद्धिक उपकरण सामंतीय रुचि का वशिष्ट्य स्थापित कर देते हैं।

भक्ति-शृंगार के आस्वाद के साथ एक धार्मिक भावना संलग्न थी। विश्वास के माध्यम से रसास्वाद होता था। सामंतीय रुचि शास्त्रीय पद्धति के बौद्धिक उपकरणों पर आधारित थी। मौलिक ज्ञान या चिंतन का उत्तर मध्यकाल में अभाव हो गया था। भक्तिकाल में भी बौद्धिक उपकरण परंपरा से लिए गए थे। फिर जो मौलिक संस्कार सभी पुरातन उपकरणों का हुआ। रीतिकालीन बौद्धिक उपकरण भी परम्परा से उधार लिए गए। उनका सूचीबद्ध या सूचनागत रूप प्रकट हुआ कोई मौलिक संस्कार उनका नहीं किया गया। काव्य में बौद्धिक चमत्कार और भावुकता में कमी

संतुलन रहता था कभी बिगड़ जाता था। धीरे धीरे बौद्धिक चमत्कार प्रबल होता गया। इस क्षेत्र में प्रतियोगिता भी बढ़ती गई। मौलिक चिंतन के अभाव में परिगणन की वृत्ति जन्म लेती है। बौद्धिक चमत्कार की इच्छा और वास्तविक ज्ञान या चिंतन का अभाव स्वान्तः सुखाय की सरलता को समाप्त कर देता है। युग समाज के प्रति एक चेतना रहती है जो कविकर्म की स्वाभाविकता को भंग करती जाती है। यह चेतना एक ओर निर्दोष काव्य रचना की अनिवार्यता उत्पन्न करती है दूसरी ओर शास्त्राधारित चमत्कार की ओर उसे प्रवृत्त करती है। राजवर्ग की बौद्धिक चेतना न तो विशेष तीव्र ही थी और न उसके व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग ही। फिर भी एक मनोवैज्ञानिक छल था जो बौद्धिक उपकरणों को जुटाना चाहता था। चमत्कार की प्रवृत्ति का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। राजरुचि की यह एक सीमा बन गई।

इस व्याख्या के आधार पर संक्षेप में राजरुचि के मूल उपादान ये ठहरते हैं

१ विलास शृंगार के क्षण का विस्तार।
२ आस्वाद प्रक्रिया को विलंबित करना।
३ चमत्कारप्रियता अलंकारप्रियता।

इस राजरुचि का प्रतिनिधित्व केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीतसिंह में मिलता है। इन्द्रजीतसिंह को शास्त्रीय संगीत और नृत्य में विशेष रुचि थी। देश भर के प्रसिद्ध संगीतज्ञों और वेश्याओं को उनके यहां आश्रय मिलता था।[1] इन संगीत-नृत्य निपुणा वेश्याओं के सम्बन्ध में केशव ने कविप्रिया में कई छन्द लिखे हैं। इन्द्रजीत सिंह की अतिवादी विलासिता भी इस वातावरण से प्रकट होती है। इन्द्रजीतसिंह स्वयं भी कविता करते थे और कवियों का सम्मान भी करते थे। काव्यशास्त्र के प्रति भी उनका विशेष आकर्षण था। उनके नाम से केशव ने 'रसिकप्रिया' की रचना की।[2] इस समर्पण में इन्द्रजीतसिंह की शृंगार वृत्ति को संतोष भी मिला और अपने को उसने गौरवान्वित भी अनुभव किया। शृंगार की रुचि का पूर्ण प्रतिनिधित्व इस रचना में मिलता है। इसकी आग्रहपूर्ण प्रेरणा इन्द्रजीतसिंह ने ही दी।[3] इस राजरुचि के साथ धार्मिक शृंगार भावना का समावेश करके एक उदात्त भूमिका तैयार कर दी गई है।

आचार्य केशव का व्यक्तित्व

केशव ब्राह्मण थे और उनके आत्माभिमान के अनेक कथन मिलते हैं। वैष्णव

१ बरनौ अखारो राज के सम्पन्न सब संगीत।
ताको देखत इन्द्र ज्यों इन्द्रजीत रनजीत॥ कविप्रिया १।४१
२ इति श्री महाराजकुमार इन्द्रजीत विरचितायाम् रसिकप्रियायां ...
३ तिन कवि केसवदास सों कीन्हो धर्म सनेहु।
सब सुख दै करि यों कह्यो 'रसिकप्रिया' करि देहु॥ रसिक० ।१२
४ द्रष्टव्य रामचन्द्रिका १।४-५ २०।२३ २१।१५ १६ २ ३३।१० ३४।४५ आदि।

संस्कृति के विकास-काल में ब्राह्मण की स्थिति कुछ अस्थिर-सी हो गई थी। जाति भेद का विरोधी स्वर ब्राह्मण को क्षति पहुँचा रहा था। जिस संस्कृत ज्ञान का वह धनी था, उसकी अपेक्षा लोकभाषा और लोक साहित्य की प्रतिष्ठा अधिक हो गई थी। यज्ञ-यागादि पर भक्ति-भावना विजय प्राप्त कर रही थी। बलपूर्वक धर्म परिवर्तन के कारण वर्ण व्यवस्था एक व्यंग्य बन गई थी। कुछ धर्मगुरु, पंडित कवि, कलाकार आदि गाँवों में चले गए थे जिससे कि विद्वेषी यवनों से सुरक्षित रह सकें और अपनी जीविका भी चला सकें। संस्कृत का राजाश्रय हिन्दू राजाओं के दरबारों में प्रायः समाप्त हो गया था।[1] *इस स्थिति में परम्परागत पंडित मण्डली का छिन्न भिन्न हो* जाना स्वाभाविक था। इसकी प्रतिक्रिया में काशी, मिथिला, नवद्वीप या पूना में संस्कृत के केन्द्र बने। नवीन स्मृतियों का प्रणयन हुआ। पर प्रतिक्रिया की समस्त दुर्बलताएँ इन केन्द्रों पर मिलती हैं। ब्राह्मण ने दूसरा मार्ग भी पकड़ा। निराश्रित पण्डित मण्डली पुरोहिती या पौराणिकी वृत्ति के द्वारा आजीविका की व्यवस्था कर रही थी। इस परिवर्तित रूप में उसने हिन्दू राज्यों में भी आश्रय पाने की चेष्टा की। वह संस्कृत से भाषा पर उतर आया। उसके हाथ से समाज का नेतृत्व छूट गया। ब्राह्मण वृत्ति के साथ चारण-वृत्ति का मिश्रण किया। शास्त्रीय शृंगार की गाथा से आश्रयदाता का मनोरंजन और एतदर्थ दान उसकी प्रातिभ साधना का लक्ष्य बन गया। केशव का वंश भी परिस्थिति के इसी दबाव के कारण राज्याश्रय की ओर आया। कविप्रिया में उन्होंने स्पष्ट कथन किया है कि उनके पितामह पिता आदि राजाओं के श्रद्धाभाजन रहे।[2] केशव के अग्रज बलभद्र राजा मधुकर शाह को बचपन से ही पुराण-कथा सुनाया करते थे। शुद्ध ज्ञानवादी परम्परा से विच्छिन्न होकर ब्राह्मण ने पुराण-वाचक का स्थान ग्रहण किया। 'पुराण' तत्कालीन सांस्कृतिक जागरण का प्रमुख केन्द्र बन गया था। गुप्त-युग से ही पुराण-सामग्री साहित्यिक स्रोतों में प्रमुख हो गई थी। केशव के युग में भी साहित्यिक वस्तु प्रेरणा एवं परिवेश किसी न किसी रूप में पुराणाश्रित रहता था। जन परम्परा ने भी पुराणों की नवसृष्टि की थी। पुराणों ने समस्त भारत को सांस्कृतिक एकसूत्रता प्रदान करने में महत्वपूर्ण योग दिया था। हिन्दू-संस्कृति के संरक्षण में भी इस परम्परा का महत्त्व था। इसी का आश्रय ग्रहण करके मध्ययुगीन ब्राह्मण वर्ग समाज में उच्च स्थान प्राप्त करने लगा। पुराणवाचक मध्ययुग का प्रमुख व्यक्तित्व बन गया। इसका सम्बन्ध जनता से भी था और राजवर्ग से भी। जनपदीय भाषा के माध्यम से पुराणवाचक ने पौराणिक संस्कृति का संदेश घर घर पहुँचाया। इसी रूप में केशव जैसे संस्कृत पण्डितों के वंशधरों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। केशव के पितामह कृष्णदत्त को राजा रुद्रप्रताप ने पौराणिकी वृत्ति प्रदान की थी।[3] उस समय से यही वृत्ति केशव के घर में चली आई। बलभद्र भी यही काम

१ अकबर और अन्य मुगल शासकों के आश्रित कुछ संस्कृत पण्डित अवश्य थे, इनका विवरण प्रथम प्रकाश में दिया जा चुका है।

२ कविप्रिया २।१९

३ पुत्र भए हरिनाथ के कृष्णदत्त शुभ वेश।

करते थे।[1] इस प्रकार केशव का वंश संस्कृत परंपरा को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा कर रहा था और शास्त्रीय एवं पौराणिक ज्ञान से संपन्न था।

केशव के वंश का सम्बन्ध व्रज और राजस्थान के सीमावर्ती प्रदेश से है। वहां से उनके पूर्वज ओरछा में आश्रय लेने के लिए आए।[2] एक ओर तो राजवंश से इस वंश का सम्बन्ध था। दूसरी ओर व्रज के वैष्णव सम्प्रदायों से यह परिवार सबद्ध था। केशव का वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्ध होना सिद्ध है। संभवत विट्ठलनाथजी इनके मंत्रगुरु थे। उनकी प्रशस्ति में उन्होंने एक छन्द भी लिखा है

हरि हर बल गोविन्द विभु पावक सीतानाथ।
लोकप विट्ठल सखधर गरुडध्वज रघुनाथ॥[3]

इस प्रकार वैष्णव संस्कार केशव में दृढ थे। यह सर्वविदित है कि गो० विट्ठलनाथजी ने सम्प्रदाय में शृंगार को प्रमुख स्थान दिया था। जहां वल्लभाचार्यजी ने वात्सल्य पर बल दिया वहां विट्ठलनाथजी ने मधुरावृत्ति को सम्प्रदाय में प्रविष्ट कराया। केशव की शृंगार वृत्ति को इस धार्मिक दृष्टि ने भी प्रभावित किया।

अपने मूलस्थान से केशव के वंशज ओरछा आए। ओरछा का राजवंश सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा गौरवशील था। गढकुंडार (ओरछा) के बुंदेले ऐसा की पन्द्रहवीं शती से हिन्दू-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते आ रहे थे। यह राज्य साहित्य संगीत एवं कलाओं का केन्द्र बन गया था। अकबर के नवरत्नों में से दो रत्न रामचन्द्र बुन्देला ने ही अकबर को दिए थे—बीरबल और तानसेन। गढकुंडार (ओरछा) के बुन्देलों ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया। इसी वंश की एक शाखा ने चित्रकूट और अयोध्या के वैष्णव मंदिरों का निर्माण कराया। यदि केशव के वंशजों ने इस राज्य में आश्रय ग्रहण किया तो आश्चर्य की बात नहीं। यह राज्य मुगलों से लड़ने रहने की परंपरा का भी निर्वाह करता रहा। वीरसिंहदेव इस परंपरा का एक जाज्वल्यमान दीप है। केशव के व्यक्तित्व निर्माण में ओरछा के राजवंश की स्थिति ने भी योगदान दिया। एक ओर उनको इन्द्रजीतसिंह के विलास क्षणों को गुदगुदाना पड़ा और दूसरी ओर वीरसिंहदेव जैसे स्वाभिमानी धर्माभिमानी वीर के कार्यों को वाणी देनी पडी। एक ओर उन्हें धर्म शिक्षा[4] का कार्य करना पडा और दूसरी ओर कविशिक्षा का। मंत्रगुरु[5]

सभा मांह सुभान की जाने सब अमत॥
जिनकी वृत्त पुरान की दीनी राजा रुद्र।
जिनके काशीनाथ सुत मामे बुद्धि समुद्र॥ कविप्रिया ३।१३ १४

१ बालक तैं मधुमाहि नष जिनर मुन्यो पुरान। कवि २।१६
गोरेलाल तिवारी, बुन्देलखण्ड का इतिहास पृ १२४

३ कविप्रिया १६।१६

४ वीरसिंहदेव की व्याख्या हा विज्ञानगीता के मूल में है—
मथारासिन सब करत भक्ति हरि जन बच श्रीगा।
चित्त न तजत विकार न्हात नर यदपि गंगा॥ विज्ञानगीता १। =

५ गुरु करि जान्यो इन्द्रजित तन मन कृपा विचारि। कविप्रिया २।२

राजसखा, मंत्री[1]—सभी रूपों में केशव को अपने को ढालना पड़ा। इस प्रकार केशव का व्यक्तित्व बहुमुखी हो गया। उन्होंने अपने गुणों के कारण ओरछा में ही नहीं अन्यत्र भी सम्मान प्राप्त किया।[2] केशव का सम्बन्ध बड़े लोगों से तो था ही पतिराम[3], चन्द्र[4] जैसे सामान्य लोगों से भी उनका हित था। इनपर कुछ छन्द लिखकर इनको भी केशव ने अमर बनाया। कामसेना[5] और राय प्रवीण[6] जैसी सामान्याएं भी केशव के संस्पर्श से अमर हो गयीं। यह केशव की उदारता को ही प्रकट करने वाले उल्लेख हैं।

वंश परंपरा से केशव को बहुज्ञता का वातावरण मिला। केशवदासजी के वंश में पाण्डित्य की परंपरा पीढ़ियों से चली आ रही थी। 'भावप्रकाश' नामक ग्रंथ इनके ही एक पूर्वज भाऊराम की रचना है। इनके पिताजी काशीनाथ मिश्र ने ज्योतिष की प्रसिद्ध पुस्तक 'शीघ्रबोध' का प्रणयन किया था। कुछ लोगों की सम्मति में 'प्रसन्न राघव' के प्रसिद्ध लेखक जयदेव इनके पूर्वज थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र हिंदी के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने नखशिख 'भागवत भाष्य' तथा 'हनुमन्नाटक टीका' आदि की रचना की। इस प्रकार का बहुमुखी पाण्डित्य और ज्ञान दरबारों से संबद्ध केशव जैसे व्यक्तित्ववाले सभी कवियों को आवश्यक था। धर्म, ज्योतिष, संगीत, भूगोल, वैद्यक, वनस्पति, पुराण, राजनीति, अश्वपरीक्षा, कामशास्त्र आदि शास्त्रों का केशव को सामान्य व्यावहारिक ज्ञान था। काव्यशास्त्र के वे विशेष ज्ञाता थे और इस क्षेत्र में उनकी रुचि भी बढ़ी चढ़ी थी। समस्त पाण्डित्य जहां उनको पर्याप्त राज-सम्मान से विभूषित करा सका, वहां उनकी काव्यशास्त्रीय साधना को भी प्रभावित करता रहा। उनके उदाहरण भाग को इस बहुज्ञान ने समृद्ध बनाया। काव्यशास्त्रीय पद्धति का विस्तार भी इसके द्वारा हुआ।

सामान्य और विशिष्ट युगरुचि के संदर्भ में भी केशव के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। केशव के आचार्यत्व के क्षेत्र का नियमन युगरुचि और उनके व्यक्तित्व के द्वारा हुआ। युगरुचि ने कवित्व प्रार्थी युवकों की शास्त्रीय आवश्यकताएं उत्पन्न कर दीं। केशव का व्यक्तित्व मध्यकालीन संस्कृत पंडित का व्यक्तित्व था। इस काल के संस्कृत पंडित को अस्तित्व रक्षा के लिए संस्कृत ज्ञान को संचित करना भी आवश्यक था और उसको भाषान्तरित करना भी। पांडित्य की वास्तविक गहराई समाप्त हो गई थी। यह मात्र गर्व और प्रदर्शन की वस्तु रह गई थी। उत्तरकालीन संस्कृत

१ इन्द्रजीत के बड़े भाई रामशाह ने केशव को मित्र और मन्त्री समझा—
इन्द्रजीत के हेत सब राजा राम सुजान।
मान्यो मन्त्री मित्र कै 'केसवदास' प्रमान॥ कविप्रिया २।२१
२ द्रष्टव्य लेखक की 'केशव और उनका साहित्य' कृति, पृ ४९
३ केशव का पड़ोसी सुनार था।
४ यह राजा बीरबल का दरबान था।
५ यह राजा रामसिंह की वेश्या थी।
६ कविप्रिया की रचना में इन्द्रजीतसिंह की इस वेश्या को मूल प्रेरणा केशव ने स्वीकार की है।
७ 'केशव और उनका साहित्य' पृ० ९२

का यशास्त्र और श्रव्यसान्निध्य अधिकाधिक चमत्कारवादी हो गया था। पंडितवर्ग में काव्यशास्त्र की एक परंपरा विश्राम ले रही थी। अलंकार का संक्षिप्ततम निरूपण तथा उदाहरण रचना में विशेष रुचि इस परंपरा की विशेषता थी। दूसरा पक्ष शृंगार और नायिका निरूपण का विस्तार था। लक्षण और उदाहरणों की संगति में चमत्कार प्रदर्शन किया जाता था। इस पंडितवर्ग की मूल प्रवृत्ति प्रदर्शन की थी। केशव का जन्म भी ऐसे ही पंडितवर्ग में हुआ।

इस पंडितवर्ग को भी राजाश्रय की आकांक्षा थी। अतः राजरुचि का भी इसे ध्यान रखना था। राजरुचि के अनुकूल इस वर्ग के पास शास्त्रीय ज्ञान बहुलता और चमत्कारपूर्ण काव्य था। राज्याश्रित कवि या तो ब्राह्मण था या चारण। चारण राजा के जीवन का साथी था। उसकी वाणी में जादू था और उसे राजरुचि की परख थी। पर संस्कृत ज्ञान उसके पास नहीं था। उसका समस्त ज्ञान परम्परागत था। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उसका योगदान नहीं रहा। क्षत्रिय जाति से चारण जाति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। राजा और चारण के बीच सखाभाव था। पर केशव का व्यक्तित्व चारण से भिन्न था। वे एक संस्कृताभिमानी पंडित थे। उनको राजगुरु होने का गौरव भी मिला था। संधि विग्रह में भी उनकी मंत्रणा का मूल्य होता था। इस प्रकार केशव के व्यक्तित्व में ब्राह्मणत्व और चारणत्व का समावेश था। उन्होंने अपने संस्कृत के शास्त्रज्ञान के आधार पर आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। चारणों की शैली में उन्होंने प्रशस्तियाँ भी लिखीं। ओरछा राज्य ने दिल्ली से जो राजनैतिक सम्बन्ध रखे उनमें भी केशव का हाथ था। इस प्रकार सामान्यतः केशव का व्यक्तित्व बहुमुखी था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भक्ति के रस सम्प्रदाय शास्त्रीय संस्कार ग्रहण करने लगे थे। केशव का व्युत्पन्न व्यक्तित्व युग के प्रबल प्रवाह से अछूता नहीं रह सकता था। लौकिक कवि भी युगधर्म से निरपेक्ष नहीं रह पाया। राज्याश्रित कवि भी अपने को बलात् इस शृंगार पारावार के किनारे पाता था। केशव ने भी अपने व्यक्तित्व में हरि शृंगार के प्रति एक आग्रह पाया। आध्यात्मिक संस्कारों की अर्द्धजागृत अवस्था में केशव ने हरि शृंगार में सभी रसों का समावेश कर दिया।[1] भक्तिकाव्य ने जो शृंगार प्रतीक प्रदान किए वे ही केशव के शृंगार निरूपण के आधार बन गए। आध्यात्मिक दृष्टि से सभी रस एक मूल केन्द्र से निःसृत होते हैं। उसीमें उनका विलय भी हो जाता है। यह दृष्टि शुद्ध काव्यशास्त्रीय न होकर भक्तिमिश्रित है। रस-सम्बन्धी समस्त आचार्यत्व इसी दृष्टिकोण से प्रभावित था। यह युगधर्म की प्रेरणा थी। राज्याश्रित होते हुए भी केशव ने लक्षणों के उदाहरणों को लौकिक प्रशस्ति से मुक्त रखा। यह केशव के व्यक्तित्व की स्वच्छंदता ही थी। शृंगार के रसराजत्व की शास्त्रीय-परम्परा के साथ भक्ति की प्रेरणा न मिलकर

[1] नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि नायक है शृंगार॥ के० ग्र० पृ० २ (र० १)

केशव के व्यक्तित्व को प्रयोगशील बना दिया। उद्देश्य कथन में केशव ने रस विवेचन का रसरीति बोध और स्वार्थ एवं पारमार्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उद्दिष्ट कहा।[1] केशव का उद्देश्य एक ओर जयदेव तथा अन्य बंगाली वैष्णव आचार्यों से मिलता है दूसरी ओर नन्ददास से। इस भक्ति की प्रेरणा ने केशव के रस-सम्बन्धी आचार्यत्व को बहुत प्रभावित किया। शृंगार के जिन अंगों का भक्तिमूलक शृंगार शास्त्र में विस्तार हुआ था उनका विस्तार केशव ने भी किया। नायिका निरूपण के आरम्भ में जगन्नायक की नायिका उनकी दृष्टि में थी। इस प्रसंग का केशव ने रुचि से विस्तार किया है। भक्ति की रसरीति में नायिका निरूपण को प्रमुख स्थान प्राप्त था। भक्ति की प्रेरणा ने उन्हें मायाया के निरूपण से रोका। परकीया का लक्षण निरूपण भक्ति भावना से प्रेरित है

सब तें पर परसिद्ध जग ताकी प्रिया जु होइ।
परकीया तासों कहैं परम पुराने लोइ॥[2]

राधा कृष्ण की रति चेष्टाओं का वर्णन करने के पश्चात् केशव की भक्ति भावना उनको अनुभव कराती है कि सम्भवत उनसे कुछ धृष्टता हो गई

राधा राधा रमन के कहे जथामति हाव।
रिझेई 'केसवराय' को छमियो कवि कविराय॥[3]

विप्रलम्भ शृंगारान्तर्गत दस दशाओं का वर्णन करते-करते, 'मरण' का निरूपण करते समय केशव की कल्पना ठिठक जाती है

मरन सु 'केसवदास' प बरन्यो जाइ न मित्र।
अजर अमर जस काहि कहौं कसें प्रम चरित्र॥[4]

भक्ति भावना की रक्षा में केशव को पूर्णता और अपूर्णता का ध्यान भी नहीं रहता। इन कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति के प्रभाव ने केशव के रस-सम्बन्धी आचार्यत्व को प्रभावित किया था। इस प्रेरणा से केशव ने कुछ अंगों को छोड़ दिया और कुछ का विस्तार किया। नायिका भेद का प्रकरण संस्कृत के उत्तरकालीन आचार्यत्व में प्रमुख स्थान हो गया था। कृष्णप्रिया की भावना भी नायिका भेद का आश्रय लेने लगी थी। केशव ने भी नायिका भेद के विस्तार में पर्याप्त रुचि ली है। सखियों का भी कृष्ण-लीलाओं में प्रमुख स्थान था। सखी प्रकरण को भी केशव ने रसिकप्रिया के दो प्रभावों में दिया है। सखी समाज की महत्ता भक्ति के रसिक सम्प्रदायों में बहुत अधिक थी। इन सम्प्रदायों में 'तत्सुखी भावना' सर्वोच्च थी। इनका राम में दर्शिका या सहायिका के रूप में प्रवेश था। सखियों में भक्ति-सम्बन्धी आदर्श की स्थापना हो गई थी। इस रूप में सखियों की

१ बाढ़ै रति मति अति पढ़ै जानें सब रस रीति।
स्वारथ परमारथ लहैं, रसिकप्रिया की प्रीति॥—के० ग्रं०, पृ० ६३ (छं० ?)
२ के० ग्रं० पृ० १८ (रा० १)
३ के० ग्रं०, पृ० ३६
४ के० ग्रं०, पृ० ५५

कल्पना केशव के ध्यान में थी। अतः उन्होंने सखियों की यह स्थिति बतलाई

केसवदास[1] प्रवास को कह्यो यथा मति साज।
राधा हरि बाधा हरन बरनौं सखी समाज॥[1]

दर्शन और मिलन का विस्तार[2] भी भक्ति प्रेरित प्रतीत होता है। इन प्रसंगों पर केशव के समय में प्रचुर लक्ष्य साहित्य प्रस्तुत हो गया था। इसी प्रकार विप्रलंभ के रूप भी भक्ति-साहित्य में प्रतिष्ठित थे। पूर्वानुराग, मान आदि पर भी पर्याप्त भक्ति साहित्य बन चुका था। केशव ने विप्रलंभ के इन अंगों का रुचिपूर्वक विस्तार किया है। मान का विवेचन रसिकप्रिया के नौवें और दसवें प्रभावों में किया है। इनके विस्तार में भी भक्ति की प्रेरणा प्रतीत होती है। इस प्रकार केशव के व्यक्तित्व का भक्तिपक्ष रस निरूपण में स्पष्टतः प्रतिबिंबित है। युग का प्रबल प्रभाव इस रूप में प्रकट हुआ है। रसिकप्रिया के अध्ययन के फल का कथन भी भक्तिमूलक प्रतीत होता है। इसको पढ़कर सभी वर्णों और सभी आश्रमों के व्यक्तियों को सुख मिलेगा

इहि बिधि स्याम सिंगार रस बहु बिधि बरनो सोइ।
चारि बरन चहुँ आश्रमनि कहत सुनत सुख होइ॥[3]

केशव के शृंगार निरूपण पर कामशास्त्रीय प्रभाव केशव के व्यक्तित्व के दूसरे पक्ष को प्रदर्शित करता है। राजरुचि से केशव का व्यक्तित्व प्रभावित था। राजरुचि विलास रत थी। विलास के क्षणों के विस्तार में कामशास्त्र सहायक था। काव्यशास्त्र और कामशास्त्र का संयोग आचार्यत्व की परम्परा में पहले से हो चुका था। नायिका भेद का कामशास्त्रीय आधार स्वयं भरत ने स्वीकार किया है। कामशास्त्र सम्बन्धी अनेक प्रकरण भरत के नाट्यशास्त्र में ही प्रविष्ट हो गए थे। प्रेमसूचक इंगित, राजाओं तथा सामान्यजनों द्वारा नारियों को वश में करने के उपाय, कामक (सम्भोग) के कारण, सम्भोग का समय, नायक का स्वागत, सम्भोग से पूर्व के आयोजन, सम्भोग के समय स्त्री पुरुष का पारस्परिक व्यवहार, मान के प्रकार आदि ऐसे ही विषय हैं।[4] रुद्रट ने भी कामशास्त्रीय विधि विधान को नायिका निरूपण का भाग बनाया। केशव ने राजरुचि का ध्यान रखते हुए कामसूत्र रतिरहस्य, अनंगरंग आदि का आधार लिया। मिलन, दंपतिचेष्टा, बहिरति, अन्तररति, षोडश शृंगार आदि के प्रसंग केशव के आचार्यत्व के कामशास्त्रीय विस्तार को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार केशव का व्यक्तित्व कामशास्त्र के विस्तार के लिए उत्तरदायी है। एक ओर उनके आचार्यत्व को भक्ति ने प्रभावित किया और दूसरी ओर कामशास्त्र ने।

१ के ग्र पृ ६८
२ रसिकप्रिया प्रभाव ४ ५
३ के ग्र पृ ८०
४ नाट्यशास्त्र २ ।२४१ २३।२२१ २२।२ ४ २३।५८
५ नाट्यशास्त्र २४।२५३ २५८ १६५ १६६ २४।६५-७ , २२२ २३ ३०१ २ ।२ २२८ २३६ २३१ २४६, २५ २६५ ८१ ।४५

केशव के कवि शिक्षक व्यक्तित्व की यही संक्षिप्त पृष्ठभूमि है। आचार्य के रूप में उनकी शक्तियों उनकी दुर्बलताओं, विषयों की विस्तृति और स्फीति के लिए यही पृष्ठभूमि अधिकांशतः उत्तरदायी है। मिश्रबन्धुओं ने केशव को भाषा का भामह एवं मम्मट कहा है।[1] कवि शिक्षक के रूप में केशव का व्यक्तित्व विशाल और उदार प्रतीत होता है। उन्होंने सामान्य कोटि के बाल युवकों को ध्यान में रखकर कवि शिक्षा का आरम्भ किया। उनकी दृष्टि में रायप्रवीण और पतिराम जैसे बालक-बालिकाएं थे जो कविता करने में रुचि रखते थे। पर इस सम्बन्ध में पर्याप्त शिक्षा के अभाव में उनकी इच्छा अपूर्ण रह जाती थी। उनकी आवश्यकता केशव की दृष्टि में थी। उनको जो प्रतिभा मिली थी उसका पर्याप्त विकास अभ्यास के बिना नहीं हो पाता था। इसी दृष्टि से केशव ने कविप्रिया का प्रणयन किया।[2] न जाने कितने काव्यशिक्षार्थी केशव की कविशिक्षा से लाभान्वित हुए होंगे। प्रथम बार केशव ने संस्कृत काव्यशास्त्र के पचीसों विषयों को भाषा के माध्यम से व्यवस्थित रूप में अवतरित किया।

केशव ने सामाजिक हलचल से पीड़ित पंडितवर्ग को एक मार्ग भी दिखलाया। काव्यशास्त्रीय रुचि और सुरुचिपूर्ण काव्य के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना उनका कार्य था। इस पंडितवर्ग ने देशी राजाओं और दरबाधिपति अकबर का आश्रय पाकर रीतिकविता का हिन्दी में सूत्रपात किया। प्रगाढ़ विलास के कारण स्वस्थ सौन्दर्य के स्थान पर भोगवादी एवं चमत्कारनिष्ठ शृंगार परम्परा का प्रचलन रीतिकाव्य की प्रमुख दुर्बलता बन गई। पर पंडितवर्ग ने इस दिशा में अनुपम साधना की। कितने ही अज्ञात स्तरों का उद्घाटन हुआ। संक्षेप में यही केशव का व्यक्तित्व था जो एक नवीन काव्य परम्परा के प्रवर्तक होने की क्षमता रखता है।

आचार्य केशव सैद्धान्तिक दृष्टि

कवि शिक्षक आचार्य के रूप में केशव सर्वांग निरूपक आचार्य थे। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से वे अलंकारवादी थे और रस के क्षेत्र में वे शृंगारवाद के समर्थक थे। केशव के आचार्यत्व का यही सैद्धान्तिक त्रिकोण है। केशव का कविकर्म और आचार्यकर्म उनके साहित्य का लक्षणांग और लक्ष्यांग इसी त्रिकोणात्मक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। रीति की दृष्टि से उन्होंने रसरीति और काव्यरीति के मार्गों का रूप निर्धारित किया। सर्वांग निरूपक आचार्य के रूप में केशव का क्षेत्र निर्वाचन उनकी और युग की अभिरुचि से नियन्त्रित है। युगरुचि के साथ तत्कालीन कवियश प्रार्थी युवकों की आवश्यकता भी केशव के आचार्यत्व को प्रभावित करती है। सामंतीय रुचि कामुक शृंगार चित्रण और अलंकृत रूप रचना की ओर थी। समस्त रीतिकालीन

१ हिन्दी नवरत्न, पृ० ४१०

२ कविप्रिया, प० ११६१

आचार्यत्व शृंगार और अलंकार के आधार स्तम्भों पर आधारित है। अन्य विषय या तो उपेक्षित रहे या गौण रूप से स्वीकृत। जैसा कि पहले देखा जा चुका है केशव के शृंगारगत आचार्यत्व पर मधुर भक्ति और शृंगार के रसराजत्व की परम्परा का प्रभाव रहा और अलंकार सम्बन्धी आचार्यत्व पर प्राचीन आचार्यों का। शृंगार निरूपण के समय शृंगार रीतिसिद्ध कृष्णभक्त कवियों का प्रचुर लक्ष्य साहित्य उनकी दृष्टि में था। साथ ही जो शृंगारी प्रतीक इस मिली जुली परम्परा में विकसित हुए थे उनको स्वीकृत करना आचार्य केशव ने श्रेयस्कर समझा। केशव के व्यक्तित्व का यही सैद्धान्तिक पक्ष है। संस्कृत के व्याख्याकार आचार्यों में अन्य रीतिकालीन आचार्यों की भांति केशव का कविशिक्षक रूप नहीं उलझा। पर रस के क्षेत्र में उनको उत्तरकालीन आचार्यत्व ने उन्हें आकर्षित किया। एक प्रकार से शृंगार रीति पर उन्होंने एक मिश्रित शास्त्र की रचना को अपना लक्ष्य बनाया। कवि शिक्षक के रूप में सभी काव्यांगों पर उन्होंने इस महत्त्वाकांक्षा के साथ नहीं लिखा। इसी सैद्धान्तिक पक्ष को ध्यान में रखकर केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र निरीक्षण करना चाहिए।

अनुबन्ध चतुष्टय

इसमें चार बातें आती हैं—अधिकारी विषय प्रयोजन और सम्बन्ध। इसके सम्बन्ध में पहले कुछ विचार किया गया है। रसिकप्रिया का उद्दिष्ट पाठक रसिक वर्ग है। इस वर्ग को रस रीति की शिक्षा देना केशव को अभीष्ट है। 'रसिक' की व्याख्या पहले की जा चुकी है। पारलौकिक दृष्टि से 'पिबत भागवतं रसमालयं रसिका भुवि भावुकाः' का भाव 'रसिक' में सम्मिलित है। लौकिक दृष्टि से रति मति की चातुरी वाला वर्ग इसकी परिधि में आता है। रसिक शब्द से काव्य शास्त्रीय पद्धति से रसास्वाद लेने वाले का भाव भी लक्षित है। इस ग्रन्थ के विषय का विवेचन पहले किया जा चुका है। शृंगार के रस राजत्व की प्रतिष्ठा इस ग्रन्थ का अभीष्ट है। व्यापक दृष्टि से इस ग्रन्थ का उद्देश्य स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना है। इसपर भी विचार किया जा चुका है।

रसिकप्रिया में कविशिक्षा और रसशिक्षा दोनों ही कवि को अभीष्ट हैं। साथ भक्ति परक रस-साधना की दृष्टि भी उसमें मिलती है। कविप्रिया में उद्देश्य का यह त्रिकोण नहीं मिलता। उसमें मुख्य उद्देश्य कविशिक्षा ही है। उद्देश्य की दृष्टि से यह शुद्ध आचार्यत्व का ग्रन्थ है। व्यक्तिगत रूप से रायप्रवीण के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई। पर सामान्य रूप से रायप्रवीण काव्य शास्त्रीय शिक्षार्थी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। 'समुझे बाला बालकनि बरनन पंथ अगाध'। नवयुग प्रार्थी युवक-युवतियों का काव्यशास्त्रीय आवश्यकताओं का विश्लेषण पहले किया जा चुका है।

रसिकप्रिया कविप्रिया और छन्दमाला में केशव की दृष्टि 'भाषाकवि' पर रही है। 'त्यों ही भाषा कवि सब रसिक प्रिया बिन हीन' तथा 'भाषा कवि समुझैं सब सिगरे छन्द सुभाइ'—जैसी उक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

भाषाकवियों की पिंगल शिक्षा छंदमाला का उद्देश्य है। विषय इसका छंद निरूपण है। संक्षेप में केशव का अनुबंध चतुष्टय शास्त्रीय रुचिवाले पाठकों और भाषा कवियों की दृष्टि से ही निर्धारित हुआ है।

निरूपण पद्धति

लक्षण निरूपण के लिए केशव ने दोहा छंद का तथा उदाहरण के लिए कवित्त सवैया या अन्य छंदों का प्रयोग किया है। यही पद्धति आगे भी चलती रही। लक्षण भाग दोहे जैसे छोटे छंद में कभी कभी पूर्ण रूप से स्फीत नहीं हो पाता। संस्कृत के आचार्य वृत्ति के द्वारा लक्षण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना करते थे। पर पीछे उदाहरण भाग स्फीत होता गया। हिंदी के आचार्य भी लक्षणों की बारीकियों की विशेष चिंता न करके उदाहरण सज्जा में विशेष रुचि लेते रहे। केशव भी इसके अपवाद नहीं हैं। कहीं कहीं लक्षण निरूपण में अस्पष्टताएं और परस्पर विरोधी बातें भी मिल जाती हैं। लक्षण भाग की समीक्षा इस प्रबंध में प्रत्येक विषय के साथ यथाविधि की गई है। केशव की निजी मान्यताएं भी परम्परित मान्यताओं से गुंथी हुई मिलती हैं। लक्षणों की भाषा को एक विशेष दृष्टि से देखकर संस्कृत की सुदीर्घ परम्परा को ध्यान में रखकर ही—उनका मर्म समझा जा सकता है। साथ ही उदाहरणों को मात्र उदाहरण कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। कभी कभी उदाहरण लक्षणों को पूर्ण बनाते हैं। लक्षणों और उदाहरणों का साथ-साथ विश्लेषण करके ही केशव की धारणाओं को स्पष्टतया समझा जा सकता है। लक्षण निरूपण कहीं संस्कृत के आचार्यों की उद्धरणी मात्र है। कहीं कहीं केशव ने अपनी निजी मान्यताओं को प्रकट किया है। कहीं कहीं परम्परा से असहमत होकर केशव निर्भीकता के साथ अपनी बात कह जाते हैं। यही कारण है कि तुलनात्मक प्रणाली के बिना केशव के मन्तव्य को ठीक ठीक नहीं समझा जा सकता। तुलनात्मक पद्धति कुछ कठिन इसलिए हो गई है कि केशव की सामग्री का स्रोत सदैव एक ही नहीं है। स्रोतगत वैविध्य तुलना को जटिल और व्यापक बना देता है।

केशव की आचार्यत्व सम्बन्धी कृतियां

केशव की आचार्यत्व-सम्बन्धी रचनाएं प्रामाणिक हैं। उनकी आचार्यत्व सम्बन्धी रचनाएं अन्य कृतियों के साथ मिलाकर देखने से उनका विशाल व्यक्तित्व समग्र रूप से सामने आ जाता है। एक सम्पूर्ण युग उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। समस्त रीतिकालीन काव्य सामग्री को प्रवृत्ति की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रशस्ति या वीरकाव्य, शृंगार काव्य, नीति भक्ति वैराग्य काव्य और रीतिशास्त्रीय साहित्य। केशव में ये चारों प्रवृत्तियां यथाविधि परम्परा के नवीन और आरंभिक सूत्र के रूप में मिल जाती हैं। प्रथम वर्ग में जहांगीर जस-चंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित और रतन बावनी की गणना की जा सकती है। आगे चलकर यह प्रवृत्ति काव्यशास्त्रीय लक्षणों के उदाहरणों में समाविष्ट हो गई।

इसका स्वतन्त्र रूप प्राय लुप्त हो गया। प्रशस्तिमूलक उदाहरण-योजना का सूत्रपात भी हिंदी में केशव ने ही किया था। शृगारी प्रवृत्ति रसिकप्रिया में और ज्ञान वैराग्य विज्ञानगीता में समाविष्ट हुए। महाकाव्य का रूप केशव में अपनी ज्योति दिखा कर समस्त रीतिकाल से विदा हो गया। काव्यशास्त्र की कृतियां तो प्रथम बार केशव की लेखनी से व्यवस्थित रूप में निःसृत हुई। कृतियों के संक्षिप्त पर्यवेक्षण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य केशव ने अपने शास्त्रीय पाण्डित्य और अभिरुचि से साहित्य की पुनर्योजना की। इनके पश्चात गतानुगतिका की संख्या तो शताधिक है। इस संख्या में चिन्तामणि कुलपति देव सोमनाथ मतिराम भूषण भिखारीदास जसवंतसिंह और पद्माकर प्रमुख हैं।

केशव की आचार्यत्व सम्बन्धी तीन रचनाएं हैं—

(अ) रसिकप्रिया

(आ) कविप्रिया और

(इ) छंदमाला।

नखशिख नामक एक रचना की चर्चा और की जाती है।[1] पर यह स्वतन्त्र रचना नहीं है। वर्तमान कविप्रिया के उपमालंकार प्रकरण में यह अन्तर्भूत है। कविप्रिया के प्राचीनतम टीकाकार सरदार कवि के अनुसार कविप्रिया की प्राचीन प्रतियों में नखशिख अनुस्यूत नहीं है। पर वे उसको अपनी आलोच्य प्रति में सम्मिलित कर लेते हैं— नखशिख प्राचीन पुस्तकन में नाहीं मिलत परन्तु हमारे जान केशव छोड ऐसे कवित्त बनावनहार आन नाहीं यातें लिखियतु है।[2]

वास्तव में रीतिकाल तक आते आते नखशिख एक स्वतन्त्र वर्ण्य विषय अवश्य हो गया था। नायिका भेद को शृगार के विभाव क्षेत्र से निकालकर कवियों और आचार्यों ने जिस प्रकार उसे स्वतन्त्र वर्ण्य की स्थिति प्रदान की उसी प्रकार इस प्रकरण में भी रसिक रुचि के आग्रह से स्वतन्त्र रूप ग्रहण करने की शक्ति थी। हो सकता है केशव ने उसी रूप में इसे ग्रहण किया हो। रत्नाकरजी को पहले पहल यह स्वतन्त्र रूप में प्राप्त हुई थी। उन्होंने इसकी भूमिका में इसको केशव की प्रथम कृति के रूप में स्वीकार किया है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने तीन तर्क भी दिए हैं—

(१) कविप्रिया में जितने कवित्त हैं उनमें कई एक इसमें नहीं हैं।

(२) किसी विशेष पूर्वापर क्रम का पता नहीं है।

( ) कविप्रिया की कितनी ही प्रतियों में नखशिख-वर्णन नहीं है।

इस स्थिति में दो संभावनाएं की जा सकती हैं—एक तो यह संभव है कि केशव ने इसको एक स्वतन्त्र कृति के रूप में लिखा हो और उपमागत चमत्कार के कारण बाद के लिपिकों या टीकाकारों ने इस लघुकृति को कविप्रिया के साथ यथास्थान संलग्न कर दिया हो। सरदार कवि के कथन में इस संभावना का संकेत मिलता है।

[1] नागरी प्र० १६ केशव का ग्रंथावली (सं)...पृ० २३
[2] कविप्रिया सरदार कवि कृत टीका सहित ... प्रभाव

साथ ही यह भी संभव है कि स्वयं केशव ने ही इसको कविप्रिया में सम्मिलित कर दिया हो। दूसरी संभावना यह भी हो सकती है कि केशव ने उपमा को शृंगारमूलक चमत्कार देने के लिए कविप्रिया के साथ ही इसकी रचना की हो और रीतिकालीन लिपिकारों ने युगरुचि का ध्यान रखते हुए और इस प्रसंग की स्वतंत्र रूप में अवतरित होने की शक्ति देखकर इसको मूल ग्रंथ से विच्छिन्न करके उसे स्वतंत्र रूप दिया हो।[1] संभवतः शिखानख अलंकार के विस्तार में केशव ने जो बारहमासा दिया है उसने भी इसी प्रकार कभी स्वतंत्र रूप ग्रहण किया था। इस विस्तार में भी युग प्रवृत्ति प्रतिच्छायित है और इसमें भी स्वतंत्र रूप में खड़े होने की शक्ति है। कुछ भी हो इस समय नखशिख कविप्रिया का अंग मात्र है। यदि इसे अलग रचना माना भी जाए तब भी यह कोई लक्षण ग्रंथ नहीं है। यह तो वर्णन प्रधान काव्य ही है जो उदाहरण योजना के अंतर्गत आ सकता है। अधिक से अधिक केशव की योजना में यह सामान्यालंकारों में—वर्ण्यालंकार—के अंतर्गत आ सकता है। नीचे उक्त तीनों रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस परिचय में प्राप्त प्रतियों, उनकी टीकाओं और विषय योजना की संक्षिप्त झाँकियाँ सम्मिलित की गई हैं। अधिक प्रतियाँ मिलना इन कृतियों की लोकप्रियता को प्रमाणित करता है। उनकी टीकाओं से भी यही प्रकट होता है कि उस युग में तथा उसके पश्चात भी केशव की शास्त्रीय कृतियों को समझने-समझाने के विविध उद्योग होते रहे। अतः इनकी सूचनाओं को संगृहीत करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

(अ) रसिकप्रिया

इसकी रचना का उद्देश्य रसिकों को रसरीति का परिज्ञान कराना है। उच्च वर्गीय [illegible] के लोगों को शास्त्रीय रति विलास में विनय कर देना चाहता था। इस रति विलास में कवि का सहयोग वांछनीय था। इसलिए 'रसिकन' को रसिकप्रिया कीनी केशवदास'। दूसरा उद्देश्य शृंगार के रसराजत्व की मौलिक प्रतिष्ठा से संबद्ध है। भाषाकवियों को भी रसरीति और तत्संबंधी शिक्षा देना इस ग्रंथ का उद्देश्य है।[2] जयदेव की हरि शृंगार परंपरा का भाषा में अवतरण भक्ति-क्षेत्र में प्रायः हो चुका था। पर भक्तिगत ग्रंथ से शृंगार अभिप्राय अभिप्राय हो गया था। केशव ने इस परंपरा को रहस्यवादी अभिप्रायों से इस रचना के द्वारा मुक्त किया। लौकिक आलंबन आवरण अलौकिक प्रभाव से [illegible] नहीं रहा। एक

१ यदि इस प्रकार नखशिख भेद का अंग हो सकता था तो केशव ने या उनके टीकाकारों ने इसे अलंकार [illegible] के साथ संबद्ध कर दिया है। इस परंपरा भी पहले मिलती है। केशव मिश्र ने [illegible] के प्रसंग में [illegible] की लंबी सूची दी है। स्त्रियों के अंग प्रत्यंगों का [illegible] के साथ किया गया है। उन्होंने तो पुरुष के अंगों के उपमानों का भी [illegible] किया है।—अलंकार शेखर, प्रथम मरीचि ६७

२ [illegible]।
[illegible] कवि सुबै रसिकप्रिया दिन रैन॥ र० प्रि० १।१४

शब्द म रसिकप्रिया रसरीति सम्बन्धी ग्रथ है। 'रसरीति की आवश्यकता भक्त-रसिक और लौकिक रसिक दोनों को थी।

यह ग्रन्थ अपने समय और उसके पश्चात् भी रसिकजनो का कण्ठहार बना रहा। इसका प्रमाण है इसकी अनेक प्रतियो और टीकाओ की खोज। इसकी चार प्रधान प्रतियो के आधार पर केशव ग्रथावली मे इसका सम्पादित रूप प्रस्तुत किया गया है।[1] नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों म इसकी कई प्रतियो की सूचना दी गई है—

१ खोज रिपोट १६२६ २८
पत्र ७६ आकार ८ × ६ पक्तिया प्रति पृष्ठ ३२
छन्द १८६६
रचना काल स० १६४८ वि०, लिपिकाल स० १७३७
प्राप्तिस्थान—आनन्द भवन पुस्तकालय बिसवा जिला सीतापुर।

२ खोज रिपोट १६२६ २८
दो हस्तलेख, समय १७३७ सन् १६८०
रचना-काल स० १६४८। ये हस्तलख अब तक की सभी प्रतियो म प्राचीन ह।

३ खोज रिपोट, सन् १६ । केशवदास मिश्र कृत रसिकप्रिया छदसख्या १६२०
स्थान—पुस्तकालय महाराजा बनारस।

४ खोज रिपोट १६१७ १६१६ रिपोट न० १६म
रसिकप्रिया केशवदास कृत। पृष्ठसख्या ६८ छदसख्या १०३२
स्थान—सेठ पद्माकर अनूपशहर बुलन्दशहर।

५ खोज रिपोट सन् १६१७ १६१६ रिपोट न० ६६ब
रसिकप्रिया केशवदास कृत। पृ० स० ५ खण्डित छदसख्या १३३०

६ खोज रिपोट सन् १६१७ १६१६ रिपोट न० ८२
रसिकप्रिया केशवदास कृत, पृ० सख्या ३४ छदसख्या ४ ६
प्रतिलिपि-काल स० १७७४
स्थान—प० महावीर प्रसाद दीक्षित चम्पाना फतहपुर।

हिन्दी-क्षेत्र के पश्चिमी भाग म भी अनेक प्रतिया प्राप्त हुई हैं और पूर्वी भाग म भी। इससे रसिकप्रिया की लोकप्रियता सिद्ध हो जाती है।

केशव की सभी रचनाओं म इसका स्थान द्वितीय है और आचार्यत्व-सम्बन्धी उनकी यह प्रथम कृति है। इसका रचना काल—१६४८ वि०—के सम्बन्ध म कोई सदेह नहीं है। इसका स्पष्ट निर्देश सभी प्रतियों म मिलता है।[2] केशव ने प्रभावती की पुष्पिकाओं म रचनाकार के रूप म इन्द्रजीतसिंह का नाम दिया है। पर यह मात्र शिष्टाचार है।

1 स विश्वनाथप्रसाद मिश्र केशव ग्रथावली ■ ३ भूमिका पृ ४
2. संवत सोरह स बरस बीत अठतालीस।
कार्तिक सुदि तिथि सप्तमी बार बरनि रजनीस॥ र प्रि १।११

इन्द्रजीतसिंह के आदेश पर केशव ने ही इसकी रचना की है।[1] इन्द्रजीत विरचिता का अर्थ इन्द्रजीत द्वारा विरचित न लेकर इन्द्रजीत के लिए विरचित लेना चाहिए। इस शब्द में तृतीया तत्पुरुष न मानकर या तो प्रयोजक हेतु ततीया तत्पुरुष मानना चाहिए या चतुर्थी तत्पुरुष।

रसिकप्रिया की प्रतियों के अतिरिक्त इसकी कुछ टीकाएं भी मिलती हैं। इसकी टीकाओं का भी एक क्रम बना रहा। नीचे कुछ प्रमुख टीकाओं की सूची दी जा रही है।

१ सुखविलासिका—यह रसिकप्रिया की सबसे प्राचीन उपलब्ध टीका है। इसकी रचना काशिराज ईश्वरीनारायण प्रतापसिंह की आज्ञा से स० १९०३ वि० में सरदार कवि ने की थी। सरदार ललितपुर के निवासी और हरिजन के पुत्र थे। उन्होंने टीका के आरंभ में अपना परिचय दिया है

ताहि निहारि महोपमनि कह बन सुख दन।
रसिक प्रिया भूषन रची कविकुल आनद ऐन॥
धरि सिर आयस भूप को मन मह मानि अनद।
रसिकप्रिया भूषन रची जस राका को चद॥
सिव दग गगनो गृह सु पुन रद गनेस को साल।
जेठ सुकल दसमी सुगुर करी ग्रथ सुखमाल॥
बास ललितपुर नद है हरिजन को सरदार।
भजी जन रघुनाथ को पालत पवन कुमार॥[2]

इस टीका का प्रकाशन लखनऊ से सन् १९११ में तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बबई से सन् १९३१ में हो चुका है।

२ ३ *जोरावरप्रकाश तथा रसग्राहकचन्द्रिका*—रसिकप्रिया की ये दो टीकाएं आगरा निवासी श्री सूरत मिश्र ने लिखीं। इनकी हस्तलिखित प्रतियां लेखक ने श्री रमणलाल हरि चौधरी बाजार कोसी (मथुरा) के यहां देखी हैं। 'जोरावरप्रकाश' का प्रतिलिपि-काल सन् १८६१ ई० और रसग्राहकचन्द्रिका का प्रतिलिपि-काल सन् १८१२ है। सूरत मिश्र जहानाबाद दिल्ली के नसरुल्ला खां उपनाम रसग्राहक की सेवा में रहते थे। उन्हींके नाम पर टीका का नामकरण किया गया है।

४ रसिकप्रिया टीका सहित—रसिकप्रिया की यह टीका खोज रिपोर्ट[3] के अनुसार याजिद के पुत्र कासिम ने लिखी थी। इस टीका की छन्दसंख्या ४१५८ है। इसकी पृष्ठसंख्या १४८ बतलाई गई है। रचना-काल १६४८ वि० है जो रसिकप्रिया का भी रचना काल है। इस दृष्टि से इस टीका के रचना-काल के विषय में सन्देह हो जाता है। खोज रिपोर्ट में प्राप्तिस्थान का उल्लेख नहीं है।

५ टीका लक्ष्मीनिधिकृत—एक अन्य टीका लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी ने सन् १८५२ में लिखी है। हिन्दी के विद्यार्थियों को रसिकप्रिया से परिचित कराने में

१ रसिकप्रिया ०।१०
२ सुखविलासिका हस्तलिखित प्रति छन्द १५ १८, पृ ३
३ ना० प्र० सभा खोज रिपोर्ट सं० २०१० वि०

इसका उपयोग रहा है। टीका सामान्य है।

प्रतियो और टीकाओ की सूची से यहा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रसिकप्रिया पर्याप्त लोकप्रिय रही। जिस प्रकार विभिन्न आश्रयदाताओ ने अपने आश्रय मे मौलिक काव्य कृतियो को प्रोत्साहन दिया उसी प्रकार रसिकप्रिया जैसे रसग्रन्थ की टीकाओ की रचना भी कराई गई। मुसलमान सामन्तो को भी रसिकप्रिया रुचिकर रही। मुसलमानो ने भी इसकी टीकाए प्रस्तुत की।

(आ) कविप्रिया

कविप्रिया कविशिक्षा का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना ग्रन्थमान्य के आधार पर फाल्गुन सु० ५ बुधवार स० १६५८ को हुई[1]। लाला भगवानदीन इस तिथि को उसके प्रारम्भ करने की तिथि मानते हैं। अन्य विद्वान इस तिथि को कविप्रिया की समाप्ति मानते हैं। दोहे मे आए 'अवतार' के आधार पर उक्त तिथि का समाप्ति सूचक मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। साथ ही रामचन्द्रिका और कविप्रिया के रचना-काल मे केवल चार महीने का अन्तर रहता है। इससे यहा अनुमान किया जा सकता है कि इसकी रचना या इसके उदाहरणो की स्फुट रचना पहले से ही चल रही थी। रामचन्द्रिका के अनन्तर केशव ने इस समग्र और सुसपादित रूप मे प्रस्तुत कर दिया। तभी चार महीने मे इसकी समाप्ति सम्भव हो सकी।

कविप्रिया की पुष्पिका मे किसी आश्रयदाता का उल्लेख नहीं है। अत इसके कर्ता के सम्बन्ध मे किंचित भी सन्देह नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ का महत्त्व इस बात मे है कि इसस ही हिन्दी के आचार्यत्व का शुद्ध रूप मे सूत्रपात हुआ। इसकी भी अनेक प्रतिया और टीकाए मिलती है। इनका सक्षिप्त सन्दर्भ विवरण नीचे दिया जा रहा है।

कविप्रिया की प्रतिया—नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्टों के आधार पर कविप्रिया की ये प्रतिया मिलती हैं

१ खोज रिपोर्ट १६ ० ३ पृ ४६
   कविप्रिया केशवदास मिश्रकृत छदसख्या ११४
   स्थान—बाबू कृष्णदेव वर्मा बलरामपुर लखनऊ।
   खोज रिपोर्ट १९१७ १६ ई० पृ० १७८
   क—रिपोर्ट न १ क कविप्रिया अपूर्ण पृ स १९९ छ स १६६७
   स्थान—दिवाकर वाजपेयी असनी फतहपुर।
   ख—रिपोर्ट न० ६६ कविप्रिया केशवदासकृत पृ स १ ६ लि-स १६६७
   स्थान—भारती प्रयाग।
   खोज रिपोर्ट सन् १६२ २८ ?

1. कविप्रिया ३।८
2. [illegible] कविप्रिया प्रकाश।

कविप्रिया रचयिता—केशवदास आरम्भ बुंदेलखंड कागज देशी पत्र ११६ आकार १४½ × ६½" पंक्तियां प्रति पृष्ठ १०
रचना काल—१६५८ वि० लिपिकाल १८७० वि०
स्थान—राज पुस्तकालय प्रतापगढ राज्य।

४ खोज रिपोर्ट १६२६ २८ ई०
कागज देशी पत्र १०४ आकार ८"×४ पंक्तियां प्रति पृष्ठ ३०
रचना-काल—१६५८ वि०
प्राप्तिस्थान—आनन्द भवन पुस्तकालय बिसवा जिला सीतापुर।

५ खोज रिपोर्ट सन् १९२६ २८ ई०
कागज साधारण पत्र ६१७ आकार ८½" × ६½ पं० प्र० पृ० १८
रचना-काल स० १६५८ लिपिकाल स० १६६०
प्राप्तिस्थान—ओंकारनाथ पाण्डे ग्राम पचहरा डाकखाना कठिनोरिया।

६ खोज रिपोर्ट १९२६ २८ ई०
तीन हस्तलेख समय स० १६ ७ वि०

कविप्रिया की टीकाएं —

१ कविप्रिया—तिलक धीर कवि
पृ० स० १६३ छं० स० १४८० प्रतिलिपि काल सन् १८८०
स्थान—राजकीय पुस्तकालय, दतिया।

२ काशिराज प्रकाशिका—सरदार कवि
पृ० सख्या १८५ छंद स० २५००
स्थान—राजकीय पुस्तकालय महाराज बनारस।

इस टीका का प्रणयन रसिकप्रिया के टीकाकार सरदार कवि ने अपने शिष्य नारायण की सहायता से अपने आश्रयदाता महाराजा ईश्वरी नारायणसिंह की आज्ञा से किया।

३ कविप्रियाभरण—हरिचरणदास
हस्तलिखित दो प्रतियां प्रथम प्रति—पृष्ठसख्या १८१ छंदसख्या ६०००
स्थान—राजकीय पुस्तकालय बनारस।
द्वितीय प्रति—पृष्ठसख्या २० छंदसख्या ७/१२, प्रतिलिपि-काल स० १८८३
स्थान—प रामवक्ष उपाध्याय फैजाबाद।

यह टीका स० १८३५ में कवि हरिचरणदास द्वारा कृष्णगढ़ राजस्थान में रहकर लिखी गई। कवि यहां के महाराज बहादुरराज के दरबार में रहता था। टीका में कवि ने अपना पूर्ण परिचय दिया है।

४ कविप्रिया सटीक—सूरत मिश्र
पृष्ठसख्या १००० छंदसख्या २२५०

प्रतिलिपि-काल—स० १८५६

स्थान—जुगल किशोर मिश्र गन्धौली सीतापुर।

५ आचार्य केशवदास नामक ग्रन्थ में डा० हीरालाल दीक्षित ने कविप्रिया पर लिखी हुई दो टीकाओं का उल्लेख किया है जो नाजिर सहजराम की लिखी हुई हैं। इन्हें उन्होंने राजकीय पुस्तकालय बनारस में देखा है जिनमें से एक प्रति खण्डित है दूसरी पूर्ण। लेखक ने एक टीका प्रतिलिपि मन्नूलाल पुस्तकालय गया में देखी है जिसका विवरण इस प्रकार है—

रचयिता—केशवदास मिश्र टीकाकार सहजराम

अवस्था—अच्छी प्रारम्भ का एक पृष्ठ नहीं

पृष्ठसंख्या ८५ आकार ६ × २३½ पंक्तियां प्रतिपृष्ठ २८

लिपि नागरी प्रतिलिपिकर्ता ज्ञिनेन

रचना काल—स० १८३४ प्रतिलिपि काल स० १८८३

स्थान—मन्नूलाल पुस्तकालय गया।

उक्त टीका का नाम चन्द्रिका है और कर्ता नाजिर सहजराम। इसमें टीका और उदाहरण का क्रम रखा गया है। टीकाकार ने टीका के अन्त में लिखा है—

केसव सोरह भाव सुभ सुबरन मय सुकुमार।
कविप्रिया के जानियहु ये सोलह शृंगार॥
सहजराम कृत चन्द्रिका ससि चन्द्रिका समान।
ताकत ही ससय तिमिर प्रतिदिन करत प्रनाम॥

६ नाजिर सहजराम कृत टीका की एक प्रति खण्डित रूप में मन्नूलाल पुस्तकालय गया में है जिसका विवरण इस प्रकार है—

टीकाकार—नाजिर सहज

प्रतिलिपिकार—करनसिंह राजपूत गयावासी

पृष्ठसंख्या ११ प्रतिपृष्ठ पंक्तियां १५

प्रतिलिपि काल—स १९० चैत्र सु० ६ गुरुवार।

यह टीका अपूर्ण है केवल १६वां प्रकाश है। प्रथम पत्र चित्रालंकार से सबंधित है—कमल चित्र कवित्त अ वृहत परम विचित्र। अन्त में कवि श्री नाजिर सहजराम विरचितायां कविप्रिया टीकायां सहजराम चन्द्रिकायां चित्रालंकार विवरण नाम षोडश प्रकाश लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि टीका सभी प्रकाशों पर लिखी गई है।

(इ) छन्दमाला

छन्दमाला की दो प्रतियां प्राप्त हुई हैं। एक प्रति श्री वर्द्धमान जैन ग्रन्थालय बीकानेर में है। इसकी प्रतिलिपि प विश्वनाथप्रसाद मिश्र को श्री अगरचन्द नाहटा से प्राप्त हुई थी। इसकी एक प्रतिलिपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में है। दूसरी प्रति का खोज डा० किरणचन्द्र शर्मा ने की। यह प्रतिलिपि गुरमुखी लिपि में है। किरणचन्द्र शर्मा ने यह प्रति नागराक्षरांकित रूप में अपने शोध प्रबन्ध में दे दी है।

रचयिता और लिपिकाल की सूचना देने वाली पुष्पिका इस प्रकार है

इति श्री समस्त पडित मडली कमोत्तास विरचिता छदमाला समाप्त सवत् १८३६, वैशाख सुदी ६, शुक्रवार लिखत जति ऋषि स्वसिष्य जगता ऋषि पठनाय शुभमस्तु वागप्रस्थपुरे लिपिकृता ।

गुरुमुखी वाली प्रति म केवल 'इति श्री केसवराय कृत छदमाला समापत' लिखा है । हिंदी साहित्य सम्मेलन म जो अनुलिपि है उसकी सूचना सबसे पहले इस प्रबन्ध के लेखक को मिली थी ।

उक्त पुष्पिकाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि इसके रचयिता महाकवि केसवदास ही हैं । साथ ही अधिकाश उदाहरण रसिकप्रिया और रामचन्द्रिका स ही दिए गए हैं । इसस यह भी स्पष्ट होता है कि छदमाला की रचना रामचन्द्रिका और रसिकप्रिया के पश्चात् ही हुई । रचना काल स० १६५८ वि० माना जा सकता है । डा० किरणचन्द्र शर्मा क अनुसार छदमाला स ही छन्द लेकर रामचन्द्रिका म उद्धृत किए हैं । उनके अनुसार छदमाला की रचना रामचन्द्रिका स पूर्व ही हो चुकी थी । पर ऐसा प्रतीत नहा होता । जिन पद्यो को उदाहरण क रूप म प्रस्तुत किया गया है वे एक प्रबन्ध क ही अग हैं । उनकी रचना अलग स हुई प्रतीत नही होती । मौक्तिकदाम नामक छद का उदाहरण इस प्रकार है—

गये जब राम जहाँ मुनि मात । कही यह बात बिहौं बन जात ॥
कछू जनि जो दुख पावहु माइ । सुदेहु असीस मिलौं फिरि आइ ॥

इसक अव्यय पद 'जब' क आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह पद्य एक कथात्मक रचना स ग्रहण किया गया है । रामचन्द्रिका के पश्चात ही इसकी रचना मानना मुझे अधिक समीचीन प्रतीत होता है । सम्भव है कविप्रिया क पश्चात् ही इस शिक्षाग्रथ की रचना हुई हो । इस रचना ने केशव को सर्वांग निरूपक आचार्य के रूप म प्रतिष्ठित कर दिया । रामचन्द्रिका म बहु छन्द रूप तो आ ही चुके थ, केवल लक्षणो की रचना करके एक पिंगल ग्रथ को केशव न जन्म दिया ।

उक्त पुष्पिका रा केशव इस कृति के रचयिता ठहरते हैं । स्वय प्रस्तावना भाग म इसका उल्लेख किया गया है

भाषाकवि समुझ सब सिगरे छन्द सुभाइ ।
छदन की माला करी सोभन केसवराइ ॥[1]

इसके आधार पर रचना क उद्देश्य को भी समझा जा सकता है । इसका स्वर भी कविप्रिया के उद्देश्य-कथन म मिलता है । इसम भी केशव का शिक्षक-आचार्य बोल रहा है ।

रचना विधान अध्यायों म विभक्त नही है । वर्णिक और मात्रिक छन्द विभाजन क आधार पर इसक दो खण्ड किए गए हैं । प्रथम खण्ड म वर्णिक और द्वितीय खण्ड म मात्रिक छन्दो का निरूपण है । जिस प्रकार कविप्रिया और रसिकप्रिया

[1] केशव ग्रन्थावली (खण्ड २) पृ० ४३१

की टीकाएं उपलब्ध होती हैं उस प्रकार इसकी नहीं। सम्भवत विषय की सरलता ही इसका कारण हो। इस रचना में उन शास्त्रीय सूक्ष्मताओं और विस्तृतियों का अभाव है जो केशव की अन्य शास्त्रीय कृतियों में मिलता है। अन्य रचनाओं की तुलना में यह एक अत्यन्त सामान्य रचना ही ठहरती है। सम्भवत केशव ने जिस मनोयोग और रुचि के साथ आचार्यत्व-सम्बन्धी अन्य क्षेत्रों का निर्धारण किया उस मनोयोग से पिंगल सम्बन्धी आचार्यत्व की स्थापना नहीं की। इसका कारण यह हो सकता है कि संस्कृत छन्द शास्त्र भाषा की परम्परा के अनुकूल नहीं था। भाषा का अपना छन्द विधान विकसित हो गया था। उसी मार्ग का अनुसरण दीर्घकाल में किया जाता रहा था। इसलिए इस परम्परा का स्पर्श करके ही इस महान आचार्य ने सन्तोष लाभ किया।

केशव की आचार्यत्व सम्बन्धी कृतियों उनकी प्रतियों और टीकाओं के विवरण में केशव के आचार्यत्व के विस्तार उसकी लोकप्रियता और इन कृतियों की भौगोलिक सीमाओं का परिचय मिल जाता है। टीकाकारों ने विषय का स्पष्टीकरण न करके अपनी रुचियों और भावनाओं का आरोप विशेष किया है। अत विवेचन में पर्याप्त स्पष्टता नहीं आ पाई है। आधुनिक युग में लाला भगवानदीन ने केशव की कृतियों की टीका लिखकर इस अभाव की पूर्ति की। यह ज्ञात हो सकता है कि लालाजी भी कहीं कहीं केशव के मर्म को स्पर्श न कर सके हों पर आधुनिक युग में केशव को सुबोध बनाने में उनकी प्रिया प्रकाश जैसी टीकाओं का बड़ा हाथ है। सामान्य विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर सन् १९५२ में लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी ने भी कविप्रिया की टीका लिखी है। पर सम्भवत एक विस्तृत टीका की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है जो केशव के मूल दृष्टिकोण को स्पष्ट कर सके।

आचार्यत्व का क्षेत्र विस्तार विहंगम दृष्टि

साधारणतया काव्यशास्त्र का क्षेत्र विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है

- क—प्रस्तावना
  - —काव्य-स्वरूप
  - —काव्यहेतु
  - —काव्य प्रयोजन
  - —कवि प्रकार
  - —कविरीति
- ख—शब्दशक्ति
  - —अभिधा
  - —लक्षणा
  - —व्यंजना
  - —इनका विस्तार
- ग—ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य
- घ—रस सावयव
- ङ—दोष निरूपण

च—गुण निरूपण

छ—रीतिवृत्ति——— |—नाटकीय (कैशिकी आदि)
|—काव्यशास्त्रीय (वैदर्भी आदि)

ज—अलंकार निरूपण

झ—पिंगल

सामान्यत काव्यशास्त्र की यही रूपरेखा है। इस रूपरेखा की दृष्टि में यदि केशव के आचार्यत्व को देखा जाए तो ज्ञात होगा कि कुछ अंगों को केशव ने छोड़ दिया है। कुछ का रुचिपूर्वक विस्तार किया है और कुछ को संकुचित कर दिया है। केशव ने शब्दशक्ति ध्वनि गुण को छोड़ दिया है। रीतिवृत्ति प्रकरण को अधूरा छोड़ दिया है केवल नाटकीय वृत्तियों का निरूपण मिलता है। शेष पर केशव ने लिखा है। केशव के द्वारा विवेच्य क्षेत्र को कुछ विस्तार के साथ देखा जा सकता है।

प्रस्तावना भाग

काव्य के स्वरूप का निर्धारण केशव ने विस्तृत रूप में नहीं किया। इसको एक अलग प्रकरण के रूप में भी केशव ने नहीं रखा। फिर भी यदि बिखरी हुई कड़ियों को जोड़ा जाए तो काव्य का स्वरूप त्रिकोणात्मक ठहरता है निषेधात्मक दृष्टि से काव्य को निर्दोष होना चाहिए।[1] अलंकार उनकी दृष्टि में काव्य का अनिवार्य अंग है।[2] केशव का आचार्य इन दो सीमाओं में काव्य को रखकर सन्तुष्ट है। धीमे स्वर में यह भी सुनाई पड़ता है—बिनु बानी न रसाल। वास्तव में रसात्मक वाक्य में केशव की विश्वास था। केशव आचार्य की दृष्टि में इस क्षेत्र में मम्मट की प्रतिक्रिया उपस्थित करते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु पर विचार किया गया है।[3] मम्मट ने शक्ति निपुणता और अभ्यास को स्वीकार किया है।[4] पर केशव ने प्रस्तावना के इस भाग को छोड़ दिया है। काव्य प्रयोजन पर भी केशव का आचार्य मूक है। स्फुट रूप में कुछ कथन अवश्य मिलते हैं जैसे रसिकन को रसिकप्रिया कीन्ही केशवदास पर अन्य आचार्यों की भाँति केशव ने विधिवत् काव्य प्रयोजनों का परिगणन नहीं किया। कवियों के तीन प्रकार केशव को मान्य थे—परमार्थी स्वार्थी न स्वार्थी न परमार्थी अर्थात मनाविना। तीन प्रकार की कविरीतियाँ उन्होंने लिखी हैं—सत्य को असत्य के रूप में असत्य को सत्य के रूप में तथा नियमबद्ध परंपरा के अनुसार वर्णन करना।[5] केशव ने अपने आचार्यत्व के प्रस्तावना भाग को अपने ढंग से नियोजित किया

१ कविप्रिया ।८
२ वही ५।?
३ विचार करने वालों में दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट उल्लेखनीय हैं।
४ काव्यप्रकाश १।३
५ द्रष्टव्य कविप्रिया ४।१,२,३,४,८

है। कवि प्रकार निरूपण में उनके युग की छाप परिलक्षित होती है। परंपरागत प्रस्तावनाओं को ज्यों का त्यों उन्होंने नहीं ग्रहण किया है।

रस—(रसिकप्रिया)

रसिकप्रिया में रस निरूपण मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार केशव का यह ग्रंथ रस निरूपक न होकर शृंगार निरूपक ही है। इसका कारण यह है कि शृंगार का निरूपण ही कवि का प्रतिपाद्य है। एक नवीन प्रकार से शृंगार की महत्ता की प्रतिष्ठा ही इसका केन्द्रीय अभिप्राय है। वस्तुतः रसिकप्रिया रसरीति संबंधी ग्रंथ है। शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल संज्ञा दी थी। पर उन्होंने 'रीति' शब्द का स्पष्टीकरण नहीं किया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका अर्थ यों समझा है "यहां साहित्य की गति देने में अलंकार शास्त्र का ही ज़ोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति' 'कवित्त रीति' या 'सुकवि रीति' कहने लगे थे। संभवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को रीतिकाव्य कहा है।"[1] डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[2] और डा० नगेन्द्र[3] ने भी इससे मिलती जुलती व्याख्या की है। सम्भवतः शुक्लजी ने भी 'रीति' का प्रयोग काव्यरीति के अर्थ में ही किया था।

केशव ने 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है। इस काल में काव्यरीति के अंतर्गत रसरीति और अलंकार रीति मुख्य थी। इन क्षेत्रों में परंपरागत काव्य रीतियों को अवतरित करना ही रीतिकालीन आचार्यों का लक्ष्य था। इनके आचार्य कर्म में काव्यांगों का शास्त्रीय निरूपण उच्चकोटि का नहीं है पर 'रीति' की स्थापना पूर्ण है। इस काल के कवियों में से अधिकांश ने काव्यरीति की अपेक्षा रसरीति या रसिकता की शिक्षा देने के लिए रचनाएं प्रस्तुत की हैं। रसरीति संबंधी ग्रंथों की परंपरा हिन्दी साहित्य में मिलती है। इस परंपरा के ग्रंथों के कर्ताओं ने उद्देश्य-कथन इसी प्रकार का किया है

क—एक मित्र हमसों अस गुन्यों।
मैं नायिका भेद नहिं सुन्यों।
जब लगि इनके भेद न जानें।
तब लगि प्रेमतत्त्व न पहिचानें॥[4]
बिन जाने ये भेद सब प्रेम न परचे होय।
धरन होन ऊंचे अचल चन्द्र न देख्यो कोय।
ख—सुरबानी यातें करी नरबानी में ल्याय।
जातें मग रसरीति को सबतें समझ्यो जाय।[5]

१ हिन्दी साहित्य पृ २६१
२ बिहारी की भूमिका
३ रीतिकाव्य की भूमिका पृ १२६
४ रसमंजरी नन्ददास ५ सुन्दर कवि सुन्दरशृंगार

ग—बरनत कवि सिंगार रस छंद बड़े बिस्तारि ।
मैं बरन्यो दोहान ज्यों यातें सुघरि विचारि ।[1]
घ—बाढ़ रति मति अति पढ़ जाने सब रसरीति ।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिकप्रिया की प्रीति ।

× × ×

रसिकन को रसिकप्रिया कीन्हीं केशवदास ।[2]

इन उद्धरणों से रसिकप्रिया की परंपरा स्पष्ट हो जाती है । जिस प्रकार काम के क्षेत्र में कामकला या कोककला का प्रचलन है वैसे ही रसिकता के क्षेत्र में रसरीति या प्रेममार्ग का है । अस्तु रसरीति का संबंध भरत द्वारा प्रतिपादित काव्यरस से नहीं अपितु रसिकता या विलासिता से प्राप्त होने वाले रस या आनन्द से है । [3] यह रसरीति पूर्व मध्यकाल में भक्ति के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गई । उसमें पूर्व और परवर्ती काल में इसका संबंध लौकिक विलास से हो गया । इसके आधारभूत स्रोतों में काव्यशास्त्रीय ग्रंथ भी थे और कामशास्त्रीय भी । रसरीति के ग्रंथों में शृंगार का ही विशद निरूपण मिलता है । शृंगार के बोधक ग्रंथ नाम रस शृंगार विलास या विनोद प्रचलित रहे । रसप्रबोध शृंगारसागर रसरहस्य बधूविनोद रस विलास भावविलास जगद्विनोद आदि में शृंगार के रीतिकालीन पर्यायों का प्रयोग है । ये सभी ग्रंथ रसरीतिमूलक ग्रंथों की परंपरा में आते हैं । केशव ने भी रसिक शिक्षा के लिए रसिकप्रिया की रचना की । राजवर्ग की रुचि को ध्यान में रखकर ही रसरीति-संबंधी ग्रंथों का प्रणयन किया जाता था । इंद्रजीतसिंह ने राजवर्ग की विलास-वृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हुए केशव से इस ग्रंथ के प्रणयन का आग्रह किया था । केशव राजरुचि के पारखी थे । उन्होंने यह नहीं लिखा कि वे काव्यशास्त्रीय रस सिद्धांत का प्रतिपादन करने जा रहे हैं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि रति मति की विलास विवेक के अनुसार निरूपण ही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है और इसके उद्दिष्ट पाठक रसिक लोग हैं ।[4] अलंकार ग्रंथों और सर्वांग निरूपक ग्रंथों का प्रणयन तो आचार्यत्व की दृष्टि से किया गया पर 'रसरीति'मूलक ग्रंथों की रचना रसिकता की शिक्षा के लिए ही हुई । इसीलिए यह कहा जा सकता है कि केशव का आचार्यत्व रसिकप्रिया में शुद्ध नहीं मिश्रित है । इसका नियोजन राज रुचि, रतिरीति भक्ति-प्रेरणा आंशिक रूप से काव्यशास्त्रीय और अधिकांशतः कामशास्त्रीय पद्धति की ही दृष्टि से हुआ है ।

१ कृपाराम हितनरंगिणी
२ रसिकप्रिया
३ डा॰ गणपतिचंद्र गुप्त हिन्दी काव्य में शृंगार परंपरा और महाकवि बिहारी पृ॰ २४४
४ तिन कवि केसवदास सों कीन्हो धर्म सनेहु । सब सुख्न करि यों कह्यो रसिकप्रिया करि देहु ॥ र॰ प्रि॰ १।१०
५ अति रति-गति-मति एक करि, विविध विवेक विलास ।
रसिकनको रसिकप्रिया कीनी केसवदास ॥ र॰ प्रि॰ १।१२

रसरीति से संबद्ध है। इस ग्रंथ में शृंगार निरूपण मुख्यतः इन प्रकरण शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है

क. शृंगाररस के विभिन्न अवयव
ख. नायिका भेद
ग. नखशिख और
घ. षट्ऋतु वर्णन।

रसिक रुचि से संबद्ध होने के कारण इस प्रकार की रसव्याख्या प्रचलित हो गई थी। शृंगार रस का शास्त्रीय निरूपण इतना प्रमुख नहीं था जितना नायिका भेद का विस्तार और विलासपूर्ण नखशिख। केशव के रस संबंधी आचार्यत्व की सीमाएँ भी इसी प्रकार की थीं। रसिकप्रिया के आरंभ में केशव ने दो प्रतिज्ञाएँ की हैं शृंगार (या हरि शृंगार) सभी रसों का नायक है[1] और सभी रसों का निवास ब्रजराज में है।[2] इन दो संकल्पों में से प्रथम का संबंध शृंगार के रसराजत्व की परंपरा से है और दूसरे का स्थान वैष्णवों का रसशास्त्रीय भक्तिभावना में है। आध्यात्मिक दृष्टि से निखिल रसाश्रय कृष्ण हैं। संस्कृत के आचार्यों में ही शृंगार की इस रूप में प्रतिष्ठा होती गई। जब आचार्यत्व रसिक रुचि पर आश्रित हुआ तो नायिका भेद स्फीत होता गया। इस प्रकरण की लोकप्रियता इतनी हुई कि नायिका भेद पर पृथक् शास्त्रों की रचना हुई। आलोच्य युग में भी नायिका भेद की लोकप्रियता बढ़ी। नायिका भेद पर रीतिकाल में भी स्वतंत्र रचनाएँ हुईं।[3] रसाश्रित भक्ति संप्रदायों में भी इस विषय को पर्याप्त स्फीति मिली। इन्हीं दृष्टियों से केशव का रस विवेचन का क्षेत्र स्थापित है। अतः यह कहा जा सकता है कि रसिकप्रिया रसरीति का ही ग्रंथ है। केशव ने शृंगार के उभय पक्षों की रीति का ही उल्लेख किया है।

ग्रंथ के १६ प्रकाशों में से चौदह प्रकाश शृंगार व्याख्या से संबद्ध हैं। इन चौदह में से आठ प्रकाशों में नायिका-नायक प्रकरण ही है। एक में सभी रसों का संक्षिप्त परिचय और सभी की स्थिति शृंगार में दिखलाने का प्रयास है। इसलिए यह प्रकाश भी शृंगार प्रतिष्ठा से ही संबंधित है। एक प्रकाश में वृत्तियाँ और एक में रस दोषों की चर्चा करके ग्रंथ समाप्त कर दिया गया है।

निम्नलिखित पंजिका में केशव का रस संबंधी आचार्यत्व स्पष्ट हो जाता है। आचार्यत्व लक्षण और उदाहरण दो भागों में रहता है। इसी दृष्टि से क्षेत्र का विहंगावलोकन किया गया है।

१ [illegible]।
[illegible] नायक है [illegible] र. प्रि. १।१६
नवरस [illegible] रसिकप्रिया १।
[illegible] केशव की [illegible] है।
४ [illegible] की [illegible]।
[illegible] की [illegible] प्रि. ७४

विषय अनुक्रम

विषय	प्रभाव संख्या	लक्षण	भेद	उदाहरण सामान्य	प्रच्छन्न प्रकाश	राधा कृष्ण	उपसंहार
१ शृंगार भेद	प्रथम	+	१ संयोग २ वियोग	×	+	+	
२ नायक भेद	द्वितीय	+	१ अनुकूल २ दक्षिण ३ शठ ४ धृष्ट	×	+	[illegible]	
३ नायिका भेद	तृतीय	+	जातिगत १ पद्मिनी २ चित्रिणी ३ शंखिनी ४ हस्तिनी	+	×	×	
			अन्य सामाजिक				
		+	१ स्वकीया	+	×	×	
		+	२ परकीया	+	×	×	
		×	३ सामान्या[1]	/	×	×	
			४ सभी उपभेद				
		+	सखि	+	×	×	
		×	५ काम शास्त्रीय विस्तार[2]	×	×	×	

१ स्वकीया के उपभेद इस प्रकार हैं: मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा—४: नववधू, नवयौवना, नवलअनंगा, लज्जाप्रायरति। मध्या—४, आरूढ़यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा और सुरति विचित्रा। प्रौढ़ा—४: [illegible]। इन [illegible] त्रिविध भेद—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। परकीया—ऊढ़ा, अनूढ़ा। [illegible] मानवती और [illegible]गुप्ता।

२ मुग्धा के कामशास्त्रीय विस्तार में [illegible] के साधन, [illegible] का निरूपण किया है। [illegible] के साथ मान [illegible] और [illegible] दी है। साथ ही [illegible] शृंगार की [illegible] और सुरतान्त वर्णन [illegible] है। पर [illegible] करके इस प्रसंग को [illegible] ने छोड़ दिया है।

विषय	प्रभाव संख्या	लक्षण	भेद	सामान्य	उदाहरण प्रच्छन्न प्रकाश	उपसंहार राधा कृष्ण
४ दर्शन	चतुर्थ	+	१ साक्षात दर्शन	×	+	+
		+	२ स्वप्न दर्शन	×	+	+
		+	३ श्रवण दर्शन	×	+	+
५ दंपति चेष्टा	पंचम	+	१ चेष्टा[1] (वचन)	/	+	+
		+	२ स्वयं दूतत्व	×	+	+
		×	३ प्रथम मिलन स्थान (गणना)	+	×	×
		×	४ मिलन के अवसर	+	×	×
६ हाव भाव	षष्ठ	+	१ भाव	×	×	×
			क विभाव			
		+	आलंबन	×	×	×
		+	उद्दीपन	×	×	×
		+	ख अनुभाव	×	×	×
		+	ग स्थायी	×	×	×
		+	घ-सात्विक	×	×	×
		+	ङ व्यभिचारी	×	×	×
			२ हाव			
		+	हेला	×	×	+
		+	लीला	×	×	+
		+	ललित	×	×	+
		+	मद	×	×	+
		+	विभ्रम	×	×	+
		+	विहृत	×	×	+
		+	विलास	×	×	+

१ चेष्टा के अन्तर्गत वचनरचना शैली व है। ५।४-७

विषय	प्रभाव लक्षण	भेद	उदाहरण: सामान्य	प्रच्छन्न प्रकाश	राधाकृष्ण	उपसंहार
	+	किलकिंचित	×	×	+	
	+	विब्बोक	×	×	+	
	+	विच्छित्ति	×	×	+	
	+	मोट्टायित	×	×	+	
	+	कुट्टमित	×	×	+	
	+	बोधक	×	×	+	
७ अष्ट नायिका	सप्तम	क १ स्वाधीन	×	+	×	
	+	पतिका	×	+	×	
	+	२ उत्का	×	+	×	
	+	३-वासकसज्जा	×	+	×	
	+	४ अभिसंधिता	×	+	×	
	+	५-खंडिता	×	+	×	
	+	६ प्रोषितपतिका	×	+	×	
	+	७ विप्रलब्धा	×	+	×	
	+	८ अभिसारिका	×	+	×	
	+	ख९ उत्तमा	×	×	×	
	+	१ मध्यम	×	×	×	
	+	११ अधम	×	×	×	
	+	१२ अगम्या	+	×	×	
		ग अभिसारिका के उपभेद				
	×	१३-स्वकीया	+	×	×	
	×	१४ परकीया	+	×	×	
	×	१५ प्रेमाभिसारिका	×	+	×	
	×	१६-गर्वाभिसारिका	×	+	×	
	×	१७ कामाभिसारिका	×	+	×	
८ विप्रलंभ	अष्टम +	१-पूर्वानुराग	×	+	+	
	+	करुण	×	+	+	
९ मान	नवम +	मान	×	×	×	
	+	१ गुरुमान	×	+	+	
	+	२ लघुमान	×	+	+	
	+	३ मध्यम मान	×	+	+	
	+	(प्रिय का)	×	×	+	

विषय	प्रभाव	लक्षण	भेद	उदाहरण सामान्य	प्रच्छन्न प्रकाश	राधाकृष्ण	उपसंहार
१० मान मोचन	दशम		मानमोचन				
		+	१ साम	×	×	+	
		+	२ दान	×	×	+	
		+	३ भेद	×	×	+	
		+	४ प्रणति	×	×	×	
		×	क अतिहित	×	×	+	
		×	ख अतिकाम	×	×	+	
		×	ग अति अपराध	×	×	+	
		+	५ उपेक्षा	×	×	+	
		+	६ प्रसंगविध्वंस	×	×	+	
११ क-करुणा विरह	एकादश	+	१ करुणा	×	+	+	
ख प्रवास		+	२ प्रवास	×	+	+	
		×	३ विरह-भय विभ्रम	×	×	+	
		×	४ निद्रा	×	×	+	
		×	५ पत्री	×	×	+	
१२ सखी	द्वादश	×	जातिगत १३ नामगणना	×	×	+	
१३ सखी कर्म	त्रयोदश	×	नामगणना ६	×	×	+	
१४ अन्य रस	चतुर्दश	+	क हास्य				
		+	१ मंदहास	×	×	+	
		+	२ कलहास	×	×	+	
		+	अतिहास	×	×	+	
		+	४ परिहास	×	×	+	
		+	ख-करुण	×	×	+	
		+	ग रौद्र	×	×	+	
		+	घ-वीर	×	×	+	
		+	ङ-भयानक	×	×	+	
		+	च-बीभत्स	×	×	+	
		+	छ-अद्भुत	×	×	+	
		+	ज-शम	×	×	+	

विषय	प्रभाव	लक्षण	भेद	उदाहरण सामान्य	उदाहरण प्रच्छन्न प्रकाश	उदाहरण राधाकृष्ण	उपसंहार
१५	वृत्ति वर्णन	+	१-कैशिकी	+	×	×	
		+	२ भारती	+	×	×	
		+	३ आरभटी	+	×	×	
		+	४-सात्वती	+	×	×	
१६	अनरस वर्णन	+	१ प्रत्यनीक	+	×	×	
		+	२-नीरस	+	×	×	
		+	३ विरस	+	×	×	
		+	४-दुःसंधान	+	×	×	
		+	५-पात्रादुष्ट	+	×	×	

रसिकप्रिया का यही विषयानुक्रम है। इसमें कई बातें प्रकट होती हैं

१ कुछ विषय एक अध्याय में ही समाप्त हो गए हैं। कुछ का विस्तार एक से अधिक अध्यायों में है। कुछ अध्यायों में एक से अधिक विषय समाविष्ट किए गए हैं। इस तथ्य का कारण कभी तो १६ प्रभावों की संख्या पूरी करना हो सकता है और कभी अपेक्षित विस्तार।

२ समस्त रचना शृंगार निरूपण को समर्पित प्रतीत होती है। १४वें प्रभाव में अन्य रसों का संक्षिप्त विवरण देकर उनका अन्तर्भाव शृंगार में किया गया है। जैसे आचार्य शृंगार को रसराज के रूप में अभिव्यक्त करा रहा हो।

३ शृंगार-वर्णन के विधिपक्ष को वृत्ति और निषेधपक्ष को अनरस व्यक्त करते हैं।

४ अपेक्षित विस्तार और संकोच आचार्यत्व के उदाहरण भाग में भी मिलते हैं। उदाहरणों के संबंध में ये प्रवृत्तियां मिलती हैं

क—कुछ ही विषयों में केवल लक्षण और सामान्य उदाहरण दिए गए हैं। यहां आचार्यत्व अपेक्षाकृत अभिव्यक्त है।

ख—कुछ में लक्षण और प्रच्छन्न प्रकाश उदाहरण दिए गए हैं। यहां संस्कृत आचार्यत्व की छाप और दिशा का प्रभाव है।

ग—कहीं लक्षणों के साथ केवल राधाकृष्ण संबंधी उदाहरण हैं—न सामान्य न प्रच्छन्न प्रकाश।

घ—कहीं उदाहरणों में प्रच्छन्न प्रकाश और राधाकृष्णपरक उदाहरणों का मिश्रण है।

ङ—कहीं लक्षण न देकर उक्त तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार के उदाहरणों की योजना है।

उक्त विषयानुक्रम के आधार पर केशव के रस संबंधी आचार्यत्व का प्रश्न

निश्चित किया जा सकता है। उक्त अनुक्रम से शृंगार का शास्त्रीय पक्ष भी स्पष्ट हो जाता है और उसका रुचिगत और कामशास्त्रीय विस्तार भी। शृंगार की प्रतिष्ठा में जितने उपकरणों की आवश्यकता केशव ने समझी है सबका समावेश करके शास्त्र को विस्तृत और युगानुकूल बनाया गया है। अब इस विस्तृत क्षेत्र का विभाजन किया जा सकता है।

रस संबंधी आचार्यत्व का क्षेत्र विभाजन

केशव ने स्वयं विषय को विभिन्न प्रकरणों में बाँटकर उसका निरूपण किया है। केशव का विभाजन संबंधी दृष्टिकोण अध्यायों के उपसंहारों से स्पष्ट होता है। कुछ उपसंहार तो सामान्य हैं। इनको एकमुखी उपसहार कहा जा सकता है। इनमें प्रथम अध्याय की समाप्ति और अगले अध्याय के विषय की सूचना दी जाती है।[1] इन उपसंहारों का लक्ष्य प्रकरणों को सुसंबद्ध रखना है। छठे प्रकाश के अंत में एकमुखी उपसंहार ही है। इसमें समाप्ति विषय की सूचना और विनय का समावेश है।[2] इसमें शृंखला टूट सी जाती है। पर किसी आंतरिक आग्रह के कारण केशव को आगे के अध्याय की सूचना देने की अपेक्षा क्षमा-याचना अधिक आवश्यक प्रतीत हुई। तीसरे प्रकार के उपसंहार परिशिष्टमूलक कहे जा सकते हैं। इनके अंतर्गत अध्याय में समाप्य विषय के अवशिष्ट सूत्र दे दिए जाते हैं। केशव के आचार्यत्व के पूरक सूत्र इन्हीं उपसंहारों में हैं।[3] इन उपसंहारों को आचार्यत्व का अंग भी माना जाना चाहिए।

कुछ द्विमुखी उपसंहारों से केशव का क्षेत्र निर्धारण संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। ये उपसंहार दो अध्यायों को नहीं जोड़ते विषयों को संबद्ध करते हैं। १ वें प्रभाव के पश्चात् केशव ने उपसंहार में कहा है कि यहाँ तक राधाकृष्ण के शृंगार का निरूपण हुआ है आगे अन्य रसों पर विचार किया जाएगा। इसके पूर्व स्याम शृंगार का फल-कथन भी किया है।[4] इस उपसंहार से प्रतीत होता है कि केशव ने अपने रस संबंधी आचार्यत्व का पहले दो विभागों में विभाजित किया है शृंगार एवं शृंगारेतर रस। सातवें प्रभाव के अंत में अध्याय का उपसंहार न करते हुए समस्त विषय को एक इकाई मानकर उपसंहार किया है। यहाँ तक उन्होंने संयोग शृंगार का निरूपण किया है आगे वियोग निरूपण है

१ द्रष्टव्य र० प्रि० १। — १।२८ ३।७६ ४।९६ [illegible] ।३ १।१ [illegible] ।३० [illegible] ३।२२ [illegible] ५।१२

२ राधा-राधारमन के कहे यथा[illegible] भाव।
[illegible] ह्वैहै उपहास को हँसिहैं कवि-कवि राव॥ र० प्रि० ६। ७

३ द्रष्टव्य ३। ८४ [illegible] ८८ [illegible] ८६ १। ८३ [illegible] ३। [illegible] १६

४ राधा राधारमन के कहे [illegible] ।
रस [illegible] कहा और रस [illegible] को भेव॥ र० प्रि० [illegible] ३।

५ र० प्रि० [illegible] ।३०

> यह संजोग सिंगार की केसव बरनी रीति।
> विप्रलंभ सिंगार की रीति कहौं करि प्रीति॥[1]

इस प्रकार सातवें अध्याय तक शृंगार के काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय अंग उपांगों का निरूपण किया गया है। इसी अध्याय के अंत में यह भी कहा गया है कि नायक-नायिका पर यहाँ तक विचार किया गया है।[2] वैसे इस अध्याय में केवल नायिका भेद कहा गया है। अतः यह प्रतीत होता है कि यह भी प्रकरण का उपसंहार है। इस प्रकरण में दर्शन (प्रभाव ४) मिलन (प्रभाव ५) तथा हाव भाव (प्रभाव ६) को भी सम्मिलित कर लिया गया है। द्वितीय और तृतीय अध्याय में नायक-नायिका निरूपण के पश्चात् सातवें प्रभाव में फिर नायिका भेद पर आ जाने का रहस्य यही है कि बीच के प्रभावों में नायिका संबंधी अन्य प्रसंगों को अनुस्यूत करके इसी प्रकरण का विस्तार किया गया है। यह समस्त प्रकरण केशव ने संयोग के अंतर्गत माना है।

उपसंहारों में केशव की वियोग संबंधी आचार्यत्व की दृष्टि भी स्पष्ट होती है। आठवें प्रभाव में विप्रलंभ के चार भेदों की गणना करके पूर्वानुराग के लक्षण निरूपण और दस दशाओं का विवरण दिया गया है। आगे के दो प्रभावों में मान का प्रकरण है और ग्यारहवें प्रभाव में करुण और प्रवास का निरूपण है। आगे के दो प्रभाव सखी निरूपण को समर्पित हैं। वैसे इस प्रकरण को विप्रलंभ के साथ भी सम्मिलित किया जा सकता है। केशव का अभिमत भी राधा-हरि बाधा हरन से ऐसा ही प्रतीत होता है। चौदहवें प्रभाव में अन्य रसों का विवरण देकर शृंगार में उनकी स्थिति दिखलाने की चेष्टा की गई है। केशव के मतानुसार अन्य रसों का प्रकरण स्वतंत्र ही है। केशव ने नवरस को एक इकाई माना है। इस प्रकरण का केंद्र शृंगार ही है। वृत्ति और अनरस का निरूपण करनेवाले अन्तिम दो प्रभाव स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। केशव के उपसंहारगत कथनों को आधार मानकर क्षेत्र विभाजन इस प्रकार होगा—

- ०. प्रस्तावना : नवरस गणना
- १. शृंगार निरूपण : संयोग वियोग
  - १.१ संयोग
    - १.११ नायक
    - १.१२ नायिका भेद
      - १.१२१ जातिगत (कामशास्त्रीय)
      - १.१२२ सामाजिक दृष्टि से (स्वकीयादि)
        - १.१२२१ दर्शन
        - १.१२२२ दर्पति चेष्टा
        - १.१२२३ हाव भाव

१ र० प्रि० ७।४५
वही ८।४७

१ १२३ अवस्थानुसार (अष्ट नायिका भेद)
१ २ वियोग प्रकार कथन
१ २१ पूर्वानुराग
१ २११ लक्षण निरूपण
१ २१२ दशदशा
१ २२ मान
१ २२१ लक्षणादि
१ २२२ मोचन विधि
१ २३ करुण
१ २४ प्रवास
१ २५ सखी
१ २५१ कर्म
१ २५२ धर्म
२ अन्य रस
२ १ निरूपण
२ २ शृंगार में अन्तर्भाव
३ उपसंहार
३ १ रसों का परस्पर संबंध
३ २ वृत्ति वर्णन विधि
३ ३ अनरस निषेध प्र. १

केशव के रस-संबंधी आचार्यत्व का क्षेत्र यही है। इस क्षेत्र विभाजन का केन्द्र बिन्दु शृंगार है। इस व्यवस्था क्रम पर शृंगार के रसराजत्व और कामशास्त्र की परम्पराओं का सम्मिलित प्रभाव है। साथ ही भक्ति का प्रभाव भी स्वीकृत करना होगा। इस प्रकार का विभाजन कुछ दोषपूर्ण भी लगता है। भाव निरूपण का संबंध शृंगार के उभय पक्षों से है पर केशव ने इस प्रकरण को भी तात्पर्यान्तर शृंगार के अंतर्गत रखा है। केशव की दृष्टि प्रमुखतः शृंगार पर रही है और शृंगार के भी संयोग पक्ष पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। इसी दृष्टिकोण का प्रभाव क्षेत्र विभाजन पर पड़ा है।

क्षेत्र का संकोच और विस्तार

केशव ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार क्षेत्र का विस्तार और संकोच भी किया है। भक्ति प्रेरणा के कारण सामान्या का निरूपण केशव ने नहीं किया।[1] इसी कारण से दश दशाओं में से मरण दशा का बहिष्कार कर दिया गया है।[2] क्षेत्र विस्तार दो

[1] और तु स्वकी ऐसी कहं बरनी एक ठौर।
रस में विरस न बरनिए कहत रसिक सिरमौर॥ र० प्रि० ५। ६
[2] वही ५।२४

शैलियों में किया गया है। पहली शैली उदाहरणों के विस्तार की है और दूसरी शैली उपसंहार के रूप में परिशिष्ट जोड़ने की है। ऊपर अनुक्रमणिका की जो तालिका दी गई है उसमें उदाहरणगत विस्तार की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। उदाहरण विधान से विस्तार और संकोच की निम्नलिखित प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं

१ केवल लक्षण निरूपण उदाहरणों का अभाव परिशिष्टों को केशव ने उदाहृत नहीं किया है। इसके साथ ही षष्ठ प्रभावान्तर्गत भाव निरूपण में केवल लक्षण दिए गए हैं उदाहरण नहीं। विभाव अनुभाव स्थायी सात्त्विक और व्यभिचारी के लक्षण और भेदों का परिगणन तो किया गया है इनको उदाहृत नहीं किया गया।

२ सामान्य उदाहरण-योजना कुछ प्रकरणों के लिए प्रच्छन्न प्रकाश या राधाकृष्णपरक उदाहरण नहीं लिए गए हैं। केवल सामान्य उदाहरण देकर प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है। इस प्रवृत्ति के द्योतक प्रकरण ये हैं कामशास्त्रीय पद्मिनी आदि नायिकाएं सामाजिक स्थिति के अनुसार स्वकीया आदि नायिकाएं प्रथम मिलन के स्थान और अवसर उत्तम मध्यमा और अधमा नायिकाएं दूतियां और अनरस।

३ प्रच्छन्न प्रकाश उदाहरण-योजना कुछ प्रकरणों के साथ केवल इसी प्रकार के उदाहरण नियोजित हैं। इनमें ये प्रकरण आएंगे नायक भेद अष्टविध नायिकाएं।

४ केवल राधाकृष्णपरक उदाहरण योजना इस विभाग में हाव निरूपण मान मोचन विधि सखी प्रकरण तथा अन्य रसों का निरूपण।

५ प्रच्छन्न प्रकाश एवं राधाकृष्णपरक उदाहरणों की संयुक्त योजना शेष प्रकरण इसी के अन्तर्गत हैं। ये इस प्रकार हैं संयोग वियोग निरूपण दर्शन दर्शन चेष्टा विप्रलंभ में दस दशा मान निरूपण करुण वियोग और प्रवास वियोग। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहां उदाहरणों का नितान्त अभाव है वहां केशव का आचार्यत्व विशुद्ध है। शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से समस्त निरूपण किया गया है। रुचि युगधर्म आदि के द्वारा उनके आचार्यत्व का नियंत्रण नहीं हुआ है पर उदाहरणों के अभाव में आचार्यत्व एकांगी अवश्य है। इसमें आने वाले विषय शुद्ध शास्त्रीय हैं। सामान्य उदाहरण-योजनावाले प्रसंग भी शुद्ध आचार्यत्व के द्योतक हैं। उदाहरणों की योजना करके इसे पूर्ण बनाया गया है। प्रच्छन्न प्रकाश उदाहरणों की योजना पर पुराने विस्तारप्रिय आचार्यों का प्रभाव है। लक्षणों की विस्तृत व्याख्या की ओर नहीं आचार्य का ध्यान उदाहरणगत विस्तार की ओर है। चौथी और पांचवीं प्रवृत्तियां रुचि और युगधर्म से प्रभावित विस्तार की परिचायिका हैं। जहां शुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष केशव के सामने रहा है वहां उन्होंने उदाहरणगत विस्तार नहीं किया है।

केशव ने अपने मौलिक ढंग से कुछ क्षेत्रों का विस्तार किया है। इस विस्तार में बहुधा कामशास्त्र और भक्तिशास्त्र से सहायता ली गई है। मौलिक विस्तार इसलिए कहा जाता है कि संस्कृत के पूर्वाचार्यों ने इस विस्तार की ओर विशेष ध्यान

नहीं दिया। इस प्रकार के विस्तार स्थल ये है

१ सुरतिविचित्रा मध्यानायिका के निरूपण म सात बहिरति सात अतरति, षोडश शृगार और सुरतात का उल्लेख किया गया है। कामसूत्र म आलिगन विचार चुबन विकल्प नख रदन क्षत चित्ररत आदि के रूप म इनका समावेश है। उत्तर कालीन मधुरा भक्तिवाले सप्रदायो म सुरतात वणन की पद्धति बहुत लोकप्रिय हो गई थी। इसपर *नायिका भेद वाले अध्याय म विस्तृत विचार किया गया है।*

२ चार प्रकार के दशनो की स्वतत्र चर्चा म भी विस्तार प्रियता झलकती है। इसम छाया दशन का समावेश करके केशव ने मौलिक विस्तार किया है। सभी दर्शनो का लक्षण निरूपण भी उन्होने किया है। सस्कृत के किसी आचार्य ने ये नही दिए हैं। यह सयोग पक्ष का विस्तार है।

३ दपति चेष्टा म भी कामशास्त्र के कामशास्त्रीय विस्तार का प्रयत्न है। कामसूत्र म समागम स्थलो की चर्चा की गई है। इसके प्रभाव स केशव ने प्रथम मिलन के स्थलो का परिगणन किया है। केशव ने इनको स्वमतसम्मत कहा भी है।[1] मिलन के बहानो पर भक्तिगत प्रभाव भी है।

४ अगम्याओ की गणना (रसिकप्रिया ७वा प्रभाव) भी कामशास्त्रीय विस्तार के अतगत आती है। इसम कामशास्त्रीय नीति का समावेश है।

५ केशव की दृष्टि मान प्रकरण पर विशेष रही है। भक्ति साहित्य मे भी यह प्रकरण विशेष लोकप्रिय था। प्रसग का उपसहार करते हुए मान के सबध म *नीति-कथन किया गया है। मान के समय अति हठ वर्जित है। मान बार-बार नहीं करना चाहिए।*[1] प्रेम और भय का सबध दिखलाते हुए तुलसी की 'भय बिनु होइ न प्रीति' का उपयोग किया है—

> प्रीति बिना भय होय नहिं भय बिनु होय न प्रीति।
> प्रीति रहे जह भय रहे यहै मान की रीति॥

दाम्पत्य जीवन म उदासीनता आने के कारणो म गव व्यसन धनत्याग निष्ठुर वचन लालच विप्रियकरण की गणना की है। इसीम मान सबधी नीति का उपसहार है।[5]

६ आठवें प्रभाव के उपसहार म भी रति-सबधी नीति का कथन किया गया है। पहले रमणी के मन म रति का सचार होना है। उसका सकेत पाकर सखी उसका प्रकाशन करती है। यहा रतिविधि है। अत्यन्त आदर लोभ और सत्सग म साधुओ का मन भी चचल हो जाता है।

७ ग्यारहवें प्रभाव म प्रवास की चार स्थितियो का भी मौलिक विस्तार है।

१ प्रथम मिलन थल म कहे अपनी मति अनुसार। र० प्रि० ५।४१
  वही १।६
३ वही ९।३
४ वही ९।३१
५ वही ९।०३

भव विभ्रम में प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर संयोग के क्षणों की याद का उल्लेख है। अनिद्रा की अवस्था का समावेश भी मौलिक है। पत्री का तत्त्व विरह निवेदन या संदेश के अन्तर्गत है। लक्ष्य साहित्य के प्रभाव से यह लक्षण विस्तार किया गया है।

सखीकर्म का विस्तार कामशास्त्रीय ही है। भोज और भानुदत्त में इस विस्तार का बीज मिलता है। कामशास्त्र में इसकी सामग्री है। इस विस्तार की प्रेरणा भक्ति सम्प्रदायों से मिली है।

मुख्य रूप से केशव ने इन्हीं क्षेत्रों का विस्तार किया है। कुछ विस्तार स्थल तो मात्र गणनात्मक हैं। नाम गणना को ही यहां केशव ने पर्याप्त समझा है। लक्षण और उदाहरण नहीं दिए हैं। प्रच्छन्न दीपकों में १४५६ इसी प्रकार के विस्तार क्षेत्र हैं। शेष में नाम गणना के साथ लक्षण और उदाहरण भी नियोजित हैं। जहां लक्षण और उदाहरण भी हैं ये स्थल केशव के आचार्यत्व के अभिन्न अंग बन गए हैं। केवल गणना रतिविधि के स्पष्टीकरण के लिए है।

केशव के रस संबंधी आचार्यत्व की एक और दिशा है। इस दिशा का परिचय रसिकप्रिया से नहीं कविप्रिया से मिलता है। अलंकारवादी होने के नाते केशव की रस के संबंध में एक विशिष्ट दृष्टि रही है। भामह और दंडी जैसे रसवादी आचार्यों ने भी रस की महत्ता स्वीकार की है। पर इनकी दृष्टि में रस अलंकार की सीमा से बाहर नहीं है। भामह, दण्डी और उद्भट ने रस, भाव, रसाभास और भावाभास का क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत् और ऊर्जस्वत् अलंकारों के रूप में ही ग्रहण किया है। उद्भट ने समाहित नामक अलंकार को भावशान्ति का पर्याय माना है। केशव ने संभवतः इन्हीं आचार्यों का अनुगमन करते हुए ऊर्ज, रसवत् और समाहित जैसे रसपरक अलंकारों का निरूपण कविप्रिया के ग्यारहवें और तेरहवें प्रभावों में किया है। इसके संबंध में आगे यथास्थान विवेचन किया गया है। यहां केवल क्षेत्र निर्देश कर दिया गया है। इन्होंने रसवत् अलंकार के अन्तर्गत नवरसों का निरूपण किया है।[1]

केशव का अलंकार-संबंधी आचार्यत्व (कविप्रिया)

कविप्रिया में केशव का व्यक्तित्व कवि शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित है। रसिकप्रिया का आचार्यत्व मुग्धता, भक्ति भावना आदि से मिश्रित रहा। कविप्रिया में आचार्यत्व की भूमि भावुकता से इतनी विचलित नहीं है। इसमें शास्त्र और परम्परा की दृढ़ता है। नवोदित कवियों के लिए शास्त्र और परम्परा का सुलभ करण एवं नवीन 'वरनन पंथ' की स्थापना कविप्रिया के आचार्य का अभीष्ट है। इसमें यदि क्षेत्र का विस्तार है तो शास्त्रीय या चमत्कारमूलक है। यह ग्रंथ रसिकप्रिया से मिलकर केशव के सम्पूर्ण आचार्यत्व को प्रतिष्ठित करता है। जिस दोष प्रकरण से रसिकप्रिया का समापन किया गया है उसी से कविप्रिया का आरम्भ। अन्त में

[1] रसमय होय सु जानिये रसवत केशवदास।
नवरस को संक्षेप ही, समुझो करत प्रकास॥ क० प्रि० ११।५३

रसिकप्रिया के दोष प्रकरण की ओर संकेत करते हुए केशव ने शेष दोषों का निरूपण वहां देखने के लिए कहा है

केसव नीरस विरस अरु दुस्सधान विधानु।
पात्र जु दुष्टादिकन को रसिकप्रिया तें जानु॥[1]

इस प्रकार केशव के आचार्यत्व की शृंखला की अवशिष्ट कड़िया कविप्रिया में नियोजित है। इन कड़ियों के जोड़ने से केशव सर्वांग निरूपक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते है। इसमें संदेह नहीं कि केशव की दृष्टि मुख्यतः अलंकार निरूपण की ओर ही है। अलंकार को केशव ने एक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। इसीलिए कविप्रिया के सोलह प्रभावों में से बारह प्रभावों में अलंकार निरूपण ही मिलता है। उनकी दृष्टि में काव्य के सभी वर्ण्य विषय उन्हें विभूषित करने वाले उपकरण काव्यशास्त्र के सभी उपादेय अंग और भावादि काव्य के अंतरंग उपकरण अलंकार के अंतर्गत आ जाते हैं। कविरीति प्रसंग को केशव ने अलंकार नाम नहीं दिया है। पर वह भी सामान्य अलंकार के समान ही वर्ण्य विषय है। उसे भी सामान्य अलंकार में अंतर्भुक्त किया जा सकता है। दोष प्रकरण काव्यशास्त्रीय नीतिपक्ष के अंतर्गत आता है। इस प्रकार कविप्रिया का क्षेत्र नियोजन केशव की शास्त्रीय धारणाओं पर आधारित है। अलंकार के सम्बन्ध में उनकी धारणाएं ये हैं

१ अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं माना। वर्ण्य वर्ण्य भूमी राजश्री आदि वर्णनीय विषय भी अलंकार्य न होकर उनकी दृष्टि में अलंकार हैं। शृंगारादि रस भी अलंकार्य न होकर अलंकार ही हैं। रसमूलक वर्ण्य को उन्होंने विशिष्ट अलंकारों में रखा है और विवरणमूलक वर्णन विधि को सामान्य अलंकारों में।

२ काव्य के सभी सौन्दर्य विधायक उपकरण—चाहे परंपरामूलक हों चाहे शास्त्रीय—अलंकार ही हैं।

अलंकार काव्य के अनिवार्य अंग हैं।

इनमें से अंतिम दो का बीज तो भामह दण्डी उद्भट और वामन जैसे आचार्यों में मिल जाता है। उनकी प्रथम मान्यता मौलिक उपज है। केशव के समान अमरचन्द्र यति एवं केशव मिश्र ने काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर में काव्य की वर्ण्य सामग्री को तो संगृहीत किया है पर उस सबको अलंकार संज्ञा नहीं दी। केशव ने इस अलंकार नाम देकर अलंकार के अर्थ को अत्यंत विस्तृत किया है। दण्डी ने नाटकीय संधियों संध्यगों वृत्तियों वृत्त्यंगों तथा गुणों का अंतर्भाव अलंकारों में किया था। इससे अलंकार विधा का क्षेत्र विस्तार हुआ था। पर ये सभी उपकरण चमत्कारोत्पादक ही थे वर्ण्य सामग्री नहीं। वामन ने सौन्दर्यमलंकार कहकर समस्त काव्योपकारक सामग्री को अलंकार में अंतर्भूत कर अलंकार के अर्थ को विस्तृत किया। पर वर्ण्य सामग्री की भी एक परम्परा बनी। उस सामग्री का प्रथम

[1] क० प्रि० ३।५६
[illegible] कविन्नि को [illegible] सुनि निर्विघ्न विचार।
[illegible] केसुव [illegible] कवि को [illegible]॥ क० प्रि० ३।२

वार कशव न 'अलकार' में समाविष्ट करक अलकार क अथ की सीमाओं को और भी विस्तत कर दिया। कशव की इस मौलिक उद्भावना क औचित्य पर तक वितक उठाए जा सकत हैं जिस प्रकार शृगार में सभी रसा के अतभाव करन की प्रक्रिया पर किन्तु कशव न शृगार और अलकार दाना क क्षेत्रा का अतिम विस्तार करने की चष्टा अवश्य की है। कविप्रिया में अलकार क क्षत्र विस्तार का प्रयत्न ही मिलता है। कशव की इहा धारणाओं क प्रकाश में कविप्रिया के क्षत्र का विभाजन करना चाहिए। सवम पहन कविप्रिया क अनुक्रम पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। आचाय कम कविप्रिया क ततीय अध्याय स आरम्भ हाता है।

प्रभाव सख्या	विषय		भेद	लक्षण	गणना	उदाहरण सख्या
	दाप	क	सदोप कवित्त	+	×	१
			१ अध	+	×	१
			२ वधिर ३ पगु	+	×	१
			४ नग्न	+	×	१
			अलकारहीन रसहीन	+	×	१
			५ मृतक	+	×	१
		ख	दूपणवणन			
			१ अगण	+	+	+
			२ हीन रस	+	×	१
			३ यतिभग	+	×	१
			४ व्यथ	+	×	१
			५ अपाथ	+	×	१
			६ हीन क्रम	+	×	१
			७ कण कटु	+	×	१
			८ पुनरुक्त	+	×	२
			९ विरोध[1]	+	×	५
४	क कविभद		उत्तम	×	+	×
			मध्यम	×	+	×
			अधम	×	+	×
	ग कविरीति		सत्य	+	×	×
			मिथ्या	+	×	२
			कवि नियम	+	×	×
			सोलह शृगार	+	×	×
			महापुरुष	+	×	२

१ देश विरोध काल विरोध लोक विरोध न्याय विरोध आगम विरोध।

प्रभाव सख्या	विषय	भेद	लक्षण	गणना	उदाहरण
५	कविता अलकार	क सामान्य			
		१-वर्ण	+	×	६
		श्वेत	+	×	१
		पीत	+	×	१
		कृष्ण	+	×	१
		श्वेतकृष्ण	+	×	१
		आरक्त	+	×	१
		धूम्र	+	×	१
		नील	+	×	१
		श्वेतकृष्ण	+	×	१
		श्वेत पीत	+	×	१
		श्वेत आरक्त	+	×	१
६	वर्ण्यालकार	२-वर्ण्य			
		सम्पूर्ण	+	×	१
		आवर्त	+	×	१
		कुटिल	+	×	१
		त्रिकोण	+	×	१
		सुवृत्त	+	×	१
		तीक्ष्ण गुरु	+	×	१
		कोमल	+	×	१
		कठोर	+	×	१
		निश्चल	+	×	१
		चचल	+	×	१
		सुखद	+	×	१
		दुखद	+	×	१
		मदगति	+	×	१
		शीतल	+	×	१
		तप्त	+	×	१
		सुरूप	+	×	१
		क्रूर स्वर	+	×	१
		सुस्वर	+	×	१
		मधुर	+	×	१
		अबल	+	×	१
		बलिष्ठ	+	×	१
		मात्र मूठ	+	×	२

प्रभाव	विषय	भेद	लक्षण	गणना	उदाहरण
		मंडल—	×	+	१
		अगति			
		सदागति	×	+	१
		दान	×	+	१२
७	वर्ण्यालंकार	भूमि भूषण			
		देश	×	+	१
		नगर	×	+	१
		वन	×	+	१
		गिरि	×	+	१
		आश्रम	×	+	१
		सरिता	×	+	१
		बाग	×	+	१
		ताल	×	+	१
		समुद्र	×	+	१
		सूर्योदय	×	+	१
		चन्द्रोदय	×	+	१
		बसंत	×	+	१
		ग्रीष्म	×	+	१
		वर्षा	×	+	१
		शरद	×	+	१
		हेमंत	×	+	१
		शिशिर	×	+	१
८	वर्ण्यालंकार	राज्य श्री—			
		राजा	×	+	१
		रानी	×	+	२
		राजकुमार	×	+	१
		पुरोहित	×	+	१
		सेनापति	×	+	१
		दूत	×	+	१
		मंत्री	×	+	२
		मंत्री मंत्र	×	+	१
		प्रयाण	×	+	२
		हय	×	+	१
		गज	×	+	१
		संग्राम	×	+	१
		आखेट	×	+	२
		जलकेलि	×	+	१
		विरह	×	+	४

प्रभाव संख्या	विषय	भेद	लक्षण	गणना	उदाहरण
		स्वयंवर	×	+	१
		सुरति	×	+	१
९	जाति	×	+	×	१
	विभावना	बिना कारण काय	+	×	१
		अन्य कारण			
		अन्य काय	+	×	१
	हेतु	सभाव हेतु	×	×	१
		अभाव हेतु	×	×	१
		अभाव सभाव हेतु	×	×	१
	विरोधाभास	×	+	×	१
	विरोध[1]	×	+	×	२
	विशेष	×	+	×	५
	उत्प्रेक्षा	×	+	×	२
१०	आक्षेप	प्रेमाक्षेप	+	×	१
		अधर्माक्षेप	+	×	१
		धर्माक्षेप	+	×	१
		साहसाक्षेप	+	×	१
		मरणाक्षेप	+	×	१
		आशिषाक्षेप	+	×	१
		धर्माक्षेप	+	×	१
		उपायाक्षेप	+	×	१
		शिक्षाक्षेप	+	×	१२
११	क्रम	×	+	×	३
	गणना	×	×	+	१२
	आशिष	×	+	+	२
	प्रेमालंकार	×	+	×	१
	श्लेषालंकार	×	+	×	५
		अभिन्न पद	+	×	१
		भिन्न पद	×	×	१
		अभिन्न क्रिया	×	+	१
		अविरुद्ध क्रिया	×	+	१
		विरुद्ध कर्मा	×	+	१
		नियम	×	+	१
		विरोधी	×	+	१
	[illegible]	×	+	×	१
	[illegible]	×	[illegible]	×	१
	[illegible]	×	[illegible]	×	१

१ [illegible]

प्रभाव संख्या	विषय	भेद	लक्षण	गणना	उदाहरण
	उर्ज	×	+	×	१
	रसवत्	शृंगार	×	+	१
		रौद्र	×	+	१
		वीर	×	+	१
		करुण	×	+	१
		भयानक	×	+	२
		बीभत्स	×	+	१
		अद्भुत	×	+	२
		हास्य	×	+	१
		शान्त	×	+	१
	अर्थान्तर न्यास	—	×	+	१
		युक्त	+	×	१
		अयुक्त	+	×	१
		अयुक्त युक्त	+	×	२
		युक्त अयुक्त	+	×	२
	व्यतिरेक	युक्ति	+	×	१
		सहज	+	×	१
	अपह्नुति	×	+	×	२
१२	उक्ति	+	+	×	×
		वक्रोक्ति	+	×	१
		अन्योक्ति	+	×	२
		व्यधिकरणोक्ति	+	×	५
		विशेषोक्ति	+	×	५
		सहोक्ति	+	×	१
	व्याज स्तुति	—	+	×	१
	निदाव्याज	—	+	×	२
	अमित	—	+	×	२
	पर्यायोक्ति	×	+	×	१
	युक्त	×	+	×	१
१३	समाहित	×	+	×	२
	सुसिद्ध	×	+	×	२
	प्रसिद्ध	×	+	×	१
	विपरीत	×	+	×	२
	रूपक	+	+	+	×
		अद्भुत रूपक	+	×	१
		विरुद्ध रूपक	+	×	१
		रूपक रूपक	+	×	१

कविप्रिया के आधार पर केशव के आचार्यत्व के दो भाग हो जाते हैं गणनात्मक और लक्षणात्मक। सामान्य अलंकारों का क्षेत्र गणनात्मक है जहाँ केशव का विश्वकोषीय व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। दोष और अलंकार निरूपण लक्षणात्मक आचार्यत्व में आते हैं। इस क्षेत्र में केशव संस्कृत के पुराने आचार्यों के समकक्ष आते हैं। काव्य की वर्णन रीति की शिक्षा इन दोनों ही आधारों पर होती है। वरनत पथ की शिक्षा ही केशव का लक्ष्य है—समझें बाला बालकनि बरनन पथ अगाध। विशिष्टालंकारों का क्षेत्र दण्डी के समान प्रतीत होता है। केशव ने चालीस अलंकारों का ही निरूपण किया है।[1] पर अवान्तर भेद प्रभेदों के निरूपण के द्वारा केशव ने विवेच्य क्षेत्र का विस्तार किया है। भेद विस्तार में तीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। कहीं तो आचार्यों के आधार पर भेदों की चर्चा की गई है कहीं उनके भेदों का अन्य स्रोतों के आधार पर या मौलिक रूप से विस्तार किया गया है और कहीं कहीं गणनात्मक पद्धति एवं उदाहरणों के बाहुल्य से विस्तार किया गया है। क्षेत्र-संकोच की प्रवृत्ति भी कहीं कहीं मिलती है। इन विशिष्ट क्षेत्रों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

विस्तार की प्रवृत्ति

आचार्योक्त भेद विस्तार विभावना का भेद-कथन दण्डी और भोज के समान है। यमक का विस्तार केशव ने प्रायः दण्डी के आधार पर किया। दण्डी के भेद विस्तार को स्वीकार करके चलने पर भी केशव ने इसके अधिक विस्तार में रुचि ली है। चित्र का विस्तार अमरचन्द्र यति की काव्यकल्पलतावृत्ति के आधार पर किया गया है। पर इसके विस्तार के लिए केशव की रुचि ही उत्तरदायी है। रीति काल के सम्भवतः किसी आचार्य ने चित्र का इतना विस्तार नहीं किया। केशव ने अधिकांश भेद विस्तार प्राचीन आचार्यों के अनुसार किया है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के सम्बन्ध में भी तुलनात्मक दृष्टि से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इनपर प्रसंग आने पर आगे विचार किया गया है।

छन्दशास्त्रीय विस्तार दोष निरूपण में अगण दोष की गणना भी की गई है। अगण के प्रकरण का केशव ने छन्दशास्त्रीय विस्तार दिया है। इस विस्तार को केशव ने आवश्यक समझा है। इस दोष का स्पष्टीकरण बिना इस पृष्ठभूमि के नहीं हो सकता था। इस विस्तार में ये शीर्षक दिए गए हैं गणागण-कथन गणागण देवता-कथन गणागण जाति-कथन गणागण फलाफल-कथन मिश्रण विचार और लघु गुरु अन्य-कथन। इस प्रकरण के साथ सम्बन्ध पौराणिकता को भी केशव ने नहीं छोड़ा है। मिश्रण विचार पर पहले पन्नग मतवत वासुकि नाग ने विचार किया था।[2] फला फल विचार में केशव ने छप्पय और कवित्त का प्रयोग भी स्पष्टीकरण के लिए किया है। इन सब छन्दों का प्रयोग अन्यत्र केवल उदाहरणों के रूप में मिलता है। यह

[1] केशव ने विशेषालंकारों की संख्या ३७ मानी है। पर कुछ विद्वानों ने इनकी ४० दी मानी है। देखिए मदनगोपाल चौरसिया हिन्दी गद्य दर्पण के प्रमुख आचार्य पृ ९६
[2] इनके मिश्रण विचार फल कहो वासुकि नाग। कविप्रिया ३।२६

विस्तार अधिकांश में गणनात्मक है। गणना के कुछ भागों को उदाहृत भी किया गया है। गणागण और गुरु लघु को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों की योजना की गई है। केशव का चित्रज्ञान यहाँ पूरक रूप में प्रयुक्त हुआ है। यही 'छंदमाला' में स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ है।

काव्यशास्त्रीय नीति विस्तार कहीं कहीं सामान्य नीति का भी कथन किया गया है। दोष निरूपण से पूर्व सदोष कवित्व के वर्जन को विस्तार दिया है। सामान्य व्यवहार-संबंधी नीति की पृष्ठभूमि पर इस वर्जन को रखकर विशेष बल दिया गया है।[1] इसी प्रकार की नैतिक भूमिका न्याय आगम विरोध नामक दोष को प्रदान की गई है।[2] 'नखशिख'-संबंधी सामान्य नीति का कथन इस प्रकार किया गया है

नखतें सिखलौं बरनिय देवी दीपति देखि।
सिखतें नखलौं मानुषी केसवदास बिसेखि॥[3]

चित्र कवित्व के संबंध में जो सामान्य कथन हैं, वे अधिक शास्त्रीय हैं। उनके अनुसार अगण आदि दोषों पर चित्र रचना में ध्यान नहीं दिया जाता। मोटे पतले अक्षर—य ज व ब आदि—का भेद भी इसकी संरचना में नहीं माना जाता। इस नीति का कथन चित्र कवित्त की रचना की कठिनाई को ध्यान में रखकर किया गया है।[4] सामान्य नीति कथन की प्रवृत्ति रसिकप्रिया की अपेक्षा कविप्रिया में कम दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार केशव ने कवत्व लक्षण और उदाहरणों की ही रचना नहीं की सामान्य रूप से आवश्यकतानुसार उन्होंने काव्यशास्त्रीय नीति नियमों का उल्लेख कर दिया है। ये नीति कथन कविप्रिया तक ही सीमित नहीं हैं। रसिकप्रिया में भी इस प्रकार के कथन मिलते हैं। उदाहरण के लिए मान-संबंधी नीति कथन लिया जा सकता है।

मौलिक और उदाहरण-बाहुल्य से विस्तार अलंकारों के निरूपण में कविप्रिया का पूरा दण्डी का प्रभाव समर्थित है। इस अलंकार के क्षेत्र विस्तार की प्रवृत्ति दण्डी में भी दृष्टिगत होती है।[5] पर केशव का विस्तार कुछ विशिष्ट है। जहाँ दण्डी ने प्रतिषेध का वर्णन वर्तमान और भविष्य तक सीमित रखा है वहाँ केशव ने भूतकाल में भी प्रतिषेध माना है। केशव ने 12 भेद प्रभेदों की चर्चा की है। इनमें से प्रेम प्रणय भय मरण और शिष्टाभेद दण्डी में नहीं मिलते। साथ ही बारहमासा काव्य रूप का निरूपण में सम्मिलित करके केशव ने इस अलंकार के क्षेत्र का मौलिक उदाहरणमूलक विस्तार किया है।

गणना के विस्तार में कोषीय स्रोतों का मौलिक उपयोग केशव ने किया है।

1 क० प्रि० 3।4 5
2 वही 8।27
3 वही 7।13
4 वही 16।2 3
5 दण्डी ने इसके 24 भेदों का उल्लेख किया है। केशव ने इन सभी का ग्रहण नहीं किया।

सामान्यालंकार की भूमिका में इसका निरूपण किया गया है। केशव ने एक से लेकर दस संख्यासूचक शब्दों की नाम गणना की है।[1] दो छन्दों में गणना के उदाहरण देकर उदाहरण-संख्या बारह कर दी है। मौलिकता भी इस क्षेत्र विस्तार में स्पष्ट झलकती है। यह विस्तार संस्कृत के अधिकांश आचार्यों में नहीं मिलता।

आशिषालंकार का लक्षण अत्यन्त व्यापक कर लिया गया है। माता पिता गुरु देव और मुनियों के आशीर्वादों को भी इसके अन्तर्गत मानकर केशव ने अपनी विस्तारप्रियता का परिचय दिया है।

श्लेष के निरूपण में केशव ने शास्त्रीय पक्ष का तो संकोच किया है—दण्डी के ९ भेदों में से केवल सात चुने हैं—पर अन्य दिशाओं में विस्तार किया है। एक तो भिन्न क्रिया नामक मौलिक भेद को केशव ने जोड़ा है। दूसरे ५ अर्थ वाले श्लेष तक के ५ उदाहरण प्रस्तुत करके चमत्कारमूलक उदाहरणगत विस्तार किया है। इससे आचार्यत्व का व्यावहारिक पक्ष पुष्ट और व्यापक हुआ है।

प्रहेलिका के संबंध में आचार्यों में मतभेद रहा है। कुछ आचार्य इसे रसोत्कर्ष में बाधक मानकर छोड़ देते हैं। दंडी ने इसके सोलह प्रकारों का उल्लेख किया है। केशव ने दण्डी का अनुकरण करते हुए इसे स्वीकार किया है और इसके उदाहरणों में आठ पहेलियाँ संगृहीत की हैं।

उपमा का विस्तार नखशिख वर्णन से किया गया है। इसमें केशव ने अंग प्रत्यंग के परंपरित उपमानों उनकी प्रसिद्ध विशेषताओं आदि का विवरण देकर उपमा का क्षेत्र विस्तार किया है। यह विस्तार भी काव्यगत कहा जाएगा। वास्तव में नखशिख एक स्वतन्त्र काव्यरूप बन गया था। इसका उपयोग केशव ने उपमा के व्यावहारिक विस्तार के लिए किया है। या यों कहिए कि अनुकूल प्रसंग पाकर केशव ने इसका वर्णन किया है—कहीं यथामति जीव जड़ वसव पाई प्रसंग।

यमक के विस्तार में केशव ने विशेष रुचि ली है। यमक के जो उदाहरण केशव ने प्रस्तुत किए हैं उनपर किसी की छाया प्रतीत नहीं होती। सबसे अधिक उदाहरण यमक के साथ ही संलग्न हैं। आचार्यत्व का व्यावहारिक पक्ष उदाहरणों में व्यक्त होता है। उदाहरणों के विषय और उनके विस्तार पर कवि के व्यक्तित्व और युग की छाप रहती है। कुछ अलंकारों के लिए केशव ने इन्हीं आधारों पर एक से अधिक उदाहरण दिए हैं। सामान्यतः कोई भी आचार्य उदाहरणों की संख्या बढ़ाने में स्वतन्त्र है। फिर भी उदाहरण विस्तार की कुछ प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं। केशव ने कविप्रिया में उदाहरणों के वैविध्य पर ध्यान रखा है। विशेष अलंकार के साथ उदाहरण दिए गए हैं इनमें से दो शिव के, दो कृष्ण के और एक पतिराम के संबंध में है। पतिराम का उल्लेख व्याजस्तुति तथा विशेषोक्ति के संबंध में भी किया गया है। इनमें एक सामान्य व्यक्ति के संबंध में विशिष्ट वर्णन किया गया है। दूसरी

[1] सामान्य [illegible] विस्तार [illegible] के आधार पर किया गया है। प्रेरणा [illegible] और [illegible] में था है।

प्रमुख प्रवृत्ति नीति-संबंधी है। इस अलंकार के तीन अयुक्त युक्त के दो युक्त अयुक्त के दो अर्थान्तरन्यास के दो और सुसिद्ध के दो उदाहरण नीतिपरक हैं। उदाहरण विस्तार में तीसरी प्रवृत्ति प्रशस्तिमूलक है। जहां अवसर मिला है इन्द्रजीत सिंह चन्द्रसेन दूलह राम अमरसिंह, राय प्रवीण कामसेना आदि की प्रशस्ति में उदाहरणों का विस्तार किया गया है। विशिष्टालंकारों में इनमें अपह्नुति अमित आदि के उदाहरण इसके प्रमाण के लिए द्रष्टव्य हैं। सामान्यालंकारों के निरूपण में भी ये प्रवृत्तियां मिलती हैं। दान-वर्णन में १२ उदाहरण हैं। इनमें से अंतिम दो इन्द्रजीत और बीरबल के दान से सम्बद्ध हैं। प्राकृत जनों के अतिरिक्त केशव ने राम के यशगान-संबंधी उदाहरणों का भी बाहुल्य रखा है। ... के वर्णन में राम की प्रशस्ति के दो छन्द हैं। दान वर्णन में राम के दान के संबंध में तीन उदाहरण दिए गए हैं। इस प्रकार जब प्रशस्ति का प्रसंग उदाहरणों में आता है तो उदाहरणों का कुछ विस्तार हो ही जाता है।

उदाहरण विस्तार की एक विशिष्ट पद्धति केशव में मिलती है। केशव ने विवरणात्मक काव्यरूपों का समावेश भी उदाहरणों में किया है। इस प्रकार के तीन काव्यरूप विशेष रूप से लोकप्रिय रहे हैं षट् ऋतु बारहमासा और नख शिख। केशव ने भूमिभूषण, शिक्षाभेद और उपमा के निरूपण में उदाहरणस्वरूप इन काव्यरूपों का समावेश किया है।

उक्त प्रवृत्तियों के कारण उदाहरण योजना शुद्ध शास्त्रीय अभिप्राय से प्रेरित नहीं रह पाई है। इनमें केशव का सामान्य ज्ञान उनकी रुचि और युगधर्म ही परिलक्षित हैं। शेष उदाहरणों में विषय चाहे जो हो लक्षणों को उदाहृत करने और विषय के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति ही मिलती है। श्लेष चित्र यमक आदि के उदाहरणों में चमत्कार की प्रवृत्ति प्रमुख है। संक्षेप में केशव की उदाहरण विस्तार संबंधी प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं

१ लक्षणों के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति
२ चमत्कारमूलक उदाहरण विस्तार
प्रशस्तिमूलक उदाहरण विस्तार
४ भक्ति भावना, शृंगार से प्रेरित उदाहरण विस्तार
५ नीति ज्ञान वैराग्यमूलक विस्तार
६ बहुज्ञान प्रदर्शक उदाहरण
७ काव्यरूपीय उदाहरण विस्तार।

काव्यरूपीय उदाहरण विस्तार को कुछ विद्वानों ने कविप्रिया का अंग नहीं माना है। बारहमासा नखशिख और शिखनख स्वतन्त्र रूप से भी प्रचलित हैं। लाला भगवान दीन ने लिखा है ... कई एक प्रतियों में १४वें प्रभाव के अंत में नायिका का नखशिख-वर्णन भी सम्मिलित पाया जाता है परन्तु हम उतने गड को इस ग्रंथ का अंग नहीं मानते अतः हमने उसे छोड़ दिया है।[1] बारहमास का उद्धान ... स्वीकृत किया

[1] प्रिया प्रकाश, वक्तव्य

हे। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है— ऐसा प्रतीत होता है कि केशवदास को यह प्रसंग 'कविप्रिया' के अंतर्गत ही रखने की सूझ बाद में सूझी। तब इसे कहाँ रखा जाए इस दृष्टि से उपमालंकार के अंतर्गत इसे उन्होंने किया। यह प्रसंग रखा गया चौदहवें प्रभाव की समाप्ति पर। उसमें संख्या 'नखशिख' की पृथक् से दी गई। इसीसे किसीने इसे चौदहवें प्रभाव का अंग नहीं माना, पंद्रहवें में रख लिया।'[1] उदाहरणों के रूप में केशव ने पारिभाषिक रूप से तो काव्यशास्त्रीय आचार्यत्व का विस्तार नहीं किया पर आगे की परंपरा का सूत्रपात अवश्य किया। कई परवर्ती आचार्यों ने उदाहरणों की ही प्रधानता रखी है। भूषण का नाम इस संबंध में विशेष रूप से लिया जा सकता है। भूषण का प्रमुख कार्य उदाहरणों के माध्यम से शिवा चरित्र को ही प्रकट करना रहा है।

क्षेत्र संकोच

हेतु के निरूपण में केशव ने क्षेत्र संकोच किया है। दंडी द्वारा निरूपित कारक और ज्ञापक भेदों में से केशव ने केवल प्रथम को ग्रहण किया है। इसीके अभाव सभावगत भेद प्रस्तुत किए गए हैं। दंडी के प्रभेदों को भी छोड दिया गया है।

केशव ने दण्डी के नौ रूपक भेदों में से केवल सात को ही चुना है। इसी प्रकार दण्डी ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेदों का निरूपण किया है और केशव ने इसके केवल चार ही भेद माने हैं। पर उदाहरणों के द्वारा इसका विस्तार अवश्य किया गया है। अयुक्त युक्त और युक्तायुक्त दोनों के ही इन्होंने दो-दो उदाहरण दिए हैं। व्यतिरेक के भेदों में भी केशव ने कमी की है। दण्डी ने इसके दस भेद स्वीकार किए हैं जब कि केशव ने दो भेद ही किए हैं। श्लेष का विस्तार भी केशव ने कम कर दिया है। दण्डी ने इसके बीस भेदों की चर्चा की है। केशव के अनुसार केवल तीन भेद हैं।

केशव ने दीपक के दो ही भेद किए हैं यद्यपि यह स्वीकार किया है कि इसके अनेक भेद होते हैं। दण्डी ने इसके अनेक भेद स्वीकार करके बारह भेदों का निरूपण किया है। उपमा के दण्डी ने बत्तीस भेद किए हैं। केशव ने इसके इक्कीस भेदों की चर्चा की है। बस उपमा के इससे अधिक भेद केशव को स्वीकार्य थे।

विशिष्टालंकारों का विवेचन करते हुए केशव को कदाचित् यह आभास रहा है कि इस प्रकरण का भेद प्रभेद विस्तार बहुत अधिक है। मैं उसमें से एक अंश को ही प्रकाशित कर रहा हूँ। इस आशय के कथन भी यत्र-तत्र मिलते हैं। केशव ने आरंभ में ही लिखा है कि भाषा के लिए जितने अलंकारों की आवश्यकता है या जितने अलंकार भाषा के परिवेश में संभव हैं उनका ही विवरण किया जा रहा है।[2] उक्ति के संबंध में भी केशव की ऐसी ही धारणा है।[3] केशव ने व्याज के भी अनेक भेद

1. [illegible]
2. [illegible] भूषन [illegible] १०
3. [illegible]

स्वीकार किए हैं जिनमें से उन्होंने निरूपण के लिए तीन को ही चुना है।[1] इसी प्रकार दीपक के अनेक भेदों में से केवल दो को चुना गया है।[2] उपमा का क्षेत्र भी इसी प्रकार सीमित किया गया है। अनेक भेदों में से इक्कीस का निरूपण केशव ने किया है।[3] यमक का उपसंहार करते हुए भी केशव को यह चेतना है कि मैंने समस्त भेदों का निरूपण नहीं किया। यमक के अनेक दुष्कर आयोजन हैं। इनमें से कुछ ही लिए गए हैं।[4] चित्रकाव्य को तो वे समुद्र के समान मानते हैं। किन्तु उसकी एक बूंद का ही निरूपण केशव ने किया है।[5] इस प्रकार ऐसे अलंकारों का क्षेत्र केशव ने सीमित किया है जिनका क्षेत्र परम्परा से बहुत बढ़ गया था। साथ ही चमत्कारमूलक अलंकारों का क्षेत्र सीमित होते हुए भी विस्तृत हो गया है। चमत्कार युगरुचि की माँग थी।

गणना और लक्षण

सामान्यालंकारों के क्षेत्र में गणनाप्रधान आचार्यत्व के दर्शन होते हैं। एक शास्त्रोक्त वर्णन की पद्धति और तत्संबंधी रूढ़ अलंकारों पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। कहीं कहीं गणना न देकर केवल उदाहरण दिया गया है। उदाहरण के रूप में श्वेतकृष्ण मिश्रित वर्णन को लिया जा सकता है।[6] कहीं-कहीं इसके विपरीत केवल गणना दी गई है। उदाहरणों की योजना का अभाव है। इस प्रकार के प्रसंग ये हैं कविभेद[7] कविनियम[8] सोलह शृंगार[9] श्वेतपीत[10] श्वेत आरक्त।[11] इस प्रकार केशव का गणनात्मक आचार्यत्व (=सामान्यालंकार) प्रायः अविकल है। सभी गण्य वस्तुओं के लिए उदाहरण देना संभव नहीं था। इस क्षेत्र का विभाजन भी युक्तियुक्त है।

विशिष्टालंकारों का क्षेत्र लक्षणपरक है। लक्षण और उदाहरण इस क्षेत्र में परस्पर पूरक होते हैं। कुछ अलंकारों के भेद प्रभेदों के लक्षण न देकर केशव ने केवल उदाहरण दिए हैं। हेतु के सभाव अभाव और अभाव-अभाव भेद किए गए हैं।[12] पर इनके लक्षण नहीं दिए गए। गणना के संबंध में भी यही किया गया है।[13] रूपक के

१ तीन भेद अनेक मैं, तीन्यै कहे सुभाऊ। क०प्रि० १३।१४
२ दीपक रूप अनेक हैं मैं बरने द्वै रूप। वही १३।२२
३ उपमा भेद अनेक हैं मैं बरने इकबीस। वही १४।४
४ यदि विधि औरहु जानिजहु दुष्कर जमक अनेक। वही १५।१३
५ 'केसव' चित्र-समुद्र में बूड़त परम विचित्र।
ताके बूँदक के कनै बरनत हौं सुनि मित्र॥ वही १६।१
अन्त में भी चित्रक चित्त अपार कहा है।
६ वही ५।२७
७-८-९ वही, चौथा प्रभाव
१०-११ वही पाँचवाँ प्रभाव
१२ वही, ६वाँ प्रभाव
१३ वही, १०वाँ प्रभाव

अभिन्नत्रिय अविरुद्धत्रिय विरुद्धकर्मा आदि एवं नियम और विरोधी के भी केवल उदाहरण दिए गए हैं।[1] रसवत् अलंकार के अंतर्गत नवरसों के भी लक्षण नहीं दिए गए हैं।[2] यमक के प्रभेदों के लक्षण न देकर केवल उदाहरणों की योजना की गई है।[3] चित्र कवित्त के उपभेदों में से बहुतों के लक्षण देना केशव ने अनावश्यक समझा है। इस प्रकार केशव ने लक्षणों के क्षेत्र को कहीं कहीं संकुचित करके उदाहरण भाग के दायित्व को बढ़ा दिया है।

इस प्रकार केशव की प्रवृत्ति आचार्यत्व के क्षेत्र में समान रूप से नहीं रमी है। उन्होंने विषय के स्पष्टीकरण का ध्यान तो सर्वत्र रखा है पर अनावश्यक लक्षणों और उदाहरणों के विस्तार से बचने की दृष्टि भी उनमें मिलती है।

छंदशास्त्रीय आचार्यत्व छंदमाला

भक्तिकाल में पुरातन का पुनरुत्थान विषय वस्तु की दृष्टि से हुआ। रीतिकाल में शास्त्रीय परंपरा का अवतरण हुआ। पर संस्कृत छंदों की परंपरा हिन्दी में आरंभ से ही समादृत नहीं थी। वृत्तों की दृष्टि से अपभ्रंश में विकसित छंद ही हिन्दी में प्रचलित हुए। यही कारण है कि पिंगल संबंधी आचार्यत्व रीतिकाल में अधिक बल ग्रहण नहीं कर पाया। संस्कृत वृत्त भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं थे। भक्ति और रीतिकाल की मुक्तक परंपरा में दोहे, कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया जैसे छंद ही प्रचलित रहे। इनका संस्कृत छंदशास्त्र से सीधा और घनिष्ठ संबंध नहीं था। फिर भी सर्वांग निरूपक आचार्यों ने इस पक्ष पर भी विचार किया। वर्ण संस्कृत वृत्तों में भाषा की कृतियों को भी बाँधने की चेष्टा हुई। रामचन्द्रिका इस प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करती है। पर यह एक प्रयोग बनकर ही रह गया। आगे इसकी परंपरा नहीं बन सकी। यदि पिंगल-संबंधी आचार्यत्व की परंपरा बनी तो परंपरा के निर्वाह के लिए। भाषा के छंदों का निरूपण इस परंपरा की मौलिकता का प्रमाण है। छंद संबंधी आचार्यत्व का आरंभ केशव से ही हुआ।[4] यद्यपि यह ग्रंथ साधारण कोटि का है फिर भी हिन्दी साहित्य का प्रथम छंदग्रंथ होने के नाते इसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है।[5] केशव के पश्चात् चिंतामणि, मतिराम (वृत्तकौमुदी), सुखदेव मिश्र (वृत्तविचार), भिखारी दास (छंदार्णव) और सोमनाथ जैसे पिंगल पर लिखने वाले आचार्यों की एक शृंखला बन गई। रीतिकालीन पिंगलाचार्यों ने संस्कृत और प्राकृत के पिंगल ग्रंथों को आधार बनाया। जहाँ काव्यशास्त्रीय आचार्यत्व के अन्य अंगों के निरूपण में संस्कृत को ही आधार बनाया गया था वहाँ पिंगल-संबंधी विचार के लिए प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा को भी आधार बनाना पड़ा। वर्णवृत्तों में तो संस्कृत के वृत्तों को ज्यों का त्यों लिया गया है। मात्रिक छंद संस्कृत साहित्य और

१ [illegible]

३ वही, १२वाँ प्रभाव

४ वही, १६ प्रभाव

५ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. ४३१

शास्त्र में विशेष समादृत नहीं थे। उनकी संख्या भी अत्यल्प थी। अपभ्रंश कवियों ने मात्रिक छन्दों को महत्त्व दिया। प्राकृतपैंगलम् में इनका संग्रह विशेष रूप से किया गया है। हिन्दी पिंगल परंपरा ने वर्णरत्नाकर, छंदमंजरी और प्राकृतपैंगलम को आधार मुख्य रूप से ग्रहण किया। रीतिकालीन पिंगलग्रंथों में कुछ छंद ऐसे भी मिलते हैं जिनका आधारभूत ग्रंथों में अभाव है। ऐसे स्थलों पर इन आचार्यों का उद्भावक रूप प्रकट हो जाता है। केशव ने भी प्राचीन आधार पर नवीन छंदों की रचना करके इस क्षेत्र में विस्तार करने की चेष्टा की।

केशव ने छन्द प्रकरण को वर्णिक और मात्रिक दो भागों में विभक्त किया। पहले भाग में ७७ वर्णिक वृत्तों और द्वितीय विभाग में २६ मात्रिक छन्दों का निरूपण किया गया है। रसिकप्रिया की भांति इसका भी एक प्रस्तावना भाग है। प्रस्तावना में छन्दशास्त्र-संबंधी सामान्य मान्यताओं का उल्लेख कर दिया है। उसके पश्चात् मूल ग्रंथ प्रारंभ होता है। उपसंहार भाग का इसमें अभाव है। इस ग्रंथ के क्षेत्र का अनुक्रम इस प्रकार है

(क) प्रस्तावना

गणपति वन्दना से प्रस्तावना का प्रारंभ होता है। कविप्रिया में ही केशव ने इस शास्त्र का आदि आचार्य वासुकि नाग को माना है।[1] छन्दमाला में भी केशव ने भुजगराज पिंगल की वन्दना की है।[2] इसके पश्चात् भाषा की स्थिति स्पष्ट की गई है। भाषा की तीन शाखाएं हैं—सुरभाषा, नागभाषा, नरभाषा। आगे तीनों के प्रादुर्भाव का उल्लेख किया गया है

सुरभाषा है प्रथम ही बाल्मीकि बड़भाग।
प्रकटि भाषा के महत नरभाषा पिंगल नाग॥[3]

आगे उन्होंने लिखा है कि तीनों शाखाओं में द्विविध कविता मिलती है वर्णवृत्ति और कलावृत्ति। फिर इनका सामान्य लक्षण दिया है। इसी सब प्रकरण को छन्दमाला में लिया गया है। यह प्रस्तावना छन्दमाला के द्वितीय खंड के पूर्व मिलती है।

(ख) प्रथम खंड वर्णिक छन्द

इसमें एकाक्षर से लेकर २६ अक्षर तक के वर्णिक वृत्तों के लक्षण और उन्हें

१ क० प्रि० । ६
२ मङ्गल भुजगराज पिंगलो के [illegible]
[illegible] मुक्ता [illegible] निरखै।
शुभ [illegible] शुभ न [illegible] विरखै
[illegible] पातालै॥ प० इ० पृ० ४४६
३ छन्दमाला २।४
४ वही २।५,६

हरण प्रस्तुत किए गए हैं। इससे अधिक वर्णों वाले छन्दों का सामान्य नाम दडक' दिया गया है। वृत्तों के उपभेदों को भी सलग्न कर दिया गया है। षडाक्षर के अन्तर्गत ६ सप्ताक्षर में २ अष्टाक्षर में ५ नवाक्षर में २ दशाक्षर में ४ एकादशाक्षर में ४ द्वादशाक्षर में १३ त्रयोदशाक्षर में ३ चतुर्दशाक्षर में ३ पचदशाक्षर में ४ षोडशाक्षर में ३ सप्तदशाक्षर में २ एकोनविंशाक्षर में २ त्रयोविंशाक्षर में ३ चतुर्विंशाक्षर में ६ और पचविंशाक्षर में ३ छन्दभेदों को सम्मिलित किया गया है। शेष के एक एक भेद ही लिखे है।

इस खड की अनुक्रमणी इस प्रकार है

१ एकाक्षर	१ श्री
२ द्वयक्षर	२ नारायण
३ त्र्यक्षर	३ रमण
४ चतुरक्षर	४ तरणिजा ५ मदन
५ पचाक्षर	६ माया
६ षडक्षर	७ मालती ८ सोमराजी ९ शकर १० विज्जोहा
	११ मथान १२ मुखदा
७ सप्ताक्षर	१ कुमारललिता १४ प्रमाणिका
८ अष्टाक्षर	१५ मल्लिका १६ नगस्वरूपिणी १७ मदनमाहिनी
	१८ बोधक १९ तुरगम
९ नवाक्षर	[illegible] नगस्वरूपिणी २१ तोमर
१० दशाक्षर	२२ हरिणा २३ अमृतगति २४ तोमर २५ सयुक्ता
११ एकादशाक्षर	[illegible] अनुकूला २७ सुपणप्रयात २८ इन्द्रवज्रा
	२९ उपेन्द्रवज्रा
१२ द्वादशाक्षर	३[illegible] मातियदाम ३१ तोटक ३२ सन्री ३३ मोदक
	[illegible]४ भुजगप्रयात ३५ तामरस ३६ द्रुतविलम्बित
	[illegible]७ कुसुमविचित्रा [illegible]८ चन्द्रवर्त्म ३९ मालती
	४० वंशस्थविल ४१ प्रमिताक्षर ४२ सग्विणी
१३ त्रयोदशाक्षर	४[illegible] पङ्कजवाटिका ४४ तारक ४५ कलहस
१४ चतुर्दशाक्षर	४६ हरिलीला ४[illegible] वसन्ततिलका ४८ मनोरमा
१५ पचदशाक्षर	४९ मालती ५० सुप्रिय ५१ निशिपालिका
	५२ चामर
१६ षोडशाक्षर	५[illegible] नाराच ५४ मनहरण ५५ ब्रह्मरूपक
१७ सप्तदशाक्षर	५६ रूपमाला ५७ पृथ्वी
१८ अष्टादशाक्षर	५८ चचरी
१९ एकोनविंशाक्षर	५९ करणा ६० मुन
२० विंशाक्षर	६१ गीतिका
२१ एकविंशाक्षर	६२ दम

२२ द्विविंशाक्षर ६३ मदिरा
२३ त्रयोविंशाक्षर ६४ विजय ६५ सुधा ६६ वसुधा
२४ चतुर्विंशाक्षर ६७ माधवी ६८ चन्द्रकला ६६ अमदकमल
७० मकरंद ७१ गंगोदक ७२ तन्वी
२५ पंचविंशाक्षर ७३ विजया ७४ सुधा ७५ मानिनी
२६ षड्विंशाक्षर ७६ हार

यह ७६ छन्दों की संख्या हुई जो अक्षर गणना के आधार पर २६ शीर्षकों में वर्गीकृत है। २६ अक्षर से ऊपर वाले छन्दों को केशव ने अनंग वर्ग माना है। इसमें केवल अनंगशेखर नामक छन्द का उदाहरण दिया है जिसमें ३२ अक्षर होते हैं। पूरे वर्ग को केशव ने दण्डक नाम दिया है छब्बिस अक्षर तें उपर केशव दण्डक जानि। दण्डक छन्द ही विशिष्ट है। शेष वर्णवृत्त साधारण हैं।

प्रथम खंड के अंत में ८४ छन्दों की सूची दी गई है।[1] पर केशव ने निरूपण केवल ७७ छन्दों का किया है। इसमें केशव की चुनाव की दृष्टि हो सकती है। उन्होंने छन्दों के क्षेत्र को इस प्रकार सीमित किया है। उनको वर्णवृत्तों की भाषा के लिए अनुपयुक्तता का आभास भी हुआ। इसीसे क्षेत्र को कुछ सीमित कर दिया गया। छन्दों की तालिका में अनेक छन्द ऐसे हैं जिनका निरूपण नहीं किया गया। इसके विपरीत निरूपित ७७ छन्दों में से कुछ ऐसे भी हैं जो इस तालिका में नहीं आए हैं। उनका विवरण इस प्रकार है

१ निरूपित पर तालिका में नहीं कुमार ललिता चन्द्रकला
२ तालिका में हैं पर निरूपित नहीं ललिता, पत्ता रोला मरहठा सोरठा सिंहावलोकन जमुन रूपमाला और हरनी।
३ तालिकागत और निरूपित छन्दों के नाम भेद

निरूपित नाम	तालिकागत नाम
शंकर	संकर
बिम्बोहा	बिम्मुहा
सयुक्ता	सजुती
मोतियदाम	मोत्तिय दाम
तोटक	त्रोटक
सम्विणी	सग्विनी
सुप्रिय	सुप्रिया
नाराच	नराच
करण	करणा
विजया	जया
सुगकर	सुखदा

[1] छं० मा० (रा० ना०), पृ० ४४८

तुलना करने पर अंतर महत्वपूर्ण नहीं ठहरता। तत्सम्-तद्भव के आधार पर कुछ नामों का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ नाम अपभ्रंश की नकली के हैं।

जिन छन्दों का निरूपण वर्णिक वृत्तों के अन्तर्गत नहीं किया गया है और तालिका में जिसका नाम है उनमें से कुछ मात्रिक छन्द हैं और इनका निरूपण द्वितीय खंड में कर दिया गया है। ऐसे छन्द ये हैं घत्ता सोरठा मरहठा। अंतर वाले छन्दों में से शेष को छोड़ दिया गया है।

(ग) खंड दो मात्रिक छन्द

मात्रिक छन्दों को केशव ने कलावृत्त की संज्ञा दी है। भूमिका में उसका लक्षण देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि वर्णवृत्तों में तो सभी चरण समान संख्या के अक्षरों से रचित होते हैं और मात्रिकवृत्तों में समपादी और विषमपादी वृत्त होते हैं। जो इस प्रकरण से परिचित होते हैं वे छन्ददोषों को तत्काल पकड़ सकते हैं। इस खंड की अनुक्रमणिका इस प्रकार है—गाथा दोहा कवित्त चतुष्पदी घत्ता नंद उल्लाला षट्पद पद्धटिका अरिल्ल पादाकुलिक राजसेन की नवपदी पद्मावती सोरठा कुण्डलिया चूड़ामणि कामालिका मधुभार आभीर हरिगीति त्रिभंगी हीर मदनमनोहर और मरहठा। इस प्रकार केशव ने २४ मात्रिक छन्दों का निरूपण इस खंड में किया है।

मात्रिक छन्द क्षेत्र विस्तार वर्णिक छन्दों का क्षेत्र विस्तार करने की केशव ने चेष्टा नहीं की है पर मात्रिक छन्दों की शक्ति और लोकप्रियता से वे परिचित थे। मात्रिक छन्दों में भी कुछ का प्रचलन बहुत अधिक था। प्राकृत के स्तर का छन्द गाथा अपभ्रंश का प्रतीक दोहा और वीरकाव्य से संबद्ध छप्पय उनका अधिक ध्यान आकर्षित कर सके। इनके अनेक भेदों की चर्चा केशव ने की है

गाथा	७ उपभेद
दोहा	१२ उपभेद
छप्पय	५२ उपभेद

पर इन सभी भेदों के न लक्षण दिए गए हैं और न उदाहरण। गाथा (=गाहा) के बदले एक उपभेद विग्गाहा का निरूपण किया गया है। दोहे के उपभेदों का निरूपण करने की चेष्टा की गई है। छप्पय में उदाहरण केवल एक ही दिया गया है। शेष का निरूपण गणनात्मक पद्धति में किया गया है। आश्चर्य यह है कि कवित्त और सवैया का निरूपण छोड़ दिया गया है। ये छन्द भक्तिकाल और रीतिकाल में अत्यन्त लोकप्रिय थे। कवित्त नाम से जिस छन्द का निरूपण किया गया है वह रोला है। इससे प्रतीत होता है कि केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र एक पुरानी परंपरा से सिद्ध है। समकालीन प्रवृत्तियों का सम्मिलित करके क्षेत्र का मौलिक विस्तार नहीं किया गया है।

निष्कर्ष

केशव के आचार्यत्व का सर्वेक्षण उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। उनका अध्येता अपना विषय निर्वाचन इस प्रकार कर सकता है

१ रस विवेचन शृंगार तथा अन्य
२ नायक-नायिका निरूपण
३ अलंकार निरूपण
४ छन्द निरूपण
५ अन्य काव्यांग
क—दोष निरूपण
ख—वृत्ति निरूपण
ग—चित्रकाव्य निरूपण
घ—कविशिक्षा

इन्हीं विषयों के आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध की प्रकरण-योजना की गई है। प्रत्येक प्रकरण में आदान प्रदान का विवेचन किया गया है। परंपरा की पूर्वापर कड़ियों का निरूपण मूल्यांकन का प्रमुख भाग है। अन्त में उपसंहार में विविध काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के संदर्भ में रखकर केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। आरंभ में केशव के आचार्यत्व की विस्तृत पृष्ठभूमि दी गई है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रवृत्तिगत विकास स्पष्ट किया गया है। दूसरे भाग में केशव की उन समकालीन परिस्थितियों का रुचिगत विश्लेषण किया गया है जिनमें आचार्यत्व की साधना के बीज सन्निहित हैं। इसके पश्चात् केशव के आचार्यत्व के क्षेत्र की सीमा निरूपण है। इस प्रकरण की पृष्ठभूमि में आचार्य केशव के व्यक्तित्व की संक्षिप्त रूप रेखा दे दी गई है। इस प्रकार परिवेश और व्यक्तिगत संदर्भों को स्पष्ट करके ही विषय विवेचन किया गया है। अन्त में मूल्यांकन भी किया गया है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र चाहे संपूर्ण काव्यांगों और काव्यशास्त्रीय परंपराओं को लेकर न चला हो पर रीतिकालीन संदर्भ में वह पूर्ण है। रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ समग्र रूप से केशव की रचनाओं में प्रतिबिंबित हैं। जिन सिद्धान्तों की रीतिकाल में अधिक लोकप्रियता नहीं थी उनको केशव ने छोड़ ही दिया है। सिद्धान्तों के निरूपण और उदाहरण-योजना में भी केशव ने युगरुचि को ध्यान में रखा है। उनका व्यक्तित्व अपने समग्र रूप में आचार्यत्व-संबंधी कृतियों में झाँक रहा है। आचार्यत्व की दृष्टि से ऐसा व्यक्तित्व रीतिकालीन आचार्यों में नहीं मिलता।

तृतीय प्रकाश

केशव का रस-विवेचन

केशव का रस विवेचन

आचार्य केशवदास का रस विवेचन-सम्बन्धी ग्रन्थ है रसिकप्रिया। यद्यपि रसिकप्रिया एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी रचना मुख्यतः काव्यरसिकों के लिए ही हुई है जिससे सामान्य रसिक पाठक भी कविता के शास्त्रीय सौन्दर्य का आनन्द उठा सकें तथापि उसका उपयोग एक मात्रा तक शिक्षाग्रन्थ के रूप में भी किया जा सकता है। जहां रसिकप्रिया के अध्ययन से एक ओर रसिक पाठक की रति भावना की अभिवृद्धि होती है वहां साथ ही उसे रसरीति का परिचय भी मिलता है।[1] इसके साथ साथ उसका उपयोग काव्य सिद्धान्तों के परिचय के लिए एक मात्रा तक भाषाकवियों के लिए भी है जिनको संस्कृत की अनभिज्ञता के कारण काव्यशास्त्र के तथा काव्य के गूढ़ रहस्यों से सीधा परिचय नहीं है।[2] यदि शास्त्रीय भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि रसिकप्रिया का अधिकारी मुख्यतया तो है रसिक पाठक तथा आनुषंगिक है ऐसा भाषाकवि जो काव्य रचना में तो प्रवृत्त होना चाहता है किन्तु संस्कृत में निहित काव्य की शास्त्रीय निधि से वंचित है। रसरीति का परिचय मात्र का उद्देश्य लेकर चलने वाले इस ग्रन्थ में शास्त्रीय सिद्धान्तों पर विश्लेषणात्मक एवं मीमांसात्मक दृष्टि डालने का अवसर ही नहीं आया। वस्तुतः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के समान विश्लेषण की पद्धति केशव परवर्ती हिन्दी रीतिग्रन्थों में भी नहीं दिखाई पड़ती।

केशव ने विश्लेषण की पद्धति नहीं अपनाई। विवेच्य विषय के प्रति जो भी दृष्टिकोण अपने व्यापक अध्ययन के उपरान्त उनका बना है उसे वे प्रस्तुत करते चले गए हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र की एक लम्बी परम्परा उनके सामने फैली हुई थी। अनेक विचारधाराएं नई पुरानी नानाविध मान्यताएं उनके सामने आ चुकी थीं। वे एक बहुश्रुत एवं बहुपठित पण्डित थे। उन नाना मान्यताओं में से जो भी उन्हें प्रभावित कर सकीं उन्हें अपना कर वे प्रस्तुत करते चले हैं। कहीं कहीं एकाधिक मान्यताओं का भी उल्लेख है किन्तु यह वैकल्पिक निरूपण रसिकप्रिया की अपेक्षा कविप्रिया में अधिक

1 रसिकन को रसिकप्रिया कीन्ही केसवदास। र. प्रि. १।१२
[illegible]
[illegible] लहै रसिकप्रिया की प्रीति॥ र. प्रि. १६।१६
2 [illegible]
[illegible] रसिकप्रिया बिन होत॥ र. प्रि. १६।१५

हुआ है जहाँ आचार्य का निजी रूप प्रधान है। रसिकप्रिया में तो किसी विषय पर एकाधिक मान्यताओं के उपस्थापन की अपेक्षा कहीं-कहीं एक ही विषय के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि में एकाधिक मान्यताओं का समावेश मिलता है। वे किसी विषय में प्राचीन और नवीन दोनों मान्यताओं से प्रभावित हो सकते हैं साथ ही अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण भी अपना सकते हैं। उन्होंने जो कहा है उसका तटस्थ विश्लेषण करने पर हम उनकी विचारधारा के निर्मापक तत्त्वों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय उसे उन्होंने किस रूप में समझा है तथा उसके मूल में उनका क्या संभावित दृष्टिकोण निहित है यह बात भी सहानुभूति के साथ उनके वक्तव्य का समीक्षण करने में जानी जा सकती है। तभी हम उनके साथ आलोचक का न्याय करते सकेंगे। प्रस्तुत प्रकरण में हम उनके रस विषयक दृष्टिकोण तथा निरूपण का विवेचन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

केशव रसध्वनिवादियों के समान ही काव्य में रस की महत्ता स्वीकार करते हैं। रस काव्य का आत्मभूत तत्त्व है। प्राण के बिना निर्जीव शरीर की क्या शोभा? ज्योतिहीन बड़ी बड़ी आँखों के ढाँचे का क्या मूल्य? बिना रसमयी वाणी के कवि की क्या पूछ—

ज्यौं बिनु डीठि न सोभिजै लोचन लोल बिसाल।
त्यौंही केसव सकल कवि बिनु बानी न रसाल॥[1]

काव्य रचना में सर्वप्रथम आवश्यकता है काव्य भावना में तल्लीन होने की। इसीलिए केशव को रस के प्रति तीव्र रुचि अपेक्षित है। साथ ही कवि को सरस रचना में रत चित्त होकर चिन्तनशील एवं प्रयत्नशील होना है। सरस काव्य ही उसकी काव्याराधना की चरम सफलता है

तातें रुचि सौं सोचि पचि कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को सुनत होइ बस चित्त॥[2]

केशव को समस्त रसों की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत है। वे इस विषय में भरत परम्परा का अनुगमन करते हुए रसों की संख्या नौ मानते हैं।[3] वे शान्त रस को स्वीकार करते हुए चलते हैं। अतः भरत के उस प्राचीन पाठ के आग्रही प्रतीत नहीं होते जो आठ ही रसों की चर्चा करता है[4] तथा जो सम्भवतः उद्भट से पूर्व तक निर्विवाद मान्य बना आ रहा था।[5] वे इस विषय में अभिनव परम्परा के अनुयायी हैं।[6]

1 रसिकप्रिया ३।७३
2 वही ३।४
3 नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार। वही १।१६
4 शृंगारहास्य [illegible] नाट्ये रसाः स्मृताः। ना० शा० ६।१५
5 दी नम्बर आफ रसाज — डॉ० राघवन्, पृ० १३
[illegible]—उद्भट—[illegible] नाट्यशास्त्र [illegible] अभिनव।
6 अभिनवभारती—अभिनवगुप्त, [illegible], पृ० ३३२-३४१

तृतीय प्रकाश

केशव का रस-विवेचन

केशव का रस विवेचन

आचार्य केशवदास का रस विवेचन-सम्बन्धी ग्रन्थ है रसिकप्रिया। यद्यपि रसिकप्रिया एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी रचना मुख्यतः काव्यरसिकों के लिए ही हुई है जिससे सामान्य रसिक पाठक भी कविता के शास्त्रीय सौन्दर्य का आनन्द उठा सकें तथापि उसका उपयोग एक मात्रा तक शिक्षाग्रन्थ के रूप में भी किया जा सकता है। जहाँ रसिकप्रिया के अध्ययन से एक ओर रसिक पाठक की रति भावना की अभिवृद्धि होती है वहाँ साथ ही उसे रसरीति का परिचय भी मिलता है।[1] इसके साथ साथ उसका उपयोग काव्य सिद्धान्तों के परिचय के लिए एक मात्रा तक भाषाकवियों के लिए भी है जिनको संस्कृत की अनभिज्ञता के कारण काव्यशास्त्र के तथा काव्य के गूढ़ रहस्यों से सीधा परिचय नहीं है।[2] यदि शास्त्रीय भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि रसिकप्रिया का अधिकारी मुख्यतया तो है रसिक पाठक तथा आनुषंगिक है ऐसा भाषाकवि जो काव्य रचना में तो प्रवृत्त होना चाहता है किन्तु संस्कृत में निहित काव्य की शास्त्रीय निधि से वंचित है। रसरीति का परिचय मात्र का उद्देश्य रख कर चलने वाले इस ग्रन्थ में शास्त्रीय सिद्धान्तों पर विश्लेषणात्मक एवं मीमांसात्मक दृष्टि डालने का अवसर ही नहीं आया। वस्तुतः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के समान विश्लेषण की पद्धति केशव परवर्ती हिन्दी रीतिग्रन्थों में भी नहीं दिखाई पड़ती।

केशव ने विश्लेषण की पद्धति नहीं अपनाई। विवेच्य विषय के प्रति जो भी दृष्टिकोण अपने व्यापक अध्ययन के उपरान्त उनका बना है उसे वे प्रस्तुत करते चले गए हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र की एक लम्बी परम्परा उनके सामने फैली हुई थी। अनेक विचारधाराएं नई पुरानी नानाविध मान्यताएं उनके सामने आ चुकी थीं। वे एक बहुश्रुत एवं बहुपठित पण्डित थे। उन नाना मान्यताओं में से जो भी उन्हें प्रभावित कर सकीं उन्हें अपना कर वे प्रस्तुत करते चले हैं। कहीं कहीं एकाधिक मान्यताओं का भी [illegible] है किन्तु यह वैकल्पिक निरूपण रसिकप्रिया की अपेक्षा कविप्रिया में अधिक

१ रसिकन को रसिकप्रिया कीन्ही केसवदास। र. प्रि. १।१२
बरनै रति मति अति परै जान सब रसरीति।
स्वारथ परमारथ लहै रसिकप्रिया की प्रीति॥ र. प्रि. १६।१६

२ जैसे बालक प्रिया बिना [illegible] हीन।
त्यों ही भाषाकवि सबै रसिकप्रिया बिन हीन॥ र. प्रि. १६।१५

हुआ है जहाँ आचार्य का शिक्षक रूप प्रधान है। रसिकप्रिया में तो किसी विषय पर एकाधिक मान्यताओं के उपस्थापन की अपेक्षा कहीं-कहीं एक ही विषय के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि में एकाधिक मान्यताओं का समावेश मिलता है। वे किसी विषय में प्राचीन और नवीन दोनों मान्यताओं से प्रभावित हो सकते हैं साथ ही अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण भी अपना सकते हैं। उन्होंने जो कहा है उसका तटस्थ विश्लेषण करने पर हम उनकी विचारधारा के निर्णायक तत्त्वों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय उसे उन्होंने किस रूप में समझा है तथा उसके मूल में उनका क्या समाविष्ट दृष्टिकोण निहित है यह बात भी सहानुभूति के साथ उनके वक्तव्य का समीक्षण करने से जानी जा सकती है। तभी हम उनके साथ आलोचक का न्याय करते सकेंगे। प्रस्तुत प्रकरण में हम उनके रस विषयक दृष्टिकोण तथा निरूपण का विवेचन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

केशव रसध्वनिवादियों के समान ही काव्य में रस की महत्ता स्वीकार करते हैं। रस काव्य का आत्मभूत तत्त्व है। प्राण के बिना निर्जीव शरीर की क्या शोभा? ज्योतिहीन बड़ी बड़ी आँखों के ढाँचे का क्या मूल्य? बिना रसमयी वाणी के कवि की क्या पूछ—

ज्यों बिनु डीठि न सोभिज लोचन लोल बिसाल।
त्योंही केसव सकल कवि बिनु बानी न रसाल ॥[1]

काव्य रचना में सर्वप्रथम आवश्यकता है वर्ण्य भावना में तल्लीन होने की। इसीसे केशव को रस के प्रति तीव्र रुचि अर्पित है। साथ ही कवि को सरस रचना में दत्त चित्त होकर चिन्तनशील एवं प्रयत्नशील होना है। 'सरस काव्य' ही उसकी काव्याराधना की चरम सफलता है

तातें रुचि सों सोचि पचि कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को सुनत होय बस चित्त ॥[2]

केशव को समस्त रसों की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत है। वे इस विषय में भरत-परम्परा का अनुगमन करते हुए रसों की संख्या नौ मानते हैं।[3] वे शान्त रस का स्वीकार करते हुए चलते हैं। अतः भरत के उस प्राचीन पाठ के आग्रही प्रतीत नहीं होते जो आठ ही रसों की चर्चा करता है[4] तथा जो सम्भवतः उद्भट से पूर्व तक निर्विवाद मान्य चला आ रहा था।[5] वे इस विषय में अभिनव परम्परा के अनुयायी हैं।[6]

1. रसिकप्रिया १।१२
2. वही १।४
3. नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार। वही १।१६
4. शृंगारहास्य करुणौ नाट्ये रसाः स्मृताः। ना० शा० ६।१५
5. दी नम्बर आफ रसाज—डा० वी० राघवन्, पृ० १३
   टू टी—उद्भट—आफ्टर हैव सम [illegible] नेमस [illegible] इन दी टैक्स्ट आफ नाट्यशास्त्र [illegible] अभिनव।
6. अभिनवभारती—अभिनवगुप्त, ना० शा०, पृ० ३३२ ३४१

सर्वप्रथम अभिनवगुप्त का ही दिखाई पड़ता है।[1] उन्होंने शांतरस की व्यापकता को सामने रखते हुए एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण से सभी रसों का उसमें अन्तर्भाव दिखाने का प्रयत्न किया है।[2] काव्यशास्त्र के इतिहास में इस प्रकार के प्रयत्न अन्य आचार्यों द्वारा भी किए गए पाए जाते हैं।

शृंगार की व्यापकता तो भरत, अभिनव आदि सभी बड़े आचार्यों को स्वीकृत है। उसका सम्बन्ध एक ऐसी मानवीय वृत्ति से है जिसका प्रसार जीवमात्र तक फैला दिखाई पड़ता है। समस्त भावों को समेट लेने की क्षमता शृंगार में है इसका सबसे प्राचीन संकेत स्वयं भरत में ही उपलब्ध हो जाता है। सर्वप्रथम शृंगार का निरूपण करते हुए वे उपसंहार रूप में कहते हैं

एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।[3]

अभिनव का तर्क है काम चार पुरुषार्थों में से एक प्रमुख फल है। उसकी पहुँच अशेष प्राणिमात्र तक है। इसीलिए काम प्रधान शृंगार का उल्लेख सर्वप्रथम किया है।[4] वस्तुतः इसका सम्बन्ध उसी मूल रति के साथ बैठता है जिसकी चर्चा औपनिषदिक रूप में एकाकी न रमते सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम के रूप में आती है। कामना, काम या रति की व्यापक भावना से सम्बद्ध होने के कारण शृंगार की व्यापकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। केशव ने भी अपने शृंगार को उसकी व्यापक भूमिका में पहचाना है

रति मति की अति चातुरी रति-पति-मन्त्र विचार।
ताही सों सब कहत हैं कवि कोविद शृंगार॥[5]

रत्यात्मक बुद्धि का कौशल अत्यन्त व्यापक है वह काम के मन्त्र का चिन्तन है। उसे ही काव्यमर्मज्ञ में कवि कोविद शृंगार कहकर पुकारते हैं। दो परस्पर आकृष्ट होने वाले तत्त्वों—दो सधर्मों के बीच की यह वृत्ति है इसकी सूचना भी केशव के इस कथन से मिलती है। इस वृत्ति के परिचय के लिए उन्होंने जहाँ एक ओर रति को सामने रखा है दूसरी ओर रतिपति को।

किन्तु शृंगार की व्यापकता का उल्लेख करना और बात है तथा शास्त्रीय आग्रह अपनाकर उसे ही मूल रस कहना अथवा एकमात्र रस कहकर अन्य को पीछे कर देना और बात। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शृंगारमात्र को मूल रस अथवा एक रस कहने के दो ही प्रयत्न शास्त्रीय रूप में हमारे सामने आते हैं—एक तो है भोज का दूसरा

१ ए रगुलर अटेम्प्ट एट सिस्टमेटाइज़िंग दि फील्ड आफ रसाज बाई ए थ्योरिस्ट इज़ डाउन टू दी सान्त डिनिफिकेन्ट [?] इन दि अभिनवभारती आफ अभिनवगुप्त।

—दी नम्बर आफ रसाज—डा० वी० राघवन्, पृ० १६५

२ अभिनव भारती—अभिनवगुप्त पृ० ३३६ तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः।

३ भरत—नाट्यशास्त्र पृ० ३१

४ तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृंगारं लक्षयति।

—अभिनवभारती पृ० ३

रसिकप्रिया ११२७

है गौडीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी तथा जीवगोस्वामी का। दोनों के प्रकार सर्वथा अलग अलग हैं यद्यपि बात दोनों ने आपाततः सर्वथा एक-सी कही है।

भोज ने शृंगार को एकमात्र मूल रस कहा है। अभिनवगुप्त के साथ एक दार्शनिक मतभेद सा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अपने विवेचन में 'शृंगार' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है—एक तो वर्जित रति—स्थायी—रूप वही प्रचलित शृंगार है जिसकी सामान्यतः चर्चा काव्यशास्त्र में मिलती है दूसरा अर्थ है अभिमान या अहंकार तत्त्व। इस दूसरे प्रकार के अर्थ में ही उन्होंने 'शृंगार' शब्द का प्रयोग करके उसे मूल रस कहा है। प्रचलित शृंगारादि नवरस तो उस रस की अर्चियाँ मात्र हैं। संविद के अनुभव का मूल हेतु तो 'अहंकार तत्त्व' है। वही रस है उसीका नाम शृंगार है। वही एकमात्र रस है। वह अखण्ड है एक है। चित्तवृत्तिरूप भूमिका को प्रधानता देते हुए रसों का नवत्व अभिनव स्वीकार कर सके थे। भोज उनके इस दृष्टिकोण का विरोध करते प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार रस तो वही अहं तत्त्व है चित्तवृत्तियाँ तो उसे परिवृत किए रहनेवाली रश्मियाँ मात्र हैं। भोज के अनुसार रति उत्साह आदि की भूमिका तो भावों की है। रस की भूमिका उससे आगे बढ़कर है और वह है अलंकार की भूमिका उसे ही वे 'शृंगार' नाम देते हैं।[1]

अपने इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण भोज भावों से रसों की निष्पन्नता स्वीकार नहीं करते, रस से ही भावों की उत्पत्ति मानते हैं। लौटकर अहंतत्त्वजन्य रत्यादि भाव ही उस अनुभूतिरूप रस के आविर्भाव के कारण बन जाते हैं।[2]

भोज की यह मान्यता उल्लेख का ही विषय बनी रही अनुसरण का नहीं। वस्तुतः भोज रस की एक नयी लगने वाली दार्शनिक व्याख्या सामने लेकर आए थे। किन्तु उनके सिद्धान्त में कुछ नयापन नहीं था। वे अपने युग में प्रचलित शैव व्याख्याओं में ही कुछ उलट-फेर करके नूतनता दिखाना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे एक शैव ही थे।

वैष्णव के शृंगारैकवाद पर भोज का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता।

दूसरा प्रयास शृंगारैकवाद की दिशा में है गौडीय आचार्यों का। उनकी प्रक्रिया सर्वथा भिन्न है। वस तो रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में सामान्यतया कृष्णविषयक रति को व्यापक भूमि में प्रतिष्ठित करके भक्तिरस का प्रतिपादन किया

[1] अग्निष्टु [illegible] रसान् सुधियो वदन्तु शृङ्गारमेव रसनात् रसमामनामः।
अग्रान्तिर्निकतया मनसो मुनीन्द्र संविन्नानुभवहेतुरिहाभिमानः॥
[illegible] रस [illegible] रसनीयस्य [illegible] रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः॥
रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जितानि भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः सप्तार्चिषं द्युतिचया [illegible] वर्धयन्ति॥

— शृंगारप्रकाश प्रति १ पृ० ३

[2] न रत्यादिभूमा रस। [illegible] अहंकारो हि [illegible] [illegible] विशेष। स [illegible] [illegible] रसोऽनुभूयते। [illegible] रसप्रभवा एव भावा। ते [illegible] रसाय [illegible] इत्यन्ति।

—शृंगारप्रकाश प्रति २, पृ १५२ ५

१ [illegible] उद्धृत डा० राघवन्—दी [illegible] [illegible] [illegible]

है।[1] प्रधानतया भक्तिरस के दो भेद हैं—एक मुख्य दूसरा गौण। मुख्य रति के अन्तर्गत पांच भेद हैं—शुद्धा प्रीति सख्य वात्सल्य तथा प्रियता।[2] इन सबमें प्रियता ही सर्वश्रेष्ठ है। उसे ही मधुरा रति कहा गया है। यह गोपी कृष्ण के बीच का मधुर प्रेम है। उनके परस्पर शृंगार का आदि कारण है।[3] गौणी रति वह है जहां अन्य स्थायी भाव अपने विभावोत्कर्ष के कारण कृष्णरति को अनगहन तो करते हैं किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के कारण उसे संकुचित कर देते हैं।[4] यह सात प्रकार की हो सकती है—हासरति विस्मयरति उत्साहरति शोकरति क्रोधरति भयरति तथा जुगुप्सा रति। इन्हीं के आधार पर हास्य भक्तिरस आदि नाम हुए हैं। मुख्य रति को एक मानकर गौण के सात भेदों को मिलाकर भक्तिरस आठ प्रकार का हो जाता है। इस प्रकार भरत की अष्टरस संख्या का निर्वाह हो जाता है। अन्यथा गौणी तथा मुख्या के कुल प्रमुख भेद बारह होते हैं।[6] यह भक्तिरसामृतसिन्धु की प्रक्रिया है। किन्तु इन सभी रतियों में मधुरा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उसके लिए उन्होंने एक पृथक ग्रन्थ उज्ज्वलनीलमणि की रचना की है। उज्ज्वल शब्द को शृंगार के पर्याय में ग्रहण किया गया है। उज्ज्वल भक्ति मधुर शृंगार सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। डा० पी० वी० काणे की सम्मति में उज्ज्वल नाम की प्रेरणा रूप को स्वयं भरत से मिली प्रतीत होती है।[9] भरत ने शृंगार को उज्ज्वलवेषात्मक कहा है।[10] वस्तुतः कृष्ण यद्यपि सभी रसों की भावना के विषय बन सकते हैं तथापि मधुर रस की पहुंच सबसे अधिक है।[11] और जो उनका कामकलिकलासक्तो रासलीलाविशारद रूप है वह तो

१ स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ॥—भक्तिरसा[मृत सिन्धु] दक्षिण वि[भाग] विभावलहरी पृ १ श्लो १

२ मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्तिता। वही, पृ १२ श्लोक ६

३ शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ।
स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पञ्चविधा भवेत् ॥ वही पृ २८४, श्लोक ५ ६

४ यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि। वही पृ २९१ श्लोक ६

५ मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः।
अस्यां कटाक्ष देषप्रियवाणी स्मितादयः ॥ वही पृ २९१, श्लोक ७ ८

६ विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते।
संकुचन्त्या स्वयं रत्या सा गौणी रतिरुच्यते ॥ वही पृ ९७ श्लोक ३
हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा।
जुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः ॥ वही पृ ९ श्लोक ३७

७ पञ्चधापि रतिर्यत्र मुख्य भक्तिरसोऽप्यसौ। वही पृ ३ श्लो० ६४ ६

८ एव भक्तिरसा भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते। वही पृ ३ ६ श्लोक ६८

९ डा पी वी काणे—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स

१० तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। [illegible]
वनि [illegible] ।—नाट्यशास्त्र पृ [illegible]

११ शान्तादिरसकुविंशदेभूतवर्षि मधुररस व विषयाधिक्यम्।
—उज्ज्वलनीलमणि लोचनरोचिनी पृ ७

शान्त दास सखा, गुरु-पिता आदि रूपवाले किन्हीं भक्तों द्वारा गम्य नहीं।[1] जीव गोस्वामी के अनुसार समस्त गौण रतियों का ही नहीं मधुरेतर मुख्य रतियों का भी मधुरा रति में अन्तर्भाव है अंगी तो केवल एक रस है वह है श्रीकृष्ण का शृंगार।[2] वस्तुत कृष्ण शृंगार रूप ही हैं। वे शृंगार के मूल रूप हैं।[3] कृष्ण में से शृंगार को निकालकर बचता ही क्या है? और शृंगार से कृष्ण को अलग करके वह थोथा रह जाता है। इस प्रकार कृष्ण शृंगार ही एक मूल, अंगी रस है। गोस्वामी बन्धुओं ने अपने दोनों शास्त्रीय ग्रंथों में उसी रस की व्यापक प्रतिष्ठा की है। उज्ज्वलनीलमणि तो इसीके लिए लिखी गई है।

रूपगोस्वामी के अनुसार अन्य रस जहां तक कृष्णरति से सम्बद्ध हो सकते हैं, वहीं तक रस की कोटि में आ सकते हैं अन्यथा उससे स्वतन्त्र होने पर उनके लिए रसाभासों के बीच स्थान है। उनके अनुसार रसाभास तीन प्रकार का होता है— उपरस, अनुरस तथा अपरस।[5] इसमें जहां विभावादि की विरूपता अनुभयनिष्ठता आदि कारणों से होने वाले रसाभासों का परिग्रहण है[6] वहां कृष्ण-सम्बन्ध से अलग होकर आने वाले विभाव अनुभाव अथवा स्थायियों से बनने वाले रसाभास का भी परिगणन है। इसे अनुरस नामक रसाभास कहा गया है। इस प्रकार यदि हम रसों के दो स्वरूप करें—एक लौकिक अथवा साहित्यिक रस दूसरे भागवत या कृष्ण

१ यत् कान्तरतिकलासक्तो रासलीलाविशारदः इत्यादिगुणविशिष्टो स शान्तदासमखिगुरुषु मध्ये न केनापि स्वीयरसविषयीकर्तुं शक्यते। लोचनरोचिनी, पृ ७

२ ततश्च गौणत्वमुख्यत्वाभ्यां अङ्गाङ्गिभावेन स्थितानां रसानां श्रीकृष्णशृङ्गारस्यैवाङ्गित्व स्वरूपाधिनम्। लोचनरोचिनी, उज्ज्वलनील, पृ ७

३ तत्रथनादिनिरिद्यनेन श्यामवाक्यं रूपवान्त मूल शृंगाररसरूपत्व च वर्णितम्।

—लोचनरोचिनी पृ० ७

४ शृंगाररसराजस्य शिखिपिच्छविभूषणम्। उज्ज्वलनीलमणि पृ० २० श्लोक ११

शृंगाररस स एव यद्यपि बहुप्राह्लिया कृष्ण सोपि तत्सम्बन्धा रक इति सवतीति व्यज्यते। शृंगाररसस्य सन्तवर्तिनि सपुरुषस्य शृंगाररसोपि त विना स्वस्य वैभव्य जानाति।

—लोचनरोचिनी उ० नी, पृ० १०

५ पूर्वमेवानुशिष्टेन विकला रसलक्षणा।

रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीर्तिता॥ भक्ति० रसा० उत्तरविभाग लहरी०, श्लोक १

स्युस्त्रिधा उपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते।

६ प्राप्ताः स्थायिविभावानुभावाद्यैस्तु विरूपताम्।

शान्तादयो रसा एव शान्तोपरसा स्मृताः॥ वही श्लोक ३

स्थायिवैरूप्यतैव रतिया यत्र दृश्यते। वहा, श्लोक ८६

कृष्ण प्रतिपक्षाश्चेत्पर अपरसा गता। वहा श्लो २२

७ भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।

रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा स्मृता।

उपरसा[illegible] विदुषा बाराश्चानुरसादिति।

कृष्णावदा[illegible] प्राकट्यं यत्र[illegible]।

[illegible] वहा श्लो २१

विषय रति से सम्बद्ध रस[१] तो समस्त साहित्यिक कहे जाने वाले रस गोस्वामी बन्धुओं की प्रक्रिया के अनुसार रसाभास है। मूल रस एक ही है। वह है मधुर या कृष्णविषयक शृंगार। इसी शृंगार के भीतर उन्होंने सभी रसध्वनियों को किसी न किसी प्रकार समेट कर रखा है।

केशवदास का शृंगारैकरसवाद गौडीय आचार्यों के शृंगारैकरसवाद से प्रेरणा ग्रहण करता है। गोस्वामी आचार्यों का समय लगभग १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। जीवगोस्वामी को बंगाल की एक प्रचलित परम्परा १५२३ १६१८ ई० के मध्य रखती है।[२] केशवदासजी का जन्म सं० १६१२ वि० तथा मृत्यु सं० १६८ वि० ठहरती है।[३] रसिकप्रिया का रचना काल सं० १६४८ वि० है। रूपगोस्वामीजी का समय तो कुछ और पहले है। वे ई० १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।[४] वे महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे।[५] इस प्रकार कालिक दृष्टि से रसिकप्रिया की रचना करते समय भक्ति की ये शास्त्रीय उपलब्धियां केशव के सामने आ चुकी थीं। उनसे प्रभावित होना असम्भव नहीं था।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के मंगल श्लोक में श्रीकृष्ण का पहला विशेषण अखिलरसामृतमूर्ति दिया गया है। जीवगोस्वामी की व्याख्या के अनुसार यह विशेषण पूर्वोक्त द्वादश रसों का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से जोड़ देता है। हम देख चुके हैं कि द्वादश रसों को ही संक्षिप्त करके संख्या ८ मानी गई है। शान्त को मुख्य रति के प्रथम प्रकार के रूप में रखा गया है। इस प्रकार भरत की प्राचीन संख्या का सामंजस्य बनाया गया है। केशवदास ने भी कुछ इसी प्रकार का उद्देश्य लेकर अपने रसिकप्रिया के मंगल श्लोक में नवरसमय ब्रजराज का स्तवन किया है। इस पद्य में अन्य रसों से कृष्ण का जो सम्बन्ध है वह रसिकप्रिया में निरूपित अन्तर्भाव की शैली का नहीं है अपितु भक्तिरसामृतसिन्धु में निरूपित गौण भक्तिगत विविध रसों

१ निवृत्तानुपयोगित्वाद्—भक्तिर० पश्चि० वि० लहरी ५ श्लो० ? परदुगममगमना रूपगोस्वामी।
निवृत्तेषु प्राकृत शृंगाररसमास्वाद्यत्वया भागवतान्यस्मान्मादिरं नपु पृ० ४ ६ 'अलंकारको स्तुभकृतिभिरपि —अप्राकृते तु परान्रमणीरनिरव सर्वोत्तमतया भूयसी स्तुतेः।
—लोचनरोचिनी उज्ज्वलनी पृ० १५
प्राकृत रस शब्द आचार्यों ने हमारे साहित्यिक रसों के लिए ही प्रयुक्त किया है।

२ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—एस० के० डे पृ० २५५ भाग १

३ केशव और उनका साहित्य—विजयपाल सिंह पृ० ३३ तथा ६

४ वही पृ० ६६

५ ... हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—एस० के० डे भाग १ पृ० ५५

६ वही पृ० ५५

७ अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥ —भक्तिरसामृतसिन्धु पृ० १ श्लो० १

८ अखिलरस ... द्वादशा यस्मिन् ... एव मूर्तिर्यस्य सः।
—दुर्गमसंगमनी ... पृ० ३

की शैली का है। यहाँ कृष्ण को मात्र गोपी सम्बन्ध से नहीं देखा गया है जैसा कि रसिकप्रिया के अन्तर्भावी पद्यों में देखा गया है। केशव अभिनव की नवरस परम्परा के अनुयायी हैं अतः उन्होंने अखिलरसामृतमूर्ति कृष्ण को नवरसमय व्रजराज के रूप में अंकित किया है।[1]

हम गौडी आचार्यों की धारणा देख चुके हैं कि वे किस प्रकार से शृंगार को कृष्ण से अभिन्न करके चलते हैं। केशव ने भी शृंगार को कृष्ण से अभिन्न बनाकर रखा है

नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास हरि नायक है सिंगार॥[2]

इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त इस निरूपण में हरि शब्द का और कोई उपयोग ही नहीं दिखाई पड़ता।

गौडीय आचार्यों के अनुसार वैसे तो यह मधुर शृंगार कृष्ण तथा गोपी मात्र के बीच की रति है तथापि इसका पूर्ण एवं रहस्यात्मक स्वरूप राधा तथा कृष्ण के बीच ही प्रस्फुटित होता है। इसकी सच्ची परिणति राधा के प्रसंग में ही जाकर होती है।[3] केशवदास ने भी रसिकप्रिया के शृंगार को विशेषतः राधा और कृष्ण के बीच ही रखकर देखा है। वह राधा और कृष्ण के ही बीच का प्रेम है

प्रेम राधिका कृष्ण को है तातें सिंगार।[4]

रसिकप्रिया के इस शृंगार का रूप केशव जगह जगह स्पष्ट करते चले हैं

क—जगनायक की नायिका बरनो केसवदास।
तिनके दसन रस कहौं सुनो प्रच्छन्न प्रकास।[5]

ख—इहि विधि राधा रमन के बरने मिलन बिसेखि।
केसवदास निवास बहु बुधि बल लीजहु लेखि।[6]

१ श्रीवृषभान कुमारि हेत शृंगार रसमय।
 हास्य रस हर मातु-बन्धन करुनामय॥
 केसी प्रति अति रौद्र, बीर मारो वत्सासुर।
 भय दावानल पान पियो बीभत्स बकी-उर॥
 अति अद्भुत बंचि बिरंचि मति, सांत संतते सोच चित।
 कहि केसव सेवहु रसिकजन नव-रस मय ब्रजराज नित॥
 —रसिकप्रिया १।१

२ रसिकप्रिया १।२

३ राधामाधवयोरेव क्वापि मध्ये स्वाप्ययौ।
 सजातीयविजातीयनैव विच्छिद्यते रति॥
 —हरिभक्तिरसामृत पश्चिम वि० लहरी ५, श्लोक ७
 राधामाधवयोरेव न तु भेदरसन्तरमाधवयोः। दुर्गमसंगमनी हरिभ, पृ ४३०

४ रसिकप्रिया ६।१५

५ वही ।७४

६ वही ५।१८

ग—राधा राधारवन के बरने मान समान।
तिनको मान मनाइबो कहियत सुनो सुजान॥[1]
घ—राधा राधा रमन के करयो सिंगार सुवेष।
रस भाविक आगे कहौं और रसनि के भेष॥[2]

केशव रसिकप्रिया के शृंगार की जागरूकता या कृष्ण शृंगार का रूप देकर चल हैं। नायिका भेद म व सामान्या का उल्लेख शास्त्रीय पक्ष म ही करत हैं अन्यथा कृष्ण क सन्दभ म सामान्या का क्या काम?

और जु तरुनी तीसरी क्या बरन इहि ठौर।
रस मे बिरस म बरनिय कहत रसिक सिरमौर॥[3]

और वियोग दशाओं क निरूपण क प्रसग म मरण दशा का सम्बन्ध अजर अमर नायक भगवान् कृष्ण क साथ नहीं जुड सकता

मरन स कसवदास प बरन्यो जाइ न मित।
अजर अमर जस कहि कहौं कसे प्रत-चरित्र॥

गौडीय आचार्यों न कृष्ण शृंगार क सम्भोग तथा विप्रलम्भ को बड व्यापक रूप म अपनाया है। कामशास्त्र क व्यापक विस्तार को नायिका भेद के नाना उपांगों को उन्होने किस प्रकार माधुय रस के ढाचे म फिट करके दिखा दिया है यह उनके ग्रन्थों म ही देखत बनता है। केशव ने भी रसिकप्रिया के शृंगार म बहुत कुछ समेट कर रख दिया है।

इतना सब होते हुए भी रसिकप्रिया क शृंगार क सम्बन्ध म यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसम भक्ति की वह आत्मा नहीं है जो गौडीय आचार्यों के द्वारा निरूपित शृंगार म है। वस्तुत केशव न प्राकृत शृंगार को ही भक्ति शृंगार के अनुकरण पर सर्वांगीण बनाने का प्रयास किया है। उसकी व्यापकता के संकेत उन्हें स्वय भरत तथा अभिनवगुप्त म ही मिलते थ। परन्तु प्राकृत शृंगार को गौडीय आचार्यों के भक्ति शृंगार क ढाचे म रखने क कारण रसिकप्रिया का शृंगार विवेचन एव स्वतन्त्र तथा नवीनप्राय हो उठा है जिसकी आधार भूमि भरत परम्परा की तथा प्रेरणा म सहयोग गौडीय आचार्यों का होते हुए भी वह उनम स किसीका पूर्णानुकरण नहीं कहा जा सकता। फिर भी वह अशास्त्रीय नहीं है यह हम उनके विवेचनों पर कुछ विश्लेषणात्मक दृष्टिपात करन से ही जान सकेंगे।

गौडीय आचार्यों के समान केशव ने कृष्ण शृंगार से स्वतन्त्र साहित्यिक रसों को रसाभास की कोटि म नहीं रखा। हम पीछे विचार कर चुके हैं कि उन्हें उन समस्त रसों की इस शृंगार स पृथक एव स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकृत है जिसकी सूचना

१ रसिकप्रिया ९। १
२ वही १३। १
३ वही ५।३३
४ वही ८।५४

रसिकप्रिया के अन्तर्भाव प्रसंग के अंत में निरूपित एक स्वतन्त्र शान्तरस के उदाहरण से मिलती है। यहां यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि हरि शृंगार की समस्त रसों में व्यापकता की दृष्टि से नायक स्वीकार करते हुए भी इन साहित्यिक रसों के प्रति केशव की क्या दृष्टि है? हमें इसका समाधान कविप्रिया में निरूपित रसवद अलंकारों के विवेचन से मिलता है। वहां केशव ने सभी रसों को जिनमें शृंगार का भी एक उदाहरण सम्मिलित है रसवत अलंकार कहा है। उल्लेखनीय यह है कि रसिकप्रिया में निरूपित कृष्ण शृंगार को उन्होंने समूची रसिकप्रिया में कहीं भी रस छोड़कर रसवदलंकार नहीं कहा। तात्पर्य यह कि केशव इस प्रकार कृष्ण शृंगार को गौड़ीय आचार्यों के समान शृंगाररस का प्रतिष्ठित आसन प्रदान करते हैं शेष कृष्णरति से स्वतन्त्र साहित्यिक रसों को उनके समान रसाभास न कहकर भी रस नहीं कहते अपितु रसवत अलंकार कहकर अलंकार-कोटि में रखते हैं। यह ठीक है कि केशव ने अलंकार शब्द को वही व्यापक धारणा के साथ अपनाया है जिसमें वर्णन-शैलियां ही नहीं वर्ण्य विषय भी सिमिट आते हैं तथापि यह तथ्य भूलना नहीं चाहिए कि केशव ने अलंकारों के दो प्रमुख वर्ग किए हैं—एक साधारण अलंकार दूसरे विशिष्ट अलंकार और रसवदलंकारों का विवेचन विशिष्ट अलंकारों के भीतर ही आता है। अतः यही ठहरता है कि ये प्राकृत रसों को अलंकार कोटि में ही रखते हैं।

इस दृष्टिकोण के मूल में एक कारण दिखाई पड़ता है। केशव के सामने भक्त आचार्यों की नई रसव्याख्या आई थी और वे उससे एक मात्रा तक प्रभावित हुए थे। यह सम्भव ही था उनके समय तक वह वातावरण एकदम समाप्त नहीं हो गया था जिसके कारण उस काल के हिन्दी साहित्य को हम भक्तिकाल का नाम देते हैं। उन्हें यह तो पसन्द आया था कि जब भक्ति शृंगार का इतना विस्तृत साहित्य हिन्दी की गोद में बिखरा हुआ है तो भक्ति शृंगार के आचार्यों की प्रेरणा पर उसको एक शास्त्रीय रूप भी दे दिया जाए किन्तु वे उस रूप को एकांगी तथा उस मात्रा तक असाहित्यिक शायद नहीं बनने देना चाहते थे जिस मात्रा तक गौड़ीय आचार्यों ने साहित्यिक रसों को रसाभास कोटि में रखकर बना दिया था। इसका समाधान उन्हें यही सूझ पड़ा कि इन रसों को रसाभास के दर्जे तक गिराने की आवश्यकता नहीं। बस, इतनी-सी ही तो बात है कि रस शब्द को एक पारमार्थिक कृष्ण शृंगार के लिए सुरक्षित कर देने पर इन्हें दूसरा नाम देना चाहिए। प्राचीन काव्यशास्त्र में अलंकार वादियों के द्वारा रसों की पूर्ण काव्यापरिता समझते हुए भी उन्हें रसवदलंकार के क्षेत्र में ही स्थान दिया गया था। केशव उन अलंकारवादियों की उपलब्धियों से प्रभावित थे ही क्योंकि अलंकारों के लिए उन्होंने उनका आश्रय ही अधिक लिया है। बस, उन्होंने साहित्यिक रसों को रसवदलंकारों के वर्ग में इस युग में भी लाकर रखना पसन्द किया जिसमें कि अलंकारवाद की स्थूल मान्यताएं निराकृत हो चुकी थीं।

रसवदलंकारों के प्रसंग में दिए विभिन्न रसों के उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से एक तथ्य और सामने आता है। ये सभी उदाहरण एक ही प्रकार के अथवा एक ही स्तर के नहीं हैं। हम कह चुके हैं कि कविप्रिया में रसिकप्रिया के आचार्य की

भाव

देव ने भाव का लक्षण इस प्रकार किया है

आनन लोचन वचन मग प्रगटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं भाव कविन के तात॥[1]

मुख नेत्र वचन आदि साधन मनोदशा अथवा चित्तवृत्ति को प्रकट करते हैं। का यक्षन मे उसी चित्तवृत्ति को भाव कहते हैं।

इस लक्षण म मुख नेत्रादि का कथन उपलक्षण रूप म ही समझना चाहिए। मुख विभिन्न भ्रू विकारादि क्रियाओ द्वारा लोचन अरुणिमा-सजलतादि विकारो के द्वारा एव वाणी विभिन्न उक्ति प्रकारो के द्वारा किस प्रकार मानव मन को प्रकट करती है यह सर्वविदित है। संक्षेप म शरीर चेष्टादि जिन्हें अनुभाव कह सकते हैं भाव प्रकाशन के माग ही तो हैं। इन्ही मार्गों म मनोदशाओ का प्रकटन होता है। शास्त्रीय भाषा म यदि चाहे तो यह सकते हैं अनुभावो के माध्यम स जिन मनोविकारो का प्रकाशन या अभि यजन होता है वे भाव कहलाते हैं। भावो का यह स्वरूप निरूपण अनुभावो के माध्यम स है रसो के सम्बन्ध स नही।

संस्कृत आचार्यों न भावो का लक्षण एक रूप म ही नही किया। उनके प्रति विभिन्न युगो म विचार-दृष्टि भी एक सी नही रही।

भाव चित्तवृत्ति रूप हैं यह बात सम्भवत अभिनव से पूव अनिवार्यत स्वीकार नही की जा सकी थी। स्वय भरत न भाव शब्द का प्रयोग चित्तवृत्ति मात्र के लिए नही किया। उनके अनुसार वाचिक आंगिक सात्त्विक अभिनयो स उपेत काव्यार्थों को भावित करन वाले तत्त्व भाव हैं

वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा ।[2]

और भावित कर देने का अर्थ है परिव्याप्त कर देना बसा देना जसे आप किसी वस्त्र मे केवडे की गन्ध बसा द। भरत भाव शब्द को सत्तार्थक भू धातु स निष्पन्न नही मानते करणार्थक स मानते हैं

भावा इति कस्मात् ? किं भवन्तीति भावा ? किं वा भावयन्तीति भावा ? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा । भू इति करणे धातु तथा भावित वासित कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि प्रसिद्धम्—अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सवमेव भावितम्। तच्च व्याप्त्यर्थम्।[3]

प्रश्न उठता है—भरत रस के परिव्यापक अथवा वासक तत्त्वो को भाव कहकर इनके भीतर क्या क्या लेते हैं ? यद्यपि भरत न स्पष्टत उल्लेख नही किया तथापि यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने उन चित्तवृत्तियो स भिन्न विभावादि के लिए भी प्रयुक्त किया है। छठे अध्याय म रस विवेचन के प्रसंग म भाव शब्द का प्रयोग

१ रसिकप्रिया ६।१
२ नाट्यशास्त्र पृ ३४२ अध्याय ७
३ वही—नाट्यशास्त्र पृ ३४३ ५

ऐसा ही है।[1] इन प्रसंगों में किसी किसी स्थल पर भावों का चित्तवृत्तिरूप अनिवार्यतः मानने वाले अभिनवगुप्त ने भी व्यभिचारियों आदि के अतिरिक्त विभावादि के लिए भी स्वीकार किया है।[2] भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के कुछ आनुवंश्य श्लोक प्रस्तुत किए हैं। उनमें भी उनकी व्याख्या एवं समंजस संगति लगाने पर भाव की परिधि में विभावादिक सभी आ जाते हैं जो चित्तवृत्ति ही नहीं हैं।[3] और छोड़िए भरत ने जिन ४९ तत्त्वों को भाव के अन्तर्गत ग्रहण किया है उनमें स्थायी तथा संचारी के अतिरिक्त सात्त्विक विकार भी हैं। ये सात्त्विक अनिवार्यतः चित्तवृत्तिरूप नहीं हैं। वे चित्तवृत्तियों के विकार हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भरत-युग में भाव शब्द की परिधि बड़ी व्यापक थी जो अनिवार्यतः चित्तवृत्तिरूपता तक ही सीमित नहीं थी। लोल्लट ने भी भाव शब्द का प्रयोग आलम्बन के लिए किया प्रतीत होता है।[4] अभिनव की साक्षी है कि भरत के कुछ प्राचीन टीकाकार उनकी व्याख्या करते समय 'भाव' शब्द को चित्तवृत्ति तक ही सीमित न रखते। किन्तु अभिनव उनकी इस मान्यता का निराकरण कर देते हैं।[5] यद्यपि वे स्वयं कहीं-कहीं शिथिलता बरत गए हैं[6] तथापि वे इस मान्यता को ही स्थिर करते हैं कि भाव चित्तवृत्तिरूप होते हैं।[7] अभिनव के अनन्तर यह मान्यता ही प्रमुखतया अनुगत रही कि भाव चित्तवृत्ति विशेष है। केशव ने भी भावों को चित्तवृत्तियों के रूप में ही ग्रहण किया है।

अब प्रश्न आता है भाव के लक्षण का। भरत ने भाव-लक्षण के प्रसंग में तीन आनुवंश्य श्लोकों को तीन वैकल्पिक मान्यताओं के रूप में प्रस्तुत किया है[8]

• विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥

१ यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैः व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति । नाट्यशास्त्र, पृ० २७३ ८

२ भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः । इत्यादि

ना० शा० ६।३३ की टीका में अभिनव कहते हैं 'तुल्यस्वरूपतालम्बनात्वा भावा अत्र विभावव्यभिचारिणः' अ० भा० पृ० २६०

३ नाट्यशास्त्र ६।३२ ३३

४ अनुभावस्यात्र न रसजन्यो अत्र विवक्षितस्तथा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपितु भावानामेव अनुभावाः । अभिनवभारती लोल्लट का मत, पृ० २७२

५ अत एवाह —'भावानपि' इत्यनयापि भावानामपि लक्षणम् इत्युपपद्यन्ते च विभावादीनां सर्वेषां साधारण्येन प्रसङ्गः इति । अधुना तु विभावादिषु बहुष्वपि प्रथमं [illegible] चित्तवृत्तिरूपा स्थायिव्यभिचारिणो लक्षणीयाः । अभि० भा०, पृ० ३४३

६ 'वस्तु तु मुख्य —[illegible] एव विवेचना । वही, पृ० ३४३

७ वही पृ० ३४३

८ नाट्यशास्त्र ७।१ २, ३ पृ० ३४५ ६

भरत की आनुवंश्य कारिकाएँ उनकी अपनी नहीं हैं। उनके द्वारा उन्हें पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से गृहीत हैं। उक्त कारिकाओं में एक भी [illegible] विचारधारा सामने नहीं आती। वस्तुतः ये मान्यताओं की वैकल्पिक मान्यताएँ हैं।

२ वागङ्गमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥

३ नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥

इनमें प्रथम लक्षण में भाव वह अर्थ है जो विभावों के द्वारा लाया जाता है, अनुभावों तथा अभिनयों से गम्य बनता है। यह लक्षण ठीक ठीक तो रस रूप अर्थ पर घटित होता है, अधिक से अधिक स्थायी तथा व्यभिचारी भावों पर। सात्त्विकों आदि पर बिल्कुल नहीं।

दूसरे लक्षण में वाचिकादि अभिनयों के द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करा देने वाले तत्त्व भाव हैं। ये तत्त्व क्या हैं स्पष्ट नहीं। इसकी परिधि में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, स्थायी सभी आ सकते हैं।

तीसरे लक्षण में रसों को भावित करने वाले तत्त्वों को भाव कहा गया है। अभिनयों का सीधा सम्बन्ध रसों से दिखाया गया है।

द्वितीय लक्षण में दृष्टि कवि हृदगत भावों पर है, तृतीय में काव्य नाटक में परिव्याप्त भावों पर। अन्तर दृष्टिकोण का है। वस्तुसीमा में अन्तर अधिक नहीं।[1] दोनों ही लक्षणों में दृष्टि वस्तुपरक है, न कि सहृदय के हृदगत भावों पर। स्वयं भरत के दृष्टिकोण का विश्लेषण करने में उनकी दृष्टि वस्तुगत ठहरती है।[2] तब 'वागङ्गसत्त्वोपेतान्' का यार्थान् भावयन्तीति भावाः' का अर्थ होता है, वे तत्त्व जो अभिनय सम्बद्ध रसों को काव्य-नाटक में परिव्याप्त कर देते हैं 'भाव' हैं।

धनञ्जय ने दशरूपक में भरत से कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपनाकर भाव-लक्षण इस प्रकार किया है :

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

इसपर धनिक की वृत्ति इस प्रकार है :

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः।[5]

अर्थात् काव्य में मूल पात्र रामादिकों का सहारा पकड़कर भावों का सविधान किया जाता है, अभिनय-कौशल से या काव्यशक्ति के प्रभाव से भावक सहृदय का चित्त भी तद्भाव या तन्मय हो जाता है तथा उसी प्रकार की अनुभूति करने लगता है। कारण स्पष्ट है, काव्य में आए हुए भाव भावक के हृदय को अपने ही रूप में भावित या वासित कर लेते हैं। इसी भावन क्रिया के कारण वह 'भाव'

१ यत्तु रसान् भावयन्ति भावाः इति कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इत्यत्र तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। —दशरूपक प्र० ४ श्लो० ४ की वृत्ति।

२ दशरूपक मुरारिनाचार्य की टीका पृ० १२४

३ रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन—प्रेमस्वरूप गुप्त, रस विवेचन, भरत का मत

४ दशरूपक ४।४

५ दशरूपकावलोक ४।४ की वृत्ति

कहते हैं।

धनंजय तथा धनिक के भाव लक्षण का तात्पर्य भरत से भिन्न तो नहीं किन्तु दृष्टिकोण का अन्तर अवश्य है। काव्य में मूल पात्रों के भाव वर्णित हैं। उनकी कल्पना कवि के द्वारा हुई है। वे सहृदय की भावस्थिति स्वानुरूप कर लेते हैं। इस तरह भावन की शक्ति वाले तत्त्व भाव हैं। धनिक को आशंका हुई कि कहीं कोई भरत विरोध का आक्षेप न करे। अतः उन्हें यह स्पष्ट करना पड़ा कि यह भेद मौलिक नहीं दृष्टिकोण का भेद है।[1] धनंजय की दृष्टि सहृदय पर है तथा भाव की व्याख्या के लिए उन्होंने काव्यगत सुख दुःखादि भावों को लिया है। किन्तु भरत अपने लक्षण में भावों के लिए अभिनय पर दृष्टि जमाते हैं।

मम्मट ने भाव लक्षण नहीं किया। रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित भाव प्रोक्त[2] उनका यह भाव लक्षण पारिभाषिक है।

विश्वनाथ ने अपने लक्षण में आचार्य भरत का ही अनुगमन किया है

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।

तस्माद् भावा अमी प्रोक्ता स्थायिसंचारिसात्त्विका ॥[3]

यह लक्षण भरत द्वारा उद्धृत तृतीय आनुवंश्य श्लोक का रूपान्तर मात्र है। स्वयं भरत ने भी उसी लक्षण से प्रेरणा ली है। भरत ने भावों की सीमा अपने लक्षण में स्पष्ट नहीं की थी न ही आनुवंश्य श्लोक में स्पष्ट थी। विश्वनाथ ने उसे निर्धारित करने का प्रयत्न किया है तथा स्थायी संचारी और सात्त्विकों को ही भावों में परिगणित माना है। भरत के समान ही उनकी दृष्टि भी अभिनयात्मक है। वे अपने ग्रन्थ में दृश्य एवं श्रव्य—उभय काव्यरूपों को सामने रखकर चल रहे थे।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भाव लक्षण करते हुए दो पूर्वपक्षीय लक्षण प्रस्तुत किए हैं

विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वम्। तथा

रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वम्।

इन दोनों लक्षणों को उन्होंने इस कारण अस्वीकृत कर दिया है कि प्रथम में तो व्यज्यमान भावों में अव्याप्ति आती है। उपर्युक्त भरत आदि के लक्षण लगभग इसी प्रकार के हैं। दूसरे में यह अव्याप्ति आती है कि जहाँ कहीं कहीं भाव अनुभावरूप में पाए जाते हैं वहाँ अनुभाव भिन्नता के कारण यह लक्षण न लग सकेगा। अतः वे अपना अभीष्ट लक्षण इस प्रकार करते हैं

विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्[4]

1. दशरूपकावलोक पृ० १२४
तथा सुदर्शनाचार्य द्वारा उसका स्पष्टीकरण। वही पृ० १२४
2. काव्यप्रकाश—मम्मट ४।३५
3. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण परि ३, श्लो १८६
4. रसगंगाधर पृ० ७५ ५ वही

पण्डितराज के लक्षण एवं उसके विवेचन से यह तथ्य सामने आता है कि भाव लक्षण ऐसा होना चाहिए जो व्यंग्यमान तथा व्यंजक सभी भावों पर घटित हो सके। दूसरी बात यह है कि भाव स्वतः अपनी सामग्री से व्यंग्यमान होकर ही आते हैं तथा वे चित्तवृत्तिरूप ही होते हैं। पण्डितराज ने इस चित्तवृत्तिरूपता को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है जिसमें चित्त की भावात्मक नानात्मक यहां तक कि अभावात्मक दशाओं का भी समावेश हो सकता है। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि एक चित्तवृत्तिरूप भाव स्वयं विभाव अनुभाव आदि के रूप में भी आ सकता है।[1] अतः भाव लक्षण में ऐसी सीमा नहीं बांधनी चाहिए जो उसकी इस व्यापकता को परिमित करे।

पण्डितराज भाव का लक्षण विभावादि रूप व्यंजकों के माध्यम से करना चाहते हैं। भरत ने इस कार्य के लिए अभिनय-तत्त्वों को पकड़ा था। धनंजय की दृष्टि भी अभिनयपरक थी। विश्वनाथ ने भरत का ही अनुगमन किया था। किन्तु विशुद्ध श्रव्यकाव्यपरक दृष्टि से देखा जाए तो अनुभावों का स्थान काव्य में वही है जो दृश्य में अभिनयों का। पण्डितराज ने उन तत्त्वों को अभिनय अथवा अनुभावों तक ही सीमित नहीं रखा पूरी व्यंजक सामग्री तक व्यापक बनाया। शास्त्रीय दृष्टि से यह अधिक संगत भी था। उनकी दृष्टि श्रव्यकाव्यपरक थी। *पण्डितराज का विवेचन केशव के सामने नहीं था। उन्होंने भरत के अभिनय-तत्त्वों को* अपनी श्रव्यकाव्यपरक दृष्टि के अनुरूप अनुभावों के रूप में मुख नेत्र-वचन के रूप में परिणत करके उनसे व्यज्यमान चित्तवृत्तियों को भाव कहा। केशव के लक्षण में अभीष्ट व्यापकता अपेक्षित है। वह व्यंजक तथा प्राधान्येन व्यंग्यमान सभी प्रकार के भावों पर घटित हो सकता है। इस लक्षण से लक्षित भाव स्थायी संचारी और सात्त्विक ही नहीं विभाव और अनुभाव भी हो सकते हैं। केशव के भाव अभिनव के समान ही चित्तवृत्तिरूप हैं। भरत के समान चित्तवृत्ति से भिन्न तत्त्वों को नहीं समझते। केशव के लक्षण में हमें गहरा अध्ययन एवं संतुलित दृष्टि प्राप्त है।

भावों के प्रकार

केशव ने भावों को ५ प्रकार का माना है विभाव अनुभाव स्थायी सात्त्विक एवं व्यभिचारी

भाव जु पांच प्रकार के सुनि विभाव अनुभाव।
थाई सात्त्विक कहत हैं व्यभिचारी कविराव ॥[2]

केशव के इस कथन पर उनकी कोई स्पष्टकारिणी टिप्पणी नहीं। उनके इस दृष्टिकोण की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है।

१　रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन प्रेमस्वरूप गुप्त भाव विवेचन पण्डितराज का लक्षण
२　रसिकप्रिया ६।

एक व्याख्या यह हो सकती है। हमने अभी पीछे दिखाया है कि अभिनव से पूर्व भावों की चित्तवृत्तिरूपता निर्विवाद रूप में स्थिर नहीं हुई थी। भरत के स्थलों की सामंजस्यपूर्ण व्याख्या करने पर यही दृष्टिकोण सामने आता है कि वे भाव को अनिवार्यतः चित्तवृत्तिरूप नहीं समझते। उनके भाव वे सभी भावक या वासक तत्त्व हैं जो रसों को नाट्य में परिव्याप्त कर देते हैं। इन वासक तत्त्वों में विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी एवं सात्त्विक—पाँचों प्रकार के तत्त्व आते हैं। इस व्यापकता के साथ भाव शब्द का प्रयोग प्रतीत होता है उन्हें अपने पूर्वाचार्यों से ही प्राप्त हुआ है जिनके श्लोक आनुवंश्य रूप में उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। अभिनव से पूर्व के कई टीकाकार भरत के इस दृष्टिकोण से परिचित थे यह हम पीछे संकेत कर चुके हैं।

भरत इन वासक तत्त्वों को अपने विभिन्न स्थलों की आवश्यकतानुसार भाव शब्द की सीमा में रखकर अपना विषय निरूपण करते हैं। सप्तम अध्याय जिसका नाम ही भावाध्याय है भावों के व्यापक विवेचन का अध्याय है। अपने लक्षण की लचीली परिधि में उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों को समेटकर भरत उन सबका निरूपण इसी अध्याय में करते हैं। विभाव एवं अनुभावों का निरूपण भी इसी अध्याय में आता है। इसमें भी यही निश्चय निकाला जा सकता है कि उन्हें भाव शब्द की सीमा में ये पाँचों ही तत्त्व अभिप्रेत हैं। परन्तु इन पाँचों के भरत दो वर्ग बनाते प्रतीत होते हैं। एक वर्ग में विभाव एवं अनुभाव, दूसरे में स्थायी, संचारी एवं सात्त्विक आते हैं। यद्यपि प्रथम वर्ग के भावों के बिना द्वितीय वर्ग के भावों की सिद्धि नहीं होती तथापि उनका स्थान दूसरे वर्ग के भावों के समान हो नहीं है। प्रथम वर्ग के भाव साधनरूप हैं द्वितीय वर्ग के साध्यरूप। प्रथम वर्गीय भावों की स्थिति बहुत स्थूल है जिनका परिचय व्यक्ति को लोक-स्वभाव से ही हो जाता है।[1] यह विवेचन प्रक्रिया भावाध्याय की है। ये पाँचों प्रकार के वासक तत्त्व रसों का भावन कराने के कारण सामान्यतया भाव कहे जा सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। भावन या वासन तो स्वयं स्थायी भावों का होता है। ये ही तो भावित होकर रस कहलाते हैं। तब उन्हें भावक तत्त्वों में किस प्रकार रखा जा सकता है? वे तो स्वयं भाव्य हैं। इसका समाधान यहाँ समझना चाहिए कि भरत का विवेचन नाट्य के समूचे स्वरूप पर दृष्टि रखकर चलता है। एक नाटक में एक ही प्रधान रस—प्रधान स्थायी—होता है, किन्तु उसके साथ अनेक स्थायी गौण रूप में भी आ सकते हैं।[2] ये गौण स्थायी अथवा गौण रस उस प्रधान रस के वासक तत्त्वों में ही परिगणित होंगे। इस दृष्टि से स्थायियों को भी वासक तत्त्व होने के कारण

1 एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इत्यभिव्याख्याताः। अतः एषां भावानां सिद्धिर्भवति। तस्मादेषां भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। तत्र विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ। लोकस्वभावानुगतत्वाच्च तयोर्लक्षणं नोच्यते अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्।

—नाट्यशास्त्र अध्याय ७ पृ० ३४८

2 नानाभावार्थसम्पन्नाः स्थायिसत्त्वाभिचारिणः।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव च॥ वही अ० ७ पृ० १७६

भाव सीमा में रखा गया है।

किन्तु रस स्वरूप के परिचय के प्रसंग में भाव में परिगणित सभी पाँचों तत्त्वों का उल्लेख नहीं। प्रसिद्ध रससूत्र में विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारियों का ही परिगणन है। वस्तुतः यहाँ सप्तम अध्याय से निरूपण का दृष्टिकोण भिन्न है। यहाँ छठे अध्याय में सातवें के समान वासक तत्त्वों को परस्पर साध्य-साधक के रूप में रखकर नहीं देखा गया अपितु भाव्य—स्थायी—एवं भावकों के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टि डाली गई है। सप्तम अध्याय के ५ भावक तत्त्वों में से स्थायी तो कादाचित्कतया ही अथवा सम्पूर्ण नाट्य की दृष्टि से ही भावकों में परिगणनीय होता है अन्यथा वह तो स्वयं भाव्य ही है। शेष ४ रह जाते हैं विभाव अनुभाव व्यभिचारी एवं सात्त्विक। सात्त्विकों की स्थिति अभिनय दृष्टि अलग कर देने पर अनुभावों में अन्तर्भूत है। इस प्रकार वासक या व्यंजक सामग्री में तीन ही उल्लेख के लिए रह जाते हैं। उन्हीं के साथ स्थायी संयुक्त होकर रस बनता है। यही कारण प्रतीत होता है कि भरत ने रससूत्र में भाव शब्द के भीतर पाँचों तत्त्वों को ग्रहण करते हुए भी तीन का ही उल्लेख किया है तथा सातवें अध्याय में साधन रूप भावों को साध्य भावों के साथ मिलाकर स्थायी संचारी तथा सात्त्विकों को ही सामने रखते हुए भावसंख्या ४९ बताई है।

भरत के सामान्यतया व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार कहा जा सकता है कि भाव पाँच प्रकार के होते हैं विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव स्थायी भाव तथा सात्त्विक भाव। केशव ने भी इन्हीं पाँच को भाव प्रकार में परिगणित किया है।

परन्तु केशव के दृष्टिकोण के साथ इस व्याख्या का मेल नहीं। हम देख चुके हैं कि केशव अभिनव के अनुरूप भावों को चित्तवृत्ति रूप ही मानते हैं। किन्तु भरत के उपर्युक्त दृष्टिकोण में भाव अनिवार्यतः चित्तवृत्ति रूप ही नहीं रह जाते। वहाँ सभी वासक तत्त्व चित्तवृत्ति मात्र नहीं हैं।

तब दूसरा संगत समाधान यह आता है भरत की अनुवर्तिनी परम्परा में भाव सामान्यतः तीन प्रकार के माने गए हैं स्थायी संचारी तथा सात्त्विक। सात्त्विक यद्यपि शारीर विकार रूप हैं तथापि उनका सम्बन्ध भाव अथवा चित्तवृत्ति की गहरी स्थिति से स्वाभाविक है अतः उन्हें भाव कहा जाता है। भरत ने इन विकारों को जिनकी संख्या आठ है सात्त्विक भाव नाम कुछ दूसरी दृष्टि से दिया था। भाव तो वे इस लिए हैं कि रसों का अन्य तत्त्वों के समान भावन या वासन करते हैं। तथा उन्हें सात्त्विक इसलिए कहा गया है कि उनका अभिनय कोई अभिनेता बिना अपना मन स्थिति को उसी रूप में ढाले जिस रूप में अभिनय पात्र की थी नहीं कर सकता कारण इन विकारों का सम्बन्ध चित्त की गहरी अनुभूतियों से स्वाभाविक अथवा अनिवार्य सा है। भरत के अनुसार सत्त्व का अर्थ चित्त समाधि से इसी प्रकार की उत्पत्ति का है।[1] स्पष्ट है भरत ने उनके अभिनय एवं वासन की आवश्यकताओं के अनुरूप यह नाम

[1] इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनसः समाधौ सत्त्व निर्वृत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। कोऽत्र दृष्टान्त इति

लिया था। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने मन प्रभवता के कारण उन्हें भावकोटि में स्वीकार किया। इस प्रकार मोटे तौर पर भावों के तीन प्रकार रहे—स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक। इसका अर्थ यह हुआ कि चित्तवृत्तियां तीन रूपों में आ सकती हैं यह माना गया। विश्वनाथ ने इस मोटे निरूपण तक ही दृष्टि रखी। किन्तु सूक्ष्म विवेचकों ने यह भी स्वीकार किया है कि भाव विभाव तथा अनुभाव रूप में भी आ सकते हैं। यहां विभाव का अर्थ होगा किसी अन्य भाव को जन्म देने या उसका कारण बनने की क्षमता होना। इसी प्रकार अनुभाव का अर्थ होगा किसी रस अथवा भाव के अनुभावन में कार्यरूपतया योग देना।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने तो भावों की विभावता तथा अनुभावता का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने चित्तवृत्ति शब्द को पर्याप्त विस्तृत अर्थ में लिया है जिसमें भावात्मक ही नहीं नानात्मक वृत्तियां भी सम्मिलित हैं।[२] भावों की विभावता तथा अनुभावता का स्पष्ट उल्लेख स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने भी किया है।[३] अतः यह मान्यता सामने आती है कि भाव कही जाने वाली चित्तवृत्तियां तीन ही नहीं पांच प्रकार से आ सकती हैं—स्थायी रूप में, व्यभिचारी रूप में, सात्त्विक रूप में, विभाव रूप में तथा अनुभाव रूप में।

हम देखते हैं कि केशव ने इसी दृष्टि से भावों को पांच प्रकार का कहा है। वे इस विषय में पूर्णतः अभिनव के अनुयायी रहे हैं। भावों को चित्तवृत्तिरूप मानते हुए पांच प्रकार का कहना भरत को नहीं, अभिनव के अनुरूप ही हो सकता है। केशव ने इन्हें पांच प्रकार का कहकर अपने अध्ययन की सूक्ष्मता का परिचय दिया है।

विभाव

केशव का विभाव लक्षण इस प्रकार है

> जिनते जगत अनेक रस प्रगट होत अनयास।
> तिनसों विमति विभाव कहि बरनत केसवदास॥[४]

तत्र गुणि[illegible] दर्शितश्ची इति कृत्वा सात्त्विका भावा इति व्याख्याताः॥

—नाट्यशास्त्र, पृ० ३७८, भाग १

१ विभावत्वञ्च व्यभिचारिणां निमित्तकारणतामात्रम्। रसगंगाधर, पृ० ५६

२ एषु भावादिषु [illegible] केचन केषाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति। तथा हि ईर्ष्याया निर्वेदं प्रति विभावत्वम्, [illegible] प्रति अनुभावत्वमपि स्वयमूह्यम्। वही, पृ० १८

> कल्पान्ते [illegible] हालाहलज्वालाली निःसरत्।
> अपि नीलोत्पलश्यामा [illegible] विभावनुत्॥

इत्यत्र हालाहलस्य [illegible] कान्ति [illegible]। यस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वम्। विषय [illegible]। वही, पृ० ७५

३ यत्तु मूले भावशब्देन सार्वचित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। तेषां तु योग्यतावशादन्योन्यं [illegible] विभावानुभावरूपता संभवति। [illegible] विभाव—इति न भावशब्द [illegible]॥ अभिनवभारती भाग १, पृ० ३४३

४ रसिकप्रिया ६।२

'शृंगार शब्द का कुमार अर्थ करके भी अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—लोक में जिनसे

जिनसे धनंजय रस उद्बुद्ध होते हैं तथा अनायास प्रकट होते हैं उन्हें विद्वान विभाव कहकर वर्णन करते हैं।

केशव का यह विभाव लक्षण विभावों की विभावन शक्ति की ओर ध्यान देकर किया गया है। विभाव्यन्ते वासनारूपतयातिसूक्ष्मान् रत्यादीन् स्थायिन आस्वाद योग्यतामानयन्तीति विभावाः।[1] यहाँ केशव का रस शब्द भी स्थायी भावों का ही वाचक है। भाव सामान्यतः सुप्तदशा में रहते हैं विभावों के आश्रय में उद्बुद्ध एवं प्रकाशित हो जाते हैं। उनके उद्बोधन एवं प्रकाशन का अर्थ यही है कि सामाजिक द्वारा उनका आस्वादन हो सके। विभाव्यन्ते आस्वादांकुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिक रत्यादिभावा एभिः।[2]

केशव ने अपने लक्षण में आलम्बन एवं उद्दीपन उभयविध भावों के कार्यों पर ध्यान रखा है। भावों को जाग्रत या उद्बुद्ध मात्र करने वाले कारण रूप आलम्बन तथा प्रकाशन करने अथवा प्रकटता योग्य बनाने वाले उद्दीपन विभाव कहे गए हैं। प्रकटता की क्षमता उद्दीपकों के द्वारा ही आती है। फिर उद्दीपनों के सम्बन्ध में केशव का कुछ भिन्न दृष्टिकोण है जिसे हम आगे अभी देखेंगे।

यद्यपि केशव का यह लक्षण शास्त्रसम्मत है तथापि भरत धनंजय विश्वनाथ आदि के लक्षणों से इसकी पदावली नहीं मिलती।

भरत का लक्षण है

विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः।

विभावो नाम विज्ञानार्थः। विभावः, कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।[3]

वाचिक आंगिक सात्त्विक अभिनय जिसके द्वारा जनाए जाते हैं उसे विभाव कहते हैं। वि पूर्वक णिजन्त भू धातु भरत के अनुसार विज्ञानार्थक है तथा विभाव शब्द का अर्थ है कारण। अतः विभाव वे ज्ञापक कारण हुए जिनके द्वारा विभिन्न *अभिनयों का ज्ञापन होता है।*

केशव ने अभिनययोगों के स्थान पर रसों को विनय या प्रकाश्य माना है। यह उनके काव्यपरक दृष्टिकोण के कारण हुआ है। भरत की दृष्टि अभिनयपरक थी। भरत के आनुवंश्य श्लोक में जो लक्षण दिया है उसमें अभिनय नहीं अभिनेय अर्थ

जनक रस यद्यपि विभिन्न भाव उद्बुद्ध होते हैं उनको विद्वान् विभाव कहते हैं। यह लक्षण विश्वनाथ के लक्षण के अनुरूप होगा—रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।

—साहित्य पृ ३७

1 काव्यप्र [illegible] टीका पृ ८६

2 साहि परि ३, पृ ६६

3 ना शा पृ ३४६

4 भरत का कथन पूर्ववर्ती आचार्यों से विभाव एवं अनुभावों के विषय में दृष्टिकोण भिन्न परिलक्षित [illegible] है। भरत अभिनयों का ज्ञापन करने वाले तत्त्वों को विभाव तथा अनुभावित कराने वाले तत्त्वों को अनुभाव कहते हैं जबकि आनुवंश्य श्लोकों में विभाव्य एवं अनुभाव्य अभिनययोग नहीं अभिनेय अर्थ है। भरत के लक्षण गद्य में हैं। गद्य में शब्दसंकोच जाना-बूझा हो कहा जा सकता है। देखिए —हिन्दी नाट्यशास्त्र अध्याय ७ पृ ४६८

ही विभाव्य कहा गया है।[1] भरत के नाट्य की व्याख्या अभिनव भ्रानुवदय नाक की छाया में ही करते हैं।[2] परवर्ती मान्यता अभिनव के अनुरूप ही चली है।

धनंजय का विभाव लक्षण कुछ भिन्न दृष्टि से इस प्रकार है

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्[3]

ज्ञायमानतया का स्पष्टीकरण धनिक इस प्रकार करते हैं

एवमयम् एवमियम् इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकाला दिर्वा स विभावः।[4]

काव्य-व्यापार की विशिष्टता से हम नट को रामादि तथा नटी को सीतादि के रूप में समझने लगते हैं। यह ढंग अतिशयोक्ति का है। इस ढंग से जो विनायमान हैं वे ही विभाव हैं। स्पष्ट है इन लक्षणों में आचार्यों की दृष्टि शुद्ध अभिनयपरक है। वैष्णव की पद्धति इनसे भिन्न होना ही स्वाभाविक है।

विभावों के प्रकार

वैष्णव विभावों के दो प्रकार—आलम्बन एवं उद्दीपन—स्वीकार करते हैं

सब विभाव द्वै भाँति के कसवदास बखानि।
आलम्बन एक दूसरो उद्दीपन मन आनि।।[5]

काव्यशास्त्र में विभावों के दो भेद—आलम्बन एवं उद्दीपन—मानने की मान्यता पर्याप्त पुरानी है। नाट्यशास्त्र के तथा भरत के मतों में उनका उल्लेख पाया जाता है किन्तु इनसे पूर्व के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। इतना तो निश्चय है कि स्वयं भरत एवं उनसे पूर्व के किसी आचार्य ने विभावों का इस प्रकार का विभाजन नहीं किया था। भरत के किसी स्थल से इस प्रकार की सूचना भी नहीं मिलती।[6] उन्होंने विभिन्न रसों के विभावों का जो उल्लेख किया है उससे इतने से यही अनुमान होता है कि भरत किसी भाव के लिए किसी मानव-पात्र का अनिवार्यतः होना अपेक्षित नहीं समझते। उदाहरणस्वरूप शृंगार की उत्पत्ति की चर्चा की जा सकती है। शृंगार के विभावों का निरूपण इस प्रकार हुआ है

१ बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ ना० शा० ७।४

२ वागङ्गाभिनयेन यतो ज्ञायन्तेऽव्यभिचारिणो वं वागङ्गाभिनयसहिता विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते येन विभावाः। अभि० भा०, भाग १, पृ० ३७

३ दशरूपक ४।२

४ दशरूपकावलोक ४।२ को वृत्ति

५ रसिक०, प्रभाव ६, ४

६ अत एव मुनिना न यत्र कश्चिन्नियम उक्तः सूचितो वा। अभिनवभारती, भा० १ पृ० ३०४

७ नाट्यशास्त्र अ० ६ रस प्रकरण तथा अ० ७ स्थायीभाव प्रकरण

तत्र सम्भोगरतायत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारविषयवरभवनोपभोगोपवनगमना नुभवनश्रवणदर्शनक्रीडादिभिर्विभावरुत्पद्यते ।[1]

सम्भोग शृगार उत्पन्न होता है ऋतु माल्य चन्दनादि अनुलेपन अलकरण प्रियजन—सखीप्रादि इष्टविषय गीत आदि सुन्दर भवनोपभोग उपवन गमन इष्ट सामग्री का अनुभवन श्रवण दर्शन क्रीडा लीला आदि से। हम देखते हैं कि इस सामग्री म नायक-नायिका आलम्बन तथा प्रकृति उद्दीपन जैसा कोई विभाजन नहीं आलम्बन रूप म किसी चेतन पात्र का भी अनिवार्यताविधायक कोई उल्लेख नही। वस्तुत भरत के विभाव की कुछ परिस्थितियां हैं जिनम रत्युद्बोधन स्वाभाविक ह।

अभिनवगुप्त भरत के इस दृष्टिकोण से सहमत होते हैं। वह समस्त सामग्री शृगार की विभाव समभनी चाहिए जो भी रमणीय ह हृद्यतम ह। उसका साज सभार पूणता को पहुचा नहीं कि उत्तम प्रकृति वाले व्यक्ति के मन म रत्युदय हुमा नही।

एतच्च समस्तमेव शृगारविभावत्वेन मन्तव्यम्। यावान् कश्चिदय विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णतायां सत्यामुत्तमस्य रत्युदय ।[2]

यदि हम भरत के शृगार विभावों का विश्लेषण करें तो उनम निम्न सामग्री पा सकते हैं

१ प्रकृति की कुछ मोहक परिस्थितियां — ऋतु

२ विलास एव ऐश्वय सामग्री — माल्य अनुलेपन वरभवनोपयोग उपवन गमन सर-सपाटा क्रीडा लीला आदि

३ ललित कलाए — विषय गीतादि

४ प्रिय व्यक्ति — इष्ट जन

(क) परस्पर नायक-नायिका

(ख) उनके सम्बन्ध से प्रिय लगने वाले अन्योन्य के सखी सखा

(ग) अपने स्त्री-सम्बन्धि

यहा एक बडी महत्त्वपूण बात सामने आती है। क्या भरत ने प्रकृति म स्वतन्त्रतया रत्युद्बोधन की क्षमता मानी है ? यदि हा तो वह परवर्ती काव्यशास्त्र को कहा तक मान्य है ?

उपयक्त विश्लेषण पर दृष्टिपात करने से यहा तथ्य निकलता है कि प्रकृति की कुछ रमणीय तथा मादक परिस्थितियां की पूणता होने पर भरत मानव मन म रति के समुद्भव की सम्भावना करते हैं। परवर्ती काव्यशास्त्र प्रकृति की इस शक्ति को नहीं

१ ना [illegible] भा [illegible] पृ [illegible] ३

२ [illegible]—अभिनवभा[illegible] पृ० [illegible] ४

३ वही पृ ३ ६ भाग [illegible]

पहचान सका। प्रकृति को प्राय उद्दीपन रूप में ही समझा गया। हिंदी काव्यशास्त्र की दृष्टि तो इस सीमा से उठी ही नहीं। आधुनिक काल की समीक्षा में उसपर ध्यान गया है।

तात्पर्य यह है कि भरत के अनुसार प्रकृति ललितकला विलास-सामग्री अथवा प्रियजन सम्पर्क—असीम रत्युद्बोधन की क्षमता है। उसमें स्त्री अथवा पुरुष चेतन प्रतिपात्र की स्थिति अनिवार्यत अपेक्षित नहीं।

अभिनवगुप्त भरत के इस व्यापक दृष्टिकोण से सहमत तो होते हैं किन्तु कुछ परिष्कार के साथ। उनका एक स्पष्टीकरण यह है कि भरतोक्त विभाव परिस्थितियाँ व्यस्त रूप में नहीं अपितु समस्त एवं सम्पूर्ण रूप में होनी चाहिए अर्थात् विषय-सम्भार इतना जुड़ना चाहिए कि वह एक अभीष्टपूर्णता को पहुंचकर रत्युद्बोध के अनुकूल विभावात्मक वातावरण की सृष्टि कर सके।[1] यदि इस विभाव-वातावरण अथवा शृंगारी परिस्थिति में कुछ कमी भी होती है तो सामाजिक की कल्पना शक्ति उसे पूरा कर लेती है। अभिनव का समाधान है कि भरत का शृंगार उत्तम प्रकृति के लोगों से सम्बन्ध रखता है जो ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं। वे समृद्ध भोगों के संस्कार मन में लिए रहते हैं। इन संस्कारों के बल से ही काव्यानुभूति के समय न्यूनतम विभाव सामग्री से भी काम चल जाता है कल्पना उनका सहारा देती है।[2]

भरत के दृष्टिकोण में दूसरा परिष्कार अभिनव की ओर से यह है कि वे विभाव परिस्थिति को चेतन प्रतिपात्र के बिना नहीं स्वीकार करना चाहते। उसी विभाव वातावरण को जिसके बीच चेतन प्रतिपात्र सन्निहित है वे रति का विभाव कहना चाहते हैं। फलत विभावों का आलम्बन उद्दीपन भेद भरत की दृष्टि से कृत्रिम मान कर भी तथा समूचे ही वातावरण को विभाव मानकर भी वे वास्तविक विभाव परस्पर स्त्री पुरुष को ही मानते हैं।[3]

इस प्रकार हमने देखा कि भरत में आलम्बन उद्दीपन की कोई विभाजक रेखा नहीं। अभिनव उन्हें कृत्रिम मानते हैं। किन्तु यह वर्गीकरण अभिनव से बहुत पुराना चल पड़ा था। लोल्लट के विवेचन में भी उसका उल्लेख मिल जाता है। अभिनव भरत के सर्वात्मक दृष्टिकोण में सहमत होकर भी अपने युग में जड़ पकड़ चुकी इस मान्यता को एकदम उखाड़ नहीं फेंकते। वे उद्दीपनों की सत्ता एवं उनका कार्य कुछ

[1] [illegible] समस्तनैव शृंगारविभाव [illegible] मन्तव्यम्। यावान् [illegible] विरम्भ [illegible]। [illegible] तावन्नत्युत्सुक्य रत्युदय। अत एव रत्नावल्या [illegible] सम्पूर्णा [illegible] गवमवाप्त [illegible] [illegible]।

—अभिनवभारती भाग १, पृ० ०४

[2] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] पूर्ण [illegible] तत्रसवासनाइत्यम्। [illegible]। वही, भा १ पृ० ३ ६

[3] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]।

—वही, भाग १, पृ० ३ ४

न कुछ स्वीकार कर ही लेते हैं। अनुभाव एवं उद्दीपन का निरूपण करते हुए एक प्रसंग में वे कहते हैं

तस्य तु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभी रसो रसनाद्याभिमुख्यं नीयते। अत एव ते अभिनया अनुभावाश्च। तद्रसास्वादे समर्थाचरण मुद्दीपनम्।[1]

विभाव अलग अलग नहीं एक समूची परिस्थिति है। उनके साक्षात्कार के प्रथम अवसर में ही रसन क्रिया निष्पन्न हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि गमन क्रिया के समान गन्तव्य पर पहुंचने पर क्रिया निष्पत्ति होती हो।[2] इस रसना या अनुभूति क्रिया की ओर अभिमुख कराने वाले या बढ़ाने वाले तत्त्व अभिनय अथवा अनुभाव कहलाते हैं। उसी रसास्वाद में जो समर्थ आचरण होते हैं उन्हें उद्दीपन कहते हैं।

रसास्वाद की प्रक्रिया में समर्थ आचरण उद्दीपन है। किन्तु उद्दीपनरूप में समर्थ आचरण अथवा समर्थ क्रियाएं कौन-कौन हैं यह अभिनव ने स्पष्ट नहीं किया।

भरत एवं अभिनव के उपयुक्त विचारों को हम केशव की प्रेरणा के मूल में स्पष्टतः पाते हैं। केशव की विचारधारा का विश्लेषण करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

केशव आलम्बन एवं उद्दीपन का भेद विभावों में स्वीकार करते हैं। यह हम अभी देख चुके हैं। अभिनव ने भरत के साथ सैद्धान्तिक रूप से सहमत होकर भी समर्थाचरणों को उद्दीपन कहा है। इसका अर्थ हुआ वे आलम्बन उद्दीपन का भेद अस्वीकार नहीं करते। इस रूप में उद्दीपनों की स्वीकृति का अर्थ है समस्त विभाव वर्ग में से कुछ विशिष्ट आचरणों को अलग कर शेष को आलम्बन रूप में स्वीकार कर लेना। केशव ने अभिनव के इस स्थल के विवेचन से इसी प्रकार का निष्कर्ष निकाला है जो असंगत नहीं कहा जा सकता।

केशव आलम्बन एवं उद्दीपन का निरूपण इस प्रकार करते हैं

जिन्हें अतन अवलम्बई ते आलम्बन जानि।
जिनते दीपति होति है ते उद्दीप बखानि॥[3]

जिन्हें कामवृत्ति अवलम्बित करती है वे आलम्बन होते हैं तथा जिनसे उद्दीप्त होती है उन्हें उद्दीपन।

यहां यह द्रष्टव्य है कि केशव ने जो आलम्बन का लक्षण किया है वह शृंगार मात्र को ध्यान में रखकर न कि सभी रसों के आलम्बन मात्र के विषय में। हम देख चुके हैं कि रसिकप्रिया में केशव का विवेचन शृंगार दृष्टि से परिचालित है। यदि

१ अभिनवभारती भाग १ पृ ३ ५
एतैः कविनाथनिबद्धनत्वेन च साक्षात्कारकल्पनाभासीतैः सम्यगितिर्विघ्नभागात्मक समागो रस उत्पन्न भवतीव। न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पद्यते। अपि तु प्रथम एवावसरे।
—वही पृ ७५

३ रसिकप्रिया ६।२

४ अतन—अनतु—काम—रति

आप चाहें तो अतन शब्द का अर्थ जैसा कि प्राय किया जाता है 'रस कर सकते हैं और जिन्हें रस अपने उद्बोधन के लिए अवलम्बित करता है वे आलम्बन इस प्रकार का अर्थ निकाल सकते हैं। किन्तु वह अर्थ केशव को अभिप्रेत नहीं। अतन शब्द का प्रयोग रस के लिए साहित्यशास्त्र में नहीं आता। अतन का सीधा सादा अर्थ है काम और कामवृत्ति या रति को ही केशव शृंगार का मूल भाव निर्धारित कर चुके हैं।[1]

उद्दीपन का लक्षण भी जिस रूप में परम्परया स्वीकृत है उन्होंने किया है। अभिनव ने समस्त आचरणों को उद्दीपन कहने समय उनके दीपनात्मक रूप को नहीं भुलाया था यह कहा जा सकता है। अब आइए इन दोनों में परिगणित सामग्री की ओर।

केशव आलम्बन विभाव के अन्तर्गत निम्न वस्तुओं का उल्लेख करते हैं

दंपति जोवन रूप जाति-लच्छन जुत सखि-जन।
कोकिल कलित बसन्त फूल फल दल अलि उपवन ॥
जलचर जल जुत अमल कमल कमला कमलाकर।
चातिक मोर सुसब्द तडित घन अंबुद अंबर ॥
सुभ सेज दीप सौगंध गृह पान गान परिधान मनि।
नव नृत्य भेद बीनादि सब आलम्बन केसव बरनि ॥[2]

ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि प्रथम पंक्ति में शृंगार विभाव की सामग्री रखी हुई है जिसमें युवक दम्पति सपरिकर गिना दिए गए हैं। ये भरत के 'इष्ट जन' की व्याख्या मात्र हैं। द्वितीय पंक्ति में वसन्त के उपकरण तृतीय में शरद के और चतुर्थ में वर्षा के सम्भार हैं। इन तीन पंक्तियों को भरत के ऋतु तथा अभिनव के 'ऋतुवसन्तादि'[3] शब्दों का विस्तार भर ही समझना चाहिए। पाँचवीं पंक्ति में सुभ सेज दीप सौगन्ध गृह पान गान परिधान मनि में भरत के माल्यानुलेपना लंकारविषयवरभवनोपभोगोपवनगमन की विलास ऐश्वर्य की सामग्री सन्निविष्ट है। छठी पंक्ति में नृत्य गीत संगीत वाद्य आदि विविध कलाओं की ओर संकेत किया गया है।

केशव ने किसी उपकरण को व्यस्त रूप में नहीं लिया। यौवन रूप जाति लक्षणों से युक्त युवक दम्पति अपनी मित्रमण्डली के सहित विभिन्न ऋतुओं के सम्भार में विभिन्न विलास-सामग्री एवं कलापूर्ण वातावरण के बीच रखकर देखे गए हैं। विभाव के आलम्बन पक्ष को चेतन प्रतिपात्र से युक्त वातावरण के रूप में रखा गया है।

और उद्दीपन के अन्तर्गत केशव ने भावोद्बोध के अनन्तर होने वाला युवक

१ रति मति की अति चातुरी रतिपति मन्त्र विचार।
ताही सों सब कहत हैं कवि कोविद सिंगार ॥ रसिकप्रिया १। १७
२ वही ६।६
३ अभिनवभारती भा १, पृ० १०८

न कुछ स्वीकार कर ही गए हैं। अनुभाव एवं उद्दीपन का निरूपण करते हुए एक प्रसंग में वे कहते हैं

तस्य तु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभी रसो रसनाद्याभिमुख्य नीयते। अत एव ते अभिनया अनुभावाश्च। तद्रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम्।[1]

विभाव अलग अलग नहीं एक समूची परिस्थिति है। उनके साक्षात्कार के प्रथम अवसर में ही रसन क्रिया निष्पन्न हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि गमन क्रिया के समान गन्तव्य पर पहुंचने पर क्रिया निष्पत्ति होती हो।[2] इस रसना या अनुभूति क्रिया की ओर अभिनय कराने वाले या बढ़ाने वाले तत्त्व अभिनय अथवा अनुभाव कहलाते हैं। उसी रसास्वाद में जो समर्थ आचरण होते हैं उन्हें उद्दीपन कहते हैं।

रसास्वाद की प्रक्रिया में समर्थ आचरण उद्दीपन है। किन्तु उद्दीपनरूप में समर्थ आचरण अथवा समर्थ क्रियाएं कौन-कौन हैं यह अभिनव ने स्पष्ट नहीं किया।

भरत एवं अभिनव के उपर्युक्त विचारों को हम केशव की प्रेरणा के मूल में स्पष्टतः पाते हैं। केशव की विचारधारा का विश्लेषण करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

केशव आलम्बन एवं उद्दीपन का भेद विभावों में स्वीकार करते हैं। यह हम अभी देख चुके हैं। अभिनव ने भरत के साथ सैद्धान्तिक रूप से सहमत होकर भी समर्थाचरणों को उद्दीपन कहा है। इसका अर्थ हुआ वे आलम्बन उद्दीपन का भेद अस्वीकार नहीं करते। इस रूप में उद्दीपनों की स्वीकृति देने का अर्थ है समस्त विभाव वर्ग में से कुछ विशिष्ट आचरणों को अलग कर शेष को आलम्बन रूप में स्वीकार कर लेना। केशव ने अभिनव के इस स्थल के विवेचन से इसी प्रकार का निष्कर्ष निकाला है जो असंगत नहीं कहा जा सकता।

केशव आलम्बन एवं उद्दीपन का निरूपण इस प्रकार करते हैं

जिन्हें अतन अवलम्बई ते आलम्बन जानि।
जिनते दीपति होति है ते उद्दीप बखानि॥[3]

जिन्हें कामवृत्ति अवलम्बित करती है वे आलम्बन होते हैं तथा जिनसे उद्दीप्त होती है उन्हें उद्दीपन।

यहां यह द्रष्टव्य है कि केशव ने जो आलम्बन का लक्षण किया है वह शृंगार मात्र को ध्यान में रखकर न कि सभी रसों के आलम्बन मात्र के विषय में। हम देख चुके हैं कि रसिकप्रिया में केशव का विवेचन शृंगार दृष्टि से परिचालित है। यदि

१ अभिनवभारती भाग १ पृ ३ ५
२ एतेन विभावानुभावैकघनेन च साक्षात्कारकल्पनाकालीन ... समाप्त रस उत्पन्न भविष्यति। नहि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पन्ना। अपि तु प्रथम एवावसरे।
—वही पृ ०५
३ रसिकप्रिया ६। ५
४ 'अतन'—अतनु—काम—रति

आप चाहें तो 'प्रतन' शब्द का अर्थ जैसा कि प्राय किया जाता है रस बर सकते हैं और जिन्हें रस अपने उद्बोधन के लिए अवलम्बित करता है वे आलम्बन इस प्रकार का अर्थ निकाल सकते हैं। किन्तु वह अर्थ केशव को अभिप्रेत नहीं। 'प्रतन' शब्द का प्रयोग रस के लिए साहित्यशास्त्र में नहीं आता। 'प्रतन' का सीधा सादा अर्थ है काम और कामवृत्ति या रति को ही केशव शृंगार का मूल भाव निर्धारित कर चुके हैं।[1]

उद्दीपन का लक्षण भी जिस रूप में परम्परया स्वीकृत है उन्होंने किया है। अभिनव ने समय आचरणों को उद्दीपन कहते समय उनके दीपनात्मक रूप को नहीं भुलाया था यह कहा जा सकता है। अब आइए इन दोनों में परिगणित सामग्री की ओर।

केशव आलम्बन विभाव के अन्तर्गत निम्न वस्तुओं का उल्लेख करते हैं

दपति जोबन रूप जाति लच्छन जुत सखि-जन।
कोकिल कलित बसन्त फूल फल दल अलि उपवन॥
जलचर जल जुत अमल कमल कमला कमलाकर।
चातिक मोर सुसब्द तडित घन अम्बुद अम्बर॥
सुभ सेज दीप सौगंध गृह पान गान परिधान मनि।
नव नृत्य भेद बीनादि सब आलम्बन केसव बरनि॥[2]

ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि प्रथम पंक्ति में शृंगार विभाव की सामग्री रखी हुई है जिसमें युवक दम्पति सपरिकर गिना दिए गए हैं। ये भरत के इष्ट जन की व्याख्या मात्र हैं। द्वितीय पंक्ति में वसन्त के उपकरण, तृतीय में शरद के और चतुर्थ में वर्षा के सभार हैं। इन तीन पंक्तियों को भरत के 'ऋतु' तथा अभिनव के 'ऋतुवसन्तादि'[3] शब्द का विस्तार भर ही समझना चाहिए। पाँचवीं पंक्ति में सुभ सेज दीप सौगन्ध गृह पान गान परिधान मनि में भरत के माल्यानुलेपना लंकारविषयवरभवनोपभोगोपवनगमन की विलास ऐश्वर्य की सामग्री सन्निविष्ट है। छठी पंक्ति में नृत्य-गीत संगीत वाद्य आदि विविध कलाओं की ओर संकेत किया गया है।

केशव ने किसी उपकरण को व्यस्त रूप में नहीं लिया। यौवन रूप जाति लक्षणों से युक्त युवक दम्पति अपनी मित्रमण्डली के सहित विभिन्न ऋतुओं के सभार में विभिन्न विलास-सामग्री एवं कलापूर्ण वातावरण के बीच रखकर देखे गए हैं। विभाव के आलम्बन पक्ष को चेतन प्रतिपात्र से युक्त वातावरण के रूप में देखा गया है।

और उद्दीपन के अन्तर्गत केशव ने भावोद्बोध के अनन्तर होने वाली युवक

1 रतिमति की अति चातुरी रतिपति मन्त्र विचार।
ताही सों सब कहत हैं कवि कोविद सिंगार॥ रसिकप्रिया ? । १७
2 वही, ६।६
3 अभिनवभारती भा० १, पृ० ३०४

दम्पति की कुछ पारस्परिक चेष्टाओं का उल्लेख किया है

> अवलोकनि आलाप परिरंभन नख रद-दान।
> चुंबनादि उद्दीप ये मदन परस प्रमान॥[1]

इन क्रियाओं अथवा आचरणों में नायक नायिका की परस्पर चेष्टाएं है। केशव के इस दृष्टिकोण को अभिनव के तत्सोदयाने समर्थाचरणमुद्दीपनम् की सीधी प्रेरणा मिली है। आचरणों की समर्थता का केशव ने यही अर्थ लगाया है कि नायक नायिका में परस्पर रत्युद्बोध हो जाने पर तत्सोदबोधे सति होने वाले फलात्मक आचरण ग्रहण किए जाएं।[2] पर साथ ही इनका उद्दीपनात्मक उपयोग भी है। केशव ने दर्शन चेष्टा आदि को इसी दृष्टि से विस्तार दिया है।

केशव के इस दृष्टिकोण उसकी प्रेरणा तथा उसके पीछे निहित का शास्त्र के मर्म को ठीक से न समझने के कारण उनकी इस मान्यता की उल्टी सीधी आलोचना होती रही है। रसिकप्रिया के प्राचीनतम टीकाकार श्री सरदार कवि ने भी मनमानी व्याख्या कर परम्परामुक्त अर्थ निकालने का प्रयत्न किया है।[3] उन्होंने आलम्बनों में वर्णित सामग्री में से नायक नायिका को जिनका पक्ति में उल्लेख है छोड़कर शेष नीचे के उद्दीपन वर्णन के प्रसंग से सम्बन्ध जोड़ा है। यह व्याख्या सर्वथा अनभिप्रेत है जबकि केशव डिण्डिम घोष के साथ स्वयं कहते हैं— सब आलम्बन के सब बरनि।

केशव विभावों के निरूपण में निस्सन्देह पूर्णतः शास्त्रीय गहर तथा मौलिक हैं। अभिनव के समर्थाचरणम् उद्दीपनम् की व्याख्या उनकी अपनी है। उद्दीपनतर समस्त परिस्थितिनिरूप विभावों को आलम्बन कहकर उन्होंने अभिनव के समस्त दृष्टिकोण को कुछ व्यवस्थित करने का ही प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न अभिन बोलर का प्रशास्त्रीय परम्परा में केवल केशव के द्वारा ही किया गया है। अन्यथा लोग पिटी पिटाई लीक पर चलते रहे हैं। इसी कारण केशव का यह निरूपण उस परम्परा से कुछ हट भी गया है।

अनुभाव

अनुभावों का लक्षण केशव ने इस प्रकार किया है

> आलम्बन उद्दीप के जे अनुकरन बखान।
> ते कहियत अनुभाव सब दंपति प्रीति विधान॥

दाम्पत्य प्रीति के संविधान में विभावों के अनु अर्थात् पश्चात् रूप में आश्रय पात्र में जो करणजन्य विकार होते हैं उन सबको अनुभाव कहा जाता है।

केशव के इस लक्षण की परीक्षा के पहले हम प्रमुख आचार्यों की अनुभाव सम्बन्धी मान्यताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहते हैं।

1 रसिकप्रिया ६।७
2 या पतनतो प्रवृत्त सा मन्मथा स्वमाला। —राम निश्र गोप्रन्य पृ १४१
3 सरदार कवि कृत रसिकप्रिया की टीका छन्द ६ विभाव प्रसंग
4 रसिकप्रिया ६।८

भरत वाचिक आंगिक-सात्त्विक अभिनय को सामाजिक के लिए अनुभावित कराने वाले तत्त्वों को अनुभाव कहते हैं

अनुभाव इति कस्मात् ? अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति ।[1]

भरत की पूर्ववर्ती मान्यता के अनुसार अभिनय नहीं अभिनयार्थ के अनुभावक तत्त्व अनुभाव कहे जाने चाहिए—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥[2]

अभिनव के अनुसार लगभग एक-से ही तत्त्वों को अभिनय एवं अनुभाव नाम दिया गया है। रस को चर्वणाभिमुख ले जाने के कारण भ्रूक्षेप आदि विकार यदि अभिनय हैं तो अनुभावन के कारण अनुभाव ।[3]

धनंजय ने भावों की सूचना देने वाले तत्त्वों को अनुभाव कहा है

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

धनिक अनुभाव शब्द की तीन विशेषताओं की ओर ध्यान ले जाकर उनकी व्युत्पत्ति दिखाना चाहते हैं[4]

१ सामाजिकों को स्थायी भावों का अनुभावन कराने के कारण— अनुभाव यन्तीति अनुभावाः ।

२ अभिनय एवं काव्य में अनुभवकर्ताओं के द्वारा अनुभाव के कर्म रूप में अनुभव किये जाने के कारण अनुभूयन्त इत्यनुभावाः ।

आश्रय में भावोद्बोधन के अनु अर्थात् पश्चात् कार्यरूप में आने के कारण अनुभवन्तीति अनुभावाः ।

विश्वनाथ इन विकारों के अनुभावन तथा अनु भवन दोनों पक्षों पर ध्यान ले जाते हैं

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥[5]

संस्कृत के इन आचार्यों के लक्षणों में प्रमुखतया अनुभावों की दो विशेषताओं पर ध्यान दिया गया है

१ ये विकार भावों का अनुभावन कराने के कारण अनुभाव कहलाते हैं।

२ आश्रय में इनका जन्म भावोद्बोधन के अनु—पश्चात् होता है।

किन्तु एक महत्त्वपूर्ण बात छूट जाती है। अनुभाव कहे जाने वाले इन

१ ना० शा० अ० ७ पृ० ३४०

२ वही भाग १, पृ० ७१४

३ ... रसचर्वणाभिमुख ... अनुभावास्तु ...
—अभि० भा० भा० १ पृ० ...

४ दशरूपक पृ० १३३

५ दशरूपकावलोक ... उनकी ... पृ० ...

६ साहित्यदर्पण ३।१४०

ध्यान आकृष्ट होता है

१ व्यभिचारियों का किसी विशिष्ट रस के साथ नियत सम्बन्ध नहीं है। इसी व्यभिचार के कारण उन्हें यह नाम दिया गया है।

२ व्यभिचारियों का कार्य रसानुकूल परिस्थिति का निर्माण करना है।

अब केशव के लक्षण की ओर आइए—

> भाव जु सब ही रसन मे उपजत केसवराय।
> बिना नियम तिनसों कहत व्यभिचारी कविराय॥[१]

जो भाव सभी रसों अर्थात् स्थायी भावों में बिना किसी नियत सम्बन्ध के उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। इस लक्षण से भिन्न बातें स्पष्ट हैं

१ व्यभिचारी एक प्रकार के भाव हैं।

२ इनका किसी स्थायी विशेष से नियत सम्बन्ध नहीं।

केशव ने इनके तथा स्थायियों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या की है। रसाभिव्यक्ति मे इनका क्या उपयोग है इसका उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार केशव का विभाव लक्षण सर्वांगीण नहीं रह जाता। उससे सामान्य परिचय का उद्देश्य ही सफल होता है। बस उसकी शास्त्रीय पृष्ठभूमि दुर्बल नहीं।

व्यभिचारियों के प्रकार

व्यभिचारियों के नामों तथा भेदों के विषय में केशव ने आचार्य परम्परा से कुछ स्वतन्त्रता अपनाई है। उन्होंने व्यभिचारियों के निम्न ३५ प्रकार माने हैं[२]

निर्वेद	ग्लानि	शंका	आलस्य	दैन्य	मोह	स्मृति	धृति
व्रीडा	चपलता	श्रम	मद	चिन्ता	क्रोध	गर्व	हर्ष
आवेग	निद्रा	निद्रा	विषाद	जड़ता	उत्कंठा	स्वप्न	प्रबोध
विषाद	अपस्मार	मति	उग्रता	त्रास	तर्क	व्याधि	उन्माद
मरण	अवहित्था	आधि					

भरत-परम्परा में इनके नामों संख्या एवं स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ अन्तर है। भरत ने निम्न तैंतीस भाव गिनाए हैं

निर्वेद	ग्लानि	शंका	असूया	मद	श्रम	आलस्य	दैन्य
चिन्ता	मोह	स्मृति	धृति	व्रीडा	चपलता	हर्ष	आवेग
जड़ता	गर्व	विषाद	औत्सुक्य	निद्रा	अपस्मार	स्वप्न	विबोध
अमर्ष	अवहित्था	उग्रता	मति	व्याधि	उन्माद	मरण	त्रास
वितर्क।							

आचार्य मम्मट तथा रसतरंगिणीकार ने भरत की कारिकाओं को ज्यों का त्यों

१ रसिकप्रिया ६।११
रसिकप्रिया ६।१२ १४
२ ना शा ६।१८ २१

उदधृत किया है ।[1] दशरूपक तथा साहित्यदर्पण में केवल छन्द बदला हुआ है ।[2] विश्व नाथ ने सुप्त के स्थान पर स्वप्न नाम दिया है । पण्डितराज जगन्नाथ ने ये नाम गद्य में गिनाए हैं ।[3] इस प्रकार भरत-परम्परा में मोटे तौर पर इस मान्यता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं मिलता ।

यद्यपि भरत की इस संख्या को आचार्यों ने ज्यों का त्यों अक्षुण्ण रखा है किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि समस्त भावक्षेत्र को इन तैंतीस भावों में ही समाप्त नहीं समझना चाहिए। पण्डितराज जगन्नाथ ने यह स्वीकार किया है कि इनके अतिरिक्त साहित्य में और भी अनेक भाव मिलते हैं। फिर भी वे इनकी संख्या ३३ ही स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि नये मिलने वाले भावों का भरत के किसी न किसी समानप्राय भाव में जब अन्तर्भाव सम्भव है तो फिर व्यर्थ भरत की मान्यता को विशृंखल क्यों किया जाए ।

वैष्णव के व्यभिचारियों में भरत के व्यभिचारियों से अन्तर पाया जाता है। वैष्णव तथा भरत के वैषम्य को हम मोटे तौर पर तीन रूपों में रख सकते हैं

१ केवल नामभेद—भरत के औत्सुक्य, सुप्त, विबोध तथा वितर्क को वैष्णव ने क्रमशः उत्कण्ठा, स्वप्न, प्रबोध एवं तर्क कहा है। यह कोई बड़ा वैषम्य नहीं। सुप्त को स्वप्न विश्वनाथ ने भी कहा है और वितर्क को तर्क धनंजय ने भी। औत्सुक्य और उत्कण्ठा पर्याय-मात्र हैं ।

२ भरत-परम्परा के स्थानापन्न—भरत के अमर्ष एवं असूया के स्थान पर वैष्णव ने मोह एवं निद्रा का ग्रहण किया है ।

३ नवीन योग—वैष्णव ने विवाद एवं आधि दो नये नाम जोड़कर संख्या ३५ की है ।

आधि के जोड़ने में तो वैष्णव की ओर से यह तर्क दिया जा सकता है कि जब व्याधि जो कि मूलतः शारीरिक व्यथा है व्यभिचारियों में गिन ली गई तो आधि तो मानसिक व्यथा होने के कारण भावक्षेत्र के और भी समीप पड़ती है। विवाद का वैष्णव ने अपनी स्वच्छन्दता प्रकट करने के लिए ही जोड़ा प्रतीत होता है। हम कह चुके हैं कि भाववृत्तियों को ३३ संख्या तक सीमित करना उपलक्षण मात्र है। अन्यथा आचार्यों को यह स्वीकार्य है कि भाववृत्तियाँ और भी हो सकती हैं। बन्धी बंधाई हुई परम्परा में एक दो नाम घटा बढ़ाकर काव्याश्रित रूप में उन्हें सूचित करना चाहते प्रतीत होते हैं कि ये तैंतीस भाव उपलक्षणमात्र हैं तथा विवेचना की

[1] काव्यप्रकाश ४।४६ तथा रसतरंगिणी व्यभिचारी विवेचन
[2] दशरूपक ४।६ तथा सा० द० ३।१४५
[3] रसगंगाधर पृ० ७६
[4] अथ कथमेषां ... ।... व्यभिचारिणामनुभावानां च ... नान्यत्र दत्तत्वात् ... ।... ... ... ।... ... विचार्य।

—रसगंगाधर पृ० ८८

सुविधा के लिए ही हैं अन्यथा भावों के अन्य भेद भी हो सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है केशव ने अमर्ष एवं असूया के स्थान पर क्रोह एवं निन्दा का नाम क्यों लिया?

वस्तुतः क्रोह क्रोध का पर्याय नहीं। यद्यपि वह क्रोध शब्द से ही बना है। वह हिन्दी में बहुत पुराने समय से ही एक हल्के क्रोध के लिए प्रयुक्त होता है। अमर्ष का रूप भी हल्के क्रोध के लिए होता है। केशव ने इसीलिए उसे समानार्थक मानकर अमर्ष के लिए प्रयुक्त किया प्रतीत होता है।

अब रही निन्दा की बात। असूया एवं निन्दा एक ही वर्ग के लगभग एक से ही भाव हैं। गुणों में दोष निकालना असूया कहलाती है। निन्दा में भी वृत्ति दोषोन्मुख होती है। रसिकप्रिया में केशव के समक्ष अन्तर्भाव की योजना थी। उन्हें शृंगार में बीभत्स का अन्तर्भाव दिखाना अभीष्ट था जो शास्त्रीय दृष्टि से बिना कुछ हेर फेर के कठिन था। इसके लिए उन्होंने बीभत्स के स्थायी जुगुप्सा की जगह उसी वर्ग का एक हल्का भाव निन्दा अपनाया और अन्तर्भाव की समस्या पूर्ण की। उसी निन्दा को यहाँ उन्होंने व्यभिचारियों में परिगणित किया। उनके सामने शान्तरस के स्थायी का एक निदर्शन मौजूद था। भरत ने शान्त के किसी स्थायी का उल्लेख नहीं किया। शान्त को मान्यता देने वालों के सामने प्रश्न था उसका स्थायी क्या माना जाए? नया स्थायी मानने पर भरत की निश्चित भावसंख्या ४६ में गड़बड़ी पड़ती। अतः उन्होंने व्यभिचारियों में से ही एक भाव निर्वेद उठाया, और उसे शान्त का स्थायी कहा। उनका तर्क यह रहा कि मांगलिक मुनि ने अमंगल प्राय निर्वेद को ३३ भावों में पहले उसकी स्थायिता की सूचना देने के लिए ही रखा है।[1] मम्मट ने इस दृष्टि को ही स्वीकार किया। केशव ने भी यही दृष्टि अपनाई। उन्होंने बीभत्स के लिए चुने जाने वाले अपने स्थायी को व्यभिचारियों में पहले जगह कर ली। उन्होंने असूया के स्थान पर ले लिया। यह बहुत बड़ा परिवर्तन न था। किन्तु इससे उनका बहुत बड़ा काम चल गया। शान्तिवादियों के समान उन्होंने फिर अपने अभीष्ट स्थायी को अपने व्यभिचारियों में से ही पा लिया। निन्दा को स्वीकार कर लेने पर असूया को रखने की आवश्यकता न रही। उसे हटा दिया गया।

इस प्रकार भाववर्तियों के विषय में भरत से होने वाले इस वैषम्य में हम केशव के कई मन्तव्य निहित पाते हैं। वे सब साभिप्राय हैं तथा शास्त्रीयता से पूर्ण हैं। वे उनके दृष्टिकोण में एकरूपता स्थापित करते हैं। साथ ही उनके दृष्टिकोण को गद्य वृत्ति के अभाव में कार्योचित रूप में प्रस्तुत करते हैं।

अन्य रस एवं उनका अन्तर्भाव

हम पीछे शृंगार की रसराजता का केशव का उद्देश्य समझ चुके हैं। उसी

१ निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयस्योपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम्।

—काव्यप्रकाश, ४ ११६

उद्देश्य के साथ निरूपित चौदहवें प्रभाव में आए शृंगारेतर रसों की चर्चा पर यहां विचार करना है। इस प्रभाव में हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत एवं शान्त के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। लक्षण दोहों में हैं जिनका सम्बन्ध आचार्यत्व से है। प्रत्येक लक्षण तत्तत रस के स्वतन्त्र रूप का परिचायक है, किन्तु उसका उदाहरण शृंगार को किसी न किसी प्रकार अंग बनाकर ही दिया गया है। लक्षणों की यह विशेषता है कि उनमें अन्तर्भाव के दृष्टिकोण से कहीं कहीं परिवर्तन भी किए गए हैं। इस सामान्य परिचय के साथ हम उनके विवेचित प्रत्येक रस को अलग अलग लेकर देख सकते हैं।

हास्यरस

हास्य का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है

> नयन वयन कछु करत जब मन को मोद उदोत।
> चतुर चित्त पहिचानिये तहां हास्य रस होत॥[1]

नेत्र वाणी आदि अनुभाव जब मानसिक उल्लास का प्रकाशन करते हैं तब हास्यरस का वर्णन समझना चाहिए। यह सामान्य हास्य का लक्षण है।

मम्मट ने तो हास्यादि के लक्षण दिए नहीं, उदाहरण देकर चलता कर दिया है। विश्वनाथ एवं धनंजय ने हास्य का सीधे ही नहीं अपितु हास-स्थायी का उल्लेख करते हुए लक्षण दिया है। धनंजय के अनुसार विकृत आकृति वाणी वेषादि के द्वारा हास उत्पन्न होता है। उसीका परिपोष हास्यरस कहलाता है।[2] विश्वनाथ भी लगभग यही बात कहते हैं।[3] वस्तुतः इन लक्षणों में भरत की प्रतिध्वनि है। हास्य में जो हासात्मक चित्तवृत्ति है उसका स्वरूप-परिचय इन आचार्यों ने नहीं दिया। स्वयं भरत ने भी नहीं। हास एक सर्वानुभूत भाव है सम्भवतः यही समझकर नहीं। भरत धनंजय आदि के दृष्टिकोण पूर्णतः अभिनयपरक ही रहे हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसके मानसिक पक्ष की ओर कुछ ध्यान अवश्य दिया है। उनके अनुसार वाणी तथा वेषादि के विकारों को देखने से चित्त की जो विकासात्मक दशा होती है वह हास है।[4] केशव के समय तक आकर चित्तवृत्ति के स्वरूप की ओर भी ध्यान जाने लगा था। जिस प्रकार पण्डितराज ने अपने लक्षण में हासात्मक चित्तवृत्ति को विकासात्मक दशा

१ रसिक० १४।६

२ { विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः॥ दश० ४।७५

३ विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद् भवेत्।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः॥ सा० द० ३।२१६

४ र० गं० आ० १, पृ० ३१२ ३
अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावकः। स च विकृताकारवचनवेषचेष्टादिकुहकादिभि
सर्वेष्वपि।

५ वागादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हास्यः। रसगंगाधर, पृ० २

कहा है उसी प्रकार केशवदास ने भी उस मन का मोद कहा है। परन्तु वे विभाव माध्यम से नहीं अनुभाव माध्यम से उसका परिचय प्रस्तुत करते हैं। भाव सामान्य के लक्षण में भी अनुभावों के ही सहारे से उन्होंने निरूपण किया था। यह हम पीछे देख चुके हैं।

हास्यरस के भेदों के विषय में केशव ने पर्याप्त मौलिकता का काम किया है। भरत परम्परा में ६ प्रकार का हास्य माना जाता है। स्मित हसित विहसित अव हसित अपहसित तथा अतिहसित।[1] हलकी सी मुस्कान से लेकर अट्टहास तक को इन भेदों में समेट लिया गया है। भरत परम्परा की यह मान्यता रही है कि उत्तम प्रकृति के पुरुषों में स्मित या हसित हलकी मात्रा के हास होते हैं मध्यम कोटि वालों में विहसित तथा अपहसित जिनमें हँसी के साथ कुछ शब्द भी चलता है तथा अधम कोटि के व्यक्तियों में अपहसित तथा अतिहसित नामक हास्य होते हैं इनमें आँखों में आँसू अंगों की विक्षिप्ति एवं अत्यन्त कर्णकटु ध्वनि तक हास्य पहुँच जाता है।[2]

आचार्यों के इस दृष्टिकोण में केशव को दो बातें रुचिकर नहीं प्रतीत होतीं। एक तो यह कि एक एक प्रकृति के साथ दो दो भेदों का सम्बन्ध स्थापित करना। मात्रा के आधार पर तो प्रत्येक प्रकृति में और भी भेद पाए जा सकते हैं। अतः सीधी बात यह कि यदि मानव प्रकृति को तीन भागों में बाँटा गया तो हास को भी तीन ही भागों में मात्रा के आधार पर बाँट दिया जाए। दूसरी बात यह है कि स्मित एवं अतिहसित को छोड़ इस वर्गीकरण में चार नाम हसित विहसित अवहसित तथा अपहसित नितान्त पारिभाषिक बन चुके हैं। इनके उपसर्ग इनकी मात्रा को बताने में सर्वथा असमर्थ हैं। तब क्यों न ऐसे नाम रखे जाएँ जो सार्थक हों। केशव इसी कारण अपना मौलिक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम कोटि का मन्द हास है मध्यम कोटि का कुछ शब्द मिश्रित कलहास तथा अन्तिम कोटि का अतिहास। कल शब्द एक ओर ध्वनि दूसरी ओर उसकी मधुरता की सूचना देता है। मध्यम कोटि का हास भी सध्वनि होते हुए अपना मधुरता नहीं छोड़ता। अतः केशव इस कोटि के हास्य को 'कलहास' नाम देते हैं। अन्तिम अतिहास नाम संस्कृत आचार्यों का ठीक ठीक मात्रा परिचायक था अतः उसे ज्यों

१ स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ॥ ना शा भ ६ पृ ७४
विश्वनाथ ने भरत के उपहसित के स्थान पर अवहसित नाम दिया है। सा द ३। २१८

२ ईषद्विकसितैर्गण्डैः स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्।
किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम् ॥ सा० द० ३। २१८
इनमें को स्वरकार्यों का भी दर्शनीय है। मात्रा यहाँ भी दृष्टि रही है
ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं च षड्भेदाः ॥ सा द० ३। २१७

को स्वीकार कर लेते हैं। इसीको दृष्टि में रखकर वे अपने प्रथम हास का नाम मन्दहास रखते हैं।[1]

केशव मन्द, कल एव अतिहास का सम्बन्ध उत्तम मध्यम अधम प्रकृतियों के साथ जोड़ना उचित नहीं समझते। उनके नायक और नायिका कृष्ण और राधा सदा उत्तम प्रकृति के हैं। सखियाँ भी उत्तम एव मध्यम कोटि की हैं। अधम कोटि का उनके शृंगार में प्रश्न ही नहीं उठता। उनके नायक नायिका मुस्करा भी सकते हैं खिलखिलाकर हँस भी सकते हैं। यहाँ तुलसी की मर्यादा पुरुषोत्तमी शीलभूमि नहीं लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की क्रीडाभूमि है। फिर केशव हास्य की मात्राओं का सबध प्रकृतियों से जोड़कर अपने नायक नायिकाओं को अधम कैसे ठहरा सकते हैं?

हास्य के भेद कुछ भिन्न दृष्टिकोण से भी हो सकते हैं। भरत ने आत्मस्थ तथा परस्थ दो भेद हास्य के किए हैं।[2] इन रूपों की कई प्रकार से व्याख्या हुई है।[3] केशव सम्भवतः आत्मस्थ तथा परस्थ रूपों को इस रूप में लेते हैं कि नायक-नायिकागत हास्य आत्मस्थ तथा उनके प्रति किन्हीं सखियों आदि में अवस्थित हास्य परस्थ। जो भी हो वे भिन्न दृष्टि से भेदों की सम्भावना के प्रतीक रूप में एक भेद परिहास नाम से सामने रखते हैं। जहाँ सारी सखियाँ नायक-नायिका की कानि छोड़कर उनपर हँस पड़ें, वहाँ परिहास होता है। दृष्टिकोण के भेद से और भी भेद सम्भव होते हुए केशव ने नहीं बनाए। वास्तव में यहाँ केशव का दृष्टिकोण भेदसंख्या बढ़ाना नहीं है। दृष्टि मात्र देना है। वे केवल नायक-नायिकागत हास्य के रूप दिखाकर छोड़ देते हैं अन्यथा या तो प्रच्छन्न प्रकाशता आदि के आधार पर और भी अनेक भेद सम्भव थे। किन्तु इस प्रकार तो व्यर्थ ही ग्रन्थ बढ़ता।[5] यहाँ तो उद्देश्य है विभिन्न रसों को शृंगार में अन्तर्भूत करके दिखाना साथ में परिचय के लिए वर्ण्य रस का परिचय देना।

केशव का परिहास मौलिक है दृष्टिकोण की प्रेरणा भरत अभिनव से। शृंगार एव हास्य मित्र रस हैं अतः अन्तर्भाव में कोई शास्त्रीय बाधा नहीं आ पाई।

१ मन्दहास कलहास पुनि कहि केसव अतिहास।
कोविद कवि बरनत सब अरु चौथो परिहास॥ रसिकप्रिया १४।२
विगसहि नयन कपोल कछु दसन दसन के बास।
मन्द हास तासों कहत कोविद केसवदास॥ वही १४।३
जहँ सुनिये कल धुनि कछू कोमल विमल विलास।
केसव तन मन मोहिये बरनहु कवि कलहास॥ वही १४।८
जहाँ हँसहि निरसंक ह्वै प्रकट हि सुनि सुनि बात।
आधे आधे बरन पद उपजि परत अतिहास॥ वही १४।१२
२ द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। ना० शा०, भाग १, पृ० ३१३।
३ अभिनवभारती, पृ० ३१८, ४, भाग १
४ जहँ परिजन सब हाँसि उठै तजि दम्पति की कानि।
केसव कैसहु बुद्धिबल सो परिहास बखानि॥ वही १४।१५
५ बरनत बातें और बहु, कहे न केसवदास।
थोरो रस यों जानिये मन्द प्रछन्न प्रकास॥ वही १४।८

करुणरस

केशव के अनुसार प्रिय के विप्रिय अर्थात् अनिष्ट होने से करुणरस होता है।[1] उन्होंने अपने करुण निरूपण की प्रेरणा भरत से ही ली है। भरत के अनुसार इष्ट वध दर्शन अथवा विप्रिय वचन के श्रवण से ही करुण रस की उत्पत्ति हो जाती है।[2] किन्तु दृष्टिभेद के कारण भरत एवं केशव का करुणरस एक ही नहीं है। यद्यपि केशव का लक्षण करुण स्वतन्त्र पर भी घटित हो सकता है तथापि यहां वे शृंगारान्तर्भावि करुण को ही दृष्टि में रखकर लक्षण कर रहे हैं। भरत का विप्रिय शब्द उनके दूसरे विशेषण इष्टवध के ही समान है। किन्तु केशव के नायक नायिका श्रीकृष्ण तथा राधा के विषय में ऐसे विप्रिय की अनुमति शास्त्र भी नहीं देता।[3] अतः केशव विप्रिय के अत्यन्त हल्के रूप को लेते हैं। नायक-नायिका के हल्के से कष्ट का श्रवण मात्र विप्रिय श्रवण के अन्तर्गत आ जाता है। कृष्ण को पशु चारण जैसे कठोर कर्म में नियोजित किया गया है स्नेहमयी राधा के हृदय में करुणोद्रेक के लिए इतना ही पर्याप्त है।[4] उधर राधिका कुंवरि पर गोरस बिकवाने की बात श्रीकृष्ण को करुणा में प्लावित कर देती है।[5] केशव निरूपित शृंगाराङ्गभूत करुण की बस यही सीमा है। यद्यपि उसके लक्षण में लचीलेपन के कारण स्वतन्त्र करुण को भी लक्षित करने की क्षमता है।

करुण शृंगार का सामान्यतः विरोधी रस है। विरोधी रस के समावेश के लिए शास्त्र सामान्यतः मना करता है।[6] यदि कोई इस प्रकार का समावेश करना ही चाहता है तो शास्त्र कुछ विरोध परिहार के मार्ग भी बताता है। ध्वनिकार ने इस प्रकार मार्ग बताए हैं उनमें दो प्रकारों का संकेत मिलता है—एक सामान्य दूसरा विशेष। सामान्य मार्ग में दो बातें आती हैं—एक तो विरोधी रस को बाध्य बनाकर रखना दूसरे अंग बनाकर। बाध्य दशा वह ही कही जाएगी जिसमें अंगी के द्वारा अंग अभिभूत ही रह सके।[7] बाध्य अथवा अंग बनाने के लिए विरोधी का एक सीमित मात्रा तक ही परिपोष

१ प्रिय के विप्रिय करन तें जानि करुन रस होत। रसिक १४।८

२ इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति॥ ना शा ६।६२

३ आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः। ध्व आलोक ३।७ प ६६ वृत्ति

४ नन्द मति मन्द भये पशु सौं कहै बहा।
एम धूल पान पशुपाल करियतु है॥ रसिकप्रिया १४।१६

५ कीने कौनी निपट कुचालि जानि स्वर्गरि एमी।
राधिका कुंवरि पर गोरस बिचावे बो॥ वही १४।

६ प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥ ध्वन्यालोक उद्योत ।१७ प ३६

७ एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपादयन्नी विरोधिविषयमेव तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते। ध्व प ८७

८ विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्। बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला। बाध्यत्वं हि विरोधिना शक्यानभिभवत्वे सत्यसंभवि। वही। तथा वृत्ति

रहना चाहिए। इस प्रकार विरोधी विरोधी नहीं रह जाते। विरोध दो प्रकार का हो सकता है—एकाधिकरण और नैरन्तर्य से। एकाधिकरण विरोध में दो बातें आती हैं—एकाश्रयत्व एवं एकालम्बनत्व।[1]

तात्पर्य यह कि कुछ रसों में तो इस प्रकार का विरोध होता है कि वे एक आश्रय में नहीं रह सकते। भयानक और वीर का ऐसा ही विरोध है। कुछ के आलम्बन एक नहीं हो सकते। यथा शृंगार और रौद्र। कुछ के निरंतर वर्णन दोषपूर्ण होते हैं जैसे शृंगार और बीभत्स। इसके लिए शास्त्रकारों की सलाह है कि एकाधिकरण दूर करने के लिए आश्रय या आलम्बन जो भी हो, भिन्न कर देना चाहिए। नैरन्तर्य विरोध में किसी परस्पर मित्र या कम से कम उदासीन रस को बीच में डाल देना चाहिए। ध्वनिकार की इस प्रकार की मान्यताओं का सम्मान आज तक यों ही चला आ रहा है। मम्मट विश्वनाथ आदि सभी ने यही पथ अपनाया है।

कणाव ने सभी रसों को शृंगार में अंतर्भूत करके दिखाया है। तब हास्य जैसे अविरोधी रसों के सम्बन्ध में तो कोई बात नहीं किन्तु करुण बीभत्स आदि विरोधी रसों के विषय में यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि कणाव ने उपर्युक्त मार्गों में से कौन-सा मार्ग अपनाया है? वह मार्ग कहां तक शास्त्रसम्मत है?

आनन्दवर्धन ने विरोधी रसों का वाच्य रूप में रखने पर निर्दोषिता स्वीकार की है। इसके लिए उन्होंने सुझाव दिया है कि विरोधी रस का अधिक परिपोष किसी दशा में नहीं होने देना चाहिए। उनका उद्देश्य है विरोधी को अन्य अंगी से क्षीण रखना। कणाव ने एक नया मार्ग और निकाला है। स्थायी का अनुभावादि के द्वारा पूर्णतः परिपुष्ट न करके क्षीण रखने के बजाय उन्होंने सीधे-सीधे स्थायी को ही क्षीण रूप में ग्रहण किया है। इस प्रकार उनकी कई स्थायी वृत्तियां संचारी की कोटि की रह गई हैं। संभवतः कणाव को इसकी प्रेरणा इस बात से मिली है कि जब अपरिपुष्ट स्थायी संचारी की कोटि का होता है तो परिपुष्ट संचारी का स्थायी के समान रहा जा सकता है। अतः स्थायी की क्षीणता के लिए उन्होंने अन्य विधियों के साथ यह भी विधि अपनाई कि संचारी भावों में से कुछ वृत्तियां उठाकर स्थायी के स्थानों में प्रयुक्त कीं। यह उनका प्रयोग ही कहा जा सकता है। करुण के अन्तर्भाव में कणाव ने यही मार्ग अपनाया है। उन्होंने भाव को हलके रूप में रखने के लिए यहां विभाव का ही हलका रूप में लिया है। उसकी शास्त्रीय पृष्ठभूमि दुर्बल तो नहीं, किन्तु शास्त्रीय रूप में इसका इसी रूप में उल्लेख नहीं।

रौद्ररस

क्रोध स्थायी भाव वाला रौद्ररस होता है उसमें विग्रह के कारण शरीर उग्र हो जाता है। विग्रहजन्य शरीर की उग्रता से अनुमानित क्रोध स्थायीमूलक रौद्ररस होता है

होहि रौद्र रसक्रोधमय विग्रह उग्र शरीर।[2]

[1] एकाधिकरणविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी। रसगंगाधर पृ० १८०
[2] रसिक १४।२६

संस्कृत आचार्यों के लक्षण भी इसी प्रकार के हैं।[1] किन्तु स्वतन्त्र रौद्ररस में विग्रह का अर्थ युद्ध है वह यहाँ अन्तर्भूत रौद्र में कुछ दूसरे रूप में ही आ सकता है। शृंगार एवं रौद्र में आलम्बनक्य विरोध है। उनके अविरोध के लिए आलम्बनों को भिन्न होना चाहिए। केशव ने इसके दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम में उस विभाव को अंग बनाकर रखा है।[2] इसमें सखी की उक्ति के द्वारा राधा के निरुपम सौंदर्य की प्रशंसा की गई है। राधा के अंगों के उपमानभूत प्राणी राधा के क्रोध से भयभीत होकर वन में शरण ले रहे हैं। सखी कह उठती है— राधिका कुवरि क्रोध कौन पर कीनो है। यह क्रोध शृंगार के आलम्बन राधिका के कमनीय रूप विधान में उपयोगी है। आनन्दवर्धन की दृष्टि से ऐसी प्रक्रिया को समारोपित कह सकते हैं।[3]

द्वितीय उदाहरण में समारोपित शैली का दूसरा ढंग अपनाया गया है। नायक में मथ मथन करके रतिरण में विजय पा लेते हैं। यहाँ आरोप में ही रौद्र दिखाया गया है। तदनुरूप ही अनुभाव दिखाकर क्रोध की योजना की गई है। यद्यपि आरोप में उपमानांश की प्रधानता होती है पर केवल वाच्य रूप में ही। पर्यवसित रूप में तो वह उपमेय पक्ष के प्रति गौण ही है। अतः आरोपित क्रोध शृंगार का अंग ही समझना चाहिए। दोनों उदाहरणों में क्रमशः क्रोध एवं रोष शब्द आते हैं। उनमें भी स्वशब्द वाच्यत्व दोष नहीं समझना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से क्षीणता के उद्देश्य से सामने लाए जाने वाले भावों में अनुभूति की क्षति नहीं होती। विमर्शिनीकार ने भी यही मान्यता अपने उदाहरण के द्वारा सामने रखी है।[4]

वीररस

उत्साह स्थायी भावमूलक वीररस होता है।[5] इसका लक्षण भी भरत

१ अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवउद्धतमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः।
ना० शा०, पृ० ३१६ भा० १

२ खंजरी कपोत करि केर मृग मीन पनि।
सुक पिक कंज हंजरीट वन लीनो है॥
× ×
केसौदास भए कोकिल कुवर कीन्हे।
राधिका कुवरि क्रोध कौन पर कीनो है॥ रसिक १४।२

३ ध्वन्यालोक, ३।७६ आलोक

४ क्रोध मार्यो कलह विदारि मार्यो वारि कै।
मरोर मार्यो अभिमान मर्यो मथ भौंयो है॥
नाल्यो रति रन मथ्यो मनमथ हू को मन।
केसौदास कौन यह गाप उर आन्यो है॥ रसिक १४।२३

५ बाला त्वं रसपटासुपटनमुग्धे मुग्धे तवाद्य सखी
किं शून्योऽस्मि वदना निवर्तामि त्वामागतान्वेषितुम्।
[illegible] कथयन्त्य लास्य [illegible] तत
पत्युः स्मरसुरत ब्रुवन्त्य नम्रा अन्या विलचग्धिता॥ अलंकारसर्वस्व पृ० २ ६

६ अथ वीरो नाम [illegible] ना० शा०, भा० १, विमर्शिनी टीका ६।६ पृ० ३ ४

परम्परा के अनुरूप ही है[1] तथा उसके उदाहरण में भी आरोपित शैली को ही अपना कर उसे शृंगार का अंग बनाया गया है। नायिका बडी सज धज के साथ रतिरण में विजय के लिए अभियान कर देती है

> मनि गजराज साज देह को दिपति बाजि।
> हाव रथ भाव पत्तिराज चलो चाल सो॥[2]

इस रतिरण के लिए नायिका में अदम्य उत्साह एवं साहस है

> प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै।
> जीत्यो रतिरन आजु मदन गुपाल सों॥[3]

इसी आरोपित शैली को स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने साम्यमूलक कहा है।[4]

भयानकरस

किसी भयंकर वस्तु के दर्शन से भय स्थायी की उत्पत्ति होती है। उसीकी व्यंजना भयानक रस कहलाता है

> होय भयानक रस सदा केसव स्याम सरीर।
> जाको देखत सुनत ही उपजि परत भय भीर॥[5]

शास्त्रीय दृष्टि से शृंगार एवं भयानक आलम्बनक्य में विरोधी रस हैं। केशव ने उसके उदाहरण में भिन्नालम्बनत्व का मार्ग अपनाकर शास्त्रीय मांग की पूर्ति की है। घहराती हुई घनघटा को देख नायिका के हृदय में भयोत्पत्ति होती है और वह भय उसके हृदय में रति की प्रतिष्ठा करता है

> कबहू मिलि केसव कामिनि बेलि लगी प्रिय कामिनि कंठ लटी।[6]

भय एवं रति दोनों भावों का आश्रय तो नायिका ही है किन्तु आलम्बन घन एवं नायक भिन्न भिन्न है। फिर पूर्वोत्पन्न भय विभाव रूप में आकर रति को उद्दीपित करने में उपयोगी हो रहा है। इस प्रकार अंतर्भूत भय विभाव पक्ष के अन्तर्गत ही है।

बीभत्सरस

शृंगार एवं बीभत्स अत्यन्त विरोधी रसों में से हैं। एक ही आलम्बन होने पर उनमें बाध्य बाधक दोष आ जाता है। एक ही आलम्बन के प्रति रति के कारण

१ हासि और करुणारस बीर अरु अद्भुत अंत।
  भनि उदार अभार कहि केसव पाय प्रसंग॥ रसिकप्रिया १४।२४
२ वही १४।२५
३ वही १४।२५
४ साहित्यदर्पण विवृति । साहि० द० परि ३ पृ० २२५
५ रसिक० १४।२७
६ वही १४।२८
७ ननु एषां रसानां परस्परविरोध यथा वीरशृंगारयोः शृंगारहास्ययो तत्र भयानकादिभाव

आकर्षण एवं जुगुप्सा के कारण विकर्षण दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों में नरन्तय दोष भी आ सकता है। इस प्रकार के विरोधी रसों के समावेश के लिए जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं ध्वनिकार ने यही मार्ग बताया है कि विरोधी रसों को बाध्य या अंग रखा जाए तथा उसे क्षीण ही रखा जाए।[1] हम यह भी दिखा चुके हैं कि केशव ने क्षीणता के लिए एक दूसरा मार्ग भी अपनाया है सीधे स्थायी को ही क्षीण धरातल पर ग्रहण करना अर्थात् संचारी के स्तर पर अपनाना। वास्तव में आनन्दवर्धन ने उपायों की कोई सीमा नहीं बांधी। यह प्रयोक्ता की प्रतिभा के ऊपर छोड़ दिया है कि वह क्या रूप अपनाता है। उनका उद्देश्य तो यही है कि अंगी रस की अपेक्षा किसी न किसी प्रकार अंग विरोधी को क्षीण ही रखा जाए।[2]

केशव ने बीभत्स को शृंगार का अंग बनाने के लिए उसके स्थायी जुगुप्सा के स्थान पर उसी वर्ग के हलके भाव निन्दा को ग्रहण किया है। ध्यान रहे कि वे इसी उद्देश्य से निन्दा को संचारियों में असूया के स्थान पर ग्रहण कर चुके थे। कविप्रिया में रसवत् अलंकार के प्रसंग में भी उसे स्थायी के स्थान पर रखकर उन्होंने अपने दृष्टिकोण को सर्वत्र एकरूप रखा है। वे बीभत्स का लक्षण इस प्रकार देते हैं

निन्दा भय बीभत्स रस नील बरन लघु तास।
केसव देखत सुनत ही तन मन होइ उदास॥[3]

केशव ने यहां अपने उदाहरणों[4] में एक कौशल और अपनाया है। स्थायी को मूलतः क्षीण ग्रहण कर लेने से अनुभावों द्वारा उसके पुष्ट हो जाने पर भी बाध्य बाधकता की शंका बनी रह सकती है। अतः उन्होंने जुगुप्साजनक रूढ सामग्री मांस रक्त आदि को वाचिक अनुभावों के रूप में ग्रहण कर लिया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह निन्दा सखी द्वारा की गई है और पर्यवसित रूप में नायिकागत नायकविषयक रति को ही परिपुष्ट करती है।

प्रस्तुत विषय में केशव का शास्त्रीय पक्ष इतना ही अपुष्ट कहा जा सकता है कि उन्होंने परम्पराप्राप्त स्थायी को बदल दिया है। यद्यपि उसकी विधि शास्त्रीय है। उदाहरणों से एक बात और झलकती है हम समझते हैं अतः सब कुछ कर सकते हैं यह प्रवृत्ति उभर आई है। किन्तु इसके बिना इसके शृंगार का रसराजत्व भी तो अधूरा रहता। नायकगत बीभत्सान्तर्भाव का जो दूसरा उदाहरण रखा गया है उसमें श्रीकृष्ण नायक का चोकड़ी भरना शास्त्र के प्रतिकूल ही है भले ही उसके लिए

---

1 तथा तु कथं भवेत् यथा परस्पर बाध्यबाधकभावो यथा शृंगारबीभत्सयो वीरभयानकयो।
—ध्वन्यालोक ३।२३ की वृत्ति

2 विरोधिनस्तु रसस्याङ्गरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया यथा शान्तेऽङ्गिनि शृंगारस्य शृंगारे वा शान्तस्य।
—ध्वन्यालोक ३।७६ वृत्ति

3 रसिक १४।२

4 वही १४।३१

5 दूर ते पुन पून पूरि सानु मन भाँगुर ध्याडी सनि बीजन को घन जू।
पर धर्मनि पै हम न सिन्न जू॥ वही १४।३२

गौडीय आचार्यों की मान्यताओं में से कुछ समर्थक सामग्री जुटा दी जाए।

अद्‌भुतरस

किसी अद्‌भुत वस्तु के देखने या सुनने से जो आश्चर्य—विस्मय—होता है उसी की व्यंजना अद्‌भुतरस है।[१] शृंगार एवं अद्‌भुत अविरोधी रस हैं। नायिका का अलोक-सामान्य सौन्दर्य द्रष्टा के हृदय को विस्मयाभिभूत कर देता है। अतः शृंगार में उसका बड़ा उपयोग है। केशव ने इसी शक्ति के कारण विलासनिधि कहा है। उन्होंने इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। दो में तो नायिका के अनुपम सौन्दर्य का विधान करके अद्‌भुत संनिवेश से शृंगार के आलम्बन को सजाया गया है। तीसरे में नायकगत अद्‌भुत सौन्दर्य एवं शक्ति का विधान है। इन उदाहरणों में विभावना, विशेषोक्ति विरोध आदि चमत्कारमूलक अलंकारों का भी उपयोग हुआ है, जो काव्य के भाव तथा कला—उभय पक्षों का सामंजस्य साधन करता है।

शान्तरस

शम अथवा शान्तरस के विषय में भी केशव के सामने वही अन्तर्भाव की समस्या है।[२] शम संसार की समस्त आसक्तियों से निवृत्तिमूलक भाव है, जबकि शृंगार घोर प्रवृत्तिमूलक है। किन्तु भक्त आचार्यों एवं भक्त कवियों विशेषतः राधाकृष्ण के उपासकों की दशा से शान्त केवल निवृत्तिमूलक भाव न रह गया। लौकिक आलम्बनों से वह जितना ही निवृत्तिमूलक रहा, अलौकिक कृष्ण के प्रति वह उतना ही प्रवृत्तिमूलक बन गया। गौडीय आचार्यों ने इस मुख्य रति के ५ भेदों में प्रथम स्थान दिया है। वैसे उसका स्थान मधुरा रति से बढ़कर नहीं है। इस प्रकार भक्तों का शान्तरस योगियों का शान्त नहीं है। उसकी निवृत्ति प्रवृत्तिपरक है। माधुर्य भाव के उपासकों के लिए तो उसका एक और उपयोग है—जगत् की समस्त विभूतियों एवं सुखों से मुँह मोड़कर राधा-कृष्णविषयक मधुरा रति में गहरी आसक्ति। उस सामान्यतः प्रेमवृत्ति अपने विषय के अतिरिक्त सबमें गहरी विरक्ति उत्पन्न कराती हुई स्व विषय में तीव्र आसक्ति कराती है। इस दृष्टि से ही उसके निवृत्ति अंग को सामने रखकर निर्वेद को अनुरक्ति का अंग बनाया जा सकता है। केशव ने यही मार्ग अपनाया।

सभी ओर से मन उपराम होकर एक ही स्थान पर बस जाए उसे केशव शमरस कहते हैं। इस शमरस में एक ओर से मन के निर्वेद के साथ दूसरी ओर आसक्ति का एक ही ठौर बस जाने का उल्लेख है। शृंगार में अन्तर्भूत शम का उदाहरण इस

१ होइ अचम्भौ देखि सुनि सो अद्‌भुत रस जानि।
  कमलाम्बक विलासनिधि पीत वरन वपु मानि॥ रसिकप्रिया १४।३३
२ एक समय दीठ ईठ तरे को अनीठ जन पीठ ... मागन पै चूकनी न कोऊ ताहि।
—वही १४।३५ ६
३ सब ते छाड़ उपराउ मन बसै एक ही ठौर।
  ताही सो सम रस कहत केसव कवि सिरमौर॥ वहां १४।३७

प्रकार है

> देख महीं अरविन्दन त्यों चित चंद की आनन्द कंद निकाई।
> कामिनि काम कथा कर कान न ताक त्रियाम की सुन्दरताई।
> देखि गई जब तें तुम को तब तें कुछ वाहि न देख्यो सहाई।
> छाड गी देह जु देख बिना अहो देहु न काहू कहूँ ह्वै दिखाई ॥[१]

नायकगत अन्तर्भूत नम का उदाहरण भी इसी कोटि का है।[२]

इस प्रकार यह अन्तर्भाव का प्रसंग समाप्त होता है। चौदहवें प्रभाव में ही अन्त में अन्तर्भूत नम के दो उदाहरणों के अनन्तर केशव एक नम का उदाहरण और प्रस्तुत करते हैं

> दनुज मनुज जीव जल थल जननि को परयोई रहत जहाँ काल सों समर है।
> अजर अनत अज अमरो मरत परि कनय निकसि जात सोइ तो अमर है।
> बाजत स्रयन सुनि समुझि सबद कारि बेदनि को बाद नहीं सिव को डमर है।
> भागहु रे भागो भया भागनि ज्यों भाग पर भव के भवन मांझ भय को भमर है।[३]

यह उदाहरण शृंगार में अन्तर्भूत नहीं इसमें जगत के प्रति शुद्ध निर्वेद की भावना है। इस प्रकार इस स्वतन्त्र शान्त के उदाहरण को केशव ने अपने अन्तर्भाव विवेचन के प्रसंग में प्रस्तुत करके यही सूचित किया है कि इसी प्रकार अन्य रस भी शृंगार से स्वतन्त्र हो सकते हैं। इसकी विशेष चर्चा हम पीछे ही कर चुके हैं।

इस प्रकार केशव ने शृंगारेतर आठ रसों को लेकर शृंगार में उनका अन्तर्भाव दिखाया। विवेचन में गृहीत रसों का क्रम भरत के अनुकूल है। रौद्र भयानक अद्भुत आदि रसों के लक्षण भरत के समान ही स्थायियों के माध्यम से किए गए हैं। कहीं कहीं जैसे हास्य में उनके स्वरूप विश्लेषण पर भी कुछ दृष्टि गई है। वस्तुत इन लक्षणों में शास्त्रीय विश्लेषण के स्थान पर परिचयात्मकता ही प्रमुख है। केशव ने इन रसों के जो वर्ण दिखाए हैं वे भी भरत के ही अनुरूप हैं। शृंगार का वर्ण श्याम हास्य का श्वेत करुण का कपोत रौद्र का रक्त वीर का गौर भयानक का कृष्ण बीभत्स का नील तथा अद्भुत का पीत वर्ण भरत ने भी माना है और केशव ने भी। भरत ने रसों के लक्षण अलग और वर्ण अलग बताए हैं। विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने वर्णों को लक्षणों के साथ ही बतला दिया है। केशव ने इसी परवर्ती परम्परा का अनुसरण किया है। यद्यपि बीभत्स में स्थायी जुगुप्सा के स्थान पर आवश्यकतावश

१ रसिकप्रिया १४।३८
रसिक रस न म्हर या म्हर न मासन हू रहु मही रहा ।
यमव उ सहसु दूखन का हा ता प छाडि निठा ।
हा रिमन स बा रम र क चाहि मय करि बहु निठाइ ।
हा निन ते राखी उठय समत सुधा वसुधा की मिठाइ ॥ वही १४।३६

२ वही १४।५

४ नाट्यशास्त्र ६। ३ ४
रसिक १४। २ २४ २७ ३ ३२

निन्दा को ग्रहण किया गया है तथापि उसका वर्ण परम्परा प्राप्त नील ही रखा गया है। भरत के समान ही उन्होंने शान्त का कोई वर्ण नहीं दिया। वस्तुत शान्त को तो मम्मट की प्रक्रिया पर पहले आठ स्थायी बताकर पीछे से नवां रस दिखाया गया है। हास्य का वर्ण भी अलग से नहीं दिया गया।

केशव को आचार्यत्व की दृष्टि से इस अन्तर्भाव में दुहरी सफलता मिली है। एक ओर तो उनके लक्षणों की पृष्ठभूमि में सुदृढ़ शास्त्र-परम्परा निहित है साथ ही साथ उनके परिवर्तन सकारण हैं। प्राय उनके लक्षण सचोल हैं। वे एक ओर स्वतन्त्र रसों पर लागू होते हैं दूसरी ओर अन्तर्भाव का ध्यान रखकर चलते हैं। वास्तविक अन्तर्भाव उदाहरणों के माध्यम से दिखाया गया है। उनमें रस विरोध का परिहार करने वाले शास्त्रीय मार्गों का अनुसरण किया गया है। इसमें केशव ने आनन्दवर्धन आदि के मूल दृष्टिकोण को नहीं भुलाया। उसे सामने रखकर अपनी प्रतिभा का भी स्वच्छन्द प्रयोग किया है। सामान्यत विरोधियों को अंग या वाच्य बनाकर ही काम लिया गया है। साथ ही अन्य मार्ग भी अपनाए गए हैं जिनमें शास्त्रानुगमन के साथ स्वतन्त्रता भी दिखाई पड़ती है जोकि मूलत शास्त्र विमुख नहीं है। जुगुप्सा के स्थान में निन्दा की कल्पना हम पीछे देख ही चुके हैं। अलंकारशेखर में केशव मिश्र ने भी किन्तु एक भिन्न दृष्टिकोण से जुगुप्सा को गर्हा या निन्दा के रूप में लिखा है। 'दोष दर्शनात् पदार्थेषु गर्हण जुगुप्सा (पृ० ७६)। यह दूसरी बात है कि एक मुनीध कान में चली आती हुई परम्परा के भीतर हम हेर फेर पसन्द न हो किन्तु केशव के मौलिक एव एक पर्याप्त मात्रा तक सफल प्रयत्न को सराहनीय कहना ही चाहिए।

अन्तर्भाव के प्रकार में केशव का दृष्टिकोण संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुरूप ही रहा है तथापि उसकी प्रेरणा में गौडीय आचार्यों का भी योग कम नहीं है।

रसिकप्रिया में इस रस निरूपण के साथ साथ केशव ने रस सम्बन्धित कतिपय और बातों की चर्चा भी की है। प्रमुख बातें निम्न हैं

क—रसवृत्तियां

ख—रसदोष

ग—रसों का जन्य-जनक विचार

घ—नायिका भेद अत्यन्त विस्तृत एव सामान्य भ

ङ—रस विरोध

इनमें से नायिका भेद को अपनी योजना के अनुसार हम अगले में अग्रिम प्रकरण में अपने अध्ययन का विषय बना रहे हैं। रसदोष और रसवृत्तियों का विवेचन हम अन्य काव्यांग शीर्षक प्रकरण में यथास्थान करेंगे। दोषों का निरूपण केशव ने कवि प्रिया के अन्तर्गत भी किया है। वहां वाक्यदोषों के ऊपर व्यापक दृष्टि डाली गई है। उस दृष्टि से यहां का रसदोष निरूपण उसका एक अंश ही ठहरता है। अत हम यहीं रसिकप्रिया और कविप्रिया के दोष निरूपण को मिलाकर इस विषय पर विचार करेंगे।

रसों के परस्पर जन्य-जनक सम्बन्ध की चर्चा बड़े ही सामान्य रूप में है। इस सम्बन्ध में आचार्य भरत ने एक इनकी भी चर्चा की है। उन्होंने बताया है कि शृंगार

से हास्य रौद्र से करुण वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस ।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक ॥ (ना शा०, अ० ६, श्लो ३६)

केशव ने इसी मान्यता का निम्न रूप में वर्णित कर दिया है

भय उपज बीभत्स तें अरु सिगार तें हासु ।

करुण अद्भुत वीर तें करुना कोप प्रकासु । (रसिकप्रिया १६ । १३)

इसी प्रकार रस विरोध का उल्लेख भी अत्यन्त सक्षेप म चर्चित किया गया है

करुण करुना हास्य बहु करु बीभत्स सिंगार ।

बरनत वीर भयानकहि सतत बर विचार । (रसिकप्रिया १६ ।१२)

करुण हास्य बीभत्स शृगार वीर भयानक इस मान्यता के अनुसार परस्पर विरोधी रस हैं। यह चर्चा बहुत स्थूल है और परम्परा म मान्य चली आ रही थी। केशव ने उसपर कोई विशेष विचार प्रस्तुत नही किए। सस्कृत काव्यशास्त्र में इस विषय का बारीकी से अध्ययन हो चुका था। सभवत शृगार की रसराजता के प्रति पादन का ही उद्देश्य लेकर चलने वाली रसिकप्रिया म वह बारीकी केशव को इस विषय म अनावश्यक जची हो। जो हो उन्होने इस विषय को अत्यन्त स्थूल रूप म परिचित भर करा दिया है।

निष्कर्ष

अब तक हमने केशव की रस चेतना का कुछ विस्तृत अध्ययन कर लिया है। उसके फलस्वरूप हम इस विषय मे निम्न निष्कर्षो पर पहुचते हैं

१ केशव को ६ काव्यरसो की पृथक पृथक एव स्वतन्त्र सत्ता मान्य थी।

२ रसिकप्रिया म एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाया गया है वह है शृगार की रसराजता की प्रतिष्ठा करना। अत वह नवरस का ग्रन्थ नहीं केवल रसराज शृगार का ग्रन्थ है। इसी शृगार म सब रसो का अन्तर्भाव प्रतिपादित है।

३ रसिकप्रिया का रसराज शृगार भोज की परम्परा का नहीं है गौडीय आचार्यों की परम्परा का है। उस रसिक भक्ति क मन में बिठाने का प्रयास किया गया है।

४ अन्तर्भाव की आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न रसों क स्वरूपो एव सीमाओ म कुछ हेर-फेर भी केशव ने किया है।

५ अन्तर्भाव की मूल दृष्टि शास्त्रसम्मत है। विवेचन की समस्त पृष्ठभूमि भरत अभिनव तथा ध्वनिवादी आचार्यों की रखी गई है। वह गौडीय आचार्यों की नहीं है। ढाचा भरत परम्परा का बना या रहा है प्रेरणा गौडीय आचार्यों स ली गई है।

६ रसिकप्रिया क विवेचन निरूपण-लक्षण उदाहरण रसवृत्तियो रस-दोष आदि सभी अन्तर्भाव के मूल दृष्टिकोण स प्रभावित एव तदनुरूप हैं।

७ शृगारतर रसों का साहित्यिक दृष्टि स रसवत्अलकार कहते हुए केशव

अलकारवाद की प्राचीन परम्परा के अनुमता प्रतीत होने ह पर एसा उन्हाने केवल अलकारवाद के प्राधान्यवरण के कारण नहीं किया। व अपनी मान्यता का गौडीय आचार्यों के अनुरूप भी बना दना चाहत थ। साथ ही भरत-परम्परा का पल्ला भी नहीं छोडना चाहत थ।

८ केशव का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उस समझ लने पर उनके समस्त रस निरूपण म एकरूपता शास्त्रीयता तथा व्यवस्था परिलक्षित होती है। उस बिना समझे उनके निरूपण और उनका आचायत्व गडबडी स भरा प्रतीत होने लगता है। अत समालोचको को पहले उनके दृष्टिकोण स तादात्म्य स्थापित करना चाहिए।

चतुर्थ प्रकाश

नायक-नायिका भेद

प्रस्तावना

नायक-नायिका भेद की दृष्टि से केशव उन कवियों की श्रेणी में आते हैं जिन्होंने शृंगार निरूपण के अन्तर्गत इस प्रकरण को अनुस्यूत कर कुछ विशेष रुचि के साथ विस्तृति दी है।[1] काव्यशास्त्र के अन्य अंग उपांगों की जो गूढ़ विवेचना और तर्क सम्मत स्थापनाएँ संस्कृत वाङ्मय में मिलती है उतनी नायिका निरूपण के क्षेत्र में नहीं। भरत से लेकर भानुमिश्र से पूर्व तक लगभग १५ सौ वर्षों में इस प्रसंग के प्रतिपादन में न खंडन मंडनात्मक शैली को अपनाया गया न भेदोपभेदों के ऊपर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया और न कभी इस प्रकरण को रस प्रकरण से असम्पृक्त एक स्वतन्त्र प्रकरण के रूप में स्वीकृत किया गया।[2] यह प्रकरण कामशास्त्रीय परम्परा में पुष्ट हुआ है। आदिकाल में कामशास्त्र के आधार पर ही प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से इस विवेचन को आगे बढ़ाया गया है। स्वयं भरत ने इस आधार को स्वीकार किया है।[3] रुद्रट पर भी इस क्षेत्र में कामशास्त्र का प्रभाव गहरा रहा है। भोज ने कामसूत्र के अनेक अंशों को शृंगारप्रकाश में विशद रूप में लिया है।[4] केशव की दृष्टि मूल आचार्यों या उद्भावक आचार्यों की ओर जाती रही है। केवल व्याख्याकारों की सरल सुगम वीथियों में न रमकर वह सिद्धान्तों की मूल भूमि से सबल ग्रहण करती रही है। इस क्षेत्र में भी कामशास्त्र के उपस्थित अंगों को ग्रहण करके केशव ने अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए जात्यनुसार पद्मिनी आदि नायिकाओं को लिया जा सकता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अकबरशाह ने इन्हें अपनाया था और हिन्दी के क्षेत्र में केशव के अतिरिक्त देव और हरिऔध को लिया जा सकता है। इस प्रकार केशव उन कतिपय आचार्यों में हैं जिनपर कामशास्त्रीय

[1] इन आचार्यों में रुद्रट (काव्यालंकार) भोज (सरस्वतीकंठाभरण शृंगारप्रकाश) तथा विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) विशेष उल्लेखनीय हैं।
डा॰ सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ॰ ३६

[2] आम्बर धर्म विद्या नायिका लम्फकोथा।
छन्दा य... बहुभिः कामतन्त्रसमन्वि[ता]। ना॰ शा॰ २४।६१ ४ आदि।

[3] काव्यालंकार १२।१४ १६

[4] डॉ॰ राघवन शृंगार प्रकाश... मद्रास लिटरेचर, १९३७ म॰ स॰ पृ॰ ८६

प्रभाव सघन था। संस्कृत में इस विषय पर कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के ग्रंथों में सामग्री मिलती है। कामशास्त्रीय परम्परा से सीधे प्रभाव ग्रहण करने वाले आचार्य बहुत कम हैं। प्रायः नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र की परम्परा ही नायक-नायिका निरूपण को प्रभावित करती रही है। हिन्दी के आचार्यों पर तो भानुमिश्र का पूर्ण जादू है। पर केशव की दृष्टि में कामशास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय परम्परा निश्चित रूप से है। नायक-नायिका निरूपण के बीज भारतीय परम्परा में बहुत प्राचीन हैं। यह केवल कामशास्त्रीय तत्त्वों से ही निर्मित नहीं हुए, सामाजिक जीवन का विकास, सांस्कृतिक स्तर, नागरिक रुचि तथा समाज की विवाह-व्यवस्था भी इस प्रकरण के संगठन में योगदान देते रहे हैं। केशव के विवेचन पर विचार करने से पूर्व इस सुदीर्घ परम्परा का संक्षिप्त सर्वेक्षण भी अनुपयुक्त न होगा।

चार पुरुषार्थों की स्थापना भारतीय संस्कृति का मूलाधार कहा जा सकता है। इनमें काम का प्रमुख स्थान है। प्रेम या सुख काम के अन्तर्गत आते हैं। यह जीवन की मूल प्रेरणा के रूप में माना जाता रहा है। प्रारंभिक शास्त्रों में धर्म, अर्थ और काम का विवेचन हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में रामायण और महाभारत धर्म को लेकर चले हैं। अर्थ और काम पर धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है अन्यथा अनियन्त्रित रूप में ये पतन का मार्ग ही प्रशस्त करते हैं। उपनिषद् परधन के प्रलोभन को वर्जित करती है।[४] गीता में कृष्ण ने अपने को काम कहा है।[५] वह काम जो धर्मानुकूल हो। इस प्रकार काम-दमन नहीं नियन्त्रित काम ही भारतीय संस्कृति का आदर्श रहा है। वात्स्यायन ने इसीलिए धर्म-अर्थ-काम की त्रयी का साथ लिया है।[६] साथ ही उनके प्रयोग की ऐसी विधि का समर्थन किया है कि ये परस्पर एक दूसरे को बाधा न पहुँचाएँ, सम्यक् सन्तुलन-समन्वय बना रहे। बाल्यावस्था में ज्ञानार्जन, यौवन में सुख भोग, पीछे धर्मानुसरण की बात कही गई है।[७] कालिदास ने दिलीप के चरित्र की यही विशेषता बताई है। वह न्यायार्थ ही दण्ड देता था, सन्तानार्थ ही विवाह करता था। उसके

१ इस परम्परा में दत्तक, कुचुमार, वात्स्यायन, कल्याणमल्ल, कोक्कोक, मीननाथ आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

२ इस परम्परा में भरत का नाट्यशास्त्र, धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्नकोश और रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण—ये चार ग्रन्थ उल्लेख्य हैं।

३ वे पृथक् प्रकार के प्रति रस व शृंगार के अन्तर्गत इस प्रसंग को लेनेवाले उल्लेख्य आचार्य हैं—रुद्रभट्ट, अग्निपुराण, शौद्धोदनि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय और करारिमिश्र। भानुमिश्र (रसमञ्जरी), रूपगोस्वामी (उज्ज्वलनीलमणि) तथा अकबरशाह (शृंगारमंजरी) ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय को अपना विवेच्य विषय बनाया है।

४ आर० एन० दाण्डेकर, सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रेडीशन, न्यूयार्क पृ० २११

५ ईशावास्य १।१

६ श्रीमद्भगवद्गीता ७।११

७ आर० एन० दाण्डेकर, सोर्सेज ऑफ इण्डियन ट्रेडीशन पृ० २१२-२१३

८ कामसूत्र १।२।१

९ वही १।२।१

आर्थिक अभियान तथा प्रेम काम धर्म से नियन्त्रित थे।[1] कामशास्त्र में उन्नत रुचियों सुख भोग की सुसंस्कृत प्रविधियों तथा कलात्मक जीवन यापन की विधियों का ही निरूपण है। सुख भोग इस प्रकार हो कि संतुलन बना रहे और चरम सीमा की भी उपलब्धि हो सके। इस मार्ग से चलनेवाला ही नागर है।[2] वात्स्यायन ने दत्तक का उल्लेख किया है। पर उसका दत्तकसूत्र उपलब्ध नहीं है। दत्तक ने कामक्रीडा को वेश्या के संदर्भ में देखा है। इसका उल्लेख वात्स्यायन करते हैं।[3] वात्स्यायन ने गृह में प्रवेश किया और कामकला को नागरिक के गृहस्थ-जीवन में अनुस्यूत किया। इस प्रकार कामसूत्र में गृहस्थ के कलात्मक जीवन का चित्र प्रस्तुत हो गया। गणिका का स्थान गृहिणी ने लिया और वणिक के स्थान पर पति प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वात्स्यायन के कामसूत्र में भारतीय गृह का पूर्ण सांस्कृतिक चित्र मिलता है। दत्तक के पश्चात् कामशास्त्र दो शाखाओं में विभाजित हो गया। एक में गणिका सम्बन्धी कामक्रीडाओं का वर्णन प्रमुख था तथा दूसरी में गार्हस्थ्य जीवन में कामकला को अपना कर सुरुचिपूर्ण जीवन यापन करने की विधि का प्रतिपादन था। केशव का सम्बन्ध इसी दूसरी परम्परा से है। उन्होंने परम्परा निर्वाह के लिए स्वकीया परकीया सामान्यावाला त्रिसूत्री वर्गीकरण स्वीकार तो किया है[4] पर सामान्या गणिका का विवरण नहीं दिया। वे जान बूझकर उसका नाम भी नहीं लेते[5] क्योंकि इससे रस बाधा उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार गणिका को छोडकर केशव ने रस मर्यादा तथा समाज-मर्यादा दोनों की रक्षा की है। यद्यपि रायप्रवीण का केशव पर प्रभाव माना जा सकता है पर उन्होंने उस कलामयी पातुरी के रूप में प्रस्तुत किया है वेश्या के के रूप में नहीं। इस प्रकार सामान्या को छोडकर चलने में केशव की दृढ नारी भावना और तत्सम्बन्धी सामाजिक आदर्शों के प्रति सुरुचि सम्पन्नता का पता चलता है।

सामान्या को छोडने का केशव के लिए एक और कारण है। वे रसिकप्रिया में निरूपित रसराज शृंगार को हरि शृंगार का रूप देकर रसिक भक्ति की परम्परा में कडी जोडना चाहते थे। इसी उद्देश्य के अनुरूप उन्होंने रसिकप्रिया के समस्त निरूपण प्रस्तुत किए हैं। रसिक भक्ति में स्वकीया और परकीया तो स्वीकृत थी सामान्या के लिए अवकाश नहीं था। इसीलिए केशव ने उसे अपने निरूपण में ग्रहण नहीं किया।

सामान्या या कुलटा को स्वीकार करना गृह और स्वकीया का अपमान करना

१ रघुवंश १।२५
२ वात्स्यायन १।४
३ तस्य षष्ठं वैशिकमधिकरणं पाटलीपुत्रिकाणां गणिकानां नियोगाद् दत्तकः पृथक् चकार।
—कामसूत्र १
४ हिन्दी साहित्य कोश भाग २
५ ता नायक की नायिका त्रिविधि तीन बखान।
सुकिया परकीया अवर सामान्या सुप्रमान॥ रसिकप्रिया ३।४
६ और जु गनिका नायिका बरनी इहि ठौर।
रस में विरस न बरनिए कहत रसिक सिरमौर॥ वही ३।४

है। केशव की नारी भावना पर कम लिखा गया है। कामशास्त्र की गार्हस्थ्य जीवन सम्पृक्त परम्परा का परिचय केशव ने अन्यत्र भी दिया है। केशव स्वकीया के पति व्रत धर्म की उज्ज्वलता के पोषक थे। नारी की गति पति ही है।[1] गार्हस्थ्य-जीवन के पति पत्नी रूप दो पहियों के सहयोग और उनके अन्योन्याश्रय की केशव ने दृढ़ता से चर्चा की है।[2] केशव की स्वकीया नायिका पतिव्रता की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाती है जो सुख दुःख में समभाव से स्वपति में अनुरक्त रहे।[3] यह युग की प्रवृत्ति के प्रति उनका विद्रोह है। स्वकीया के इस आदर्श को स्वीकार करनेवाला आचार्य कवि सामान्या का अंग स्वीकार कर सकता है। स्वकीया की क्रियाओं आदि के वर्णन में चपलता और रसिकता पर्याप्त मात्रा में है। कामशास्त्रीय क्रियाओं का उल्लेख केशव ने किया है। वीरसिंह देव की पत्नियाँ शुक सारिकाओं को पढ़ाती हैं।[4] वे समस्त जीवन कलाओं में पारंगत हैं।[5] इस प्रकार केशव के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण में जहाँ पति व्रत धर्म के प्रति एक संस्कारजन्य आकर्षण है वहाँ कामशास्त्रीय रसिकता और कलाप्रियता भी है। प्रायः यह उच्छृंखल न होकर स्वकीयाश्रित है। इसीलिए केशव का स्वकीया लक्षण धनंजय विश्वनाथ भानुदत्त आदि किसी भी आचार्य से नहीं मिलता।[6] सामान्या पर स्वकीया की विजय के पीछे केशव की उदात्त नारी भावना भी थी और रसराज शृंगार को भक्तिक्षेत्रीय बनाए रखने की दृष्टि भी।

स्वकीया की भावना का संघर्ष सामान्या से ही नहीं परकीया की भावना से भी है। वस्तुतः प्राचीन काल से इस संघर्ष की परम्परा चली आ रही है। नारी काम वासना से प्रेरित होकर पुरुष से रति प्रसंग की याचना करती है।[7] विवाह निरपेक्ष अस्थायी दाम्पत्य के चित्र भी मिलते हैं।[8] यह [illegible] सभ्यता का युग माना जाता है।[9] इसमें विवाह निरपेक्ष दाम्पत्य दिखाई देता है। महाभारत के अनुसार श्वेतकेतु ने विवाह प्रथा को प्रचलित किया।[10] कुछ भागों में विवाह प्रथा उस समय भी नहीं थी।[11] सूर्या

१ धन धर्म सब तिय फल देवा। छाँड़ि एक पति के पति सेवा।
दीन-सम्पादित रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, पंचमावृत्ति, पृ० १[illegible]५
२ पत्नी पति बिनु दीन अति पति पत्नी बिनु मन्द।
चन्द्र बिना ज्यों जामिनी ज्यों बिनु जामिनि चन्द॥ वही पृ० १३५
३ सम्पति बिपति जो [illegible] एक अनुहारि।
[illegible] बिचारि॥ [illegible], पृ० ६
४ कहूँ मानिनी [illegible] कहूँ गावति [illegible] हेत।
[illegible] ॥ वीरसिंहदेवचरित पृ० २५१
५ [illegible] ॥ वही पृ० ३६६
६ डा० [illegible] पृ० ३१०
७ [illegible] १।१०।८ [illegible]
८ [illegible] ५००० [illegible] पू० [illegible] है।
—[illegible] भारतीय [illegible] परम्परा और इतिहास, पृ० १०३
१० महाभारत १।१२२।१४ [illegible]
११ [illegible] महा० २।३२।४०

के विवाह प्रकरण से ज्ञात होता है कि आर्य सभ्यता में पहले से ही विवाह प्रथा थी। कन्या वर को चुनती थी और विवाह परिपक्वावस्था में होता था।[1] विवाह-पूर्व अवस्था में भी युवक युवती को प्रेम के अवसर प्राप्त होते थे।[2] आगे की परिस्थितियों में विवाह रूढ़ होता गया और स्वतन्त्र प्रेम के अवसर समाप्त होते गए। पर दाम्पत्य जीवन रूढ़ नहीं हो गया था। इसका उद्देश्य प्रेमपूर्वक जीवन-यापन था। विवाहोपरान्त पति पत्नी प्रार्थना करते मिलते हैं 'देवता हमारे हृदयों को मिला दें, जल, वायु-सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करें।'[3] इसके साथ ही अथर्ववेद में कामक्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ स्त्री की कामोत्तेजना के लिए देवों से प्रार्थना मिलती है।[4] संभोग शिक्षा के कामशास्त्रीय बीज भी यहाँ मिलते हैं।[5] इस प्रकार दाम्पत्य जीवन में कामशिक्षा तत्त्वों का समावेश था जिन्होंने उसे रूढ़ होने से बचा दिया था। इसके अतिरिक्त नारी के अंग प्रत्यंगों के सौन्दर्य का चित्रण भी वैदिक साहित्य में मिलता है। कन्याएं सुसज्जित होकर पतियों के पास जाती थीं।[6] इन्द्राणी की सुन्दर भुजाओं, सुन्दर अंगुलियों, लम्बे केशों और स्थूल नितम्बों का वर्णन मिलता है।[7] शतपथ में भी स्थूल नितम्बों, विशाल वक्ष और सूक्ष्म कटि का उल्लेख है।[8] इस प्रकार सौन्दर्य भावना भी दाम्पत्य जीवन में पर्याप्त थी। इसके साथ ही कला की भावना भी गुम्फित थी। उपनिषदों में ब्रह्म को समस्त रसों का आधार बताया गया है।[9] इसीसे साहित्यिक तथा अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियों का जन्म होता है।[10] इस प्रकार कलाओं में उस दाम्पत्य-जीवन को सजाया गया। इसका समन्वित रूप कामशास्त्र में आकर मध्यकाल में नागर जीवन में उतरकर आया। केशव में इसी जीवन की झाँकी नायिका भेद के साथ मिलती है। केशव की समकालीन वर्ग से बहती हुई रसिकभक्ति की परम्परा अपने क्षेत्र में इसे पूर्णतः आत्मसात् कर चुकी थी। इसमें नारी सौन्दर्य, उसके नागर कलाप्रियता और कामुकता का कलात्मक रूप समन्वित है। रामायण में मर्यादा की स्थापना ने जीवन के इन सजीव तत्त्वों को ठेस लगाई। पुराणों तथा महाकाव्यों में एक अखिल सौन्दर्याधिष्ठान परमात्मा के अवतार केन्द्र के आसपास एक रसात्मक भक्तिसूत्रों का जाल बन गया। पर शास्त्रीय साहित्य में रसिकता के लौकिक

१ हरिदत्त वेदालंकार : भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ५०-५१
२ डा० डी० एन० आल्टेकर : दी पोजीशन आफ वीमन इन दी हिन्दू सिविलिजेशन, १९३८ पृ० ७७-७८
३ ऋग्वेद १।८५।४७
४ अथर्ववेद १४।१३, ३८
५ वही १४।२।३२, ३८
६ वही १४।२।३८
७ ऋग्वेद रामगोविन्द त्रिवेदी का हिन्दी अनुवाद, पृ० १०।३२
८ वही १।१३४०८
९ शतपथ १।२।५।६
१० तत्तरीय ।७
११ बृहदारण्यक उप० २।४।११

रूप का विकास होता चला गया।

कालिदास में रसिकता प्रधान प्रेम के चित्र मिलना प्रारम्भ होता है। नारी सौन्दर्य में कालिदास की प्रतिभा रम गई। नारी के अंगों का विकास-उभार, यौवनोल्लास और अश्लीलता—सभी कुछ रसिकता में आने लगा। बारात देखती हुई पुर-वधुओं के शृंगार के प्रकरण में नाभि को देखने की चेष्टा[1] नारियों के अंग विशेष को अनावृत रूप में देखने की कामना से उनके वस्त्र के छूटने की कल्पना[2] नदी को विपुल-जघना वाले रूप में प्रस्तुत करना[3] यौवन-स्फोट से तंग चोली के बंधन को ढीली करवाती हुई शकुन्तला का चित्र[4] आदि रसिकता, कामुकता, कामशास्त्रीय प्रभाव, नायिकाओं के हाव भाव आदि की ओर कवि प्रतिभा के आकर्षण के प्रमाण हैं। आगे के शास्त्रीय साहित्य में इन्हीं तत्त्वों से समन्वित परकीया नायिका का रूप निष्पन्न होता गया। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में यही वातावरण है और नायिका भेद में नायिका का यही रूप दृष्टिगत होता है। केशव ने इस वातावरण के प्रति आकर्षण तो अनुभव किया पर स्वकीया के पतिव्रत आदर्श का पल्ला नहीं छोड़ा।

जहाँ तक धार्मिक साहित्य में नायिका के विकास का प्रश्न है वहाँ भी स्वकीया तथा परकीया की परम्पराएँ चलती रहीं। जब बौद्ध मठों का वातावरण कामिनी के कंकण-क्वणन और कादम्ब की मादकता से भर गया तो साधकों ने स्थूल भोगसुख के अनेक मार्ग खोज निकाले।[5] दक्षिण में शैव शृंगार का कुत्सित जाल फैल गया। मंत्रयान के मंजुश्रीकल्प तथा वज्रयान के गुह्यसमाजतन्त्र जैसे ग्रन्थों में कुत्सित आचरणों का ही समर्थन है। एक संन्यासी अपने धर्म को इसलिए रमणीय बताता है कि उसमें कुलटाओं का कीर्तन किया जाता है। उनको धर्मपत्नी बनाया जाता है। मद्य मांस का उन्मुक्त प्रयोग रहता है।[6] जैनों ने भी ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन किया जो नारी-सौन्दर्य और प्रणय माधुर्य से आप्लावित है। इस धर्म-समन्वित शृंगार की परम्परा में सिद्धसाहित्य भी आता है। आध्यात्मिक साधन में नायक-नायिका पर आधारित

१ कुमारसंभव सर्ग ७

२ वही

३ मेघदूत ४४, ४५

४ यथा अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडितास्मि, तत् शिथिलय तावदेनत्।
—शाकुन्तल, अंक १

५ [illegible] मन्त्र [illegible] वज्र तथा वज्र में [illegible] की प्रक्रिया ही सच्ची है कि [illegible] भोग के [illegible] का समर्थन होने लगा था।
—दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृ० २६३, दिल्ली, १९५६

६ कर्पूरमंजरी १।२३

७ जैन साहित्य के इन ग्रन्थों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है: धूर्ताख्यान, तरंगवती (पादलिप्तसूरि) सुरसुन्दरी (धनेश्वर) कुवलयमाला (विक्रम ८३५ ई०) [illegible]सुन्दरी करकण्डचरिउ (कनकामर) भविसयत्तकहा (धनपाल)। परिचय के लिए देखिए डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य

शृंगार भर गया।[१] पर एक बात द्रष्टव्य है। सिद्धों ने अपने साहित्य में स्वकीया रूप पर ही बल देकर उसपर ध्यान केन्द्रित किया। वैष्णव परकीया भाव का उसमें अभाव है।[२] कुछ चर्यापदों में परकीयात्व भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।[३] आगे संत निर्गुण भक्ति साहित्य में भी पतिव्रता और स्वकीया पर ही विशेष बल मिलता है। आध्यात्मिक विवाह रचाया गया है। पतिरूप परब्रह्म के साथ सभी जीव पत्नीभाव से सम्बन्ध रखते हैं।[४] संतों ने स्वकीया भाव को ही आदर्श माना है।[५] पतिव्रता को प्रतीक रूप में संतों ने बड़ी दृढ़ता से ग्रहण किया है। इनके प्रेमादर्श सती और शूर हैं।[६] सूफियों में पत्नी और प्रेयसी का समन्वित रूप मान्य रहा। पर अन्तत उन्होंने नारी के पतिव्रत आदर्श पर बल देकर पतिसेवा का मार्ग ही उसके लिए कल्याणकारक माना है।[७] रामकाव्य की कुछ मधुर शाखाओं को छोड़कर समस्त राम-साहित्य में पतिव्रता और सती का रूप मान्य रहा जो स्वकीया की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है।[८] केशव ने नारी के आदर्श रूप का ही समर्थन किया।[९] इस सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि हिन्दी साहित्य में स्वकीया की भावना की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। यह परम्परा भारतीय विचारधारा से पुष्ट है। इसीलिए स्वकीया भावना को केशव ने अपने नायिका भेद निरूपण में सर्वाधिक समर्थन प्रदान किया है। उनकी इस मान्यता में शास्त्रीय भारतीय नारी आदर्श कामशास्त्रीय गृहिणी का स्वरूप गार्हस्थ्य जीवन में अपेक्षित कामकला तथा विविध परम्पराओं का योग है।

स्वकीया की धारा के साथ परकीया भाव भी साहित्य में सदैव प्रवाहित होता रहा है। बंगाल के वैष्णव साहित्य में परकीया भाव ही सबसे अधिक दृढ़ रहा। पर कीया भाव का सम्बन्ध कृष्ण साहित्य से रहा। गोस्वामी तुलसी जैसे मर्यादावादी भक्त ने ब्रज की गोपियों के परित्याग और उनके परकीया प्रेम को कल्याणकारी मार्ग बताया है।[१०] शृंगारमूलक भक्ति-वल्लरी श्रीमद्भागवतकार के साहित्यिक संस्पर्श से प्रफुल्लित हो उठी। कृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य से विवश गोपियों का हृदय प्रणय की मधुर

१ धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य पृ० २४६
२ वही पृ० २४७
३ वही पृ० २४७
४ दुलहिनि गावहु मंगलचार। हम घरि आए हो राजा रामभरतार।
—कबीरग्रन्थावली पृ० ८
५ पुरुष हमारा एक है हम नारी बहु अंग। दादूदयाल की बानी पृ० ३८ सा० १५७
६ डा० उषा पाण्डेय मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना पृ० ८७
७ कबीरमन्सूर पृ० ४
८ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर पृ० १६४
९ जायसीग्रन्थावली पृ० ७७
१० तुलसीग्रन्थावली भा० २ पृ० २८६
११ रामचन्द्रिका उत्तरार्द्ध पृ० २ ६
१२ बन्दि गुरु तन्द बन्द ब्रज बनजनि भव सुख मंगलकारी। तु० ग्रं० भा० २ पृ० ५५१

पीडाओं से भर जाता है। नायिका भेद के तथा रस परिपाक के सभी शास्त्रीय तत्वों का समावेश गोपी प्रकरण में हो जाता है। 'गीतगोविन्द' की स्वर लहरी समस्त भारतीय साहित्य में गूंजी। गीतगोविन्दकार ने भागवत से वस्तु, साहित्यशास्त्र से रस-नायिका भेद, कामशास्त्र से कामकेलिकला, संगीत से राग रागिनी तथा अपभ्रंश की गीत मुक्तक शैली लेकर एक ऐसा साहित्यिक सामंजस्य प्रस्तुत किया कि कामुकता को धार्मिक स्फूर्ति प्राप्त हुई[1] और विलासकेन्द्रित जिज्ञासुओं को कुतूहल मिला। प्रायः सभी नायिकाओं को इसमें स्थान मिला है। राधा के आठों रूपों के एक सूत्र वर्णन में ही समस्त कथानक रम गया। भक्ति के क्षेत्र में साहित्यशास्त्र के तत्वों का यह समन्वय आगे कई शताब्दियों तक कभी भक्ति-सापेक्ष रूप में, कभी भक्ति निरपेक्ष रूप में आगे उत्तरोत्तर उन्नत विकसित होता गया।[3] काव्यशास्त्र की रूढ़ियों से विद्यापति ने अपने को कुछ स्वतन्त्र किया। नायक नायिका स्वतन्त्र प्रेमी प्रेमिका बने। लोकभाषा की प्रतिष्ठा ज्योतिरीश्वर कर चुके थे। विद्यापति ने उसे अपनाया। इस लोकभाषा में सिद्धों की गीति शैली जगमगा उठी। आश्रयदाताओं की रसिकता और कामरुचि ने उनको सराबोर कर दिया। जिस प्रकार जयदेव के काव्य की एक दीर्घ परम्परा चली उसी प्रकार विद्यापति की भी परम्परा स्थापित हुई। इस परम्परा के प्रभाव से उड़ीसा और बंगाल भी मुक्त न रह सके। चैतन्य के आश्रय से इन गीतों का प्रचार प्रायः समस्त उत्तरी भारत में हुआ। हिन्दी का कृष्णभक्ति साहित्य भी इससे प्रभावित हुआ। यह शृंगारमूलक भक्तिरस का शास्त्र बना। रूपगोस्वामी ने इसे उज्ज्वल रस कहा।[5] इस समस्त परम्परा में परकीया भाव की सुदृढ़ प्रतिष्ठा हुई है। चैतन्य सम्प्रदाय की समस्त धार्मिक मान्यताएं और तत्सम्बन्धी समस्त साहित्य परकीया भाव से प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप सामने रखते हैं। इस परम्परा की दो प्रमुख विशेषताएं रहीं परकीया प्रतिष्ठा और रीति-तत्वों का समावेश। चैतन्य ने स्वयं परकीया भाव से रसोल्लास की बात कही और इस परकीया प्रेम का न्द्रप्रज माना।[6] यह उपपति प्रेम भी कहलाता है। श्रीरूपगोस्वामी ने उपपति की यह परिभाषा दी है जो पुरुष दूसरे की पत्नी के प्रेमाधिक्य के कारण दूसरी स्त्री या दूसरी स्त्री अपने पति को छोड़ कर उस दूसरे पुरुष के हृदय पर अधिकार कर लेती है वह उपपति होता है।[7] इस प्रेमभाव की कुछ प्रतिध्वनि व्रज के कृष्णभक्त कवियों में भी मिलती है। नन्ददास ने

१ यदि हरिस्मरणे सरसं मनो। गी० गो० १
२ "यदि विलासकलासु कुतूहलम्।" वही, १
३ रामपतिचन्द्र गुप्त हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और बिहारी, पृ० १४०
४ जयकान्त मिश्र ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, भा० १
५ उज्ज्वलरस शृंगार से मूलतः भिन्न नहीं है। भरत ने भी शृंगार के लिए उज्ज्वल शब्द का प्रयोग किया है।—ना० शा० अ० ६। रूपगोस्वामी ने इसे भगवन्निष्ठ कर दिया है।
६ चैतन्यचरितामृत १।४।२०६
७ उज्ज्वलनीलमणि, नायकप्रकरण

उपनिषद की भांति[1] समस्त रस का आधार कृष्ण को माना है।[2] इस मधुर रसरूप की पहचान नायिका भेद के बिना सम्भव नही है।[3] रूपमंजरी में नन्ददास ने भगवत्प्राप्ति का एक सूक्ष्म मार्ग बताया है। इस सूक्ष्म मार्ग से नन्ददास का अभिप्राय उपपति रस से है। इसकी निष्पत्ति के लिए उन्होंने रूपमंजरी में एक कथा की कल्पना की है। कथा इस प्रकार है—रूपमंजरी एक अत्यन्त रूपवती कन्या है। उसका विवाह एक अयोग्य वर से हो जाता है। इस बेमेल सम्बन्ध से रूपमंजरी की सखी इंदुमती अत्यन्त दुखित है। इसके लिए वह उपपति की योजना करती है।[4] पर इस उपपति भाव पद्धति के अनुसरण में अधिकारी अनधिकारी होने का प्रश्न उठाया गया है।[5] इस प्रश्न के पीछे सामाजिक मर्यादा और पतन की सम्भावना की दृष्टि अन्तर्हित है। पर वल्लभ सम्प्रदाय में यह परकीया भाव प्रतिष्ठित न हो सका। रास के मध्य में राधा-कृष्ण का विवाह सूर ने दिखाया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा स्वकीया ही है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधातत्त्व स्वकीया परकीया से पूरे स्वीकृत है।[6] इस प्रकार राधा को तत्त्वतः परकीया मानने की परम्परा इन सम्प्रदायों में नही रही। पर नन्ददास ने रूपमंजरी में परकीया भाव की पुष्टि की है। बस चैतन्य सम्प्रदाय में भी परकीया भाव के विरुद्ध कुछ भ्रान्ति हुई। ब्रह्मवैवर्तपुराण (सम्भवतः दसवीं शती) में राधाकृष्ण का विवाह सम्पन्न कराया गया है। जीवगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि पर लोचनरोचिनी टीका की है। इसमें यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि व्रज के अवतीर्ण होने से पूर्व ही कृष्ण और गोपियों में विवाह सम्बन्ध था। रूपगोस्वामी ने भी अपने ललितामाधव में राधा और कृष्ण के बीच विवाह सम्बन्ध सम्पन्न कराया है। वस्तुतः चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्य परकीया भाव लौकिक दृष्टि से मानते हैं, तत्त्वतः तो व्रज देवियों के साथ श्रीकृष्ण का नित्य पतित्व होता है। यह परकीया भाव पीछे सहजिया सम्प्रदाय में विकृत भी हो गया था।[1]

वैष्णव के सामने नायिका निरूपण के समय यही समस्त स्वकीया परकीया की परम्पराएं थीं। कामशास्त्र के क्षेत्र में परकीया की मान्यता थी। रीतिकालीन आचार्यों और कवियों में भी सामान्या और परकीया भाव के चित्र भरे पड़े हैं। किसी न किसी ने सामान्या और परकीया के प्रति वह दृष्टिकोण नहीं रखा जो वैष्णव का

१ तैत्तिरीय ।७
२ नन्ददास रसमंजरी
३ वही
४ रूपमंजरी
५ अनुसंधान ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद द्वि सं० पृ ६५
६ रूपमंजरी
७ सूरसागर प्रथम खंड पृ ६३२ पद १ ७०।१६६२
८ आयुष्मान वल्लभाचार्य कमारेश भा, राम मयूख पृ २५२
९ डा विजयेन्द्र स्नातक राधावल्लभसम्प्रदाय सिद्धान्त और अध्ययन पृ २१?
१ मणीन्द्रमोहन बासु इन्ट्रोडक्शन टु दा पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट पृ २४ ४३

है। डा० कृष्णचन्द्र शर्मा ने परकीया के प्रति वैष्णव के विलक्षण दृष्टिकोण की ओर संकेत किया है।[1] परपुरुषरत वाली परकीया परिभाषा वैष्णव जैसे शास्त्र और सामाजिक आदर्शों का ध्यान रखनेवाले आचार्य को मान्य नहीं हो सकती। उन्होंने पुराने लोगों के अनुसार यह परिभाषा दी है परात्पर प्रसिद्ध पुरुष (परपुरुष) की प्रिया ही परकीया है।[2] इससे स्पष्ट है कि वैष्णव परकीया भाव का निरूपण करते हुए उसकी कड़ी आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वीकृति मान्यताओं के अनुरूप रखते हैं। लौकिक पक्ष में उन्हें स्वकीया का आदर्श ही ग्राह्य है। जिन भक्ति सम्प्रदायों में राधा के साथ परकीया भाव सम्बद्ध है उस भाव को ग्रहण करके वैष्णव ने परकीया की नवीन परिभाषा देकर मौलिकता का परिचय दिया है। इस विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए ही कुछ विस्तार के साथ हमने पीछे यह पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। वैष्णव की समस्त नायिकाओं की पृष्ठभूमि में राधा कृष्ण की भावना है।[3] परकीया नायिका उनकी दृष्टि में कृष्णप्रिया के अतिरिक्त तो कोई है ही नहीं। वैष्णव के स्वकीया प्रधान दृष्टिकोण का भार के कुछ आचार्यों पर भी प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए मतिराम को लिया जा सकता है। वैष्णव ने इस विषय में काव्यशास्त्रीय तथा भक्तिशास्त्रीय मान्यताओं का समाज सापेक्ष समन्वय करने का प्रयास किया है।

लक्षण एवं स्वरूप

(क) आधार एवं पृष्ठभूमि—नायक-नायिका भेद के चतुर्मुखी स्रोत और आधार की बहुत संक्षिप्त चर्चा हम कर चुके हैं। ये स्रोत हैं कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र और रसिक भक्तिशास्त्र। वैष्णव ने निश्चित ही इन स्रोतों से प्रेरणा और वस्तु ग्रहण की है। इन स्रोतों की परम्परा में अनेक आचार्य हुए हैं उनमें से किस आचार्य को वैष्णव लेकर चले हैं यह कहना कठिन है। वैष्णव प्रायः किसी एक आचार्य का ही आधार बनाकर चले भी नहीं हैं। भोज, विश्वनाथ या भानुदत्त के आधार पर कुछ रीतिकालीन आचार्य चले हैं पर वैष्णव में सातों का वैविध्य मिलता है। यही कारण है कि वैष्णव के निरूपण का किसी एक आचार्य से अक्षरशः मिलता जुलता नहीं पाया जा सकता। पर एक बात उनके निरूपणों के विषय में निश्चित है कि वे कहीं भी शास्त्रान्याय नहीं हैं यदि कहीं किसी रूढ़ मान्यता का अनुगमन नहीं करते तो वहाँ कोई विशेष कारण होता है। प्रायः वहाँ वैष्णव का अपना दृष्टिकोण होता है।

नायक-नायिका भेद की पृष्ठभूमि के रूप में हमने पीछे वैष्णव की विचारधारा उनकी दृष्टि में नारी की सामाजिक स्थिति और वैष्णव की निरूपण विषयक पद्धति को

1 परावनाम ओकता कला और कृतित्व पृ० ३६७
2 सबै पर परसिद्ध जु लली त्रिया जु ताहि।
परकीया तासों कहै परम पुरातन साहि॥ रसिकप्रिया ३।३७
3 अनायक को नायिका रस ... रहा ३।७४
4 रामअग्निमिश्र, ... भूमिका पृ ४१ बनारस १९६०

स्पष्ट करने की चेष्टा की है। केशव अपने युग में उपलब्ध समस्त प्राचीन और अर्वाचीन स्रोतों एवं प्रभावों से प्रभावित हो रहे थे और हिन्दी के व्यापक काव्यशास्त्र के निर्माण का प्रयास कर रहे थे। वे अपने युगीन रसिक साहित्य के अनुरूप रसशास्त्र बना रहे थे जिसका उपयोग रसिक परम्परा के भक्त, रसिक भाषाकवियों और रसिक पाठकों—सबके लिए हो सके साथ ही उन्हें उनके नाम और श्रम के अनुरूप मौलिकता का प्रभावपूर्ण श्रेय भी मिल सके।

केशव के पूर्व या उनके समय की नायिक-नायिका निरूपण की हिन्दी लक्षणीय परम्परा संक्षेप में इस प्रकार है[1]

क—कृपाराम — हिततरंगिणी (सं १५९८ वि०)
ख—सूरदास — साहित्यलहरी (सं १६०७? १६१७? १६२७?)
ग—नन्ददास — रसमंजरी रूपमंजरी
घ—रहीम — बरवा नायिका
ङ—सुन्दर — सुन्दरशृंगार
च—केशव — रसिकप्रिया

केशव के अनन्तर तो रीतिकाल में इसकी परम्परा बहुत दूर तक चलती रही।[2]

नायक

नायक निरूपण भी भारतीय वाङ्मय के विविध क्षेत्रों में पाया जाता है। उपनिषद में धीर तथा धनुर्धर नायक राम की चर्चा है।[3] इन गुणों में बाह्य और आन्तरिक गुणों का स्वस्थ सन्तुलन हो जाता है। धीर विशेषण नाट्य और साहित्य शास्त्रों में नायक के साथ सम्बद्ध रहा। आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान की उपलब्धि के आधार पर नायकत्व का विचार हुआ है। धीमान् ही नायक है। शंकर ने विवेकशील को नायक कहा है। साथ ही उसमें साहस और धृति को आवश्यक माना गया है।[4] साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि में भी फलप्राप्ति के लिए धृतिपूर्ण प्रयत्न करने वाला ही नायक होता है। अन्तर इतना होता है कि आध्यात्मिक नायक श्रेय की साधना में अन्तर्मुख होता है और सामाजिक नायक बहिर्मुख होकर व्रत व धर्म का परिपालन करके अमर कीर्ति के फल का भागी बनता है।[5] पहला ज्ञान के परिपाक से आत्मज्ञान प्राप्त कर अमरत्व को प्राप्त करता है।[6] आध्यात्मिक नायक मृत्युंजय होता है तो

१ इस परम्परा में लक्षण निरूपण देकर न चलनेवाले कवियों को सम्मिलित नहीं किया गया है। इनमें विद्यापति का नाम उल्लेखनीय है। उनके काव्य में ब्रजभाषा साहित्य के नायिका भेद का भी प्रारम्भिक रूप मिलता है। —प्रभुदयाल मीतल ब्रजभाषा का नायिका भेद पृ ३४

२ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ ४१४५

३ रामपूर्वतापिनी उपनिषद् ४।७

४ कठ २१ पर शांकरभाष्य

५ वही

६ बृहदारण्यक ४। पर शांकरभाष्य

सामान्य नायक मृत्यु की उपमा धरता है। अतः धीर शब्द अन्तर्मुख और बहिर्मुख दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार आध्यात्मिक और सामाजिक क्षेत्र में नायकत्व के बीज विचार प्राचीन काल में मिलते हैं।

काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र के क्षेत्र में भी धृति, साहस, निर्भयता आदि गुण नायक के साथ सम्बद्ध रहे हैं। पर क्षेत्र बदल गया। प्रेम, रति, रण और नायिका की प्राप्ति प्रमुख हो गए। कामसूत्र में एकमात्र 'पति' को ही नायक कहा गया है।[1] नायक की यह भावना समाज-सम्मत है। यशोधर ने व्याख्या करते हुए कहा है कि वात्स्यायन ने नायिका भेद की भाँति नायक भेद को स्वीकार नहीं किया है। एकलक्ष्य होना आध्यात्मिक नायक का गुण है। कामसूत्र का पति-नायक भी अपनी पत्नी को ही लक्ष्य में रखता है। यहीं साहित्य के अनुकूल नायक का बीज है। केशव के अनुसार अनुकूल नायक मन, वचन और कर्म से निज पत्नीरत होता है। परस्त्री की निज कल्पना भी नहीं करता है।[3] साथ ही वात्स्यायन ने प्रच्छन्न नायक की भी कल्पना की है। पर इसका लक्ष्य प्रेमसुख नहीं, कोई अन्य लाभ होता है।[4] इस प्रकार प्रच्छन्न नायक की कल्पना में उपपति की कल्पना के बीज मिल जाते हैं। वणिकर्म के रूप में वणिक नायक की भी कल्पना मिल जाती है।[6] अकबरशाह ने अपनी शृंगारमंजरी में और केशवदास ने अपनी रसिकप्रिया में नायक नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद स्वीकार किए हैं।[8] इस भेद का स्रोत कामसूत्र में निरूपित अन्तःपुरगामी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न भावों के प्रयोक्ता नायकों के उल्लेख में है।[9] वात्स्यायन की दृष्टि में अनुकूल नायक श्रेष्ठ है।[10] यही ध्वनि केशव में भी मिलती है। परस्त्री अभियोग में सिद्ध नायक ही दक्षिण है। सम नायक भी इसी कोटि में है।[11] शठ और धृष्ट की तो चर्चा नहीं है पर कुछ नायकों के लक्षणों में इन्हीं का आभास मिलता है। इसी चतुर्विध वर्गीकरण को प्रायः सब आचार्यों ने स्वीकार किया है। केशव में नायकों की स्वीकृति है। केशव ने पति, उपपति और वणिक में से केवल पति को स्वीकार किया है। जिस प्रकार नायिका भेद में केशव ने स्वकीया पर बल दिया है उसी प्रकार नायक भेद में पति नायक को अभीष्ट माना है। उपपति और वणिक का भाव उन्हें असामाजिक लगा है। कामसूत्र में भी सबका वर्णन होते हुए भी समर्थन पति का ही है।

१ कामसूत्र १।५।२८
२ बृहदारण्यक ४।४।२१
३ रसिकप्रिया २।३
४ 'प्रच्छन्नस्तु [illegible] । विशेषलाभात् ।' काम० १।५।८
५ वही १।५।२८ पर यशोधर की व्याख्या
६ कामसूत्र षष्ठ अधिकरण
७ अकबरशाह, शृंगारमंजरी, नायक निरूपण
८ रसिकप्रिया २।८ ९,१२ १३, १५ १७
९ कामसूत्र ५।५।२८, ५।१।५०
१० वही ७।२।५८ ६ ११ वही ५।२।८५

अनुकूलादि भेद शिंगभूपाल ने पति के माने हैं।[1] सभी रसों और नाटकादि के क्षेत्र में धीरोदात्तादि प्रकार के ४ नायक माने गए थे।[2] पर शृंगार के क्षेत्र में शिंग ने पति उपपति और वैशिक ही माने हैं।[3] केशव को जब सभी रसों का समाहार शृंगार में करना है तो धीरोदात्तादि भेद उन्हें मान्य नहीं हो सकते। साथ ही जिस सामाजिक और भक्तिशास्त्रीय दृष्टिकोण को लेकर केशव चले हैं उसके अनुसार उन्हें उक्त त्रिविध वर्गीकरण स्वीकार्य भी नहीं हो सकता। अतः उन्होंने भूपाल के पति तथा उसके अनुकूलादि उपभेदों को ही स्वीकार करके नायक प्रकरण को सरल और समीचीन बनाने की चेष्टा की है। विश्वनाथ ने पहले धीरोदात्तादि ४ भेद किए हैं। इनमें से प्रत्येक के अनुकूलादि ४ ४ उपभेद दिखाए हैं। पर इन उपभेदों का विश्वनाथ ने भी शृंगार से ही सम्बन्ध माना है। भोज ने नायक के प्रवृत्या शठादि ४ भेद स्वीकार किए हैं।[5] भानुदत्त ने फिर शिंगभूपाल की पद्धति को अपनाया। सवरस-साधारण धीरोदात्तादि चतुर्विध वर्गीकरण को भानुदत्त ने स्वीकार नहीं किया। पति उपपति वैशिक की त्रयी को भानुदत्त ने माना है।[6] पति के अनुकूलादि भेद किए गए हैं। धनंजय ने नाटक में मान्य धीरोदात्तादि भेद तो माने हैं अनुकूलादि भेद भी माने हैं। इस स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने किसी आचार्य का पूर्णतः अनुसरण नहीं किया। सबसे अधिक साम्य कामसूत्र की केवल पति के समर्थन वाली परम्परा से है। इसी स्रोत से केशव का नायक भेद अवतरित हुआ है।

नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख केशव ने नायक प्रकरण के आरम्भ में किया है। उनके अनुसार नायक में ये गुण होने हैं अभिमानी त्यागी तरुण कोककलाओं में प्रवीण भव्य क्षमाशील सुन्दर धनी शुचि रुचियुक्त तथा कुलीन। इनमें से शुचि रुचि सदा प्रवीन की व्याख्या पर मतभेद है। डा० हीरालाल दीक्षित ने शुचि को रुचि का विशेषण माना है सदा शब्द को कुलीन से सम्बद्ध मानकर उसकी उपमा की है।[9] डा० किरणचन्द्र शर्मा ने सदा रुचि एक अलग शब्द युग्म मानकर उसका अर्थ उत्साही किया है। शुचि को पवित्र के अर्थ में और कुलीन को भी अलग लिया है।[1] उत्साह का अर्थ लेना अधिक युक्तियुक्त है। इस गुण को प्राय सभी आचार्य मानते भी हैं। बिना इसके आदर्श नायक की कल्पना भी पूर्ण नहीं होती। नीचे के चित्र से अन्य आचार्यों से केशव के नायक गुण गणन का तुलनात्मक रूप स्पष्ट हो जाता है।

१ रसार्णवसुधाकर त्रिवेन्द्रम, १९१६ पृ० १६ श्लो० ८
२ वही श्लो ७८
३ वही श्लो ७६
४ साहित्यदर्पण ३।७२
५ सरस्वतीकण्ठाभरण
६ रसमञ्जरी बनारस, सं० २००८, पृ० १०
७ वही पृ० १७३
८ कविप्रिया (ग्रन्थावली), छंद १।२१
९ डा० हीरालाल दीक्षित आचार्य केशवदास पृ० २६१
१ केशवदास जोशी, कला और कृतित्व पृ० १८१

इसमें केवल समान गुणों को दिखाया गया है अतिरिक्त गुण नीचे पाद टिप्पणी में दे दिए गए हैं।

विविध आचार्यों द्वारा गृहीत नायक गुण

केशव ११	धनंजय[1]	शिंगभूपाल[2]	विश्वनाथ[3]	भोज[4]
अभिमानी	+	+	+	+
त्यागी	+	उदार	+	उदार
तरुण	+	×	+	×
कोककलाविद्	+	+	×	×
भव्य	×	×	×	विलासी
क्षमाशील	+	+	×	×
सुंदर	+	×	+	×
धनी	×	भाग्यशाली	+	सौभाग्यशाली महाभाग्यशाली
शुचि	+	+	कृती	×
सदारुचि (उत्साही)	+	×	+	×
कुलीन	+	+	+	×

(यहाँ + चिह्न उस आचार्य द्वारा भी मान्यता का सूचक है, × चिह्न अमान्यता का सूचक है।)

इस तुलनात्मक सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि केशव का गुण गणन धनंजय और विश्वनाथ के अधिक समीप है। इन दोनों आचार्यों में से धनंजय नाट्य शास्त्रीय परम्परा का अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं। केशव की नायक निरूपण में दृष्टि

१ दशरूपक, २।७२, धनंजय ने कला समन्वित माना है। कला से उनका अभिप्राय काम शास्त्र में मान्य ६४ कलाओं से है। अतः 'कोककलाविद्' के समीप है।

२ आलम्बनं मतं तत्र नायको गुणवान् पुमान्।
तद्गुणास्तु महाभाग्यमौदार्यं स्थैर्यदक्षते ॥
औज्ज्वल्यं धार्मिकत्वं च कुलीनत्वं च वाग्मिता।
कृतज्ञत्वं नयज्ञत्वं शुचिता मानशालिता ॥
तेजस्विता कलावत्त्वं प्रजारञ्जकतादयः।
एते साधारणाः प्रोक्ता नायकस्य गुणा बुधैः ॥

—रसार्णवसुधाकर, श्लो० ६१ ६३, पृ० ६

३ विश्वनाथ साहित्यदर्पण ३।३०
त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥

४ सरस्वतीकण्ठाभरण भोज, श्लो० १२० १२१ निर्णयसागरप्रेस, १९३४ पृ० ५६८ ६
महाकुलीनतौदार्यं महाभाग्यं कृतज्ञता।
रूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यसम्पदः ॥
मानिता शौर्यशालित्वं सुस्थिरानुरागिता।
नायकस्य गुणास्तद्वदभिमानित्वम् ॥

अनुकूलादि भेद शिंगभूपाल ने पति के माने हैं।[1] सभी रसों और नाटकादि के क्षेत्र में धीरोदात्तादि प्रकार के ४ नायक माने गए थे।[2] पर शृंगार के क्षेत्र में शिंग ने पति, उपपति और वैशिक ही माने हैं।[3] केशव को जब सभी रसों का समाहार शृंगार में करना है तो धीरोदात्तादि भेद उन्हें मान्य नहीं हो सकते। साथ ही जिस सामाजिक और भक्तिशास्त्रीय दृष्टिकोण को लेकर केशव चले हैं उसके अनुसार उन्हें उक्त त्रिविध वर्गीकरण स्वीकार्य भी नहीं हो सकता। अतः उन्होंने भूपाल के पति तथा उसके अनुकूलादि उपभेदों को ही स्वीकार करके नायक प्रकरण को सरस और समीचीन बनाने की चेष्टा की है। विश्वनाथ ने पहले धीरोदात्तादि ४ भेद किए हैं। इनमें से प्रत्येक के अनुकूलादि ४ ४ उपभेद दिखाए हैं।[4] पर इन उपभेदों का विश्वनाथ ने भी शृंगार से ही सम्बन्ध माना है। भोज ने नायक के प्रवृत्या शठादि ४ भेद स्वीकार किए हैं।[5] भानुदत्त ने फिर शिंगभूपाल की पद्धति को अपनाया। सवरस-साधारण धीरोदात्तादि चतुर्विध वर्गीकरण को भानुदत्त ने स्वीकार नहीं किया। पति, उपपति, वैशिक की त्रयी को भानुदत्त ने माना है।[6] पति के अनुकूलादि भेद किए गए हैं।[7] धनंजय ने नाटक में मान्य धीरोदात्तादि भेद तो माने हैं अनुकूलादि भेद भी माने हैं।[8] इस स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने किसी आचार्य का पूर्णतः अनुसरण नहीं किया। सबसे अधिक साम्य कामसूत्र की केवल पति के समर्थन वाली परम्परा से है। इसी स्रोत से केशव का नायक भेद अवतरित हुआ है।

नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख केशव ने नायक प्रकरण के प्रारम्भ में किया है। उनके अनुसार नायक में ये गुण होने हैं : अभिमानी, त्यागी, तरुण, कोककलाओं में प्रवीण, भव्य, क्षमाशील, सुन्दर, धनी, शुचि रुचियुक्त तथा कुलीन। इनमें से शुचि रुचि सदा प्रवीन की व्याख्या पर मतभेद है। डा० हीरालाल दीक्षित ने शुचि को रुचि का विशेषण माना है, सदा शब्द को कुलीन से सम्बद्ध मानकर उसकी उपेक्षा की है।[9] डा० किरणचन्द्र शर्मा ने सदा रुचि एक अलग शब्द युग्म मानकर उसका अर्थ उत्साही किया है। शुचि को पवित्र के अर्थ में और कुलीन को भी अलग लिया है।[10] उत्साह का अर्थ लेना अधिक युक्तियुक्त है। इस गुण को प्रायः सभी आचार्य मानते भी हैं। बिना इसके आदर्श नायक की कल्पना भी पूर्ण नहीं होती। नीचे के चित्र से अन्य आचार्यों से केशव के नायक गुण गणन का तुलनात्मक रूप स्पष्ट हो जाता है।

१ रसार्णवसुधाकर त्रिवेन्द्रम १९१६ पृ १६ श्लो० ८
२ वही श्लो ७८
३ वही श्लो ७९
४ साहित्यदर्पण ३।७
५ सरस्वतीकण्ठाभरण
६ रसमंजरी बनारस सं २००८, पृ० १०१
७ वही पृ १०३
८ दशरूपकावलोक, प्र० २,२।
९ डा० हीरालाल दीक्षित आचार्य केशवदास, पृ० २६१
१० केशवदास जीवनी, कला और कृतित्व पृ० ३८१

इसमें केवल समान गुणों को दिखाया गया है अतिरिक्त गुण नीचे पाद टिप्पणी में दे दिए गए हैं।

विविध आचार्यों द्वारा गृहीत नायक-गुण

केशव ११	धनंजय[1]	शिंगभूपाल[2]	विश्वनाथ[3]	भोज[4]
अभिमानी	+	+	×	+
त्यागी	+	उदार	+	उदार
तरुण	+	×	+	×
कामशास्त्रविद	+	+	×	/
भव्य	/	×	×	विलासी
क्षमावान	×	×	×	×
सुन्दर	+	×	+	× सौभाग्यशाली
धनी	×	भाग्यशाली	+	महाभाग्यशाली
शुचि	+	+	कृती	×
सत्वाग्नि(उत्साही)	+	×	+	×
कुलीन	+	+	+	×

(यहाँ + चिह्न उस आचार्य द्वारा भी मान्यता का सूचक है × चिह्न अमान्यता का सूचक है।)

इस तुलनात्मक सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि केशव का गुण-गणन धनंजय और विश्वनाथ के अधिक समीप है। इन दोनों आचार्यों में से धनंजय नाट्य-शास्त्रीय परम्परा का अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं। केशव का नायक निरूपण में दृष्टि

1. दशरूपक, २।१७३, धनञ्जय ने कला समन्वित माना है। कला से इनका अभिप्राय काम शास्त्र में मान्य ६४ कलाओं से है। अतः कोकशास्त्रविद् के समीप है।
2. आत्मना सह तु नायको गुणवान् भवेत्।
   तद्गुणास्तु महाभाग्यमौदार्यं स्थैर्यदक्षते॥
   औज्ज्वल्यं धार्मिकत्वं च कुलीनत्वं च वाग्मिता।
   कृतज्ञत्वं नयज्ञत्वं शुचिता मानशालिता॥
   तेजस्विता कलावत्त्वं प्रजारञ्जकता तथा।
   एते साधारणाः प्रोक्ता नायकस्य गुणा बुधैः॥
   —रसार्णवसुधाकर श्लो० ६१-६३ पृ० ८
3. विश्वनाथ साहित्यदर्पण ३।२६
   त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
   दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता॥
4. सरस्वतीकण्ठाभरण भोज, श्लो० १२-१२३ निर्णयसागर प्रेस, १९३४ पृ० ५६८।
   महाकुलीनतौदार्यं महाभाग्यं कृतज्ञता।
   रूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यसम्पदः॥
   मानिताऽऽर्यवादित्व बुद्धिश्चानुरागिता।
   इत्यादि गुणवान्नेता स्यात् विलासादिकम्॥

कामशास्त्रीय तथा नाट्यशास्त्रीय परम्परा की ओर विशेष रूप से है। अन्य आचार्य भी प्राय इन्हीं स्रोतों से सामग्री लेते हैं। कुछ हेर फेर भी करते हैं।

केशव के परवर्ती हिन्दी आचार्यों ने भी नायक लक्षणमूलक गुणों की गणना की है। चिन्तामणि ने एक विशिष्ट दृष्टि रखी है। उन्होंने सभी नायकों में सामान्य गुणों की स्थापना न कर भेद के अनुसार गुण भी भिन्न दिखाए हैं।[1] उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने भी ऐसा ही किया था। इससे विभिन्न विशिष्ट भेदों में भी नायक गुण विभिन्न हो जाते हैं। केशव इस विस्तार में नहीं गए। मतिराम ने भी सामान्य गुण ही दिए हैं।[2] सोमनाथ[3] तथा भिखारीदास ने भी लगभग ऐसे ही गुण नायक में स्वीकार किए हैं परवर्ती आचार्यों की सूचियाँ प्राय केशव की गुण सूची से मिलती जुलती है। केशव ने नायक के चार प्रकार अनुकूल दक्षिण शठ और धृष्ट स्वीकार किए हैं।

अनुकूल नायक

अनुकूल नायक भारतीय संस्कृति और परिवार जीवन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नायक माना जाता है। इसकी पृष्ठभूमि पर पीछे विचार हो चुका है। कामसूत्र में यही एकमात्र लोक प्रसिद्ध नायक माना गया है। केशव ने इसके लक्षण इस प्रकार दिए हैं अपनी पत्नी में मन वचन कर्म से अनुरक्त परनारी से सदा विरक्त अनुकूल नायक होता है।[5] इस लक्षण निरूपण में विधि और निषेध दोनों पक्षों द्वारा एकपत्नीव्रत पर बल है। विश्वनाथ ने केवल विधिपक्ष पर बल दिया है। एकस्यामेव नायिका यामासक्तोनुकूलनायक।[6] शिगभूपाल ने भी अनुकूलस्त्वेकजानि कहकर इस विधि पक्ष को ग्रहण किया है। भोज ने लक्षण निरूपण नहीं किया। भानुदत्त ने परस्त्री विमुख होना भी उसका लक्षण माना।[7] रूपगोस्वामी ने भी दोनों पक्षों का उल्लेख किया है।[8] इस प्रकार केशव का लक्षण निरूपण स्वयुगीन प्रचलित परम्परा के प्रतिनिधि भानुदत्त तथा भक्तिक्षेत्रीय आचार्य रूपगोस्वामी दोनों के अनुरूप है। चिन्तामणि ने एकांगी परम्परा को ही अपनाया है। मतिराम ने विधि निषेध वाली परम्परा के अनुसार लक्षण किया है।[9] दास ने भी एकांगी लक्षण दिया है।[10]

१ कविकुलकल्पतरु ४।३।३ ५७ ५६
२ रसराज ललाम १६६ पृ १३३
३ रसपीयूषनिधि ७।३।१
४ शृंगारनिर्णय ८
५ रसिकप्रिया ३।२
६ साहित्यदर्पण ३।७२
७ रसमञ्जरी
८ उज्ज्वलनीलमणि १
९ रसराज छन्द २६४
१० शृंगारनिर्णय ७३

दक्षिण नायक

केशव ने दक्षिण नायक के मानसिक संघर्ष को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।[1] नायक का मन परनारी प्रेम के लिए मचल उठता है। पर अपनी पूर्वप्रिया से प्रीति भय तथा मर्यादा के कारण अपने आचरण पथ पर वह आरूढ़ रहता है। केशव का दक्षिण-लक्षण अत्यन्त विचित्र है। दक्षिण नायक की चर्चा वात्स्यायन ने की है।[2] संस्कृत के अनेक आचार्यों ने दक्षिण नायक को अनेक नायिकाओं में समान अनुराग रखनेवाला कहा है।[3] बहुनारीरत को वात्स्यायन ने सम कहा है।[4] धनञ्जय के अनुसार दक्षिण नायक अपनी पूर्व पत्नी से भी प्रेम रखता है।[5] रूपगोस्वामी के अनुसार अन्य में अनुरक्त होने पर भी दक्षिण नायक अपनी पूर्व पत्नी में प्रेम नहीं छोड़ता। उन्होंने यह भी बताया है कि वह पूर्व पत्नी से प्रेम भय और सम्मान का भाव रखता है।[6] यह निरूपण केशव से आंशिक रूप से मिलता है। उन्होंने भी प्रेम भय सम्मान और मर्यादा की बात कही है। केशव का नायक अपने आचरण से विचलित नहीं होता। उसमें नियन्त्रण और संयम की मात्रा अधिक है।

शठ नायक

शठ नायक तीसरी कोटि में आता है। यहाँ पर नायक मन और कर्म से अन्यासक्त होता है। केवल वचन से प्रस्तुत नायिका को प्रसन्न करना चाहता है। ऐसा नायक प्रवंचक है। केशव इसे शठ कहते हैं। केशव की दृष्टि में परनारी में आसक्ति एक सामाजिक और असामाजिक अपराध है। इस अपराध से मर्यादा भय बचता है। दक्षिण नायक 'भय' भी रखता है। पर शठ को अपराध करते भय भी नहीं होता। धनञ्जय ने गुप्त रूप से विप्रिय करनेवाले को शठ कहा है। गूढविप्रियकृच्छठः।[8] केशव अपराध की जगह विप्रिय या अप्रिय शब्द प्रयुक्त है। इस भाव में नायिका की केवल वैयक्तिक दृष्टि को स्थान मिलता है। सामाजिक तत्त्व पर इसका इतना ध्यान नहीं है। यहाँ केशव के अपराध और धनञ्जय के विप्रिय में अन्तर है। गुप्तरूप से अप्रिय करता है का तात्पर्य झूठी वचनादि से अपने कपटाचरण को व्यक्त नहीं होने देता। केशव का शठ भी मीठी बातें करनेवाला है।[7] गुप्ताचरण ही शठ का धृष्ट से

1 रसिकप्रिया ३।७ 2 कामसूत्र ४।१।५०

3 साहित्यदर्पण ३।७२

4 'पुरुषस्तु बह्वीर्नारीः समाश्रयः समो भवत्।' कामसूत्र ४।२।८५

5 "दक्षिणोऽस्यां सहृदयः" धनञ्जय, दशरूपक, दक्षिणलक्षण

6 यो गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति।
न मुञ्चत्यन्यचित्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ दक्षिणः ॥ उज्ज्वलनीलमणि दक्षिणनायक

7 मुख मीठी बातें कहै निपट कपट जिय जानि।
जाहि न डर अपराध को सठ करि ताहि बखानि ॥ रसिकप्रिया केशवदास, पृ ६, छन्द २१

8 दशरूपक शठनायक लक्षण प्रकरण

अलग करनेवाला है। विश्वनाथ ने भी अप्रिय करनेवाले को ही शठ कहा है। उनमें भी गुप्ताचरण का तत्त्व निहित है।[1] रूपगोस्वामी ने अपराध वाले तत्त्व का स्पष्ट कथन किया है।[2] इसमें प्रिय बोलना, परोक्ष में विप्रिय करना तथा गूढ़रूपेण अपराध करना सम्मिलित है। इस प्रकार केशव के लक्षण सबसे अधिक रूपगोस्वामी के निरूपण से मिलते हैं।

मतिराम ने शठ को अपराधी, अपराध से न डरनेवाला, कपट प्रेम करनेवाला और वचन चतुर कहा है।[3] भानुदत्त ने भी अपराधी होने पर भी कामिनी को ठगने में कुशल माना है। उनके अनुसार शठता का आधार नायिका को ठगने की प्रवृत्ति है।[4] भिखारीदास ने भी वचन चतुरता, व्यभिचार, कपटाचरण को शठ नायक के लक्षणों में रखा है।[5] हिंदी के आचार्यों में मतिराम का निरूपण केशव से पर्याप्त मिलता है।

धृष्ट नायक

धृष्ट नायक में लज्जा का तत्त्व भी समाप्त हो जाता है। नायक ने अपराध किया, वह रंगे हाथों पकड़ा भी गया। उसपर उपालम्भ की बौछार हुई, मार भी पड़ी। पर न उसे किंचित लज्जा है, न भय। अपने दोष को वह स्वीकार भी नहीं करेगा। केशव के अनुसार इस प्रकार का नायक धृष्ट संज्ञा पाता है।[6] विश्वनाथ के लक्षण से केशव का लक्षण बहुत कुछ मिलता है। शिंगभूपाल के अनुसार नायक व्यक्त रूप से अन्यासक्त होता है और निर्भय भी होता है।[7] दशरूपककार के अनुसार कनिष्ठा नायिका के साथ रतिक्रीड़ा कर सुरत चिह्नों को भी न छिपाते हुए शठ नायक धृष्ट होता है।[8] यहां भी निर्लज्जता और निर्भयता का भाव मिलता है। रसमंजरीकार ने लक्षण इस प्रकार दिया है — पुनः पुनः अपराध करके नायिका के द्वारा मना किए जाने पर भी बिना हिचक उसके सामने आता है, वही धृष्ट है।[9] चिंतामणि का लक्षण

१ साहित्यदर्पण ३।७६

२ प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम्।
निगूढमपराधं च शठोऽयं कथितो बुधैः ॥ उज्ज्वलनीलमणि, शठप्रकरण

३ डर न करत अपराध तें, नहिं करै कपट की प्रीति।
वचन क्रिया में अति चतुर सठ नायक की रीति ॥ रसराज, पृ० १४१, छन्द २५०

४ रसमंजरी, शठलक्षण

५ शृंगारनिर्णय, २१

६ लाज न गारि न मार की छाँड़ि दई सब त्रास।
देख्यो दोष न मानई धृष्ट सु कहिय प्रकास ॥ रसिकप्रिया, पृ० ७, छन्द १४

७ कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक् कथितो धृष्टनायकः ॥ साहित्यदर्पण ३।७४

८ रसार्णवसुधाकर, धृष्टलक्षण

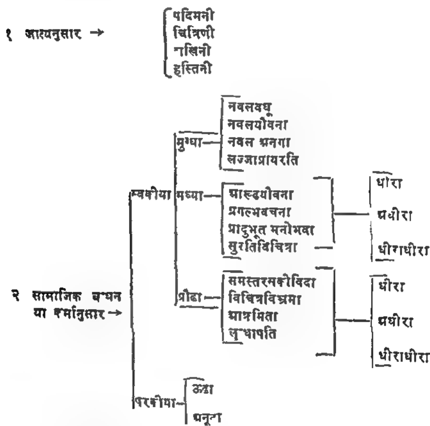
९ दशरूपक, धृष्टलक्षण

१० [illegible]
—रसमंजरी, धृष्टलक्षण

निरूपण रसमंजरी के अनुसार है अपराध प्रकट होने पर भी जो निर्भय घर आए वही धृष्ट है।'[1] मतिराम का निरूपण भी ऐसा ही है।[2] केशव ने गाली और मार की बात कहकर धृष्टता की अतिमात्रा दिखाई है। रूपगोस्वामी ने भी इन बातों का उल्लेख नहीं किया।[3]

नायिका भेद

भेदोपभेद *वर्गीकरण*—केशव ने जाति सामाजिक बन्धन या कर्म अवस्था तथा गुण के आधार पर नायिका के भेदोपभेदों का निरूपण निम्न प्रकार किया है



1 कविकुलकल्पतरु ५।३।१५
2 रसराज पृ १४२, छन्द ५३
3 अभिव्यक्तान्यतरुणीभोगलक्ष्मापि निर्भयः ।
मिथ्यावचनदक्षश्च धृष्टोऽयं खलु कथ्यते ॥

—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ६ श्लो० ३६

३ अवस्थानुसार →
- स्वाधीनपतिका
- उत्का
- वासकसज्जा
- अभिसंधिता
- खंडिता
- प्रोषितप्रयसी
- विप्रलब्धा
- अभिसारिका
  - स्वकीयाभिसारिका
  - परकीयाभिसारिका
  - सामान्याभिसारिका
  - प्रेमाभिसारिका
  - गर्वाभिसारिका
  - कामाभिसारिका

(स्वाधीनपतिका से स्वकीयाभिसारिका तक — प्रच्छन्न, प्रकाश; प्रेमाभिसारिका से कामाभिसारिका तक — प्रच्छन्न, प्रकाश)

४ गुणानुसार →
- उत्तमा
- मध्यमा
- अधमा

वैष्णव ने इन नायिका भेदों का गुणन फल अन्त में ३६० दिया है।[1] इस गुणन फल को यों स्पष्ट किया जा सकता है

स्वकीया = ३ × ४ प्रकार = १२ १२ + २ परकीया = १४ १४ + १ सामान्या = १५ १५ × ८ = १२० १२० × ३ गुणानुसार = ३६०। यह वैष्णव का भेद निरूपण एक मिश्रित परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। कामशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों ही स्रोतों से उन्होंने सामग्री ली है। कामशास्त्र में पद्मिनी आदि चार नायिकाओं का विवरण दिया है। वात्स्यायन ने पुरुष स्त्री जाति पर विचार किया है।[2] पर उसमें इन चार नायिकाओं का नामोल्लेख नहीं मिलता मृगी वडवा और हस्तिनी ही हैं। रतिरहस्य में उक्त चारों भेदों का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ के कर्ता कक्कोक पण्डित ने नन्दिकेश्वर को इस विभाजन का प्रवर्तक माना है।[3] रतिरहस्य पर आधारित परवर्ती कामशास्त्रीय ग्रन्थों में भी जात्यनुसार चतुर्विध विभाजन है।[4] जहाँ तक काव्यशास्त्रीय क्षेत्र का सम्बन्ध है संत अकबरशाह ने इस भेद को सर्वप्रथम स्वीकार किया। श्रीकृष्ण कवि ने भी इनका उल्लेख किया है। हिन्दी के आचार्यों में सर्वप्रथम केशवदास ने इनको स्वीकार किया। जसवन्त

१ रसिकप्रिया ७। ३
२ कामसूत्र ।६।१
३ वही
४ रतिरहस्य जात्यधिकार १ । १६
५ वही
६ [illegible] ३।१ [illegible] ६
[illegible] २४
८ रसिकप्रिया ३।१

सिंह ने भाषाभूषण में देव ने रसविलास में भवानीविलास और सुखसागरतरंग में इन भेदों की चर्चा की है।[1] सोमनाथ ने इनपर विस्तार से लिखा है।[2] चिंतामणि ने अकबरशाह की शृंगारमंजरी की हिंदी छाया के द्वारा इस प्रकरण से रीतिकालीन आचार्यों को अवगत करा दिया था।

इस विभाजन का आधार नारी की शारीरिक तथा प्राकृतिक विशेषताएं हैं। इनमें से कुछ जन्मजात विशेषताएं भी हैं और कुछ अर्जित भी हैं। इनके लक्षणों में कुछ अश्लीलता भी आ जाती है। शृंगाररस के परिपाक की दृष्टि से ये विशेषताएं विशेष उपयोगी नहीं हैं। सम्भवतः इसीलिए काव्यशास्त्र के कुछ आचार्यों को छोड़कर इस भेद चतुष्टय को अन्यों ने स्वीकार नहीं किया। डा० सत्यदेव चौधरी ने इस उपेक्षा के ये कारण माने हैं—एक यह कि लोक में ऐसी नारियों का ढूंढ निकालना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है जिनपर पद्मिनी आदि के सभी गुण पूर्ण रूप से घटित होने के कारण उन्हें इन विशिष्ट नामों से अभिहित किया जा सके। और दूसरा कारण यह कि इस विभाजन को इसलिए उपेक्षा मिली कि काव्य नाटकादि लक्ष्यग्रन्थों में भी ऐसी नायिकाएं दृष्टिगोचर नहीं होतीं।[3] हमारे विचार में ये कारण शिथिल हैं। नायिकाओं के आदर्श नखशिखगत लक्षण भी मिलना कठिन ही है। इन नायिकाओं के निरूपण में नखशिख वर्णन में सामान्यतः मान्य अंगों के अतिरिक्त गुप्त अंगों की भी माप तोल दी रहती है जो एक विराट नग्नता से सम्बद्ध है। मदन मन्दिर, मदन जल आदि काव्य में अश्लीलता उत्पन्न कर सकते हैं। साथ ही शृंगाररस के परिपाक में इनका सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। उसमें मानसिक स्थितियों तथा उनके द्योतक हाव भावों के ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। केशव ने इसको स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि कामशास्त्रीय स्रोत केशव को विशेष प्रभावित करता रहा। साथ ही उन्होंने लक्षण निरूपण में शारीरिक विशेषताओं के निरूपण में मर्यादा दृष्टि रखी है। इनकी वासना या रति सम्बन्धी रुचियों और प्रतिक्रियाओं पर विशेष बल दिया है। इससे उनकी शृंगार रसानुकूलता सिद्ध हो जाती है। इस सन्दर्भ में यह और उल्लेखनीय है कि रसिक भक्ति का साहित्य और उसके लिए बना भक्तिकाव्य शास्त्र इसको अधिकांश स्वीकृत कर चुका था। श्रीकृष्ण को एक बार कामकेलि विशारद स्वीकार कर चुकने के बाद उस साहित्य में सब कुछ की समाई हो चुकी थी। केशव अपनी रसिकप्रिया को उस रस-साहित्य के लिए भी बनाना चाह रहे थे। अतः उन्होंने कामशास्त्रीय तथा साहित्यशास्त्रीय परम्पराओं में चले आते हुए इन निरूपणों को अपने निरूपण में सहज स्थान दे दिया।

सामाजिक बंधन के अनुसार नायिकाओं का विभाजन प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकृत किया है। भरत ने बाह्या (कुलीना) आभ्यन्तरा (वेश्या) और बाह्याभ्यन्तरा

1. डा० सत्यदेव चौधरी : हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ४ २
2. रसपीयूषनिधि तरंग १६
3. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ० ४ ०

३ अवस्थानुसार →
- स्वाधीनपतिका
- उत्का
- वासकसज्जा
- अभिसंधिता
- खंडिता
- प्रोषितप्रेयसी
- विप्रलब्धा
- अभिसारिका
  - स्वकीयाभिसारिका
  - परकीयाभिसारिका
  - सामान्याभिसारिका
  - प्रेमाभिसारिका
  - गर्वाभिसारिका
  - कामाभिसारिका

(प्रच्छन्न / प्रकाश; प्रच्छन्न / प्रकाश)

४ गुणानुसार →
- उत्तमा
- मध्यमा
- अधमा

केशव ने इन नायिका भेदों का गुणन फल अंत में ३६० दिया है।[1] इस गुणन फल को यों स्पष्ट किया जा सकता है

स्वकीया = ३ × ४ प्रकार = १२ १२ + २ परकीया = १४ १४ + १ सामान्या = १५ १५ × ८ = १२० १२ × ३ गुणानुसार = ३६। यह केशव का भेद निरूपण एक मिश्रित परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। कामशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों ही स्रोतों से उन्होंने सामग्री ली है। कामशास्त्र में पद्मिनी आदि चार नायिकाओं का विवरण दिया है। वात्स्यायन ने पुरुष स्त्री जाति पर विचार किया है।[2] पर उसमें इन चार नायिकाओं का नामोल्लेख नहीं मिलता मृगी वडवा और हस्तिनी ही है।[3] रतिरहस्य में उक्त चारों भेदों का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ के कर्ता कोक्कोक पंडित ने नन्दिकेश्वर को इस विभाजन का प्रवर्तक माना है।[4] रतिरहस्य पर आधारित परवर्ती कामशास्त्रीय ग्रंथों में भी जात्यनुसार चतुर्विध विभाजन है।[5] जहां तक काव्यशास्त्रीय क्षेत्र का सम्बन्ध है संत अकबरशाह ने इस भेद का सर्वप्रथम स्वीकार किया। श्रीकृष्ण कवि ने भी इनका उल्लेख किया है। हिन्दी के आचार्यों में सर्वप्रथम केशवदास ने इनको स्वीकार किया।[6] जसवन्त

१ रसिकप्रिया ७।३३
२ कामसूत्र ।६।१
३ वही
४ रतिरहस्य [illegible] १ ।१६
५ वही
६ [illegible] ७।१० ।६ [illegible] ६ ६
[illegible] २४
८ रसिकप्रिया ३।१

सिंह ने भाषाभूषण में देव ने रसविलास में, भवानीविलास और सुखसागरतरंग में इन भेदों की चर्चा की है।[1] सोमनाथ ने इनपर विस्तार से लिखा है।[2] चिंतामणि ने अकबरशाह की शृंगारमंजरी की हिंदी छाया के द्वारा इस प्रकरण से रीतिकालीन आचार्यों को अवगत करा दिया था।

इस विभाजन का आधार नारी की शारीरिक तथा प्राकृतिक विशेषताएं हैं। इनमें से कुछ जन्मजात विशेषताएं भी हैं और कुछ अर्जित भी हैं। इनके लक्षणों में कुछ अश्लीलता भी आ जाती है। शृंगाररस के परिपाक की दृष्टि से ये विशेषताएं विशेष उपयोगी नहीं हैं। सम्भवतः इसीलिए काव्यशास्त्र के कुछ आचार्यों को छोड़कर इस भेद चतुष्टय को ग्रन्थों में स्वीकार नहीं किया। डा० सत्यदेव चौधरी ने इस उपेक्षा के ये कारण माने हैं: एक यह कि लोक में ऐसी नारियों का ढूंढ निकालना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है जिनपर पद्मिनी आदि के सभी गुण पूर्ण रूप से घटित होने के कारण उन्हें इन विशिष्ट नामों से अभिहित किया जा सके। और दूसरा कारण यह कि इस विभाजन को इसलिए उपेक्षा मिली कि काव्य नाटकादि लक्ष्यग्रन्थों में भी ऐसी नायिकाएं दृष्टिगोचर नहीं होतीं।[1] हमारे विचार से ये कारण शिथिल हैं। नायिकाओं के आदर्श नखशिखगत लक्षण भी मिलना कठिन ही है। इन नायिकाओं के निरूपण में नखशिख वर्णन में सामान्यतः मान्य अंगों के अतिरिक्त गुप्त अंगों की भी माप तोल दी रहती है जो एक विराट नग्नता से सम्बद्ध है। मदन मन्दिर, मदन जल आदि का इनमें अश्लीलता उत्पन्न कर सकते हैं। साथ ही शृंगाररस के परिपाक में इनका सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। उसमें मानसिक स्थितियों तथा उसके द्योतक हाव भावों के ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। केशव ने इसको स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि कामशास्त्रीय स्रोत केशव को विशेष प्रभावित करता रहा। साथ ही उन्होंने लक्षण निरूपण में शारीरिक विशेषताओं के निरूपण में मर्यादा दृष्टि रखी है। इनकी वासना या रति सम्बन्धी रुचियों और प्रतिक्रियाओं पर विशेष ध्यान दिया है। इससे उनकी शृंगार रसानुकूलता सिद्ध हो जाती है। इस सन्दर्भ में यह और उल्लेखनीय है कि रसिक भक्ति का साहित्य और उसके लिए बना भक्तिकाव्य शास्त्र इसका अधिकांश स्वीकृत कर चुका था। श्रीकृष्ण को एक बार कामकेलि विशारद स्वीकार कर चुकने के बाद उस साहित्य में सब कुछ की समाई हो चुकी थी। केशव अपनी रसिकप्रिया को उस रस साहित्य के लिए भी बनाना चाह रहे थे। अतः उन्होंने कामशास्त्रीय तथा साहित्यशास्त्रीय परम्पराओं में चले आते हुए इन निरूपणों को अपने निरूपण में सहज स्थान दे दिया।

सामाजिक बंधन के अनुसार नायिकाओं का विभाजन प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकृत किया है। भरत ने बाह्य या (कुलीना) आभ्यन्तरा (वेश्या) और बाह्याभ्यन्तरा

1 डा० सत्यदेव चौधरी, हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ ४०३
2 रसपीयूषनिधि दशा १६
3 हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ ४०

(वश्यावृत्ति त्याग कर प्रेमी के साथ रहनेवाली) भेद स्वीकार किए हैं।[1] इनमे स्पष्ट रूप से परकीया को स्वीकार नही किया गया। रुद्रट ने भी इस त्रिविध वर्गीकरण को स्वीकार किया है।[2] भोज ने पुनर्भू को जोडकर चार भेद कर दिए हैं।[3] विश्वनाथ ने इनको स्वीकार किया पर स्वकीया के भेद प्रभेद मे वृद्धि की। भानुमिश्र के अनुसार स्वकीया परकीया और सामान्या नायिकाएं प्रमुख हैं।[4] रूपगोस्वामी ने केवल स्वकीया और परकीया को स्वीकार किया है। सामान्या को नही।[5] केशव ने भी स्वकीया को विस्तार देते हुए परकीया को भी निरूपित किया है। सामान्या का साहित्यशास्त्रीय परम्परा का पालन करते हुए उल्लेख कर हरिशृंगार के लिए उसे अस्वीकार कर दिया है। अत केशव इस विषय मे गोस्वामी आदि आचार्यों के निकट हो जाते हैं।

जहा तक इनके उपभेदों की बात है इनमे आचार्यों मे विशेष अन्तर नही रह जाता। स्वकीया को उन्होंने मुग्धा मध्या प्रौढ़ा—तीन भेदों मे माना है। यह वर्गीकरण भी प्राय सभी आचार्यों को मान्य है। हिन्दी के आचार्यों ने भी इस भेद पद्धति को स्वीकार किया है। इस वर्गीकरण का आधार रति विकास या रति कौशल का विकास है।

केशव के अनुसार मुग्धा स्वकीया चार प्रकार की हैं नवलवधू नवयौवना नवलअनगा लज्जाप्रायरति।[6] संस्कृत के आचार्यों मे यह वर्गीकरण समान नही मिलता। केशव और कुछ प्रमुख आचार्यों की तुलनात्मक तालिका इस प्रकार हो सकती है

नायिका	केशव	धनंजय	शिंगभूपाल	विश्वनाथ	रूपगोस्वामी
नवलवधू	+	×	×	×	×
नवयौवनाभूषिता	+	नववयमा	+	प्रथमावतीर्ण यौवना	नववया
नवल अनगा	+	नव्यकामा	+	प्रथमावतीर्ण मदनविकारा	नव्यकामा
लज्जाप्रायरति	+	×	सव्रीड सुरतप्रयत्ना	समधिक लज्जावती	सव्रीडरता प्रयत्ना

१ नाट्यशास्त्र २४।१८२ १८५
२ काव्यालंकार १२।१७ ३
३ शृंगारप्रकाश राघवन पृ ३३
४ साहित्यदर्पण परि ३
५ रसमंजरी नायिकाप्रकरण
६ उज्ज्वलनीलमणि
७ रुद्रट काव्यालंकार १२।१७-८ विश्वनाथ सा द ३।५७-५८ भानुदत्त रसमंजरी नायिका प्रकरण
८ विश्वनाथ कविकल्पलता ५। ।३३ शिंगभूपाल रसार्णव १३ माधवनाथ रसार्णवनिधि ८। ४ आदि
९ कल्पद्रुमवल्ली, कल्प १ पृ १० छन्द १७

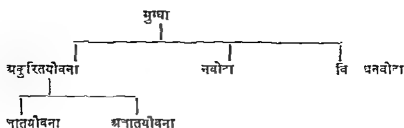
नायिका	केशव	धनंजय	सिंगभूपाल	विश्वनाथ	रूपगोस्वामी
रतिवामा	×	+	+	+	+
मृदुकोपा	×	+	+	+	रोपकृत बाष्पमौन
आधादभापणम्लना	×	×	+	×	मानविमुखी

(यहाँ × चिह्न अनुल्लेख का और + चिह्न उल्लेख का सूचक है।)

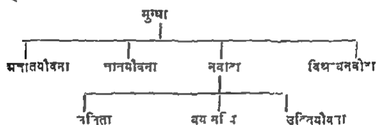
मुग्धा के भेद प्रभेद की यह एक परम्परा है। इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि केशव की नवलवधू किसी आचार्य ने अपने वर्गीकरण में सम्मिलित नहीं की। वस्तुतः नवलवधू भी कौटुम्बिक प्रेम प्रसंग में एक मधुर स्थान रखती है। हिन्दी के आचार्यों में देव ने केशव का अनुसरण किया है। उक्त वर्गीकरण में दृष्टि नायिका के वय विकास और रति विकास पर रही है। देव ने नवलवधू की वय १३ वर्ष मानी है। मतिराम ने नवलवधू भेद को तो स्वीकार नहीं किया पर उदाहरणों में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है—साथ सखी के नई दुलही।[1] इस प्रकार नववधू की कल्पना रीतिकालीन आचार्यों में बनी रही। केशव ने सम्भवतः वय क्रम की आरम्भिक स्थिति में नवलवधू भेद को स्वीकार किया है। नवयौवनाभूषिता से पहले इसको रखने का कारण यह हो सकता है कि हिन्दू समाज में बाल विवाह प्रचलित था। इस अवस्था से ही यौवन की किरणें प्रस्फुटित होना आरम्भ होता है। इससे वधू की बाल अवस्था का बोध होता है। नवयौवना के लक्षण से यह दृष्टि और भी स्पष्ट हो जाती है—बाल्यावस्था को पारकर जो यौवनावस्था में प्रवेश कर रही हो वही नवयौवना है।[2] सम्भवतः अन्य आचार्यों ने इस बालवधू को इसलिए छोड़ दिया है कि रति की अपरिपक्वावस्था में रतिरसपरिपाक असम्भव है।[3] इसलिए अन्य आचार्यों ने वय संधि से आरम्भ करना आवश्यक समझा। नववधू में तत्कालीन हिन्दू बाल विवाह की झलक मिलती है। यह सम्भव है कि परिस्थितियों के अनुकूल केशव ने यह भेद स्वयं ही दिया हो। शेष वर्गीकरण एक सुनिश्चित परम्परा के अनुरूप है।

ऊपर की तालिका में नामभेद भी मिलता है। लक्षणों में भी अन्तर मिलता है।[4] पर वर्गीकरण की प्रवृत्ति एक-सी ही दिखलाई देती है। एक और परम्परा वर्गीकरण के विषय में हमें मिलती है। विश्वनाथ तक उक्त मुग्धा भेद की परम्परा चलती रही। पीछे भानुदत्त में एक नवीन वर्गीकरण मिलता है

१ रसराज ४
२ रसिकप्रिया ३।२
३ साहित्य सागर लक्षण निरूपण।
४ रस (उरो) नायिकाप्रकरण के आधार पर



इस वर्गीकरण का आधार कुछ सूक्ष्म दिखाई देता है। इसका आधार लज्जा तथा भय है। ज्ञातयौवना में तो लज्जा होती है पर अज्ञातयौवना में लज्जा का संचार नहीं है। नवोढा लज्जा और भय के डोल में झूलती है।[१] भय सुरतक्रिया के अज्ञान से जन्य है। इन दोनों से डरी हुई नायिका रति से विरत-सी दिखाई देती है। जो वधू पहले पति को रतिक्षेत्र में क्रूरकर्मा समझती थी अब अनुभव से उसपर कुछ विश्वास करने लगी है। पर अभी लज्जा नहीं छूटी। इस प्रकार वय-क्रम के आधार पर हुआ वर्गीकरण छूटने लगा। इस वर्गीकरण ने पीछे के आचार्यों को विशेष रूप से प्रभावित किया। हिन्दी के आचार्यों में कृपाराम ने मुग्धा का वर्गीकरण इस प्रकार दिया है[२]



यह वर्गीकरण एक भिन्न ही आधार पर हुआ है। कवि ने जहाँ प्रथम रति सम्बन्धी नायिका की लज्जा और भय पर आश्रित वर्गीकरण को ग्रहण किया है वहाँ वयःसन्धि में वय का आधार भी लिया है। चिन्तामणि ने भी नवलवधू को स्वीकृत नहीं किया। अविदितयौवना, अविदितकामा, विदितकामा, विदितकामयौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा और कामलज्जोपा—इन्होंने मुग्धा नायिका के ये ६ भेद माने हैं।[३] चिन्तामणि के अनुसार मुग्धा वयःसन्धि पर स्थित होती है।[४] केशव ने यह स्थिति नवयौवन भूषिता की मानी है।[५] इससे यह स्पष्ट है कि केशव भी भानुदत्त का अनुसरण कर रहे थे। इसके

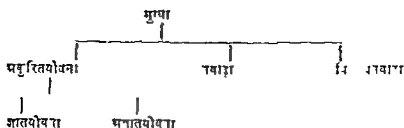
१ रसमञ्जरी।
२ रसरत्न ४
हिततरंगिणी के आधार पर
४ कविकुलकल्पतरु ५।१३-१७
५ ...
... कविकुलकल्पतरु ...
६ रसिकप्रिया ३।२

चल पर यह आधार भी मिश्रित ही है। 'कोमलकोपा' वस्तुतः धनंजय की 'कोपमृदु मुग्धा' ही है। मतिराम ने रसमंजरी के अनुसार अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना—मुग्धा के दो भेद माने हैं।[1] फिर नवोढा और विश्रब्धनवोढा भी स्वीकार की हैं।[2] रसलीन ने नवलवधू भेद स्वीकार किया है।[3] पर स्थिति में भेद है। सोमनाथ ने भी रसमंजरी का ही अनुसरण कर मुग्धा के अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना दो भेद माने हैं। इन्होंने बालपन के विवाह की चर्चा अवश्य की है। नवोढा इसी बालविवाह के कारण लज्जा और भय में युक्त रहती है।[4] देव ने इस स्थिति से कुछ पूर्व नवलवधू को रखा है। बालविवाह उनकी दृष्टि में था। दास ने भी रसमंजरी के अनुसरण पर अज्ञातयौवना ज्ञातयौवना तथा अविश्रब्ध नवोढा और विश्रब्धनवोढा भेद स्वीकार किए हैं।[5]

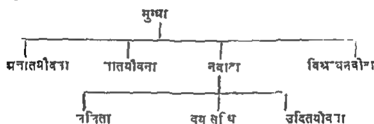
निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस वर्गीकरण की दो परम्पराएं हैं एक पुराने आचार्यों की जो विश्वनाथ पर जाकर समाप्त होती है। दूसरी नवीन आचार्यों की जो भानुमिश्र से आरम्भ होती है। केशव ने पहली परम्परा को अपनाया तथा अन्य आचार्यों ने दूसरी को। कहीं-कहीं मिश्रित आधार मिलता है। देव ने केशव की भांति वर्गीकरण किया है। अन्य आचार्यों ने भी लक्षण निरूपण में नवलवधू का प्रयोग किया है।

केशव ने मध्या के चार भेद किए हैं आरूढयौवना प्रगल्भवचना प्रादुर्भूत मनोभवा सुरतिविचित्रा। फिर इनको धीरा अधीरा धीराधीरा के रूप में स्वीकार किया है। मुग्धा की स्थिति पार कर नायिका पूर्ण यौवन और कामवासना से युक्त हो जाती है। उसे सुरतक्रीडा में रुचि होने लगती है।[6] अतः इनके वर्गीकरण का आधार यौवन और विलास की विधि है। धनंजय ने उद्यद्यौवनानङ्गा और मोहान्तसुरतक्षमा—ये दो भेद मध्या के स्वीकार किए हैं। इनमें से प्रथम केशव की आरूढयौवना ही है। केशव द्वारा परिगणित शेष तीन भेदों को धनंजय ने स्वीकार नहीं किया। मध्या के भेदों का विश्वनाथ ने यों दिया है विचित्रसुरता प्ररूढस्मरा प्ररूढयौवना ईषत्प्रगल्भवचना तथा मध्यमव्रीडिता। इनमें से मध्यमव्रीडिता को छोड़कर शेष चार केशव को मान्य हैं। भानुदत्त ने मध्या के भेदों को छोड़ दिया है। शिंगभूपाल ने मध्या के केवल तीन ही भेद माने हैं समानलज्जामदना प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी मोहान्तसुरतक्षमा।[7] इस प्रकार

१ रसराज १७
२ वही २४ २७
३ मुग्धा भेदों की कल्पना इस प्रकार है अप्राप्तयौवना, प्राप्तयौवना नवयौवना (=ज्ञात, अज्ञात) नवलअनंगा (=अविदित विदित) नवलवधू (=नवोढा विश्रब्धनवोढा लज्जाप्रायरतिः)—प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद, पृ० ४६
४ पराधीन रति लाज भय जा तिय के मन होय।
बालपनै ब्याही सु या बानी बरनत सोय॥ रसपीयूषनिधि ८।८
५ रससारांश २४,२५
६ दशरूपक ।१६
७ साहित्यदर्पण ।१२
८ रसार्णवसुधाकर १ ९३



इस वर्गीकरण का आधार कुछ सूक्ष्म दिखाई देता है। इसका आधार लज्जा तथा भय है। ज्ञातयौवना में तो लज्जा होती है पर अज्ञातयौवना में लज्जा का सचार नहीं है। नवोढ़ा लज्जा और भय के डोर में बन्धी है।[१] अब सुरतनिया के अनजान से जाय है। इन दोनों से डरी हुई नायिका रति से विरत-सी दिखाई देती है।[२] जो वधू पहले पति को रतिक्षेत्र में शूरमा समझती थी अब अनुभव से उसपर कुछ विश्वास करने लगी है। पर अभी लज्जा नहीं छूटी। इस प्रकार वय क्रम के आधार पर हुआ वर्गीकरण छूटने लगा। इस वर्गीकरण ने पीछे के आचार्यों को विशेष रूप से प्रभावित किया। हिन्दी के आचार्यों में कृपाराम ने मुग्धा का वर्गीकरण इस प्रकार किया है[३]



यह वर्गीकरण एक भिन्न जुते आधार पर हुआ है। कवि ने जहाँ प्रथम रति सम्बन्धी नायिका की लज्जा और भय पर आश्रित वर्गीकरण का ग्रहण किया है वहाँ वय संधि में वय का आधार भी लिया है। चिन्तामणि ने भी नववधू को स्वीकृत नहीं किया। अविदितयौवना अविदितकामा विदितकामा विदितकामयौवना नवोढा विश्रब्ध नवोढा और कोमलकोपा—उन्होंने मुग्धा नायिका के ये ६ भेद माने हैं। चिन्तामणि के अनुसार मुग्धा वय संधि पर स्थित होती है।[४] केशव ने यह स्थिति नवयौवन भूषिता की मानी है।[५] इससे यह स्पष्ट है कि केशव भी भानुदत्त का आधार ही लेकर

१ रसमञ्जरी
२ रसराज २४
३ हिततरंगिणी के आधार पर
४ कविकुलकल्पतरु ५।१८-१९ २
५ नाह जोबन अंकुरित सो मुग्धा वर नारि।
दुई वयक्रम संधि में तौ वयसंधि निहारि॥ कविकुलकल्पतरु ५। ८८
६ रसिकप्रिया ३।२

चल पर यह आधार भी मिश्रित हो है। 'कोमलकोपा' वस्तुतः धनंजय की कोपमृदु मुग्धा ही है। मतिराम ने रसमंजरी के अनुसार अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना—मुग्धा के दो भेद माने हैं।[1] फिर नवोढा और विश्रब्धनवोढा भी स्वीकार की हैं।[2] रसलीन ने नवलवधू भेद स्वीकार किया है।[3] पर स्थिति में भेद है। सोमनाथ ने भी रसमंजरी का ही अनुसरण कर मुग्धा के अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना दो भेद माने हैं। इन्होंने बालपन के विवाह की चर्चा अवश्य की है। नवोढा ऐसी बालविवाह के कारण लज्जा और भय से युक्त रहती है।[4] केशव ने इस स्थिति से कुछ पूर्व नवलवधू को रखा है। बालविवाह उनकी दृष्टि में था। दास ने भी रसमंजरी के अनुसरण पर अज्ञातयौवना ज्ञातयौवना तथा अविश्रब्धनवोढा और विश्रब्धनवोढा भेद स्वीकार किए हैं।[5]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस वर्गीकरण की दो परम्पराएँ हैं—एक पुराने आचार्यों की जो विश्वनाथ पर जाकर समाप्त होती है। दूसरी नवीन आचार्यों की जो भानुमिश्र से आरम्भ होती है। केशव ने पहली परम्परा को अपनाया तथा अन्य आचार्यों ने दूसरी को। कहीं कहीं मिश्रित आधार मिलता है। देव ने केशव की भाँति वर्गीकरण किया है। अन्य आचार्यों ने भी लक्षण निरूपण में नवलवधू का प्रयोग किया है।

केशव ने मध्या के चार भेद किए हैं—आरूढयौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूतमनोभवा, सुरतिविचित्रा। फिर इनको धीरा, अधीरा, धीराधीरा के रूप में स्वीकार किया है। मुग्धा की स्थिति पार कर नायिका पूर्ण यौवन और कामवासना से युक्त हो जाती है। उसे सुरतक्रीडा में रुचि होने लगती है।[6] अतः इसके वर्गीकरण का आधार यौवन और विलास की विधि है। धनंजय ने उद्यद्यौवनानङ्गा और मोहान्तसुरतक्षमा—ये दो भेद मध्या के स्वीकार किए हैं। इनमें से प्रथम केशव की आरूढयौवना ही है। केशव द्वारा परिगणित शेष तीन भेदों को धनंजय ने स्वीकार नहीं किया। इन्हीं के भेदों को विश्वनाथ ने यों लिया है—विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना तथा मध्यमव्रीडिता। इनमें से मध्यमव्रीडिता को छोड़कर शेष चार केशव को मान्य हैं। भानुदत्त ने मध्या के भेदों को छोड़ दिया है। शिंगभूपाल ने मध्या के केवल तीन ही भेद माने हैं—समानलज्जामदना, प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी, मोहान्तसुरतक्षमा।[8] इस प्रकार

१ रसराज १७
२ वही २४ २७
३ मुग्धा भेदों की कल्पना इस प्रकार है—अंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना (=अज्ञात ज्ञात), नवलअनंगा (=अविदित विदित), नवलवधू (=नवोढा, विश्रब्धनवोढा, लज्जाप्रायरतिका) —प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद, पृ. ४०
४ पराधीन रति लाज भय ना निज मन चाव।
बालपने ब्याही सु या नाम नवोढा गाय॥ रसपीयूषनिधि ८।
५ रससारांश २४ २५
६ दशरूपक २।१६
७ साहित्यदर्पण ३।१०
८ रसार्णवसुधाकर पृ० २३

केशव का वर्गीकरण [illegible] । इस [illegible] किशोरी के [illegible] आधार पर [illegible] किया गया है। [illegible] प्रकार यह [illegible] है कि केशव मध्या के विभाजन के [illegible] ।[1] [illegible] [illegible] ।[2] [illegible] [illegible] है कि [illegible] में [illegible] ।[3] [illegible] प्रकार के [illegible] । [illegible] किन्तु [illegible] के [illegible] है। केशव [illegible] चिन्तामणि [illegible] भी मध्या के चार भेद किए हैं आरूढयौवना प्रगल्भवचना विचित्रसुरता [illegible] । [illegible] भी यही वर्गीकरण स्वीकार किया है।[4] [illegible] भी [illegible] में [illegible] परम्परा में पाते हैं। मतिराम ने मध्या के धीरादि भेद ही किए हैं। इस प्रकार मध्या के वर्गीकरण की दो परम्पराएँ रहीं [illegible] एक में यौवन और काम भावना के विकास और धीरता के अनुसार द्विविध वर्गीकरण रहा दूसरी में केवल धीरादि भेद किए गए। केशव ने इनमें से पहली को ही ग्रहण किया। धनंजय ने धीरादि भेद भी किए हैं। भानुदत्त ने मध्या के भेदोपभेद के प्रति जो उदासीनता दिखाई[5] उसने रीतिकाल के कुछ आचार्यों को प्रभावित किया। केशव स्पष्टतः इस परम्परा में नहीं आते।

केशव के अनुसार प्रौढ़ा (प्रगल्भा) के चार भेद होते हैं समस्तरसकोविदा विचित्रविभ्रमा आक्रमितानायिका [illegible] लब्धापति।[6] संस्कृत आचार्यों के प्रौढ़ा के भेदीकरण में साम्य नहीं है। इस वर्गीकरण का आधार है कामवासना और यौवन का चरम विकास। अन्धता की स्थिति तक दोनों ही पहुँच जाते हैं। धनंजय ने इन्हीं दो के आधार पर प्रौढ़ा नायिका के दो भेद किए हैं। यौवनान्धा और स्मरोन्मत्ता।[7] शिंगभूपाल के सम्पूर्ण यौवनोन्मत्ता एवं रूढमन्मथा भेद धनंजय से मिलते हैं। भानुदत्त ने भी यही वर्गीकरण दिया है। पर नामभेद है। उनके नाम हैं—रतिप्रीता और आनन्दासम्मोहा।[8] विश्वनाथ ने इसके भेदों की संख्या में वृद्धि की। उनका वर्गीकरण विशद है। स्मरान्धा, गाढतारुण्या, समस्तरतकोविदा, भावोन्मत्ता, दरव्रीडा तथा आक्रान्तनायिका।[9] इसमें भी अन्धता और उन्मत्तता को आधार बनाया गया है। केशव की समस्तरसकोविदा और आक्रमितानायिका विश्वनाथ की समस्तरतकोविदा और आक्रान्तनायिका से मिलती हैं। हिन्दी के आचार्यों में चिन्तामणि ने चार भेद माने हैं यौवनप्रगल्भा मदनमत्ता

१ केशवदास जीवनी कला और कृतित्व पृ ३६४
२ कविकुलकल्पतरु ५।२।६७
३ रसविलास नायिकाप्रकरण
४ मतिराम ने मध्या प्रौढ़ा—दोनों के भेद साथ-साथ दिए हैं। रसराज ३६
५ पद्माकरग्रन्थावली पृ १४ छन्द ४५
६ वही पृ १५ छन्द ४
७ दशरूपक २।१८
८ रसमञ्जरी
९ साहित्यदर्पण [illegible]

रतिप्रीतिमती और मुग्धनिमोन्मत्तवर्गा ।[1] मतिराम ने द्विविध और चतुर्विध दोनों वर्गी करणों को छोड़कर प्रौढ़ा में केवल कामकला के ज्ञान की स्थिति मानी है ।[2] देव ने रसविलास में प्रौढ़ा के लब्धापति रतिकोविदा आक्रान्ता सविभ्रमा—चार भेद माने हैं । इस वर्गीकरण में केशव का अनुकरण स्पष्ट है । रसलीन ने भी इस प्रकार का वर्गीकरण स्वीकार किया है । उन्मदयौवना मदनमत्ता लुब्धापति और रतिकोविदा । इस प्रकार वर्गीकरण के विषय में दृष्टिकोण का क्रमश विकास मिलता है । पहले केवल यौवन और कामवासना के विकास के आधार पर वर्गीकरण रहा पीछे कौटुम्बिक और सामाजिक दृष्टि का भी समावेश हुआ । स्वकीया प्रौढ़ा पति के समान ही पतिकुल के अन्य व्यक्तियों का आदर करती है ।[3] इस वधूगत प्रौढ़ता के बिना स्वकीया दृष्टि पूर्ण नहीं हो सकती । यही लुब्धापति का बीज है । इस दृष्टि में केशव विश्वनाथ से भिन्न हो जाते हैं । अपने इन सभी विकास उदार भाव तथा समाजसम्मत गुणों से नायिका प्रिय पर नियन्त्रण कर लेती है । इस प्रकार आक्रान्तानायिका का आधार उसका जन विजयी प्रभाव है । प्राय सभी आचार्यों ने प्रौढ़ा के धीराधीरादि तीन भेद स्वीकार किए हैं ।

केशव के परकीया-सम्बन्धी दृष्टिकोण का हम पहले निरूपण कर चुके हैं । परकीया के भेदोपभेदों की ओर केशव ने कुछ उदासीनता प्रकट की है । परकीया के दो भेद प्राय मान्य रहे—विवाहिता और अविवाहिता । केशव ने ऊढ़ा और अनूढा के रूप में इन्हें स्वीकार किया है । इनके प्रभाव की ओर भी उन्होंने दृष्टि डाली है जिन्हें देखि वश होत है सतत मूढ़ अमूढ़ । पर सम्भवत उसकी असामाजिक स्थिति को ध्यान में रखकर केशव ने इसकी उपेक्षा की है और इनके उपभेदों को नहीं गिनाया । रुद्रट भोज भानुदत्त रूपगोस्वामी तथा विश्वनाथ ने इन भेदों को स्वीकार किया है । हिन्दी के कई आचार्य भी इन्हें स्वीकार करते हैं । कृपाराम ने ऊढ़ा अनूढ़ा भेद दिए हैं ।[5] साथ ही उपभेद भी किए हैं ।[5] चिन्तामणि ने भी उपभेदों सहित उक्त दोनों भेद माने हैं । मतिराम ने भी ६ उपभेदों के साथ इन्हें माना है ।[6] सोमनाथ ने इन भेदद्वय के साथ परोढ़ा के ६ भेद माने हैं ।[7] भिखारीदास ने भी अपने रससाराश में इन दो प्रमुख भेदों के साथ उपभेद दिए हैं । यह पद्धति भानुमिश्र से सम्बन्धित है । भानुमिश्र ने परकीया के अन्तर्गत गुप्ता मुदिता लक्षिता

१ कविकुलकल्पतरु ६।३।१०३
२ रसराज ३३
३ षगवप्रभावली पृ १६, छन्द ५७
४ काव्यालंकार अ १२ सरस्वतीकण्ठाभरण अ ५ रसमञ्जरी उज्ज्वलनीलमणि — — —, परि ३
५ हितरंगिणी
६ प्रभुदयाल मीतल ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद पृ १६
७ कविकुलकल्पतरु पंचम अध्याय
८ रसराज छन्द ६५ ९ रसपीयूषनिधि ६।७

कुलटा, अनुशयाना और विदग्धा नामक ६ भेद किए हैं। हिन्दी के प्रायः सभी आचार्यों ने इन उपभेदों को लिया है। केशव ने इनमें सामाजिक आदर्शों की स्तुति पाई है। कुलटा धार्मिक व उच्च सामाजिक अपराध लगा। अतः उन्होंने इसकी तिरस्कार भी उपेक्षा कर दी। इस वर्गीकरण में भी दो ही परम्पराएं रहीं—एक में मुख्य भेदों को ही लिया गया है। दूसरी में उपभेदों का भी निरूपण किया गया है। केशव का सम्बन्ध पहली परम्परा से है।

केशव ने इन सभी नायिकाओं को आठ भागों में विभाजित किया है। स्वाधीनपतिका, उत्कंठा (उत्का) वासकसज्जा, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषितप्रेयसी, विप्रलब्धा, अभिसारिका।[1] इन भेदों की काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय परम्पराएं बहुत प्राचीन हैं और रसिक साहित्य तथा उसके काव्यशास्त्र में ये मान्यता प्राप्त कर चुके थे। नायक के साथ संयोग अथवा वियोग की अवस्था के अनुसार भरत ने नायिका के इन आठों भेदों को स्वीकार किया है। भानुदत्त ने प्रवत्स्यत्पतिका—एक नया भेद और जोड़ा है।[2] हिन्दी के आचार्यों में कृपाराम ने इन भेदों की संख्या दस तक पहुंचाई है।[3] देव ने रसविलास में संख्या ८ ही रखी है। रसलीन ने रसप्रबोध में ८ ही मानी है। सोमनाथ ने प्रसिद्ध आठ नायिकाएं तो मानी ही हैं साथ ही प्रवत्स्यत्पतिका और आगमिष्यत्पतिका को मानकर भेदसंख्या फिर दस स्वीकार की है। इन अतिरिक्त नायिकाओं में से प्रथम का स्रोत तो भानुदत्त की रसमंजरी है दूसरी का उल्लेख संस्कृत के किसी आचार्य ने नहीं किया। दास ने प्रसिद्ध स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों के साथ अतिरिक्त दो भेदों को भी गिनाया है। इन भेदों की ८, ९, १० की तीन धाराएं चलीं। संस्कृत में प्रायः आठवाली परम्परा ही प्रचलित रही। केशव ने इसी प्राचीन परम्परा को अपनाया। भानुमिश्र का अनुकरण अन्य हिन्दी आचार्यों ने किया।

गुण के आधार पर नायिका के तीन भेद केशव ने और माने हैं उत्तमा, मध्यमा और अधमा।[4] भरत ने भी प्रकृति के आधार पर यह वर्गीकरण किया है।[5] भोज ने भी इन गुणों को माना है। प्रायः आचार्य इन भेदों को स्वीकार करते रहे हैं। हिन्दी में चिन्तामणि, मतिराम, रसलीन, सोमनाथ, दास आदि ने इन तीनों का निरूपण किया है। इस प्रकार गुण या प्रकृति के अनुसार नायिका भेद की प्राचीन एवं स्वीकृत परम्परा मिलती है। केशव ने इन भेदों को प्रस्तुत करते हुए इसी परम्परा का परिपालन किया।

१ केशवग्रन्थावली प्रथम खण्ड
२ प्रवत्स्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमर्हति। रसमंजरी
प्रभुदयाल मीतल ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद पृ ४
४ रसमारास ११४
५ केशवग्रन्थावली १ पृ ४ छन्द २८
६ नाट्यशास्त्र ९।३६ ४२
७ सरस्वतीकंठाभरण ५।१ ?

जात्यनुसार नायिकाए

इस वर्गीकरण म नारी की मामाजिक और कौटुम्बिक स्थिति पर विचार नहा किया गया है। उसक नरीर और स्वभाव की विनपताओं को ही स्पष्ट किया गया है। इन विनेपताओं की दृष्टि स निम्न भेद किए गए हैं।

पद्मिनी

पद्मिनी एक आदन नारी है। केनव क अनुसार इसकी नारीरिक विनेपताए य हैं सुगंधित हसमुख स्वणवणा, तनु तनु तथा लोमरहित मन्न मदिर। उसकी रुचि और अभ्यास अल्पता या सूक्ष्मता लिए होत हैं। भोजन, रोष, रति निद्रा तथा मान की मात्रा उसम अल्प होती है। बुद्धि विकसित और लज्जा सौंदय को द्विगुणित करनेवाली। स्वभाव से उदारहृदया और कोमला। स्वच्छ वस्त्र धारण करती है। ऐसी आदन नारी का प्रेम परम सुखद होता है।[1] जायसी न पदमवास सन्तुलित नरीर तथा उसक अल्पाहार का उल्लेख किया है।[2] कामनास्त्रीय ग्रथा म इन नायिकाओं क गुणों की चचा मिलती है। अनगरग क य लक्षण केनव स मिलत ह उसके अग प्रत्यग स सुगध आना चम्पा और स्वण क वण की होना स्वल्प और लज्जा का समन्वय अल्प भाजन अल्प निद्रा स्वच्छ वत्त वस्त्र धारण।[3]

हिंदी क कुछ अय आचार्यों न भी पदमिनी क गुणा की गणना की है। इनम जसवन्तसिंह (भाषाभूषण) देव सोमनाथ आदि क नाम लिए जा सकत हैं।[4] इन आचार्यों क सामने कनवदास का ही आदन रहा होगा। कनव ने रतिरहस्य क आधार पर अपना निरूपण किया है। सोमनाथ न पद्मिना का यह लक्षण किया है सहज सुगंधित नरीरवाली कनकवर्णा मृदुहासिनी, रोष, भोजन तथा रति म अल्परुचि।[5] यह लक्षण कनव स मिलत-जुलत हैं।

उदाहरण को कनव न लक्षण क पूरक रूप म प्रस्तुत किया है। कुछ और गुणा को लिया गया है उसक हाव भाव गूढ होते हैं वह कोक की वारिका जसी होती है आदि।[6] साथ ही उदाहरण म लक्षण क सभी गुण भी नही रख गए ऐसा करना आवश्यक भी नहीं था। हा प्रभाव का उल्लख किया है और सभवत अभिलाप लाख भाति।

1 कशवग्रथावली १ पृ ८ छन्द ३
2 जायसी ग्रथावली पृ =
3 अनगरग, सपादक जयन्व विनयकार लाहौर १६ ७ पृ० ० ३, श्लो० ८ ६
4 रसविलास ५ ७ ६, ११, भवानीविलास २१ २४, २८, २१, सुखसागरतरग ४।२४- ३१ तथा रसपीयूषनिधि ८।१३ १५, १७ १६
5 रसप यूषनिधि ८।१३
6 गूढ भूरि हाव भव कोक कैसी वारिका। कशवग्रथावली १ पृ० ८ छन्द ४
7 वही

कुलटा अनुशयाना और विदग्धा नामक ६ भेद दिए हैं। हिन्दी के प्राय सभी आचार्यों ने इन उपभेदों को दिया है। केशव ने इनमें सामाजिक आदर्शों की च्युति पाई है। कुलटा आदि में उन्हें सामाजिक अपराध लगा। अत उन्होंने इनको तिरस्कार भरी उपमा दे दी। इस वर्गीकरण में भी दो ही परम्पराएँ रहीं—एक में मुख्य भेदों को ही दिया गया है। दूसरी में उपभेदों का भी निरूपण किया गया है। केशव का सम्बन्ध पहली परम्परा से है।

केशव ने इन सभी नायिकाओं को आठ भागों में विभाजित किया है। स्वाधीनपतिका उत्कला (उत्का) वासकसज्जा अभिसंधिता खंडिता प्रोषितप्रेयसी विप्रलब्धा अभिसारिका।[1] इन भेदों की काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय परम्पराएँ बहुत प्राचीन हैं और रसिक साहित्य तथा उसके काव्यशास्त्र में ये मान्यता प्राप्त कर चुके थे। नायक के साथ संयोग अथवा वियोग की अवस्था के अनुसार भरत ने नायिका के इन आठों भेदों को स्वीकार किया है। भानुदत्त ने प्रवत्स्यत्पतिका—एक नया भेद और जोड़ा है।[2] हिन्दी के आचार्यों में कृपाराम ने इन भेदों की संख्या दस तक पहुँचाई है।[3] देव ने रसविलास में संख्या ८ ही रखी है। रसलीन ने रसप्रबोध में ८ ही मानी है। सोमनाथ ने प्रसिद्ध आठ नायिकाएँ तो मानी ही हैं साथ ही प्रवत्स्यत्पतिका और आगमिष्यत्पतिका को मानकर भेदसंख्या फिर दस स्वीकार की है। इन अतिरिक्त नायिकाओं में से प्रथम का स्रोत तो भानुदत्त की रसमंजरी है दूसरी का उल्लेख संस्कृत के किसी आचार्य ने नहीं किया। दास ने प्रसिद्ध स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों के साथ अतिरिक्त दो भेदों को भी गिनाया है। इन भेदों की ८ ९ १० की तीन धाराएँ चलीं। सबके ऊपर में प्राय आठवाली परम्परा ही प्रचलित रही। केशव ने इसी प्राचीन परम्परा को अपनाया। भानुमिश्र का अनुवर्तन अन्य हिन्दी आचार्यों ने किया।

गुण के आधार पर नायिका के तीन भेद केशव ने और माने हैं उत्तमा मध्यमा और अधमा। भरत ने भी प्रकृति के आधार पर यह वर्गीकरण किया है।[4] आज ने भी इन गुणों को माना है।[5] अन्य आचार्य इन भेदों को स्वीकार करते रहे हैं। हिन्दी में चिंतामणि मतिराम रसलीन सोमनाथ दास आदि ने इन तीनों का निरूपण किया है।[6] इस प्रकार गुण या प्रकृति के अनुसार नायिका भेद की प्राचीन एवं स्वीकृत परम्परा मिलती है। केशव ने इन भेदों को प्रस्तुत करते हुए इसी परम्परा का परिपालन किया।

१ [illegible]
२ [illegible] । रसमंजरी
[illegible]
४ [illegible] ११४
५ [illegible]
६ [illegible] २५।३ ४२
७ [illegible]

जात्यनुसार नायिकाएं

इस वर्गीकरण में नारी की सामाजिक और कौटुम्बिक स्थिति पर विचार नहीं किया गया है। उसके शरीर और स्वभाव की विशेषताओं का ही स्पष्ट किया गया है। इन विशेषताओं की दृष्टि से निम्न भेद किए गए हैं।

पद्मिनी

पद्मिनी एक आदर्श नारी है। केशव के अनुसार इसकी शारीरिक विशेषताएं ये हैं सुगंधित हंसमुख स्वर्णवर्णा तनु तनु तथा लोमरहित मदन मंदिर। उसकी रुचि और अमर्ष अल्पता या सूक्ष्मता लिए होते हैं। भोजन रोष, रति निद्रा तथा मान की मात्रा उसमें अल्प होती है। बुद्धि विकसित और लज्जा सौंदर्य को द्विगुणित करनेवाली। स्वभाव से उदारहृदया और कोमला। स्वच्छ वस्त्र धारण करती है। ऐसी आदर्श नारी का प्रेम परम सुखद होता है।[1] जायसी ने पदमावत में संतुलित शरीर तथा उसके अल्पाहार का उल्लेख किया है।[2] कामशास्त्रीय ग्रन्थों में इन नायिकाओं के गुणों की चर्चा मिलती है। अनंगरंग के ये लक्षण केशव से भिन्न हैं उसके अंग प्रत्यंग से सुगंध आना चम्पा और स्वर्ण के वर्ण की होना स्वरूप और लज्जा का समन्वय अल्प भोजन अल्प निद्रा स्वच्छ श्वेत वस्त्र धारण।[3]

हिंदी के कुछ अन्य आचार्यों ने भी पद्मिनी के गुणों की गणना की है। इनमें जसवन्तसिंह (भाषाभूषण) देव सोमनाथ आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन आचार्यों के सामने केशवदास का ही आदर्श रहा होगा। केशव ने रतिरहस्य के आधार पर अपना निरूपण किया है। सोमनाथ ने पद्मिनी का यह लक्षण किया है सहज सुगंधित शरीरवाली कनकवर्णा मृदुहासिनी, रोष भोजन तथा रति में अल्परुचि।[5] यह लक्षण केशव से मिलता-जुलता है।

उदाहरण को केशव ने लक्षण के पूरक रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ और गुणों को लिया गया है उसमें हाव भाव पूरे होते हैं वह कोक की कारिका जैसी होती है आदि।[6] साथ ही उदाहरण में लक्षण के सभी गुण भी नहीं रखे गए ऐसा करना आवश्यक भी नहीं था। हां प्रभाव का उल्लेख किया है और संभवत अभिलाष नाना भांति।[7]

1 केशवग्रन्थावली १ पृ ८, छन्द ४
2 जायसी ग्रन्थावली पृ० २८
3 अनंगरंग, सम्पादक जयदेव विद्यालंकार लाहौर १६ ७, पृ ३, श्लो० ८ ६
4 रसविलास ५, ७ ६, ११ भवानीविलास [illegible], २८, ३१, [illegible] ४।३४८ ३।२ तथा रसपीयूषनिधि ८।१ १५, १७ १६
5 रसपीयूषनिधि ८।१३
6 गुन भूरि हाव भाव काक जैसी कारिका। केशवग्रन्थावली १ पृ० ८ छन्द ४
7 वही।

चित्रिणी

क्रम में द्वितीय कोटि चित्रिणी नायिका की है। चित्रिणी नायिका की रुचि कला विलास में होती है। नृत्य गीत चित्र कविता उसे प्रिय होते हैं। उसका हृदय सुस्थित होता है। पर दृष्टि चंचल होती है। बहिरति में उसकी रुचि होती है।[1] पदिमनी में रतिरुचि ही कम होती है। चित्रिणी में कामकलात्मक बहिरति में विशेष रुचि पाई जाती है। मदन जल की मात्रा अधिक होती है। पदिमनी की भांति सारे शरीर से तो सुगंध नहीं पर मुख से सुगंध आती रहती है। उसके शरीर की गंध सबको भाती है।[2] मदन मंदिर और शरीर अलोम तो नहीं पर चित्रिणी विरललोमा अवश्य होती है। इस प्रकार चित्रिणी और पद्मिनी के बीच भेद का आधार सूक्ष्म है। तीन विशेषताएँ ही उसे उससे अलग करती हैं कलाप्रेम बहिरति रुचि और विरललोमता। केशव के लक्षण अनंगरंग से मिलते हैं।[3] नृत्य और बहिरति प्रेम रतिरहस्य के लक्षणों से मिलते हैं। सोमनाथ ने इसके लक्षण केशव के समान ही दिए हैं।[4] पर संख्या कम है। तुलनात्मक तालिका यह है

	कलाप्रेम	अचलचित्तता	चंचलदृष्टि	बहिरति प्रेम	सुरत जरा निश्चय	मुख सुगंध	मित्र चित्र प्रिय
केशव	नृत्य गीत कविता	+	+	+	+	+	+
सोमनाथ	+ + × चित्र	×	×	+	×	×	+

इससे ज्ञात होता है कि सोमनाथ कामशास्त्रीय मूल स्रोतों को देखे बिना ही चित्रिणी का निरूपण करते हैं। उसमें परम्परा-पालन बहुत है। पूर्णता की ओर दृष्टि कम है। भिखारीदास ने भी इन उपभेदों की चर्चा की है। पर उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि काव्य में इनको स्थान देना अधिक उचित नहीं है।[5] फिर उनसे आशा ही क्या की जा सकती है कि वे इनके लक्षण निरूपण में न्याय करेंगे।

शंखिनी

पदिमनी और चित्रिणी नायिकाओं में शंखिनी नितान्त भिन्न होती है। काय

१ बहिरति महबाम पूर्व का उत्तेजक क्रिया होती है। इसमें नारी आचरन आलंगन चुम्बन आदि आते हैं। उनका वर्णन कामसूत्र में हुआ है। अधिकरण　अध्याय

२ नृत्यगानरत [illegible] अचल चित्त चल [illegible]।
बहिरति रति अति सुरतान्त सुख सुगन्ध की मूरि।
विरल [illegible] [illegible] [illegible] सुखाम।
मित्र चित्र [illegible] चित्रिनी [illegible] कामवाम। —रसिक [illegible]

३ अनंग रं पृ ३ श्लो १ ११

४ नृत्यगीतकाव्य [illegible]। [illegible]। रतिरहस्य

५ रसि [illegible] ८।१५

६ रसरहस्य १२४

कपट काम प्राप्ति की मात्रा में बहुत अंतर आ जाता है। केशव के अनुसार वह कोप शीला कपट-कुशला मजल-सलोम शरीरा रक्त वस्त्र एवं भोजन में रुचिवाली नख दान में प्रीति रखनेवाली निलज्ज निडर और अधीर होती है। उसके मदन जल में क्षार गंध आती है। उसे सुरत की अधिक इच्छा होती है। वह तप्तभगा भी होती है। इस नायिका में अवगुण ही हैं। कामशास्त्र में ये लक्षण इसीलिए दिए हुए हैं कि नायक और नायिका पहचानकर समरत में संलग्न हो सकें।[1] अतः वात्स्यायन ने नायक नायिका का पशु प्रतीकों के माध्यम से वर्णन किया है। तथा उनके जोड़ निश्चित किए हैं।[2] वात्स्यायन की केवल हस्तिनी नायिका कामशास्त्र में मान्य रही। पर कामशास्त्र में नायकों का मृग वृष अश्वादि भेद नहीं स्वीकार किया गया। कामसूत्र की वडवा नायिका ही शंखिनी है।[3] कामशास्त्रीय ग्रंथों में मिलनेवाले शंखिनी के लक्षणों का केशव ने अधिकांश सहारा लिया है। अनंगरंग में इसके लक्षणों की एक लम्बी सूची दी गई है।[4] मतिराम ने केशव के सभी लक्षण तो नहीं दिए पर केशव के लक्षणों का अनुसरण अवश्य किया है।[5] दास ने इसका निरूपण अत्यन्त चलता कर दिया है। उन्होंने शंखिनी और हस्तिनी को ग्राम्या बताकर बात चलती की है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि केशव ने शंखिनी के लक्षण अन्य सब हिन्दी आचार्यों से विस्तृत दिए हैं। इस लक्षण निरूपण का स्रोत कामशास्त्रीय ग्रंथ हैं।

शंखिनी के उदाहरण में केशव ने एक विचित्र अन्योक्ति दी है। उसमें ऊँट की रुचि का वर्णन किया गया है। वह कदली पान लवंग आदि कोमल और सुखद लताकुंजों के झुरमुट में न जाकर कटु कटीली झाड़ियों से ही प्रेम करता है। इससे ध्वनित होता है कि शंखिनी की रुचि परिष्कृत नहीं होती उसकी कामाग्नि इतनी उद्दीप्त होती है कि नम्र और कलात्मक कामकेलि पद्धति से वह परितृप्त नहीं हो सकती। अतः केशव ने उसकी एक सामान्य प्रवृत्ति को उदाहृत करके लक्षणों की गणना के बोझ में उदाहरण को बोझिल नहीं बनाया।[6] इससे उदाहरण अपेक्षाकृत सजीव और सार्थक हो जाता है।

हस्तिनी

हस्तिनी नायिका की प्रमुख विशेषता उसका स्थूल होना है। उसकी अंगुलियाँ पद, मुँह अधर और भौंहें स्थूल होती हैं। उसकी वाणी कटु होती है चित्त चचल

१ केशवग्रंथावली खंड १, पृ० ६
२ कामसूत्र २।१।२
३ वही ।१।१
४ पं० माधवाचार्य शर्मा, कामसूत्र, पृ० २१८, मीननाथकृत स्मरदीपिका में वृष नायक और शंखिनी का सम युग्म माना गया है।
५ अनंगरंग, पृ० ३ श्लो० १२ १३
६ रसपीयूषनिधि ८। १७
७ रससारांश १५४
८ केशवग्रंथावली १, पृ० ६

होता है और चाल मन्द होती है। केशों का रंग भूरा होता है। शरीर पर लोम सघन होते हैं।[१] हस्तिनी नायिका की चर्चा वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में भी की है।[२] अनंगरंग में हस्तिनी के जो लक्षण बताए गए हैं उनमें से अधिकांश केशव से मिलते हैं। जैसे उसके कपिल केश, कटु वाणी, मन्द गति, अधर स्थौल्य, मदन जल का हस्ति गन्धी होना आदि।[३] सोमनाथ के अनुसार हस्तिनी के दांत स्थूल और केश भूरे होते हैं। उसकी गति मन्द होती है। स्वर गम्भीर होता है। उसके शरीर से हाथी के मदजल की सी गन्ध आती है।[४] केशव ने स्थूल दांतों की चर्चा नहीं की।

इसके उदाहरण में केशव ने कोई विशेषता नहीं दिखाई। समस्त देह को उन्होंने दुःखमय कह दिया है। उन व्यक्तियों को भी उन्होंने मतिमन्द कहा है जिन को सुख की खोज में हस्तिनी से सम्पृक्त होना पड़ता है। उसके विशाल लोमों और कटु वचनों के कारण किसीको सुख नहीं मिल सकता।[५]

इन सभी लक्षणों में शरीर की गन्ध और लोम के रूप को प्रधानता दी गई है। इन दोनों से कामशास्त्र के अनुसार नायिका की कामदशा का पता चल जाता है। त्याज्य या ग्राह्य का निर्णय इन्हीं ऊपरी लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है।

धर्मानुसार नायिकाएं

स्वकीया

स्वकीया-सम्बन्धी केशव की दृष्टि पर पीछे हम कुछ विचार कर चुके हैं। केशव की स्वकीया पतिव्रता है जो सम्पत्ति विपत्ति जीवन मरण में मनसा वाचा कर्मणा नायक के साथ रहती है।[६] काव्यशास्त्र के आचार्यों ने स्वकीया के इस आदर्श की कल्पना प्रायः नहीं की। सिंगभूपाल से केशव की स्वकीया के लक्षण भिन्न हैं। प्रायः अपने ही स्वामी में अनुरक्त रहनेवाली नायिका को स्वकीया या स्वकीया कहा है। उसे अपना स्वामी ही प्रिय लगता है।[७] धनंजय ने पति के साथ व्यवहार के शीलादि गुणों पर बल दिया है।[८] विश्वनाथ ने अनेक व्यावहारिक गुणों को भी

१ केशवग्रन्थावली ख १ पृ ६
२ [illegible]
३ स्थूला [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
४ [illegible]
५ केशवग्रन्थावली ख १ पृ ६
६ वही
७ [illegible]
८ [illegible]
९ [illegible]

चर्चा की है।[1] उन्होंने उसे विनय सरलता आदि गुणों से युक्त और गृहकार्य में भी कुशल माना है। डा० किरणचन्द्र शर्मा ने कहा है "यह लक्षण धनंजय भानुदत्त आदि किसी में नहीं मिलता।[2] पर केशव की पतिव्रता का नामोल्लेख विश्वनाथ में है। केशव ने उसे और स्पष्ट कर दिया है। इस दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर परिलक्षित होता है। केशव ने पातिव्रत्य गुणों को अधिक मुखर बनाया है। अन्य आचार्यों ने उसके गृहस्थ और प्रिय के प्रति बरते जानेवाले गुणों पर अधिक यत्न दिया है। आगे उसके पतिव्रत धर्म-सम्बन्धी गुणों की झाँकी अस्पष्ट होती गई है। विनयादि गुणों पर अधिक यत्न दिया जाने लगा है। चिंतामणि ने अपने ही पुरुष में प्रीतिवन्त' और 'सील सुधाई लाज युत' कहकर दोनों पक्षों के समन्वय की बात कही है।[3] सोमनाथ की स्वकीया के लक्षण केशव के निकट है। उनकी स्वकीया तन मन धन से अपने पति से प्रेम निर्वाह करती है। दास ने भी उसे पतिव्रता कहा है। वह कुल जाता कुलवधू उदार मधुर, सलज्जा, सुकृतिनी और सुशीला होती है।[4] प्रताप साहि ने पातिव्रत्य पर विशेष बल दिया है। स्वकीया नायिका अपने पति द्वारा दिखाए हुए चित्र को भी इसलिए नहीं देखती कि कहीं उसमें परपुरुष के दर्शन न हो जाए।[5] मतिराम के लक्षण इस प्रकार हैं जो सलज्ज नायिका अपने ही पति के प्रेम में विभोर रहती है उसे स्वकीया कहते हैं। ऐसी नायिका का पति बड़ा भाग्यशाली होता है।[6]

मुग्धा

केशव ने मुग्धा के लक्षण नहीं दिए। सामान्य लक्षण न देकर भेदोपभेद किए हैं और फिर प्रत्येक भेद के सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किए हैं। प्रायः आचार्यों ने वय के अनुसार मुग्धा का निरूपण किया है। केशव ने भेदों के अनन्तर मुग्धा के शयन सुरति तथा मान सम्बन्धी लक्षण दिए हैं। उसके शयन के सम्बन्ध में केशव ने लिखा है पहले तो मुग्धा पति के पास शयन करना स्वीकार ही नहीं करती। यदि सखी के आग्रह पर सो भी जाए तो फिर उसे सुख नहीं मिलता।[6] मुग्धा सुरति में स्वप्न में भी सहज प्रवृत्त नहीं होती।[7] मुग्धा मान विधि से परिचित नहीं होती। यदि मान करती है तो उसे डराकर छुड़ाया जा सकता है।[8]

१ साहित्यदर्पण ३
२ केशवदास जीवनी, कला और कृतित्व पृ ३६
३ कविकुलकल्पतरु ५।१।७५ ६
४ शृंगारविलास ।६३ रसपीयूषनिधि ८।२०
५ शृंगारनिर्णय ६ रसमाधुरी २१
६ काव्यकौमुदी २४
७ रसराज १०
८ पद्माभरणावली सं० १ पृ २१
९ वही पृ० १
१० " ४।

इन लक्षणों के अनुसार उदाहरण भी दिए गए हैं।[1] उदाहरण में लक्षण का सम्यक् पालन है तथा उदाहरण का वातावरण कलात्मक है। मुग्धा सुरति के उदाहरण के विधान में केशव ने मुग्धा को सखियों और निर्दय नायक को आमने सामने रखा है। इसी प्रकार के निरूपण अन्य आचार्यों ने किए हैं। मतिराम ने उसे नवोढ़ा कहा है।

नवलवधू

इसके शरीर की आभा दिन दूना बढ़ती है।[2] अधिकांश आचार्यों ने मुग्धा के इस भेद को स्वीकार नहीं किया। इसके उदाहरण में भी सखियों का वार्तालाप तथा नवलवधू की दिन-दूनी बढ़ती आभा पर सखियों के आश्चर्य का चित्रण है। कृपाराम ने नववधू के शरीर पर छायी यौवनाभा की ओर संकेत किया है।[3] इसकी स्थिति देव के अनुसार वयःसंधि के पश्चात है।

नवयौवनाभूषिता

बालदशा की समाप्ति हो जाने पर यौवन उसके स्थान पर अपना आसन जमा लेता है। वहां नवयौवनाभूषिता नायिका होती है।[4] धनंजय ने नववयसा विश्वनाथ ने प्रथमावतीर्णयौवना तथा भानुदत्त ने अंकुरितयौवना नाम से प्रायः इसी भेद का निरूपण किया है। पर आचार्यों का वयःसंधिवाला नायिका ने अधिक आकृष्ट किया है। केशव ने वयःसंधि की ओर ध्यान न देकर नवयौवन के आगमन से ही विचार आरम्भ किया है। पर नवयौवनाभूषिता में बाल्यावस्था के प्रभाव को हटाने के लिए यौवन के अवतारी आ गए हैं। इस प्रकार उदाहरण रचते समय केशव की दृष्टि में सम्भवतः वयःसंधि पर स्थित यह नायिका है। उदाहरण में अंग प्रत्यंगों में हुए यौवनजन्य परिवर्तनों का वर्णन किया गया है। साथ ही इसमें उसकी बाल्यकालीन चपलता भी हट गई और धीरता का समागमन हो गया है। सखियां नायक का आह्वान करती हैं—[5] 'सोभिजै धार धरी अब लै तुमको मिलिबो बनमाली।' इस प्रकार नायक-नायिका सम्मिलन का समय यौवनागम के पश्चात् ही है। इसका

1. केशवग्रन्थावली ख १ पृ ११
2. रसराज छं ४
3. केशवग्रन्थावली ख १ पृ १ छं १८
4. वही पृ १ ६ १६
5. [illegible]

   [illegible] कहा है [illegible]।
6. केशवग्रन्थावली ख १ पृ १
7. [illegible]
8. केशवग्रन्थावली ख १ पृ १ छं १

पूर्व की स्थितियाँ सम्भोग से नहीं आश्चर्यमिश्रित दर्शन और स्पर्शमात्र से नायक को विभोर करती रहती हैं।

नवल अनंगा

नवलअनंगा के लक्षणों पर भी वय:संधि की हल्की-सी छाया मिलती है। यह नायिका बालका के समान बोलती और खेलती है। हँसती भी है और भय भी दिखलाती है। और इन सबसे विलास टपकाता रहता है।[1] इसमें बाल-सुलभ क्रियाकलाप विलास रंजित हो उठते हैं। वह हँसना भी सीख गई है और नायक का स्पर्श करना भी उसे आ गया है।

उदाहरण में एक विशेष परिवर्तन है। अब तक के उदाहरणों में सखियों की मध्यस्थता थी। सखियों का तत्व इसके उदाहरण में समाप्त हो गया। उसके मन में विलासेच्छा तरंगित है। इस दृष्टि से वह प्रियतम से पिछड़ी हुई नहीं है। पर नवल अनंगा होने के कारण उसे नितांत एकांत चाहिए। तोते और सारिका के सो जाने की उसे प्रतीक्षा है। वह मृगशावक और हंस को भी रतिगृह से निकाल देना चाहती है। दीपद्युति यदि समाप्त नहीं कर दी जाती तो उसे वह मन्द अवश्य कर देगी।[2] उसका स्वयं उक्ति में 'आयो तुम्ह वसत सो मोहू मन आयो है' उसके मन पर हुए अनंगाधिकार की स्पष्टता तो है पर वह अभी रति से वंचना भी चाहता है। देव ने नवलअनंगा की अवस्था १५ वर्ष मानी है। रसलीन ने भी यह भेद माना है।

लज्जाप्रायरति

यह नायिका रति में प्रवृत्त होती है। पर वह लज्जा के आवरण में लिपटी रहती है। इससे नायक की प्रीति में वृद्धि होती है।[3] इस लक्षण में केवल लज्जा का तत्व प्रमुख है। उदाहरण में इसीकी व्यंजना हुई है। रतिक्रिया को केशव ने चित्रित नहीं किया। नायिका अपनी सखियों से अपनी लज्जा का इस प्रकार वर्णन करती है अनेक बार बुलाने पर भी मैं उनसे नहीं बोली। कामातुर नायक पैरों पर गिरा तो उसने अपने को चादर में छुपा लिया। आलिंगन के कामी नायक के प्रयत्न करने पर भी मैंने अपना हठ नहीं छोड़ा। जब मैंने उसकी ओर नहीं देखा तो नायक ने मेरी ठोड़ी को अपने हाथ से उठाया। फिर भी मैंने सीधी नजरों से उसे नहीं देखा। निगोड़ी लाज इन आँखों में भरी रही।[4] लज्जाप्रायरति नायिका रति-वर्णन कैसे कर सकती है? पर केशव ने निरनुपात का समीप्टसुरतप्रयत्ना विश्वनाथ की समधिक लज्जावती के लक्षणों से सहायता ली है। उनके लक्षण इनसे भिन्न हैं। यह मान्यता भी वय:संधि के समान ही भ्रामक रही है। इस प्रकार भानुदत्त और उनके अनु

1 रसविलासावली, पृ० १०
२ वही पृ० १ छन्द २३
३ वही पृ० ११, छन्द २४
४ वही पृ ११

यायी आचार्यों की नवोढ़ा के लक्षण इससे मिलते जुलते ही हैं।[1]

इस प्रकार केशव का मुग्धा निरूपण एक व्यापक दृष्टि से हुआ है। नामभेद रहते हुए भी इन आठों के अन्तर्गत नवोढ़ा, वयःसन्धि आदि की छाया आ जाती है। सयोजित उदाहरणों से लक्षण निरूपण स्पष्ट हो जाता है। कहीं कहीं उदाहरण लक्षण निरूपण के पूरक हैं। जो कुछ बचे खुचे भेद और लक्षण हैं उन्हें केशव ने शयन सुरति और मान के लक्षणों में समाविष्ट कर लिया है।

मध्या नायिका

मुग्धा के विकास की यह मध्य स्थिति है। इस अवस्था में नायिका का यौवन और उसका कामभाव अधिक परिपक्व हो जाते हैं। इस परिपक्वता के आधार पर केशव ने मध्या का चतुर्विध वर्गीकरण किया है। मुग्धा में यौवन और काम लज्जा आदि के कारण कुछ छिपे रहे नायिका उनकी अन्तर्हित शक्ति और उनके व्यापक प्रभाव से अवगत भी नहीं थी। पर अब यौवन की वह अर्धनिमीलित कलिका पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित हो गई। उसकी वाणी में भी प्रगल्भता आ गई।

आरूढ़ यौवना

इस मध्या भेद को केशव ने सम्पूर्ण यौवन से उन्नत माना है। उसमें प्रसन्न भाग्य के उत्कर्ष और सुहाग के गर्व की झलक है। प्रियतम के मन में भी इस भाग सुहाग और यौवनवती ने अपना स्थान बना लिया है। यह लक्षण परम्परा धनंजय में मिलती है। उनके मतानुसार यह उद्यौवनानंगा और सुरत क्रीड़ा में विशेष रुचि लेनेवाली होती है। उद्यौवनानंगा और केशव की आरूढ़यौवना में अन्तर नहीं है। पर भानुदत्त ने मध्या के लक्षण में समानलज्जामदना को महत्त्व दिया है।[2] इसका यह तात्पर्य दिखलाई पड़ता है कि मुग्धा में कामोद्रेक लज्जा के समान नहीं होता। लज्जा का अतिक्रमण करने की शक्ति उसमें नहीं होती। मध्या में लज्जा और मदन समान अनुपात में हो जाते हैं।[3] अब लज्जा का आधिक्य कामक्रीड़ा में बाधक नहीं होता। रीतिकाल के अधिकांश आचार्यों ने भानुदत्त की इसी परम्परा को अपनाया है। इस प्रकार केशव का मध्या निरूपण तथा रीतिकाल के समस्त आचार्यों से विचित्र है। केशव की परम्परा स्पष्ट में ही मिलती है। उन्होंने मध्या को आविर्भूतमध्याव्याप्ता और विचित्रसुरतस्पृहा कहा है।[4] विश्वनाथ ने भी प्रायः इसी परम्परा का पालन करते हुए आरूढ़यौवना को स्वीकार किया है।[5] इस संक्षिप्त विवरण

१ [illegible]

२ [illegible] ३।९

[illegible]

४ [illegible] ९१। ५ [illegible]

[illegible] ९८। [illegible] २५

५ [illegible] १२

से केशव की परम्परा स्पष्ट हो जाती है।

जहाँ मुग्धा के उदाहरण में केशव ने उसके यौवनागमजन्य अंगप्रत्यंग परिवर्तन का चित्रण किया है[1] वहाँ मध्या के अंग विकास की सुनिश्चित स्थिति नखशिख-वर्णन की शैली में व्यक्त की है।[2] स्तन और नितम्ब उपमेय अंगों के साथ उपमान 'फिट' होने लगे। इसमें लक्षणा के निर्वाह की ओर केशव का इतना ध्यान नहीं। उसके लक्षणों में पूर्ण यौवन, भोग-सुहाग युक्तता और कांत प्रियता हैं। पर इसमें स्तन उपमानों के साथ उनके पूर्ण विकसित यौवन की ओर ही संकेत किया गया है। शेष दो को आचार्य ने यौवन के परिणाम के रूप में गौण रूप दिया है।

प्रगल्भवचना

यहाँ चरम यौवन की परिणति एक मानसिक विकार में होती है। उसे अपने यौवन की उत्ताल तरंगों में वह शक्ति दिखलाई पड़ती है जो प्रियतम पर नियन्त्रण कर सकती है। इस मनोविकार से प्रेरित होकर वह प्रियतम को उपालम्भ भी देती है। उसे भय भी दिखाती है। यौवन की यही वचना के माध्यम से अभिव्यक्ति है।[3] विश्वनाथ ने प्रगल्भवचना के लक्षण इसी प्रकार से दिए हैं।[4] धनंजय ने इन भेदों को छोड़ दिया है। भानुदत्त ने मध्या के भेदों की चर्चा ही नहीं की। इसका कारण यह दृष्टिगत होता है कि रसमंजरीकार को मध्या और विश्रब्धनवोढा में अंतर नहीं दिखलाई पड़ता। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने इसके विषय में भी भानुदत्त का ही अनुसरण किया है। चिन्तामणि ने केशव की भाँति चतुर्विध वर्गीकरण को स्वीकार करके प्रगल्भवचना को भी माना है। विश्वनाथ की मध्यमव्रीडिता को केशव की भाँति चिन्तामणि ने भी स्वीकार नहीं किया है। मतिराम ने इन भेदों का नाम दिया। दास ने भी इन भेदों को छोड़ दिया है।

उदाहरणों में केशव के लक्षणों का पूर्ण समन्वय है। उसमें उपालम्भ भी है भय भी। वह नायक को यह कहकर भयभीत करना चाहती है — उयटौग जू देखो अब देखहु आगे।[5] आगे आगे देखिए क्या होता है।

प्रादुर्भूतमनोभवा

काम की तरल तरंग वीचियों में उद्वेलित नायिका कामक्रीडाकला में भी निष्णात हो जाती है। उसके मन में क्रीडा सम्बन्धी कल्पनाएँ और योजनाएँ बनने लगती हैं। उसका अंग विन्यास भी कलात्मक हो जाता है।[6] विश्वनाथ ने जो प्रश्न

१ केशवग्रंथावली १, पृ० १
२ वही पृ० [illegible]
३ वही पृ० [illegible]३
४ साहित्यदर्पण ३।५६, १०[illegible]
५ केशवग्रंथावली १, पृ० १३
६ वही, पृ० १३

स्मरा के लक्षण दिए हैं वे केशव में प्रायः मिलते ही हैं।[१]

इसके उदाहरण में केशव ने राधा की कांति का उल्लेख किया है। उसकी कांति सब युवतियों से अधिक है। उसकी शारीरिक चेष्टाओं में केवल कलात्मक भ्रू भंगिमा की चर्चा की है। उस भ्रू भंगिमा पर त्रैलोक्य की शोभा को निछावर किया जा सकता है।[२] यह उदाहरण ऐसा नहीं लगता कि यह एक स्वतन्त्र मुक्तक है। इसमें रमणी की झलक किंचिमात्र ही है।

विचित्रसुरता

काम कौशल में नायिका इतनी पटु हो जाती है कि विचित्र क्रियाओं की इच्छा उसके मन में स्फुरित होती है। कवि इन कामचेष्टाओं के वर्णन में कठिनाई अनुभव करता है। पर इन चेष्टाओं का वर्णन सुनना प्रिय लगता है।[३] ये लक्षण विश्वनाथ से मिलते हैं। यहां तक कि उदाहरण में भी पर्याप्त साम्य है। वह हास विलास से युक्त होती है। उसकी चितवन और उसका भाषण रसमय होते हैं। सात प्रकार की बाह्यरति सात प्रकार की अन्तररति तथा विपरीत रति में वह पारंगता होती है। कामावेश में लज्जा छूट जाती है और वस्त्राभूषण भी अस्त व्यस्त हो जाते हैं। रतिकालीन उसका कूजन इतना विचित्र और आकर्षक होता है कि पक्षी भी उसका अनुकरण करने लगते हैं। वही सच्ची रति है। पक्षियों के अनुकरण की बात विश्वनाथ ने भी विचित्रसुरता के प्रसंग में कही है।[४]

इस विचित्रसुरता के साथ ही केशव ने अन्तररति और बहिर्रति षोडश शृंगार और सुरतान्त का विवरण दे दिया है। वस्तुतः सभी रतियों के परिणामों से नागरी नागरी के अंग प्रत्यंग चिह्न चकित हो जाते हैं। इन विषयों का विस्तार से कामशास्त्रीय ग्रन्थों में निरूपण उपलब्ध होता है।[५] सम्भवतः विचित्रसुरता के निरूपण की भूमिका में कामसूत्र का चित्ररत प्रकरण हो। यशोधर ने वात्स्यायन की टीका में लिखा है कि चित्ररत में भी आसनों का ही प्रयोग होता है। ये आसन विशेष हैं। केशव ने इन आसनों का वर्णन कठिन बताया है। कठिनाई का आधार गौण है। यह शुद्ध कामशास्त्रीय विषय है। चित्ररत में निष्णात नागरिका ही सुरत विचित्रा होती है।[६] साथ ही सीत्कारादि का विवरण भी कामसूत्र में दिया है।[७] केशव के रति-कूजन का कामसूत्र में सकेत उल्लेख है। केशव ने अन्य अश्लीलता की सीमा में

१ सा० द० ३।१
  र० प्रि० ७ पृ० ९३
३ र० प्रि० पृ० ९३
४ वही
५ सा० द० ३।१ । र० प्रि० ८० पृ० १३८
६ कामसूत्र अधि० अध्या० २ ३ ४ ५ ६ आदि
७ वात्स्यायन कामसूत्र २।३।६ पर टीका
८ वही ।७६

आनेवाली बातों को छोड़ दिया है। केवल बहिरर्रति के नामादि ही गिना दिए हैं।

धीरादि भेद

ये भेद धैर्य के आधार पर किए जाते हैं। नायिका में धैर्य की पहचान तब होती है जब नायक अन्य नायिका के साथ रति करके लौटा हो। और वह पूर्व नायिका इससे अवगत हो जाए। धैर्य के आधार पर प्रायः सभी आचार्यों ने तीन भेद स्वीकार किए हैं धीरा, अधीरा और धीराधीरा। केशव ने भी इन्हें स्वीकृति दी है। तीनों ही नायिकाओं को नायक की पररति पर पीड़ा होती है। रोष से उनका अन्तस्तल उद्वेलित हो उठता है। पर तीनों में अंतर रोष की अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। धीरा अपने क्रोध को वक्रोक्ति शैली में व्यक्त करती है। अधीरा विषम कटु वाणी से अपनी अन्तर्वेदना व्यक्त करती है और धीराधीरा उपालम्भ का आश्रय लेती है।[1]

लक्षण प्रायः विश्वनाथ आदि आचार्यों के समान हैं। हिन्दी के अन्य रीतिकालीन आचार्यों ने भी लगभग समान रूप में निरूपण किया है। हां, मध्या धीराधीरा का लक्षण केशव द्वारा जो दिया गया है वह किसी आचार्य से समर्थित नहीं मिलता। केशव के अनुसार धीराधीरा अपने पति को उलाहना देती है। इस ढंग से उपालम्भ के ही माध्यम से विश्वनाथ धनंजय भानुदत्त आदि किसीने इसका निरूपण नहीं किया। भानुदत्त के अनुसार इस नायिका की मनःस्थिति मिश्रित रहती है। पहले तो प्रिय के अपराध पर रोष-वचन कहती है पीछे थोड़ी देर में अपनी कोमलता के कारण रोने लगती है। चिंतामणि सोमनाथ मतिराम आदि हिन्दी आचार्यों ने भानुदत्त का ही अनुसरण किया है।

केशव के 'अधीरा' के उदाहरण में कठोरता की व्यंजना तो है पर उस मात्रा की नहीं जितनी इस नायिका में होनी चाहिए। राधा कृष्ण के प्रति व्यंग्य भर करके रह जाती है 'यह भेंठ बोलना तुमने कहां से सीखा है शेष बातों में तो तुम अपने मां बाप से मिलते हो ?

प्रौढा

प्रौढा या प्रगल्भा के भेदों और स्वरूप पर पीछे विचार किया जा चुका है। केशव ने प्रौढा के सामान्य लक्षण नहीं दिए। उपभेदों के ही लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं। यहां नायिका में यौवन और काम अपने चरम पर पहुंच जाते हैं। उनकी अंधता की स्थिति आ जाती है।

समस्तरसकोविदा

यह नायिका प्रिय की रस रुचि को पहचानती है। उसकी रुचि के अनुसार ही वह रंग-दान करती है।[2] मध्या तक प्रायः नायक ही सजग रहता था उस प्रियतमा की

१ ग्रन्थावली १, पृ० १४
२ वही।

स्मरा के लक्षण दिए हैं वे केशव से प्रायः मिलते ही हैं।[1]

इसके उदाहरण में केशव ने राधा की कांति का उल्लेख किया है। उसकी कांति सब युवतियों से अधिक है। उसकी शारीरिक चेष्टाओं में केवल कलात्मक भ्रू-भंगिमा की चर्चा की है। उस भ्रू-भंगिमा पर त्रैलोक्य की शोभा को निछावर किया जा सकता है।[2] यह उदाहरण ऐसा नहीं लगता कि यह एक स्वतन्त्र मुक्तक है। इसमें लक्षणा की झलक किंचिमात्र ही है।

विचित्रसुरता

काम-कौशल में नायिका इतनी पटु हो जाती है कि विचित्र क्रियाओं की इच्छा उसके मन में स्फुरित होती है। कवि इन कामचेष्टाओं के वर्णन में कठिनाई अनुभव करता है। पर इन चेष्टाओं का वर्णन सुनना प्रिय लगता है।[3] ये लक्षण विश्वनाथ से मिलते हैं। यहाँ तक कि उदाहरण में भी पर्याप्त साम्य है। वह हास विलास से युक्त होती है। उसकी चितवन और उसका भाषण रसमय होते हैं। सात प्रकार की बाह्यरति, सात प्रकार की अन्तररति तथा विपरीत रति में वह पारंगता होती है। कामावेग में लज्जा छूट जाती है और वस्त्राभूषण भी अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। रतिकालीन उसकी कूजन इतनी विचित्र और आकर्षक होती है कि पक्षी भी उसका अनुकरण करने लगते हैं। वही सच्ची रति है।[4] पक्षियों के अनुकरण की बात विश्वनाथ ने भी विचित्रसुरता के प्रसंग में कही है।[5]

इस विचित्रसुरता के साथ ही केशव ने अन्तररति और बहिर्रति, षोडश शृंगार और सुरतान्त का विवरण दे दिया है। वस्तुतः सभी रतियों के परिणामों से नागरी नागरी के अंग-प्रत्यंग चिह्न चर्चित हो जाते हैं। इन विषयों का विस्तार से काम-शास्त्रीय ग्रन्थों में निरूपण उपलब्ध होता है।[6] सम्भवतः विचित्रसुरता के निरूपण की भूमिका में कामसूत्र का चित्ररत प्रकरण हो। यशोधर ने वात्स्यायन की टीका में लिखा है कि चित्ररत में भी वासना का ही प्रयोग होता है। वे आसन विकल्प हैं। केशव ने इन आसनों का वर्णन कठिन बताया है। कठिनाई का आधार शील है। यह शुद्ध कामशास्त्रीय विषय है। चित्ररत में निष्णात नायिका ही सुरत-विचित्रा होती है। साथ ही सीत्कारादि का विवरण भी कामसूत्र में दिया है। केशव के रति-कूजन का कामसूत्र में सटीक उल्लेख है। केशव ने ग्रन्थ अश्लीलता की सीमा में

१ सा० द० ३।१
२ कै० प्र० ? पृ० १२
३ वही पृ० २३
४ वही
५ सा० द० ३।२२२ के ग्र० पृ० ११८
६ कामसूत्र, अधि० २ अध्या० २, ३, ४, ५, ६ आदि
७ कामसूत्र के सूत्र २।६।३६ पर टीका
८ वही २।७६

आनेवाली बातों को छोड दिया है। केवल बहिररति व नामादि ही गिना दिए हैं।

धीरादि भेद

ये भेद धैर्य के आधार पर किए जाते हैं। नायिका के धैर्य की पहचान तब होती है जब नायक अन्य नायिका के साथ रति करके लौटा हो। और वह पूर्व नायिका इससे अवगत हो जाए। धैर्य के आधार पर प्राय सभी आचार्यों ने तीन भेद स्वीकार किए हैं धीरा अधीरा और धीराधीरा। केशव ने भी इन्हें स्वीकृति दी है। तीनों ही नायिकाओं को नायक की पररति पर पीडा होती है। रोष से इनका अन्तस्तल उद्वेलित हो उठता है। पर तीनों में अन्तर रोष की अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। धीरा अपने रोष को वक्रोक्ति द्वारा व्यक्त करती है। अधीरा विषम कटु वाणी में अपनी अन्तर्वेदना प्रकट करती है और धीराधीरा उपालम्भ का आश्रय लेती है।[1]

लक्षण प्राय विश्वनाथ आदि आचार्यों के समान हैं। हिन्दी के अन्य रीतिकालीन आचार्यों ने भी लगभग समान रूप में निरूपण किया है। हा, मध्या धीराधीरा का लक्षण केशव द्वारा जो दिया गया है वह किसी आचार्य से प्राप्त नहीं मिलता। केशव के अनुसार धीराधीरा अपने पति को उलाहना देती है। इस ढंग से उपालम्भ के ही मात्र माध्यम से विश्वनाथ धनंजय भानुदत्त आदि किसी ने इसका निरूपण नहीं किया। भानुदत्त के अनुसार इस नायिका की मन स्थिति मिश्रित रहती है। पहले तो प्रिय के अपराध पर रोष-वचन कहती है पीछे थोड़ी देर में अपनी कोमलता के कारण रोने लगती है। चिन्तामणि सोमनाथ मतिराम आदि हिन्दी आचार्यों ने भानुदत्त का ही अनुसरण किया है।

केशव के अधीरा के उदाहरण में कठोरता की व्यंजना तो है पर उस मात्रा की नहीं जितनी इस नायिका में होनी चाहिए। राधा कृष्ण के प्रति व्यंग्य भर करके रह जाती है यह झूठ बोलना तुमने कहा से सीखा है? अपनी बातों में तो तुम अपने माँ-बाप से मिलते हो?

प्रौढा

प्रौढा या प्रगल्भा के अर्थ और स्वरूप पर पीछे विचार किया जा चुका है। केशव ने प्रौढा के सामान्य लक्षण नहीं दिए। उपभेदों के ही लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं। यहा नायिका में यौवन और काम अपने चरम पर पहुच जाते हैं। उनकी अन्धता की स्थिति आ जाती है।

समस्तरसकोविदा

यह नायिका प्रिय की रस रुचि को पहचानती है। उसकी रुचि के अनुसार ही वह रस-दान करती है।[2] मध्या तक प्राय नायक ही सजग रहता था उस प्रियतमा की

१ केशवग्रन्थावली १, पृ० १५
२ वही

रुचि को जानना पडता था। मुग्धा में तो रसोद्रेक करने का प्रयत्न नायक या सखियों द्वारा होता ही है। पर रसकोविदा प्रिय के रस को पहचानती है। यहा प्रियतम का अर्थ सामान्य नायक नहीं अपना पति ही है। अपने पति को प्रसन्न करनेवाली समस्त रतिक्रियाओं का परिज्ञान नायिका को प्रौढा बना देता है। भानुदत्त ने अपने पति के समस्त रतिविधियों का प्रयोग करके सम्भोग करनेवाली को प्रौढा माना है।[1] केशव ने भी अपने प्रियतम के साथ कलात्मक सम्भोग करनेवाली नायिका को प्रौढा कहा है। यह लक्षण सामान्य रूप से उन्होंने न लेकर समस्तरसकोविदा के रूप में लिया है।

संस्कृत में विश्वनाथ ने समस्तरसकोविदा भेद को माना है।[2] पर उन्होंने इसके लक्षण नहीं दिए। उन्होंने उदाहरण में जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वे केशव के लक्षण निरूपण के समीप हैं। धनंजय ने केवल दो ही भेद माने हैं और इन भेदों को छोड दिया है। शिगभूपाल और भानुदत्त ने भी चतुर्विध भेद न मानकर धनंजय का ही अनुसरण किया है। अतः केशव विश्वनाथ की परम्परा में आते हैं।

जहा तक उदाहरण का सम्बन्ध है वह लक्षण से स्वतन्त्र दिखाई पडता है। उसमें अपने प्रियतम की रुचि के अनुरूप कामकलाओं का प्रदर्शन नहीं है। सखी एक गोपिका का वर्णन करती है। उसे अद्वितीय शोभावाली बताया गया है। उसकी हाव भावादि चेष्टाओं और उनके आकर्षण सम्मोहन की चर्चा है। पर लक्षण का उदाहरण नहीं दिया गया।[3]

विचित्रविभ्रमा प्रौढा

केशव ने इसका लक्षण यों दिया है जिसके शरीर की द्युति से आकर्षित होकर दूती प्रिय से उसका मिलाप करा दे। इसमें द्युति यौवन और रूप की होती है। सखी जैसे इस द्युति की प्रतीक्षा में थी। जिस समय वह प्रकट हुई सखी ने सम्मिलन की योजना कर दी। उदाहरण में यह तत्त्व बिल्कुल नहीं मिला। नायिका के रूप रंग और उभार शृंगार को देखकर नायक स्वयं आकर्षित हो रहा है। दूती की मध्यस्थता का उल्लेख उदाहरण में नहीं है। पर द्युति को उन्होंने यहां अवश्य स्पष्ट किया है। उसके अंग प्रत्यंग में काम के आमन्त्रणमय संकेतों का विकास है। उसके कटाक्षों में कामबाणों की-सी तीक्ष्णता और प्रभाव है।[4] संस्कृत हिन्दी के आचार्यों ने इस भेद का नहीं दिया। देव ने केशव के अनुसरण पर प्रौढा के चतुर्विध भेदों में इसका उल्लेख अवश्य किया है। पर इसका नाम उन्होंने सविभ्रमा दिया

1 पतिमात्रविषयककेलिकलाकलापकोविदा प्रौढा। रसमंजरी
2 सा द० ३।? ३
3 रसिकप्रिया १ पृ० १६ छं० ५?
4 कवि विचित्र विभ्रम ... ... ।
   ... दारति दूतिका ... मिलाव ... ॥ के० ... ? पृ० ?६ छं० ५३
5 वही १ पृ० १६ छं० ५४

है। रसलीन ने प्रौढ़ा के चार भेद दिए तो हैं पर इस भेद को छोड़ दिया है। इससे ज्ञात होता है कि भानुदत्त और विश्वनाथ की परम्परा का अनुसरण होता रहा। विचित्र विभ्रमा की कल्पना किसीने नहीं की। यह केशव की अपनी उद्भावना प्रतीत होती है।

आक्रमिता

यह नायिका मन वचन और कर्म से प्रिय को स्ववश कर लेती है। विश्वनाथ के उदाहरण से यही ध्वनि निकलती है। विश्वनाथ[1] के उदाहरण में सुरतान्त स्थित नायिका द्वारा नायक को कुछ शृंगार-सेवा की आज्ञाएं दिलवाई गई हैं। उदाहरण केशव और विश्वनाथ के भिन्न हैं पर दोनों की आत्मा एक है।

लब्धापति

निज पति रति रत होना प्रौढ़ा का प्रमुख लक्षण है। इस भेद में नायिका की उच्च परिवार भावना सामने आती है। लब्धापति नायिका परिवार के सभी सदस्यों का आदर करती है।[2] इस प्रकार केशव ने यौवनविलास को ही नायिका भेद का आधार नहीं बनाया, पारिवारिक भावना को भी बनाया है। विश्वनाथ के ६ भेदों में भी इसको स्थान नहीं मिला, चिंतामणि ने अपने चतुर्विध वर्गीकरण में इसका उल्लेख नहीं किया। देव और रसलीन ने इस भेद को स्वीकार किया है।[3] इन दोनों ने ही केशव से स्पष्टतः प्रेरणा ली है। संस्कृत स्रोतों में यह भेद नहीं मिलता।

प्रौढ़ा के धीरादि भेद

मध्या के समान प्रौढ़ा के भी धीरादि भेद केशव ने किए हैं। मध्या भेदों में रोष को प्रकट करने की पद्धति प्रमुख आधार थी यहां उसे छिपाने की क्षमता आधार बनाई गई है।

प्रौढ़ा धीरा—प्रौढ़ा धीरा वह है जो बाह्यतः पति का आदर करती है, पर उस आदर में अनादर का भाव छिपा रहता है। विश्वनाथ का लक्षण केशव से मिलता है। भानुदत्त के उदाहरण में नायिका द्वारा क्रोध का गोपन और सखी द्वारा रोष-व्यंजन होता है।[4] केशव के प्रौढ़ा अधीरा के उदाहरण में उदासीनता के तत्त्व के बिना ही कोप की व्यंजना है।[5]

प्रौढ़ा अधीरा—प्रौढ़ा अधीरा पति के घोर अपराध को समझकर हितपूर्वक

१ सा० द० ३।६० का उदाहरण
२ क० प्र० १, ५ १६ छं० २७
३ प्रभुदयाल मीतल ब्रजभाषा सा० का नायिका भेद, पृ० ४ ४, ४०६
४ सा० द० ३।६०
५ रसमंजरी पृ० १५
६ र० प्र० १, पृ० १७, छं० ६०

नायक का हित नहीं करती ।[1] विश्वनाथ के अनुसार अधीरा प्रौढ़ा तर्जन और ताडन करती है ।[2] इस प्रकार विश्वनाथ और केशव के लक्षण नहीं मिलते । तर्जन और ताडन की चर्चा धनंजय शिंगभूपाल और भानुदत्त ने भी की है ।[3] हिंदी में चिंतामणि का लक्षण तो अस्पष्ट है । मतिराम सोमनाथ ने इन तत्त्वों को ग्रहण किया है । पर केशव के हरि शृंगार की परिधि में नायिका राधा के लिए यह सम्भव ही नहीं कि वे अपराधी कृष्ण का तर्जन ताडन भी कर सकें । अतः केशव ने उसे हित न करने के रोष-व्यंजन तक ही सीमित रखा है । उदाहरण में केशव ने तर्जन का समावेश किया है ।[4]

प्रौढ़ा धीराधीरा—प्रौढ़ा धीराधीरा की स्थिति जटिल है । उसके मन में प्रिय मिलन की इच्छा अतीव तीव्र रहती है । अतः वह अपराधी प्रिय के प्रति भी प्रकंपित रहती है पर मुख से वह रुक्ष बातें करती है ।[5] विश्वनाथ के अनुसार धीराधीरा प्रौढ़ा अपराधी नायक को व्यंग्य वचनों से खेदित करती है । भानुदत्त धीरा और अधीरा के लक्षणों का मिश्रण करते हुए धीराधीरा में तर्जन-ताडन का भी उल्लेख करते हैं ।[6] अतः इन संस्कृत आचार्यों में धीराधीरा की स्थिति बहुत साफ नहीं है । केशव ने उस विभाजक रेखा के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । उदाहरण में हल्का साम्य विश्वनाथ से तो है भानुदत्त से नहीं । हिन्दी के अन्य आचार्य प्रायः भानुदत्त का अनुसरण करते हैं । केशव का मार्ग प्राचीनों के अनुकरण या स्वयं की मौलिकता पर तैयार होता है ।

परकीया

परकीया के सम्बन्ध में हम सामान्य विचार पीछे कर चुके हैं । केशव की परकीया लौकिक दृष्टि में परकीया नहीं लौकिक पति से सम्बद्ध होकर भी कृष्ण प्रिया होने के कारण परकीया है । अतः केशव लोक में स्वकीया भाव के समर्थक ही हैं रसिक भक्ति के क्षेत्र में उत्कट परकीया भाव स्वीकृत है यही कहा जा सकता है । इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर भी इनका निरूपण काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुरूप ही हुआ है । परकीया के दो भेद उदाहृत मान हैं ऊढ़ा और अनूढ़ा ।

ऊढ़ा—ऊढ़ा परकीया को सभी आचार्यों ने माना है । भरत रुद्रट विश्वनाथ आदि ने परकीया के दो ही भेद स्वीकार किए हैं—ऊढ़ा और अनूढ़ा । ये प्राचीन आचार्य इन दो भेदों तक ही सीमित रहे हैं । पर भानुदत्त ने ऊढ़ा के गुप्ता विदग्धा लक्षिता

१ पति को [illegible] हित मानि । र प्र १ छन्द ६३ पृ १७
२ सा द ३।६८
३ [illegible]
४ [illegible]
५ र [illegible] १ पृ १८
६ [illegible] पृ १८ ६ ६५
७ सा द ।६३
८ रसमंजरी १७

कुलटा अनुशयाना मुदिता—६ भेद करके और उपभेद देकर इस प्रसंग को विस्तार दिया है। हिन्दी के अन्य रीतिकालीन आचार्यों ने भानुदत्त की परम्परा का ही पालन किया है। पर केशव ने लोक-नैतिकता का ध्यान रखकर इसका विस्तार नहीं दिया। केवल हरिभक्ति की सापेक्षता में प्राचीन आचार्यों के मान्य दो ही भेद स्वीकार किए हैं। केशव के उदाहरण में भी हरिभक्ति की भावना स्पष्ट है।[1]

अनूढ़ा—अनूढ़ा के अविवाहिता होने की बात सभीने कही है। वह अपने प्रेम को गुप्त रखना चाहती है और परिवारवालों से छिपाना चाहती है यह भी उसके लिए स्वाभाविक है। भानुदत्त ने उसकी चेष्टाओं की गुप्तता का उल्लेख किया है।[2] विश्वनाथ ने सलज्जा कहकर यही बात कही है।[3] केशव का अनूढ़ा निरूपण हरिशृंगार की सापेक्षता में ही है।

नायिकाओं का अष्टविध वर्गीकरण

केशव ने जाति, वय, समाज, व्यवहार, धीरता के आधार पर नायिका निरूपण करके दर्शन, दम्पति-चेष्टा आदि का विवरण क्रमशः 'रसिकप्रिया' के चतुर्थ और पंचम अध्यायों में प्रस्तुत किया है। षष्ठ अध्याय में फिर रस-सम्बन्धी भाव विभावादि समस्याओं का निरूपण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि पहले सभी वर्गीकरणों का आधार रस निरपेक्ष था। रस सामग्री के निरूपण के अनन्तर रस के आधार पर नायिकाओं के अष्टविध वर्गीकरण का निरूपण छठे अध्याय के बाद किया गया है। प्रायः अधिकांश आचार्यों ने रस के आलम्बन के प्रसंग में ही नायक-नायिका निरूपण किया है। केशव इसी परम्परा में रहे हैं। यही कारण है कि इस वर्गीकरण के भेदों पर सब मतैक्य रखते हैं। यह वर्गीकरण लोकप्रिय भी विशेष रहा है।

केशव के अनुसार ये अष्ट नायिकाएँ इस प्रकार हैं स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसज्जा, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषितप्रेयसी, विप्रलब्धा और अभिसारिका। इन भेदों को भरत ने भी दिया है[4] पर उपभेद नहीं किए। रुद्रट ने सभी नायिकाओं के उपभेदों के रूप में इन्हें स्वीकार कर गुणक मान लिया और भेदसंख्या बढ़ा दी है।[5] नमिसाधु ने रुद्रट के इस स्थल को क्षेपक माना है।[6] विश्वनाथ ने गुणक रूप को स्वीकार कर १६ प्रकार की नायिकाओं को आठ प्रकार की माना है।[7] भानुदत्त ने भी इन्हें गुणक माना है।[8] केशव ने भी यही रूप स्वीकार किया है।[9]

1 र० प्र० १ पृ १८, छं० ७१
2 रसमंजरी श्लो० २० के पश्चात्।
3 सा० द० ३।६७
4 के ■ १ पृ ३६, छं० २
5 ना० शा० २४।२०३, २०४
6 काव्यालंकार अ १२
7 हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य डा० सत्यदेव चौधरी पृ० ३७६
8 सा ■ ३।७२
9 रसमंजरी श्लोक ३८ के पश्चात्।

केशव ने इन आठ भेदों के सम्बन्ध संयोग और वियोग से नहीं जोड़े। परवर्ती आचार्यों ने ऐसा किया है।[1] सुविधा की दृष्टि से यह वर्गीकरण मानकर चला जा सकता है। संयोग से तीन नायिकाओं का सम्बन्ध जुड़ता है—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा और अभिसारिका का। शेष सम्बन्ध वियोग स्थिति से है।

स्वाधीनपतिका (संयोग)

जो अपने गुणों से नायक को वश में कर लेती है वही नायिका स्वाधीनपतिका होती है। इस प्रकार इसका पति इसके साथ रहता है। तब यह नायिका सबसे अधिक सौभाग्यशालिनी है। भरत ने भी इस आमोदा नायिका को स्वाधीनपतिका कहा है। उसका प्रिय सुरतरसबद्ध होकर उसके पार्श्व में रहता है।[2] इस लक्षण में रति सूचक गुणों की ओर संकेत है। पर केशव ने उधर संकेत नहीं किया। उन्होंने गुणों की भूमि विस्तृत रखी है जिसमें सुरत गुण भी आ सकता है। विश्वनाथ ने गुणों को रति तक सीमित करना चाहा है।[3] धनंजय ने परकीया के भेदों में स्वाधीनपतिका नहीं रखा कारण उसके साथ यह भेद ठीक नहीं बैठता। पर आचार्यों ने प्रायः सभी भेदों के साथ इसका सम्बन्ध माना है। भानुदत्त ने सामान्या परकीया के साथ भी इस भेद को स्वीकार किया है। यह एक भूल है। पर उन्होंने इसका लक्षण ही बहुत व्यापक किया है—'जिसका प्रिय उसके संकेत को जानकर अभिप्राय के अनुरूप कार्य करता है।' इस परिभाषा के साथ ही वे उक्त भेदों से इसे सम्बद्ध कर सके हैं।

केशव ने अन्यत्र की भाँति इस नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद किए हैं। प्रच्छन्न नायिका के वश में नायक कृष्ण हैं जो उसके पैरों में महावर लगाते हैं।[4] केशव की नायिका रसिक भक्तों के समान प्रेम गर्विता है और मर्यादा से भूली हुई है। शृंगार-सज्जा तथा महावर आदि की चर्चा अन्य आचार्यों में भी मिलती है।

प्रकाश नायिका के उदाहरण में पति द्वारा पत्नी की सज्जा वर्णित है।[5] नायिका का वही रूप है जो रसिकभक्ति में कृष्ण-सज्जा राधा का है। भानुदत्त आदि आचार्यों में भी ऐसा रूप मिलता है पर भक्ति परम्परा से सरोकार नहीं है।

वासकसज्जा

वासकसज्जा नायिका संयोग के निश्चय से रतिगृह के द्वार पर प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में रहती है। केशव के अनुसार वासकसज्जा नायिका विलास मंदिरों में युक्त होकर रतिगृह के द्वार पर पति आगमन की प्रतीक्षा करता है।

१ [illegible]
२ ना० द० २।१२ [illegible]
३ [illegible] ३।१८
४ र[illegible] १६
५ र[illegible] ७१

वासक में कई अर्थ प्रचलित रहे। निघंटु में इसके अनेक अर्थ मिलते हैं।[1] कुछ आचार्यों ने वासक को वार या दिन के अर्थ में ग्रहण किया है। प्रिय वासर का अर्थ उनके अनुसार प्रिय के मिलने का निश्चित दिन है। उस दिन का निश्चय होने पर सम्भोग की सामग्री सजानेवाली नायिका ही वासकसज्जा है। भानुदत्त इसी अर्थ को लेकर चलनेवालों की परम्परा में आते हैं।[2] सिंगभूपाल ने भरत आदि प्राचीन आचार्यों के अनुसार वासक को दिवसायक माना है— भरतादिरमिदले स्त्रीणां वारस्तु वासकः।[3] भोज ने वासक का अर्थ वासगृह लिया है।[4] भोज की वासकसज्जा रतिगृह की सज्जा में तत्पर रहती है। उसके पूर्ण हो जाने पर प्रियागमन की प्रतीक्षा करती है। केशव का लक्षण इस परम्परा में ही आता है। सिंगभूपाल ने वासकसज्जा की चेष्टाओं का उल्लेख किया है। केशव ने उन चेष्टाओं की लम्बी सूची तो नहीं दी पर मन्दिरादि कहकर उसकी चेष्टाओं की ओर संकेत तो किया है। साथ ही रतिगृह द्वार की ओर उत्सुक नायिका का बार बार देखना भी दिखाया है। इस प्रकार वासक शब्द के अर्थ की दृष्टि से केशव का लक्षण भोज से मिलता है। और चेष्टा की दृष्टि से सिंगभूपाल से। आगे के रीतिकालीन आचार्यों ने भानुदत्त को अपनाया है। मतिराम ने पत्यागमन के निश्चय और सज-धज तथा शृंगार को लक्षणों में परिगणित किया है।[5] पर भानुदत्त ने वासकसज्जा की चेष्टाओं में प्रतीक्षा को सम्मिलित किया है। केशव ने इसे भी अपनाया है।

उदाहरणों में प्रच्छन्न और प्रकाश भेद हैं। इनमें वासकसज्जा के स्वरूप और चेष्टाओं का लक्षणानुरूप सामंजस्य है।

अभिसारिका

अभिसारिका प्रिय से जाकर मिलती है। उसमें प्रेम, गर्व या काम का भावातिरेक रहता है। इसी आधार पर प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और कामाभिसारिका—ये तीन भेद उसके किए गए हैं।[6] स्वकीया और परकीया अभिसारिकाओं के उदाहरण प्रस्तुत कर सामान्या पर आकर केशव की लेखनी रुक गई है। वस्तुतः उन्होंने अन्य नायिकाओं से अभिसारिकाओं का विस्तार देकर अपनी रुचि का लगाव स्पष्ट किया है।

भरत ने अभिसारिकाओं के अभिसरण प्रकार की चर्चा कुछ विस्तार से की

१ वारश्च अनुकल्पश्च प्रवासागमनक्रिया।
प्रमोदन च रम्याया नायिकायास्तथात्मन।
नव दाम्पुपर्यन्तिश्च पटन वासका स्मृता॥ निघण्टु
२ रसमंजरी श्लोक ६३ के पश्चात्।
३ सरस्वतीकुण्ठाभरण श्लो० ११७
४ रसार्णवसुधाकर, पृ० ३१
५ रसराज छं० १६७
६ रसिकप्रिया ७।२५

है ।[1] विश्वनाथ ने अभिसारिका को काम विवशा लिखा है ।[2] उन्होंने स्वकीया पर कीया और प्रेष्या अभिसारिकाओं के अभिसार लक्षण दिए हैं । फिर अभिसरण-स्थल भी गिनाए हैं ।[3] इस प्रकार केशव का आधार यहां विश्वनाथ से भिन्न है । उन्होंने प्रेम गर्व और काम के आधार पर तीन ही अभिसारिकाओं को माना है । विश्वनाथ ने अभिसारिका सामान्य को काम विवशा ही देखा है । भरत ने उसे काम और गर्व दोनों के वश कहा है । साथ ही नायिका जाती नहीं नायक को स्वयं बुलाती है ।[4] पर नायिका का जाना या नायक को बुलाना इन दोनों ही की सम्भावना धनंजय विश्वनाथ भूपाल और भानुदत्त ने मानी है ।[5] भोज ने नायिका गमन का ही उल्लेख किया है ।[6] केशव ने नायिका के ही अभिसरण की बात कही है । इस दृष्टि से केशव भोज के समीप हैं ।

नवलकिशोर प्रेस तथा वेंकटेश्वर प्रेस की प्रतियों में एक कुलटा का लक्षण निरूपक दोहा तथा कुछ अन्य छंद छपे हैं जिन्हें विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने प्रक्षिप्त मानकर छोड़ दिया है । केशव की कुलटा या सामान्या सम्बन्धी दृष्टि को देखते हुए यह युक्तियुक्त ही लगता है । हिन्दी के अन्य आचार्य हिततरंगिणीकार के अनुसरण पर प्रायः प्रिय के जाने या नायिका के जाने—दोनों के अभिसार की बात का उल्लेख करते हैं । मतिराम और सोमनाथ ने भी दोनों के उदाहरण दिए हैं ।[7] कामशास्त्र में भी दोनों ही की सम्भावना मिलती है ।

स्वकीया अभिसारिका

केशव के अनुसार आभूषण भूषिता वधुओं के साथ सलज्ज पद विन्यास करती हुई यह अभिसारिका अभिसार के लिए जाती है । डा० हीरालाल दीक्षित ने तथा डा० किरणचन्द्र शर्मा ने वधुओं के साथ स्वकीया अभिसारिका का जाना लिखा है ।[8] वस्तुतः अभिसारिका अन्य कुलवधुओं के साथ सलज्ज रतिगृह को जाती है

१ ना० शा० २४।२१६-२२१
२ सा० द० ३।७६ ७१
३ वही
४ ना० शा० २ ।२१२
५ (क) कामार्ताभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका । दशरूपक २।२७
(ख) सा० द० ३।७६
(ग) रसार्णवसुधाकर
(घ) स्वयं निःसरन्ति प्रियं निःसारयन्ति वा साऽभिसारिका । [illegible] कामशास्त्र में भी नारी दो [illegible] है— [illegible] स्वयं वा गमनम् । कामसूत्र [illegible]
६ [illegible] सा अभिसारिका । सरस्वतीकण्ठाभरण [illegible]
७ केलि हेत पिय पास [illegible] ।
[illegible] अभिसारिका सु होइ ॥ [illegible]
[illegible] पिय पै जाइ । रसराज ११
रसपीयूषनिधि [illegible]
८ [illegible] पृ० ३८२ केशवदास [illegible] पृ० ४०५

व घुग्रों' क साथ नहीं । विश्वनाथ की ग्रभिसारिका स्वकीया भी भूषणा स सुसज्जित है। पर उसकी लज्जा की ग्रभिव्यक्ति भूषण क्वणन ग्रोर ध्वनि को बन्द करन म होती ह।[1] केशव की स्वकीयाभिसारिका सलज्ज पदविन्यास क द्वारा क्वणन भी रोकती ह। लज्जा भी व्यक्त करती ह। अवगुण्ठन का वणन केशव ने नहीं किया। वस्तुत स्वकीया अभिसारिका गुरुजना की दृष्टि बचाकर ही अभिसार क लिए जाती ह। सखियों क बीच उस घूघट निकालने की आवश्यकता ही नही होती। बस विश्वनाथ का लक्षण विस्तृत ह पर केशव का निरूपण उनस नितान्त भिन्न नहीं।

परकीया अभिसारिका

इसका लक्षण केशव ने या दिया ह दासी सहेली वधुग्रा (बन्धुग्रा) क साथ सलज्ज भाव स माग म सभलकर पद वियास करती हुई यह नायिका अभिसार क लिए जाती ह।[2] यह लक्षण स्वकीया म नितान्त भिन्न नहीं ह। डा० किरणचन्द्र शर्मा के अनुसार कुलटा का जो निर्देश भरत ग्रौर विश्वनाथ न किया ह उसम स्वकीया ग्रौर परकीया दोना ही ग्रा जाती हैं। इसका कारण उन्होने यह दिया ह कि विश्वनाथ न तीन ग्रभिसारिकाग्रो म स परकीया को नही गिनाया।[3] कुलजा क ग्रन्तगत परकीया का सम्मिलित करना ग्रधिक समीचीन नही दिखाई देता। पर वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही दिखाई दती ह। कशव के लक्षणा स कुलजा की ध्वनि ही निकलती ह।

भानुदत्त न परकीया के उदाहरण म उसक प्रेम क प्राबल्य कठिन परिस्थितियो के प्रति एक साहसपूण उपेक्षाभाव ग्रोर उसकी ग्रप्रतिहत गति के तत्वा को ही स्पष्ट किया ह। केशव क निरूपण म इनकी कोई छाया नहीं ह।

सामान्या अभिसारिका

सामान्या म लज्जा का ग्रभाव ग्रोर साहस की ग्रधिकता होती ह। उसका चित्त चकित-सा होता ह। वह नील वस्त्र धारण करती ह। समस्त सौन्दय प्रसाधनों स भूषित चतुर्दिक नयन विलास करती हुइ हसती हुई रसिका क मन को मोहती हुइ मन्द गति स सखियो क साथ जार पति क पास अभिसार करती ह।[4] इस प्रकार समय ग्रौर वस्त्रा क अनुसार वह कृष्णाभिसारिका क रूप में प्रस्तुत की गई है।

यहा उल्लखनीय यह है कि सामान्या ग्रभिसारिका क निरूपक दोहे श्रीवेंकटेश्वर प्रेम स प्रकाशित प्रति म तो प्राप्त होत हैं प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित प्रति म इनका समावश नहीं है। ग्रन्यत्र सामान्या रूपो का निरूपण न होन क कारण यही उचित प्रतीत होता है कि सामान्या ग्रभिसारिका का भी निरूपण

१ सा० द ३।७७
२ रसिकप्रिया ७।२७
३ केशवदास जीवनी, कला ग्रौर कृतित्व पृ ४१६
४ रसमजरी ७८
५ रसिकप्रिया, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस दो० २८ १०

केशव ने न किया हो।

इसके अनन्तर केशव ने क्रमश प्रच्छन्न प्रेमाभिसारिका, प्रकाश प्रेमाभिसारिका प्रच्छन्न गर्वाभिसारिका प्रकाश गर्वाभिसारिका प्रच्छन्न कामाभिसारिका प्रकाश कामाभिसारिका के उदाहरण बिना लक्षण दिए हुए ही प्रस्तुत किए हैं। इन उदाहरणों में इन नायिका भेदों के अनुरूप नायिका की परिस्थितियों एवं प्रकृतियों का स्पष्टीकरण हुआ है। केशव ने कृष्णाभिसारिका शुक्लाभिसारिका आदि भेदों का निरूपण नहीं किया पर उनके उदाहरणों में इन भेदों की झलक है। केशव के उदाहरणों में विविध आचार्यों की उक्तियों की सामान्य छायाएं भी ढूँढी जा सकती हैं जो एक सामान्य सी बात है। इन उदाहरणों में लक्षणों से समन्वय ही नहीं राधा कृष्ण के उज्ज्वल शृंगार की रसिकता की मात्रा भी गहरी है।

वियोग के अनुसार नायिकाएं

उत्का

नायिका प्रिय की प्रतीक्षा में रही पर वह किसी कारण से नहीं आया। उसके मन में उसके न आने से अनेक संकल्प विकल्प उठे। ऐसी स्थिति में दुख का अनुभव करती हुई नायिका उत्का कहलाती है।[1] भरत का लक्षण भी इससे मिलता जुलता है।[2] पर भरत ने नायिका के हृदय में उठते संकल्प विकल्पों का तथा विविध सन्देहों का उल्लेख नहीं किया। विश्वनाथ ने भी सोच से इन्हें लक्षणों में नहीं कहा उदाहरणों में स्वाभाविक रूप से इनकी योजना अवश्य की है।[3] विश्वनाथ की विरहोत्कण्ठिता और केशव की उत्का एक ही है। धनंजय और भानुदत्त के लक्षण भी लगभग एक ही हैं। हिन्दी के आचार्यों में प्राय सभी समान हैं। सभी ने प्रियागमन फिर उसका आना न आना पर तर्क वितर्क की चर्चा की है।

केशव ने उत्का के भी प्रच्छन्न और प्रकाश भेद कर उदाहृत किया है। उत्का की प्रच्छन्नता इसमें है कि वह अन्य स्त्री के द्वारा विरमाये जाने की बात नहीं कहती। उत्का नायिका के निरूपण में प्रतीक्षमाणा नायिका द्वारा नाना सन्देहों और वितर्कों की योजनाएं आचार्यों ने की हैं। विश्वनाथ ने भी एक लम्बी सूची दी है। केशव के कुछ वितर्क विश्वनाथ से भिन्न हैं। इससे इस नायिका के चित्र मधुर हो जाते हैं।

खण्डिता

केशव की खण्डिता का स्वरूप यह है प्रियतम नायिका से घर ने आने का वचन दे फिर उस रात न आकर प्रात आवे। उस स्थिति में नायिका खण्डिता होती है। नायक उससे आकर नाना प्रकार की बातें भी बनाता है।[5] इससे नायक का रात को

१ र. म. क्रिया ७७ २ ना शा १२।०६

३ सा द ३।८६

४ ... ३।१२८ रसमंजरी ९६ ...।

५ र. प्रि. ७।१६

न आना अन्य-सम्भोग को व्यक्त करता है। प्रात वह अपराधी की भांति आता है। विश्वनाथ ने उसे सम्भोग चिह्नों से युक्त आता कहा है साथ ही नायिका के ईर्ष्या कलुषित होने की बात भी स्पष्ट की है।[1] केशव ने यह सब व्यंजना पर छोड़ दिया है। उदाहरणों में प्रिय के जागर खिन्न नेत्र और नायिका के मनःक्षोभ और अन्य नायिका के प्रति ईर्ष्या स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार के उदाहरण उनके लक्षण के पूरक हैं। केशव ने नायक का प्रात लौटना भी माना है। यह स्पष्ट है। भानुदत्त *यह मानकर कि अन्य सम्भोग रात में नहीं दिन में भी हो सकता है नायक के लौटने के समय के विषय में चुप हैं।* हिन्दी के आचार्य प्रात निवर्तन और रतिचिह्न योग—दोनों की चर्चा करते हैं। मतिराम ने प्रात आगमन का उल्लेख नहीं किया भिखारीदास ने केशव के समान रतिचिह्नों की चर्चा नहीं की। पर मान्यताएं सब की लगभग समान हैं।

यहां भी केशव ने अपनी परिपाटी के अनुरूप प्रच्छन्न और प्रकाश खण्डिता के भिन्न उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं। ये उदाहरण लक्षणों के पूरक हैं यह हम कह चुके हैं।

अभिसंधिता

अधिकांश आचार्यों ने इस नायिका को कलहान्तरिता के नाम से पुकारा है। इस भेद की पृष्ठभूमि में मान है। मानिनी नायिका को मनाने का प्रयास नायक करता है। वह प्रिय के अनुनय को ठुकराकर उसका अपमान कर देती है पर पीछे प्रिय की याद में दूना तड़पती है।[2] यही इसका मुख्य रूप है। भोज धनंजय *विश्वनाथ भानुदत्त सबमें यह पश्चात्ताप उल्लिखित है।*[3] इसके अनुसार कलह से अन्तरिता नायिका कलहान्तरिता नाम तो ठीक है पर अभिसंधिता नाम अधिक स्वरूपानुरूप नहीं है इस नाम में प्रतारणा का पक्ष प्रमुख है। प्रिय की प्रतारणा करने के कारण इस नायिका को यह नाम दिया जा सकता है। केशव ने यही नाम स्वीकार किया है। खण्डिता नायिका ही प्रिय से कलह कर अभिसंधिता या 'कलहान्तरिता' के रूप में परिणत हो जाती है।

केशव ने इसके केवल प्रच्छन्न और प्रकाश भेद ही किए हैं, स्वकीया परकीया आदि भेद नहीं किए। *केशव के उदाहरणों में नायक के पादपतन की कामशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रचलित बात तो कही गई है पाद-ताड़न की बात* नहीं कही गई जिसका उल्लेख उक्त परम्पराओं में मिलता है।[4]

1 सा० द० ३।७५

2 रसिकप्रिया ७।१३

3 सरस्वतीकण्ठाभरण, श्लो० ११५ दशरूपक ना० द० ३।२ रसमञ्जरी, श्लो० ४८ और ४९ के बीच।

4 सत्य न वचनमुत्तरेण योजयती विदग्धनाथा सकचग्रहमस्या आत्मपुत्रमुदय पादेन कदा।

तीन भेद हैं उत्तमा मध्यमा अधमा।

उत्तमा

यह नायिका के व्यवहार की दृष्टि से आदर्शतम स्थिति है। इसमें प्रियतम के प्रति सम्मान भावना होती है। प्रियकृत अपमान पर भी वह ध्यान नहीं देती। अपमान के बदले भी वह सम्मान करती है। थोड़ा सम्मान पाने पर ही मान मोचन कर देती है। प्रिय दर्शनमात्र से ही सुख प्राप्त करती है।[1] सम्भवतः नायिका के इस व्यवहार के मूल में काम प्रेरणा नहीं सामाजिक और पारिवारिक जीवन की मधुरता ही आधार है। शृंगार में मान के विविध रूप इसमें सम्बद्ध हैं।

शिंगभूपाल ने उत्तमा आदि के लक्षणों का निरूपण किया है।[2] उनके अनुसार उत्तमा का लक्षण है उत्तमा किसी कारणवश ही क्रोध करती है और नायक के द्वारा मनाने पर प्रसन्न हो जाती है।[3] इसमें लघु मान का तत्त्व केशव के समान ही है। भूपाल ने सकारण क्रोध की बात कही है पर केशव अपमानित होने पर भी सम्मान देने की बात कहते हैं। अतः भूपाल से केशव का आंशिक साम्य ही है। रसार्णवसुधाकर से उनका अधिक साम्य है जिसके अनुसार प्रिय द्वारा अप्रिय आचरण किए जाने पर भी वह प्रिय के प्रति प्रियाचरण ही करती है।[4] भानुदत्त के अनुसार प्रियतम द्वारा किए गए अहित को समझ कर भी उत्तमा उसपर रोष प्रकट नहीं करती उलटे उसका हित ही करती है।[5]

हिन्दी के परवर्ती आचार्यों ने प्रायः भानुदत्त का ही अनुसरण किया है। चिन्तामणि मतिराम के निरूपण भानुदत्त के छायानुवाद से हैं।[6] दास ने मान को विभाजक आधार बनाया है। उत्तमा में मानाभाव मध्यमा में लघु मान और अधमा में बिना अपराध के भी गुरु मान होता है।[7] केशव का निरूपण अधिक व्यावहारिक शास्त्रानुकूल एवं मनोवैज्ञानिक है। हल्का मान वह भी स्वल्प सम्मान से छूट जानेवाला इस बीच की स्थिति को ही उन्होंने स्वीकार किया है।

मध्यमा

केशव के अनुसार थोड़ा दोष होने पर भी मध्यमा मान करती है। बहुत सम्मान पाने पर उस मान को छोड़ पाती है। स्वभावतः सात्त्विकता इसमें उत्तमा से कम होती है। उत्तमा के अतिरिक्त गुणों का इसमें अभाव होता है। भानुदत्त ने

१ रसिकप्रिया ३।३६
 रसार्णवसुधाकर पृ ६७ श्लो १५२ १५७
३ वही
४ वही
५ रसमञ्जरी पृ ८४ श्लो ८६ से पूर्व
६ [illegible]
७ रसमञ्जरी [illegible] ७।३[illegible]

इसका लक्षण भी हिताहित के अनुसार किया है। प्रिय के हित करने पर हितकारिणी अहित करने पर अहितकारिणी चेष्टाएं करनेवाली नायिका मध्यमा होती है।[1] हिन्दी के आचार्य प्राय भानुदत्त के अनुयायी रहे हैं। केशव ने उसका लघुमानमूलक लक्षण दिया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने 'मध्ये मध्यं समाचरेत्' की भानुदत्त की व्यावसायिक बुद्धि को सामने नहीं रखा। मान के टूटने पर हित-सम्पादन तो हो ही जाता है।

मध्यमा का उदाहरण लक्षण के अनुरूप है। उसमें दीर्घ मान का निरूपण किया गया है उसके मोचन का प्रयास नहीं दिखाया गया। भानुदत्त और उनकी परम्परा के परवर्ती हिन्दी आचार्यों से केशव की न लक्षण समानता है न उदाहरण समानता।

अधमा

यह नायिका अकारण ही रुष्ट हो जाती है तो अकारण ही तुष्ट हो जाती है। अर्थात् इसकी प्रकृति चंचल होती है।[2] भानुदत्त ने भी लगभग ऐसा ही लक्षण किया है। पर उनकी दृष्टि भिन्न है। प्रिय के हित का बदला अधमा अहित से देती है। अकारण क्रोध करनेवाली यह नायिका अधमा है।[3] भानुदत्त का अनुकरण करनेवाले हिन्दी के चिन्तामणि मतिराम सोमनाथ प्रभृति आचार्यों ने भी यही लक्षण दिया है। नायिका का दीर्घ मान रसाभास कर देता है यह केशव का लक्षण है। बिहारी ने भी इस नायिका का अधम चित्र दिया है।[5] इसको अधमा कहने का कारण प्रमुखत इसका दीर्घ मान ही है। पर केशव ने इस दीर्घ मान को अपने लक्षण में आधार नहीं बनाया। उनके उदाहरणों में इसका कुछ आभास अवश्य है। हिन्दी में दास ने इसी तत्त्व को प्रमुखता दी है।[6] उनके अनुसार अधमा बिना अपराध ही गुरु मान करती है। केशव ने मान से अधिक स्वभाव की चंचलता का संकेत किया है। इस चंचलता में ही मान की अकारणता निहित है। उदाहरण को लक्षणानुरूप बनाने की अपेक्षा उसमें उन सभी प्रवृत्तियों और चेष्टाओं के निराकरण का उपदेश दिया गया है जो प्रिय और प्रिया के बीच अंतर उपस्थित करें।[7]

अगम्या नारिया

नायिका प्रकरण के अंत में केशव ने अगम्या नारिया का भी उल्लेख किया

१ रसमंजरी, श्लो० ६० से पूर्व
२ रसिकप्रिया ७।६०
३ रसमंजरी, श्लो० ६१ से पूर्व
४ रसराज २३४ रसपीयूषनिधि ६
५ बिहारी सतसई ६८६
६ शृंगारनिर्णय
७ रसिकप्रिया ७।४१

तीन भेद हैं उत्तमा मध्यमा अधमा।

उत्तमा

यह नायिका के व्यवहार की दृष्टि से आदर्शतम स्थिति है। इसमें प्रियतम के प्रति सम्मान भावना होती है। प्रियकृत अपमान पर भी वह ध्यान नहीं देती। अपमान के बदले भी वह सम्मान करती है। थोड़ा सम्मान पाने पर ही मान मोचन कर देती है। प्रिय दर्शनमात्र से ही सुख प्राप्त करती है।[1] सम्भवत नायिका के इस व्यवहार के मूल में काम प्रेरणा नहीं सामाजिक और पारिवारिक जीवन की मधुरता ही आधार है। शृंगार में मान के विविध रूप इससे सम्बद्ध हैं।

शिगभूपाल ने उत्तमा आदि के लक्षणों का निरूपण किया है।[2] उनके अनुसार उत्तमा का लक्षण है उत्तमा किसी कारणवश ही क्रोध करती है और नायक के द्वारा मनाने पर प्रसन्न हो जाती है।[3] इसमें लघु मान का तत्व केशव के समान ही है। भूपाल ने अकारण क्रोध की बात कही है पर केशव अपमानित होने पर भी सम्मान देने की बात कहते हैं। अत भूपाल से केशव का आंशिक साम्य ही है। रसार्णवसुधाकर से उनका अधिक साम्य है जिसके अनुसार प्रिय द्वारा अप्रिय आचरण किए जाने पर भी वह प्रिय के प्रति प्रियाचरण ही करती है।[4] भानुदत्त के अनुसार प्रियतम द्वारा किए गए अहित को समझ करके भी उत्तमा उसपर रोष प्रकट नहीं करती उल्टे उसका हित ही करती है।[5]

हिन्दी के परवर्ती आचार्यों ने प्राय भानुदत्त का ही अनुसरण किया है। चिन्तामणि सोमनाथ मतिराम के निरूपण भानुदत्त के छायानुवाद से हैं। दास ने मान को विभाजक आधार बनाया है। उत्तमा में मानाभाव मध्यमा में लघु मान और अधमा में बिना अपराध के भी गुरु मान होता है।[6] केशव का निरूपण अधिक व्यावहारिक परम्परानुकूल एवं मनोवैज्ञानिक है। हल्का मान वह भी स्वल्प सम्मान से छूट जानेवाला इस बीच की स्थिति को ही उन्होंने स्वीकार किया है।

मध्यमा

केशव के अनुसार थोड़ा दोष होने पर भी मध्यमा मान करती है। बहुत सम्मान पाने पर उस मान को छोड़ पाती है। स्वभावगत सात्त्विकता इसमें उत्तमा से कम होती है। उत्तमा के अतिरिक्त गुणों का इसमें अभाव होता है। भानुदत्त ने

१ रसिकप्रिया ३।३६
२ रसार्णवसुधाकर पृ ३६ ७ श्लो १५२ १५७
३ वही
४ वही
५ रसमंजरी पृ ८६ श्लो ८६ से पूर्व
६ शृंगारनिर्णय
७ रसिकप्रिया ७।३८

इसका लक्षण भी हिताहित के अनुसार किया है। प्रिय के हित करने पर हितकारिणी अहित करने पर अहितकारिणी चप्टाए करनेवाली नायिका मध्यमा होती है।[१] हिंदी के आचार्य प्राय भानुदत्त के अनुयायी रहे हैं। केशव ने उसका लघुमानमूलक लक्षण दिया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने शठे शाठ्य समाचरेत् की भानुदत्त की व्यावसायिक बुद्धि को सामने नहीं रखा। मान के टूटने पर हित-सम्पादन तो हो ही जाता है।

मध्यमा का उदाहरण लक्षण के अनुरूप है। उसमें दीर्घ मान का निरूपण किया गया है उसके मोचन का प्रयास नहीं दिखाया गया। भानुदत्त और उनकी परम्परा के परवर्ती हिन्दी आचार्यों से केशव की न लक्षण समानता है न उदाहरण समानता।

अधमा

यह नायिका अकारण ही रुष्ट हो जाती है तो अकारण ही तुष्ट हो जाती है। अर्थात् इसकी प्रकृति चपल होती है।[१] भानुदत्त ने भी लगभग ऐसा ही लक्षण किया है। पर उनकी दृष्टि भिन्न है। प्रिय के हित का बदला अधमा अहित से देती है। अकारण रोष करनेवाली यह नायिका अधमा है।[१] भानुदत्त का अनुकरण करनेवाले हिन्दी के चिंतामणि मतिराम सोमनाथ प्रभृति आचार्यों ने भी यही लक्षण दिया है। नायिका का दीर्घ मान रसाभास कर देता है यह कल्पना का कारण है। बिहारी ने भी इस नायिका का अधम चित्र दिया है।[१] इसको अधमा कहने का कारण प्रमुखत इसका दीर्घ मान ही है। पर केशव ने इस दीर्घ मान को अपने लक्षण में आधार नहीं बनाया। उनके उदाहरणों में इसका कुछ आभास अवश्य है। हिंदी में दास ने इसी तत्त्व को प्रमुखता दी है।[१] उनके अनुसार अधमा बिना अपराध ही गुरु मान करती है। केशव ने मान से अधिक स्वभाव की चचलता का संकेत किया है। इस चचलता में ही मान की अकारणता निहित है। उदाहरण को लक्षणानुरूप बनाने की अपेक्षा उसमें उन सभी प्रवृत्तियों और चेष्टाओं के निराकरण का उपदेश दिया गया है जो प्रिय और प्रिया के बीच अन्तर उपस्थित करें।

अगम्या नारियाँ

नायिका प्रकरण के अन्त में केशव ने अगम्या नारियों का भी उल्लेख किया

१ रसमजरी श्लो० ६० से पूर्व
२ रसिकप्रिया ७।८०
रसमजरी, श्लो० ६१ से पूर्व
४ रसराज २४ रसपीयूषनिधि ६
५ बिहारी सतसई ६८६
६ शृंगारनिर्णय
७ रसिकप्रिया ७।४०

है। वस्तुतः इन अगम्या नारियों की धारणा समाज-मर्यादा पर आधारित है। यह भी कामशास्त्रीय स्रोत से निःसृत है। रसों में या रस-परिपाक में इसका सीधा महत्त्व नहीं है। इसीलिए संस्कृत के नायिका-भेदी आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया। किन्तु आनन्दवर्धन और उनकी परम्परा के सभी आचार्य रस-परिपाक के लिए अनौचित्य निवारण अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। शृंगार में तो अनौचित्य का समावेश सहज सम्भव है। नाना प्रकार की नायिकाओं के निरूपण में फंसा हुआ शृंगार अपने औचित्य की सीमाएं खो सकता है और तब सहज ही रसाभास के गर्त में गिर सकता है। सम्भवतः इसी सम्भावना से केशव ने अगम्या नारियों की चर्चा अपने नायिका-निरूपण के उपसंहार रूप में की है।

अगम्या नारियों में पहली श्रेणी उनकी है जो उन सम्बन्धियों की स्त्रियां हैं जो पूज्य हैं या यह विश्वास रखते हैं कि यह समागम नहीं हो सकता। इसमें आती हैं सम्बन्धी की स्त्री, मित्र की स्त्री, ब्राह्मण की स्त्री। दूसरी श्रेणी उन स्त्रियों की है जो विपत्ति में ग्रस्त हों और जिनकी पुरुष ने सहायता की हो। इस प्रकार किसीकी विवशता का लाभ उठाकर शोषण के आधार पर अथवा अपने उपकार के बदले सम्भोग करना उचित नहीं। तीसरी श्रेणी उन स्त्रियों की है जिनके साथ सम्बन्ध अनुलोम प्रतिलोम पड़ता है जैसे उच्चवर्णीय पुरुष का निम्नवर्णीय स्त्री के साथ या इसके विपरीत। चौथी श्रेणी में विधवा तथा पूज्या स्त्रियां हैं। पांचवीं श्रेणी में शारीरिक रूप से विकृत या रुग्ण स्त्रियां आती हैं। इन समस्त नारियों के साथ रति-सम्बन्ध रसाभास का ही पोषक होगा।[1]

कामशास्त्र में भी लगभग ये ही नारियां अगम्या मानी गई हैं। वहां कुछ लम्बी सूची दी गई है।[2] उस सूची में से अधिकांश केशव से मिलती है। कुछ को केशव ने रसानुकूल न होने के कारण छोड़ दिया है। वृद्धा, रोगिणी आदि को अगम्या मानने का आधार आयुर्वेदग्रन्थों में भी है।[3] धर्मशास्त्रों में भी इस प्रकार की चर्चा मिलती है। मनुस्मृति में रुग्णा आदि को वर्जिताओं में गिनाया गया है।[4] समस्त गुरु-पत्नियां निषिद्ध हैं। इस प्रकार केशव का अगम्या-निरूपण का प्रकरण कामशास्त्र तथा धर्मशास्त्र पर आधारित तो है ही, साथ में रसानुकूलता के अनुरूप भी है।

उपसंहार

उक्त नायिकाओं के गुणनफल से कुल ३६० भेद हो जाते हैं। पर केशव ने इस संख्या को पूर्णतः सुनिश्चित नहीं माना है। जाति, काल, वय तथा भाव के अनु-

१ रसिकप्रिया ७।४३-४४

२ अगम्यास्त्वेवैताः—कुष्ठिन्युन्मत्ता पतिता भिन्नरहस्या प्रकाशप्रार्थिनी गतप्राययौवनातिश्वेतातिकृष्णा दुर्गन्धा सम्बन्धिनी सखी प्रव्रजिता सम्बन्धिसखिश्रोत्रियराजदाराश्च।" —कामसूत्र १।५।२९

३ अष्टांगहृदय निदानस्थान अ० १४

४ मनुस्मृति ३।७-८

सार ग्रन्थ अनेक भेद भी हो सकते हैं। जाति के अनुसार नायिकाएं कामशास्त्र में भी मिलती हैं। साहित्यशास्त्र में भी इनकी परम्परा है। रसिकभक्ति और उसके शास्त्र में भी इनकी स्वीकृति है। केशव के पश्चात् देव ने जातियों के अनुसार नायिकाओं के भेद किए हैं पर केशव ने इन्हें छोड़ दिया है। उन्होंने सामान्या को भी अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया।

स्रोत की दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में केशव का स्थान सबसे पृथक है। उन्होंने आंख बन्द कर किसी एक आचार्य का अनुगमन नहीं किया। रीतिकालीन अन्य हिन्दी आचार्यों ने भानुदत्त का पल्ला पकड़ लिया है। केशव अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप मूल स्रोतों की ओर चले हैं। कामशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, धर्मशास्त्रीय, भक्तिशास्त्रीय तथा साहित्य प्रकृति एवं वस्तुस्थिति की परम्पराओं और आवश्यकताओं के अनुरूप उन्होंने सतर्क चुनाव करने का प्रयास किया है। वे विविध प्रभावों से प्रभावित हुए हैं। हिन्दी की परम्परा में परकीया के विषय में एक विशेष दृष्टि प्रवर्तित हो चुकी थी। केशव ने उसका ध्यान रखा है। सामान्या का तिरस्कार सामाजिक नैतिकता और भक्तिदृष्टि दोनों के अनुरूप है। केशव प्रच्छन्न और प्रकाश रूप लेकर चले हैं इन भेदों का आधार गोप्यता और प्रकाश्यता के आधार पर है। पीछे के आचार्यों से केशव के साम्य का निरूपण हम सक्षेप में यथास्थान करते चले हैं। देव उनके विशेष रूप में ऋणी हैं। केशव ने नायिका भेद को शृंगार विशेषतः सयोग शृंगार के अन्तर्गत रखा है। (रसिकप्रिया ७।४५) पर उनकी नायिकाओं में वियोगिनी नायिकाएं भी हैं। अतः नायिका भेद दोनों से ही सम्बद्ध हैं। इस क्षेत्र में केशव की कुछ मौलिकताएं भी हैं। जो एक स्रोत से निःसृत परिपाटी केशव के पूर्व या उनके पश्चात् साहित्य में प्रचलित चली आ रही थी उसका विस्तार केशव ने मूल स्रोतों से सामग्री लेकर किया। उन्होंने अनेक विषयों में अनावश्यक विस्तार को समाप्त कर नायिका निरूपण को रसानुकूल बनाया है। उन्होंने कामशास्त्रीय स्रोत की कुछ नायिकाओं को लिया और अगम्या नायिकाओं का निरूपण किया। रसाभास और रसपरिपाक की दृष्टि से उन्होंने इन्हें गिनाया है। नायिका भेद जैसे विषय को केशव ने सामाजिकता के यथासम्भव निकट रखने का प्रयास किया है। उनके समस्त उदाहरण राधा कृष्ण के प्रेम विषयक होने के कारण हरिशृंगार के ही अन्तर्गत आते हैं। अतः उनका समूचा नायिका भेद रसिकप्रिया की मूल चेतना में एकसूत्रित है। जो मान्यताएं इस कड़ी से अलग भी पड़ती हैं वे काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रचलित मान्यताओं का परिचित कराने के लिए भर समझनी चाहिए। हिन्दी में उनका नायिका भेद निरूपण इस दृष्टि से सर्वथा अलग है।

पंचम प्रकाश

अलंकार-विवेचन

जिस प्रकार रसिकप्रिया एक रसग्रंथ है उसी प्रकार कविप्रिया एक अलंकार ग्रंथ। हम प्रस्तुत प्रकाश में कविप्रिया में निरूपित केशव के अलंकार निरूपण का अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

केशव का अलंकारवाद

कई विशिष्ट कारणों से जिनमें काव्य में गहरी अलंकार प्रियता भी एक प्रमुख कारण है केशव को अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है। उनके अलंकारवाद को ठीक अर्थ में समझने के लिए हमें चार तर्कों पर दृष्टि डालनी होगी

१ केशव काव्य में अलंकारों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान मानते हैं।

२ केशव ने अपना विशिष्टालंकारों का निरूपण प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के आधार पर किया है।

३ केशव भामह दण्डी आदि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के समान रसों को रसवदलंकार कहते हैं।

४ कतिपय प्राचीन अलंकारवादियों के समान ही उन्होंने वर्ण्य विषय और वर्णन शैली—दोनों ही को अलंकार के भीतर रखते हुए इस शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थ में गृहीत किया है।

इन चारों तर्कों पर हम यहाँ विचार करना चाहेंगे।

काव्य में अलंकारों का स्थान

इस सम्बन्ध में केशव की यह उक्ति अत्यन्त प्रचलित है

जदपि सुजाति सुलच्छिनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥[1]

(कविता अन्य सभी गुणों से युक्त हो सुन्दर लक्षणवती हो सरस हो सुन्दर छन्दोमयी हो [किन्तु बिना अलंकारों के विशेष रूप से शोभित नहीं हो सकती])

केशव की इस उक्ति से यही तात्पर्य निकलता है कि कविता को विराजित या विशेष रूप से उपशोभित करने के लिए उसको अलंकार सज्जा अपेक्षित है।

१ कविप्रिया प्र० ५,१

रस विवेचन में हमने देखा है कि वैष्णव किस प्रकार काव्य में रस के प्रति आग्रही हैं। अतः अलंकार उनके अनुसार आत्मस्थानीय नहीं हो सकते। यहां भी अलंकारों द्वारा कविता के विराजित होने की बात उन्होंने कही है न कि अनुप्राणित होने की। दोष विवेचन के प्रसंग में हम देखेंगे कि वैष्णव ने काव्य का आत्मतत्त्व विशिष्ट अर्थ को माना है जिसके अभाव में काव्य मृतक हो जाता है। अलंकारहीनता पर काव्य मृतक नहीं केवल नग्न कहा गया है। यहां भी यही दृष्टि प्रतिफलित है। यद्यपि उन्होंने एक व्यापक अर्थ में अपने 'अलंकार' शब्द को परिगृहीत किया है जिसमें अलंकार्य विषय भी समाहित हैं तथापि उस व्यापक अर्थ परिधि के साथ परिगृहीत अलंकार शब्द भी काव्य के प्राणतत्त्व का वाचक होकर वैष्णव के निरूपण में नहीं आया है केवल विराजक या उपशोभक उपादान होकर ही आया है।

रसों की रसवदलंकार रूप में स्वीकृति

हम देखेंगे कि वैष्णव ने काव्यरसों को प्राचीन अलंकारवादियों के समान ही रसवदलंकार के रूप में प्रस्तुत किया है। आपाततः उनका यह कार्य ध्वनि विरोधी और अलंकारवाद के अनुरूप है।

पर इस सम्बन्ध में हम रस विवेचन में देख चुके हैं कि वैष्णव की रसिकप्रिया का रस विवेचन एक विशिष्ट दृष्टिकोण से परिचालित है। उसमें उस शृंगार की रसराजता प्रतिपादित है जो रसिकभक्ति को भी ग्राह्य हो। फलतः अन्य रस शृंगार में अन्तर्भावित हैं। पर वैष्णव इस अंगी हरिशृंगार के अतिरिक्त काव्यरसों की पृथक् सत्ता भी स्वीकार करते हैं। काव्यरसों के रूप में इस पृथक् सत्ता के लिए उनके निरूपण के ढांचे में क्या स्थान हो इस प्रश्न का समाधान गौडीय आचार्यों के पास तो यह है कि वे इन्हें रसाभास की कोटि में रखते हैं। पर वैष्णव ऐसा नहीं करते। पर एक बार हरिशृंगार को एकमात्र रस स्वीकार कर लेने पर काव्यरसों का रसकोटि में रखने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। अतः वे इन्हें रसवदलंकार की कोटि में रखते हैं। इनको रसाभास कहना साम्प्रदायिक भक्ति-काव्य शास्त्र की दृष्टि में तो चल सकता था पर काव्यशास्त्रीय निरूपण के प्रतिकूल हो जाता। रसवदलंकार कहने में यह बाधा न थी। एक तो प्राचीन आचार्यों का सहारा भी मिला हुआ था दूसरे स्वयं उन्होंने अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में परिगृहीत कर रखा था जिसमें अलंकार्य की भी समाई थी। इस प्रकार वैष्णव द्वारा काव्यरसों को रसवदलंकार कहना उनके निरूपण की एक आवश्यकता भी थी मात्र प्राचीन अलंकारवादियों का अन्धानुकरण नहीं था।

एक और बात उल्लेखनीय है। हम इस प्रकरण में देखेंगे कि वैष्णव ने कविप्रिया में एक शिक्षक आचार्य के नाते रसवदलंकार के विषय में विविध आचार्यों की एकाधिक परम्पराओं या मान्यताओं का उदाहरणों द्वारा स्पष्टतः निदर्शित करने का प्रयास किया है। पूरी परम्परा में से प्रमुख मान्यताओं के साथ परिचित कराने

का काम इस पद्धति से केशव सहज निभा सके हैं। ये विविध मान्यताएं केशव को प्राचीन युग का रूढ़ अलकारवादी नहीं रहने देतीं नवीन युग के पुनरुद्धरण काल का अलकारवादी बताती हैं जो रस और अन्य आधार-तत्त्वो के महत्त्व से पूर्ण परिचित एव उनके प्रति जागरूक है।

अलकार निरूपण म प्राचीन आचार्यों का आधार परिग्रहण

कहा जाता है कि केशव ने अपने विशिष्टालकारो के निरूपण म प्राचीन अलकारवादियो विशेषत दण्डी को आधार बनाया है। इस विषय म यह उल्लेखनीय है कि केशव ने किसी भी आचार्य का ■ धानुकरण नहीं किया। प्रमुख आधार दण्डी होते हुए भी उनकी दृष्टि म अन्य आचार्यों की उपलब्धिया भी थीं और वे अपने युग तक की प्रतिनिधियो से परिचित थे। केशव प्राचीन और नवीन सब मान्यताओ म से रुचि आवश्यकता और अपने दृष्टिकोणो के अनुरूप चयन करते हैं तब किसी मान्यता को प्रस्तुत करते हैं कभी एकाधिक मान्यताए भी किसी विषय पर देते हैं। वे उसे अपनाते हैं जिसे प्रामाणिक समझते हैं। अत प्राचीनो का प्राय अनुसरण होते हुए भी उन्हें अन्य अनुकारी और रूढ अलकारवादी कहना उनके प्रति न्याय न होगा।

अलकार शब्द की व्यापक परिधि

केशव ने अलकार शब्द की परिधि बहुत व्यापक ली है जिसमे वर्ण्य विषय भी हैं और वर्णन प्रकार साधन भी। वामन ने अलकार शब्द को दोनो अर्थों म लिया था। मम्मट ने भी इस शब्द म एक स्थान पर दोनो अर्थों की समाई स्वीकृत की है। अत यह कहना कि केवल अलकारवादी ही अलकार शब्द को उक्त व्यापक परिधि म ले सकता है ठीक न होगा। इस शब्द की दो व्युत्पत्तिया हो जाती हैं एक—जो अलकृत किए जाए वे अलकार हैं। दूसरी—जो अलकृत करे वे अलकार हैं। केशव ने दोनो व्युत्पत्तियो की परिधि के साथ अलकार शब्द अपनाया। पर इस व्यापक अर्थ के लेने पर भी उनके निरूपण म कोई गडबडी नहीं हुई है अपेक्षित सफाई बनी रही है।

वस्तुत अलकार की यह व्यापक परिधि स्वीकार करना भी केशव के निरूपण की एक आवश्यकता थी। वे कविशिक्षा का भी एक प्रमुख उद्देश्य लेकर चले थे अत कवियो को अनेक वर्ण्य विषयो म परिचित करना भी उन्हें अभीष्ट था जिनका उल्लेख अनेक सस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थो म हो चुका था। हम कविशिक्षा के ऊपर विचार करते हुए देखेंगे कि सस्कृत आचार्यों के इस कोटि के निरूपणो म व्यवस्थित योजना नहीं थी। केशव ने समस्त वर्ण्यों को चार वर्गों म विभाजित कर सामान्यालकार के रूप म प्रस्तुत किया। हम देखेंगे कि कविशिक्षा के आधारग्रन्थो म भूश्री और राज्यश्री की सामग्री अलग अलग निरूपित न थी। केशव ने व्यवस्था देकर उसको नियोजित किया और एक विस्तृत निरूपण योजना म आबद्ध कर

निरूपण की सफाई प्रस्तुत की। यह सब वे तभी कर सके जब उन्होंने 'अलंकार' को व्यापक परिधि में स्वीकार किया और उसके सामान्य और 'विशिष्ट' दो अलग अलग वर्ग निर्धारित कर दिए।

अतः इन तथ्यों की छाया में ही हम केशव के अलंकारवादित्व का निर्णय करना चाहिए। इन्हें रूढ़ नहीं उदार और नये युग का अलंकारवादी कहना चाहिए।

सामान्य और विशिष्ट अलंकार

केशव ने अलंकारों की व्यापक परिधि मानकर उनके दो प्रमुख वर्ग स्वीकार किए हैं यह अभी कहा जा चुका है। प्रथम वर्ग सामान्यालंकार का है। इसमें चार उपवर्ग हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री, राजश्री। इनमें निरूपित सामग्री का सीधा सम्बन्ध कविशिक्षा से है अतः उसका निरूपण कविशिक्षा के प्रसंग में किया जाएगा। यहाँ हम विशिष्टालंकारों से ही सम्बद्ध रहना चाहते हैं।

विशिष्टालंकार

केशव ने कविप्रिया में नवम से अन्तिम प्रभाव तक विस्तार से निम्न विशिष्टालंकारों का निरूपण किया है

स्वभावोक्ति	विभावना	हेतु	विरोध	विशेष उत्प्रेक्षा
आक्षेप	क्रम	आशिष	प्रेम	श्लेष
सूक्ष्म	लेश	निदर्शना	ऊर्जस्वी	रसवत
अर्थान्तरन्यास	व्यतिरेक	अपह्नुति	उक्ति	व्याजस्तुति
व्याजनिन्दा	अमित	पर्यायोक्ति	युक्त	समाहित
सुसिद्ध	प्रसिद्ध	विपरीत	रूपक	दीपक
प्रहेलिका	परिवृत्त	उपमा	यमक	

इन ३८ नामों में उक्ति कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं है उसके अन्तर्गत ५ अलंकार वर्णित हैं। ११ वें प्रभाव में एक गणना की ओर चर्चा है। इस प्रकार कुल मिलाकर ४० होते हैं। चित्र का सम्बन्ध कविशिक्षा से है।

पन्द्रहवें प्रभाव में केशव ने नखशिख का निरूपण किया है। चौदहवें में वे उपमा के बाईस भेदों का निरूपित कर चुके थे। अतः १५वें में प्रसंगवश नखशिख के माध्यम से नारी के विविध अंगों के नाना उपमान उन्होंने जुटाए हैं। अतः इस निरूपण को उपमा निरूपण का ही एक अंग समझना चाहिए। इसका कविशिक्षा से जितना सम्बन्ध है उतना विधायक आचार्यत्व से नहीं।

केशव ने अर्थालंकार और शब्दालंकार के रूप में अलंकारों को नहीं बाँटा। पन्द्रहवें तथा सोलहवें प्रभावों में [illegible] यमक और चित्र अलंकारों की चर्चा की है। ये दोनों अलंकार शब्दालंकार ही हैं। शेष को अर्थालंकारों की कोटि में रखा जा सकता है। पर इस वर्गीकरण में श्लेष अर्थालंकारों के बीच रखा होगा। अर्थश्लेष

और नाम्नैव के रूप में केशव ने कोई वर्गीकरण नहीं किया।

हम देखेंगे कि केशव ने अलंकार निरूपण में प्रमुख आधार दण्डी को बनाया है। अतः उनके निरूपण के परीक्षण के लिए सामान्यतः दण्डी को सामने रखकर चलना अनुपयुक्त न होगा। पर केशव के अलंकार निरूपण के प्रसंग में हमारे समक्ष कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं—केशव ने किस आचार्य से कितना लिया, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का किस मात्रा तक अनुसरण-अनुकरण किया, उसमें अपना विवेक किस मात्रा तक है? काव्यशास्त्र की नूतन उपलब्धियों और आवश्यकताओं से वे कहाँ तक परिचित थे? उनका प्राचीन या नवीन आचार्यों से जहाँ अन्तर पड़ता है वहाँ वे कहाँ तक भ्रान्त हैं, कहाँ तक उनके समझे-बूझे हेर-फेर हैं? किसी तथ्य या अलंकार रूप को प्रस्तुत करते हुए उसे केशव क्या समझते हैं? हम इन तथा इन जैसी जिज्ञासाओं को मन में रखकर केशव के अलंकार निरूपण की ओर बढ़ना चाहते हैं। अतः हमारी प्रक्रिया यह होनी चाहिए कि हम परम्परागत उपलब्धियों पर दृष्टि रखते हुए केशव को समझें और दण्डी को सामान्य माध्यम बनाते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र के नये पुराने आचार्यों की उपलब्धियों और अलंकार सम्बन्धी गुत्थियों को ध्यान में रखकर केशव के निरूपण का अध्ययन करें।

और अब हम केशव द्वारा निरूपित विशिष्टालंकारों का परीक्षण कर सकते हैं।

स्वभावोक्ति

केशव के स्वभावोक्ति अलंकार का लक्षण प्रायः सभी संस्कृत के आचार्यों के इसी अलंकार के लक्षण से मिलता है। भामह[1] ने तो इसको स्वभावोक्ति ही कहा है जब कि दण्डी[2] रुद्रट[3] भोज ने इसे स्वभावोक्ति के साथ साथ जाति नाम भी दिया है। केशव ने इस स्वभावोक्ति तथा जाति दोनों ही नामों से प्रस्तुत किया है और इसका लक्षण परम्परानुसार ही दिया है[4]—

> जाको जैसो रूप गुन कहिये तैसे साज।
> तासों जाति सुभाव कहि बरनत हैं कविराज॥

इसके अनुसार जिस कथ्य वस्तु का सहज रूप अथवा गुण जैसा हो वैसा ही वर्णन किया जाए वहाँ कविगण स्वभावोक्ति अथवा जाति अलंकार मानते हैं। इससे यह तो स्पष्ट है कि कम से कम नाम को लेकर तो केशव भामह से प्रभावित

१ स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।
　अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ काव्यालंकार २।९३

२ नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
　स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ काव्यादर्श २।८

३ संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
　लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमन्यथा जातिः॥ इत्यादि। रुद्रट, काव्यालंकार ७।३०

४ कविप्रिया ९।८

नहीं हैं। हां, लक्षण के लिए वे दण्डी रुद्रट भोज आदि में से किसको आधार मानकर चले हैं यह कहना कठिन है। कविप्रिया में इस अलंकार के उदाहरण के लिए उन्होंने जो दो छंद[1] दिए हैं उनमें उनके द्वारा दिए हुए लक्षणों का पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है।

विभावना

केशव ने दो प्रकार की विभावना बताकर अलग अलग उनके लक्षण दिए हैं। प्रथम को उन्होंने सामान्य विभावना कहा है तथा द्वितीय को अन्य विभावना। सामान्य विभावना का उनका लक्षण यह है

> कारण को बिनु कारजहि उदो होत जिहि ठौर।
> तासों कहत विभावना केसव कवि सिरमौर ॥[2]

और अन्य विभावना का लक्षण यह है

> कारन कौनहु आन तें कारज होइ जु सिद्ध।
> जानो यहो विभावना कारज छाँडि प्रसिद्ध।[3]

केशव ने दो प्रकार की विभावना जो बताई है वह परम्परासम्मत है। जिसे वे सामान्य विभावना कहते हैं वह वहां होती है जहां बिना कारण के ही कार्य होता है। लेकिन जहां वास्तविक कारण से कार्य न होकर किसी अन्य कारण से हो वहां पर भी प्राचीन आचार्यों ने विभावना मानी है। केशव की अन्य विभावना का लक्षण उसीकी ओर इंगित करता है। संस्कृत के आचार्यों ने इन्हीं दो भेदों का ध्यान में रखकर विभावना शब्द की व्युत्पत्ति की सार्थकता सिद्ध की है

१ विभाव्यते कारणान्तर यस्याम्।

जहां प्रसिद्ध कारण को छोड़कर कारणान्तर को विभाजित किया जाए।

२ विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्।[4]

जहां कार्य अपने प्रसिद्ध कारण के ढंग को छोड़कर विशिष्ट ढंग से उपस्थित किया जाए।

भामह ने विभावना का लक्षण करते हुए कारण के स्थान पर क्रिया शब्द का प्रयोग किया है और उसके भेद भी नहीं किए हैं। मम्मट ने भी क्रिया शब्द ही का प्रयोग किया है। आचार्य विश्वनाथ और जयदेव विभावना का कारण के उक्त अथवा अनुक्त रूप से लक्षण देते हुए उसके दो भेद स्वीकार करते हैं। अप्पय्य दीक्षित ने विभावना के छ भेद बतलाए हैं। दण्डी ने विभावना का लक्षण देते हुए कारणान्तर वाले अंश को प्रमुखता दी है और सहज विभावना को गौण रूप में वर्णित किया है।

1 कविप्रिया ६।६ १०
2 वही ६।११
3 वही ६।१३
4 अलंकारचन्द्रिका, पृ० ६८
5 अलंकारसर्वस्व पृ० ।५७

अन्य आचार्य दण्डी से भिन्न मत रखते हैं और उन्होंने कारणाभावमूलक विभावना को प्रमुखता दी है। वामन भेद की दृष्टि से दण्डी का अनुसरण करते हुए भी सहज कारणमूलक विभावना को प्रमुख स्थान देते हैं और कारणान्तरमूलक को गौण। इस प्रकार वामन की सामान्य विभावना और दण्डी की स्वाभाविक विभावना एक ही हैं।

विभावना के इस निरूपण में वामन सबसे अधिक प्रभावित किस आचार्य से हुए हैं, इसपर विचार करते समय हमें लगता है कि वामन ने दण्डी को आधार तो बनाया है लेकिन लक्षण देते हुए सभी प्रमुख प्रमुख आचार्यों के निरूपणों को ध्यान में रखा है। निर्णयात्मक ढंग से यह कह देना कि वामन की प्रथम विभावना का लक्षण रुद्रट के दिए लक्षण से ही मिलता है[1] पूर्णतः ठीक नहीं। कारण यह है कि प्रायः सभी प्रमुख प्राचीन आचार्यों ने इसी प्रकार के लक्षण दिए हैं और कारणाभाव कार्यस्योत्पत्ति वाले सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। फिर अकेले रुद्रट को ही यह श्रेय क्यों दिया जाए। उदाहरण को देखने से पता चलता है कि रुद्रट और दण्डी[2] दोनों के उदाहरणों की छाप वामन पर है।

हेतु

इस अलंकार को सभी आचार्यों ने समान महत्त्व नहीं दिया है इसलिए इस की स्थिति स्वरूप तथा भेदों के सम्बन्ध में सभी ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किए हैं। इसकी स्थिति के सम्बन्ध में दो मत हैं—१ भामह[3] उद्भट और मम्मट इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते। २ दण्डी रुद्रट विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसका लक्षण विधान किया है तथा अग्निपुराण एवं सरस्वतीकण्ठाभरण में इसका उल्लेख हुआ है। दण्डी के अनुसार तो हेतु एक उत्तम अलंकार है

हेतुश्च सूक्ष्मलेशोऽथ वाचामुत्तमभूषणम्।[4]

भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में हेतु को चार प्रकार का बताया है—१ कारकहेतु २ ज्ञापक हेतु ३ अभाव हेतु ४ चित्र हेतु।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि भोज और दण्डी के सामने कोई अलंकारग्रन्थ रहा होगा जिसको आधार दोनों ने लिया होगा। शायद इसी कारण से दण्डी ने हेतु के लक्षण तथा वर्गीकरण करते हुए अभावों का वर्णन नहीं किया। उन्होंने प्रथम हेतु के कारक और ज्ञापक दो भेद किए हैं।[6]

१ देखिए—हीरालाल दीक्षित आचार्य वामन पृ० ४१
२ अनं जलाशिना हरिम्भ्रन्नार्जिता नना।
अगान्धोरग्यरचायकधरस्नेन मुन्दरि॥ काव्यादर्श पृ० ७२ श्लो० २०१
३ हेतुश्च सूक्ष्मलेशोऽथ नालंकारतया मत। काव्यालंकार २।८६
४ काव्यादर्श । ३५
५ क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः।
अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्धा स इष्यते॥—सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१२
६ काव्यादर्श २। २३५

तत्पश्चात् अभाव हेतु के प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव तथा संसर्गाभाव के आधार पर पांच भेद उपस्थित किए हैं। चित्रहेतु भी दूरकार्य तत्सहज कार्यानन्तरज अयुक्त तथा युक्त—पांच प्रकार का बताया गया है।[1]

दण्डी के इन भेदों में से कारक हेतु और अभाव हेतु को ही केशव ने अपनाया है। शेष दोनों दण्डी के बाद की आचार्य-परम्परा में खरे नहीं उतरे। इसलिए केशव ने भी उन्हें छोड़ दिया। दण्डी के ज्ञापक हेतु को परवर्ती आचार्यों ने अनुमान अलंकार का नाम दिया।[2] चित्रहेतु के भेद भी यथावत स्वीकृत नहीं हुए। दूरकार्य नामक भेद में हेतु चमत्कारी तत्त्व न था अपितु कारणकार्य की भिन्नदेशीय स्थिति थी।[3] अतः परवर्तियों ने उसे असंगति कहा। तत्सहज[4] और कार्यान्तरज[5] को अतिशयोक्ति[6] के अन्तर्गत रखा गया क्योंकि वे कारण कार्य की पारम्परिक कालिक स्थिति से सम्बद्ध थे। कार्य के स्वरूपगत केवल आधार को लेकर बनाए गए अयुक्त कार्य एवं युक्त कार्य हेतु तथा विभिन्न प्रकार की गौण रचनाओं के मिश्रण के आधार पर खड़ा किया गया चित्र हेतु भी स्वीकार नहीं किए गए। केशव ने हेतु के पक्षवाले आचार्यों के पद का न कर अनुसरण किया तथा उभय सर्वसम्मत भेदों को ही स्वीकार किया।

ऊपर हेतु के पक्षवाले उन आचार्यों की मान्यता पर विचार हुआ है जो दण्डी को आधार मानकर चले हैं। पक्षवाले आचार्यों की एक अन्य परम्परा भी है जो रुद्रट को आधार मानकर चली है। रुद्रट के अनुसार हेतु अलंकार वहां होता है जहां कारण का कार्य के साथ अभेद दिखाते हुए अभिधान किया जाए।[8] इसी हेतु का आचार्य मम्मट ने दशम उल्लास में कारणमाला के प्रसंग में खण्डन किया है। वे हेतु को पृथक अलंकार नहीं मानते क्योंकि कारण कार्य अभेद के साथ अभिधान तो आयुर्घृतम् की भांति लक्षणा का विषय है।[9] उनकी दृष्टि में उनका काव्यलिंग ही

१ दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यानन्तरजस्तथा।
अयुक्तयुक्तकार्यौ चेत्यसङ्ख्याश्चित्रहेतवः ॥ काव्यादर्श २।२५३

२ तत्र ज्ञापकानुमानस्य विषय । साहित्यदर्पण १०।६२ वृत्ति

३ काव्यदर्पण ।२।५

४ तयोरनु भिन्नदेशत्वे असंगति । अलंकारसर्वस्व पृ० १६३

५ त्वदपाङ्गाह्वयं जैत्रम् अनङ्गास्त्रं यदङ्गना।
मन्दैव पुनरु ... ॥ काव्यादर्श २।२५६

६ पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः ॥ वही २।२५७

७ 'आलिंगति सम देव।'' कुवलयानन्द ४१ ३

८ हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो भवेद् यत्र।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥ रुद्रट ७।८२

९ हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुरिति हेत्वलंकारो न च लक्षितः,
आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।
अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥''

हेतु है। विश्वनाथ का आधार रुद्रट ही रहे।[1] जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने अपने अपने ग्रन्थों में हेतु के जो लक्षण दिए हैं वे दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के लक्षण का आधार दण्डी है दूसरे प्रकार के लक्षण के आधार रुद्रट।[2]

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि केशव ने दण्डी का आधार मानकर भी अन्य आचार्यों के मतों को परखा है और अपना स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत किया है। यहाँ हेतु अलंकार के प्रसंग में दण्डी के आधार तथा उनसे केशव की भिन्नता को तनिक और विस्तार से समझने की आवश्यकता है। दण्डी ने इस अलंकार का लक्षण तो दिया ही नहीं है अतः केशव पर उनके प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए उनके उदाहरणों से ही काम चलाना होता है। दण्डी के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उनके अभाव हेतु में हेतु अभावात्मक है और कारक हेतु में सभावात्मक। उनके अनुसार कारक हेतु में कार्य सभावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। फिर भी उसके आधार पर उन्होंने किन्हीं उपभेदों का वर्णन नहीं किया। वस्तुतः कार्य के सभावात्मक और अभावात्मक होने से हेतु की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ हेतु अभावात्मक है अथवा सभावात्मक इस दृष्टि से इसपर विचार करना उपयुक्त है। केशव ने यही दृष्टिकोण अपनाया है और इसीलिए उन्होंने दण्डी के हेतु को स्वीकार करते हुए भी उसे दण्डी के समान चार भागों में न बाँटकर अभाव और सभाव दो भागों में ही बाँटा है। अभाव तो दण्डी को भी स्वीकार है उसीके वजन पर सभाव की उद्भावना केशव की अपनी है। अतः डा० दीक्षित जैसों का यह कथन कि केशव सभाव तथा अभाव दोनों हेतुओं का आधार दण्डी के कारक हेतु के भेद ही हैं[3] ठीक नहीं। केशव का अभाव हेतु दण्डी के अभाव हेतु के आधार पर है न कि कारक हेतु के आधार पर। केशव के सभाव का ही आधार दण्डी का अभावेतर कारक हेतु है।

सभाव और अभाव के आधार पर किए हुए केशव के इस वर्गीकरण की समीचीनता पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। सभावात्मक हेतु के विषय में तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उसे ध्यान में रखकर ही प्रायः अनेक आचार्यों ने हेतु का लक्षण किया है। किन्तु जहाँ हेतु के अभावात्मक होने पर भी कार्य साधन

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषु, न पुनर्हेत्वलंकारकल्पनयेति पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गमेव हेतुः। काव्यप्रकाश १०।५२६

१ अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह। साहित्यदर्पण १०।६४

२ हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते।
लक्ष्मीविलासा विदुषां कटाक्षा वेङ्कटप्रभोः ॥
हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥ कुवलयानन्द १६७, १६८

३ दण्डी ने उसके दो भेद बतलाए हैं—कारक हेतु तथा ज्ञापक हेतु। कारकहेतु के भी दो भेद किए हैं—भाव साधन में कारक हेतु और अभाव साधन में कारकहेतु। फिर उनमें भी उपभेद किए हैं। केशव के हेतुभेद—सभावहेतु और अभावहेतु का आधार दण्डी के कारकहेतु के भेद ही हैं।
—आचार्य केशवदास पृ० २४३

दिखाया जाए वहाँ उसकी विभावना से टकराने की सम्भावना है। दोनों की विभाजन रेखा अत्यन्त ही सूक्ष्म रह सकती। विभावना में कारण के अभाव में जहाँ कार्य दिखाया जाता है वहाँ विरोध की भी एक क्षीण रेखा होती है साथ ही वास्तविक कारण को छोड़कर प्रायः अन्य अन्य कारणों से उस कार्य का सम्पादन होता है। अतः उस विरोध का समाधान हो जाता है।[1] इस कारण विभावना में वास्तविक हेतु का अनपेक्षित होना चमत्कारात्मक होता है। किन्तु यहाँ अभावात्मक हेतु में स्थिति कुछ भिन्न होती है। गांधीजी की मृत्यु कांग्रेस के लिए जीवनी शक्ति बनी इस वाक्य में गांधीजी की मृत्यु हेतु कार्य-साधन के लिए अत्यन्त अपेक्षित सिद्ध हुआ। किन्तु उस हेतु का स्वरूप स्वयं अभावात्मक है। विभावना में कारणभाव अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं होता। यही दोनों का अन्तर है। संस्कृत भाषा में तो इतनी अभिव्यक्ति शक्ति रही है कि वह इन सूक्ष्म रेखाओं को स्पष्ट रख सकती है किन्तु हिन्दी के पास विशेषकर केशवी हिन्दी के पास इतनी क्षमता की कम ही आशा की जा सकती है।

दण्डी के अनुसार कारक हेतु भावात्मक कार्य का भी हो सकता है अभावात्मक का भी।[2] केशव का अभाव हेतु भी जो कि दण्डी के कारक हेतु का स्थानापन्न है कार्य के भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों रूप रख सकता है। भाव-साधन तो विवाद की वस्तु नहीं अतः अभाव साधन में अभावात्मक हेतु का उदाहरण देकर केशव अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देते हैं

शीतल मन्द सुगन्ध समीर हर्यो
इन सौं मिलि धीरज धीरो।[3]

यहाँ विशिष्ट वायु धीरज के अभाव का ही हेतु है जो कि केशव के अनुसार अभाव हेतु का उदाहरण है। उसपर दण्डी के उदाहरण की छाप भी है।[4] इसी प्रकार अभावात्मक हेतु का आधार भी दण्डी का अभाव हेतु ही है। दण्डी का प्रध्वंसाभाव हेतु का उदाहरण यह है

गतः कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वरः।
क्षतो मोहश्च्युता तृष्णा कृतं पुण्याश्रमे मनः॥[5]

अर्थात् कामकथाओं का उन्माद दूर हो गया है यौवन-ज्वर भी उतर चुका है मोह समाप्त हो गया है और तृष्णा भी विलीन हो चुकी है। अतः मैंने अपना मन पुण्याश्रम में लगा लिया है।

१ कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः।
विभावनायामाभाति विरोधोऽस्यान्यबाधनम्॥ अलंकार वि० टीका पृ० १५७
अप्रस्तुत कारण वस्तुतास्ति विरोधपरिहार ' वही पृ० १५७
२ चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान्।
पथिकानामभावाय पवनोऽयमुपस्थितः॥ काव्यादर्श २।२३८
३ कविप्रिया, प्र० ९।६६
४ देखिए, डा० दीक्षित, आचार्य केशवदास पृ० २४४
५ काव्यादर्श २।२४८

इस उदाहरण में कामादिक का अभाव पुण्याश्रम गति के हेतुरूप में दिखाया गया है। यहाँ 'कृत पुण्याश्रम मन' को कार्यरूप में ही रखना पड़ेगा। पुण्याश्रम में मन लग जाने के कारण कामादिक समाप्त हो गए — ऐसा अर्थ करने पर दण्डी के अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि वे यहाँ हेतु को अभाव रूप में दिखा रहे हैं। कामादि का प्रध्वंसाभाव ही कार्य के हेतुरूप में रखना उनका इष्ट है। इस उदाहरण में विभावना से टकराने की नौबत नहीं आती। अब आइए केशव के उदाहरण की ओर जो इस प्रकार है

जान्यौ न मैं मद यौवन को उतर्यो कब काम को काम गयोई,
छांड़यो न चाहत जीव कलेवर जीव कलेवर छाड़ि दयोई।
आवति जाति जरा दिन लीलति रूप जरा सब लीलि लयोई।
केशव राम रटौ न रटौ अनसाधेहि साधन सिद्ध भयोई।[1]

(न जाने यौवन मद कब उतर गया ? काम क्षीण हो गया। वृद्धावस्था जीवन के परिगणित दिनों को निगलती चली जा रही है। रूप को तो वह निगल ही चुकी है। यद्यपि शरीर को जीव नहीं छोड़ना चाहता तथापि शरीर में जीव को वहन करने की शक्ति नहीं रही। जीव का यह धन में परे ही समझिए। अब राम जपो या न जपो बिना साधे हुए—अनायास सिद्ध—साधना के द्वारा मैं तो सिद्ध हो गया हूं।)

यहाँ केशव ने सिद्धावस्थारूप कार्य की सिद्धि के लिए यौवनोन्माद तथा कामादि के अभाव स्वयं पंचभौतिक शरीर के अभाव तथा रूप—जिसपर जरा पक्ष में अवयव सौन्दर्य तथा सिद्धि पक्ष में पंचभौतिक सम्पन्—के अभाव को सिद्धि के हेतु रूप—में सामने किया है। इनको केशव ने 'अनसाधे ही साधन' कहा है जिसका अर्थ है अनायासापन्न साधन। हेतु अभाव रूप है कार्य भाव रूप जो कि केशव के वर्गीकरण और निरूपण के सर्वथा अनुरूप है। साथ ही सब दण्डी के पद चिह्नों पर भी है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है संस्कृत की सी अभिव्यक्ति शक्ति केशवी हिन्दी में प्राप्त नहीं है। अतः इस उदाहरण में विभावना के भ्रम की गुंजाइश पूरी-पूरी है। 'अनसाधे ही साधन सिद्ध भयो' का यह अर्थ समझने पर कि बिना साधना को साधे ही मैं सिद्ध हो गया किसीको भी विभावना ही लगेगी। अलंकार अर्थ सापेक्ष होते हैं यह सभी जानते हैं। स्वयं दण्डी के ही उदाहरण में हम देख चुके हैं कि यदि अर्थ कुछ भिन्न रूप से कर दिया जाए तो उनका मंतव्य दूर हो जाएगा। इसी तथ्य की ओर दृष्टि न ले जा सकने के कारण प्रो० शरण डा० दीक्षित जैसे लोगों ने केशव की प्रतिकूल आलोचना की है।[2]

१ कविप्रिया प्र० ९।१७

'दण्डी ने अभाव हेतु के कारक हेतु और ज्ञापक हेतु दो भेद माने हैं। वे भेद कुछ मतान्तर में केशव ने ग्रहण किए हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केशव दण्डी के किए हुए भेदों का भाव न समझकर गड़बड़ कर गए हैं। अतएव अभाव के उदाहरण में विभावना अलंकार हो गया है।'—प्रो० शरण केशव—एक अध्ययन पृ० ४

[2] 'यहाँ राम नाम के स्मरणरूप कारण के बिना ही कार्य की सिद्धि कही गई है जैसा कि 'अन साधे ही साधन सिद्ध भयो' शब्दों से स्पष्ट है।' आचार्य केशव, पृ० २५८

इस प्रकार हम देखते हैं कि हेतु के निरूपण में केशव ने दण्डी की ही मूल दृष्टि अपनायी है। उन्होंने दण्डी के लम्बे चौड़े हेतु जाल को सक्षिप्त करके उचित ही किया है। उन्होंने परवर्ती आचार्यों के अनुसार ज्ञापक हेतु एवं चित्रहेतु को छोड़ दिया है तथा दण्डी के कारक तथा अभाव हेतुओं को हेतु की अभावात्मकता तथा भावात्मकता के आधार पर पुनः वर्गीकृत करके विवेचन की शिथिलता को दूर कर दिया है। उनका वर्गीकरण अधिक से अधिक दण्डी पर आधारित है अधिक से अधिक दण्डी का सुलझा रूप। साथ ही परवर्तिनी उपर्युक्त ग्रंथों से सामंजस्य भी स्थापित करता है।

सभाव तथा अभाव दो प्रकार के प्रमुख हेतु भेदों के अतिरिक्त केशव ने एक मिश्रित उदाहरण और प्रस्तुत किया है।[1] इसमें हेतु को सभाव और अभाव दोनों प्रकार का तो दिखाया ही है साथ ही दण्डी के चित्र भेद कार्यान्तरज[2] को जिसे कि परवर्ती आचार्यों ने 'अत्यन्तातिशयोक्ति'[3] कहा है भी समेट लिया है। यहां दण्डी के अनुसार चित्र हेतु तथा नवीनों के अनुसार अत्यन्तातिशयोक्ति होती है। इस स्थिति का दिखाने के लिए ही केशव ने इस अतिरिक्त उदाहरण की सृष्टि की है। इसमें भेद में वृद्धि नहीं समझना चाहिए।

केशव के हेतु निरूपण की मार्मिकता को हिंदी आलोचक नहीं समझ सके यह खेद की बात है। इस निरूपण में जो प्राचीन आश्रय निजी विवेक समूचा परम्परा का परिचय तथा मौलिकता की झलक मिलती है उसका श्रेय केशव को दिया जाना तो दूर रहा उलटे केशव को भ्रान्तियों एवं गड़बड़ियों के स्रष्टा के रूप में देखा गया है।

विरोध या विरोधाभास

केशव ने विरोध तथा विरोधाभास को एक ही माना है। उनका मत संस्कृत आचार्यों के मत में है। अलकारों की अनुक्रमणिका प्रस्तुत करते समय उन्होंने केवल विरोध का ही उल्लेख किया है।[4] विरोधाभास का वहां नाम नहीं है। लेकिन लक्षण देते समय उन्होंने पहले विरोधाभास का तथा बाद में विरोध का लक्षण विधान किया है। अलग अलग उदाहरण भी दिए हैं। इससे यह भ्रम हो सकता है कि केशव

१ आ[illegible] ते वृषभानु सलाहि अली मिलए मुरलीधर तेंही।
माधन साधि अगाध सबै बुधि साधि जो दूत अभूतन तें ही।
ता [illegible] तें [illegible] मान दुहून को केसव आवति बान कहें ही।
पाछे अकाम प्रवास ससा कहि प्रेम समुद्र रहे पहिले [illegible]। —कविप्रिया, [illegible]१८

२ परत्यायस्य किरणानुगा [illegible] च द्रमण्डलम्।
प्रागव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागर ॥—काव्यादर्श २।२।२५७

३ अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यविपर्यय।
अग्रे माना गता पश्चादनुनीता प्रियेण सा ॥—कुवलयानन्द ४३।

४ जानि सुभाव विभावना हेतु विरोध विशेष।
उत्प्रेक्षा आक्षेप क्रम आशिष प्रेम सुश्लेष ॥—कविप्रिया ९।१

दोनों को अलग अलग अलंकार मानते हैं। पर वे उक्त दो अलंकारों के रूप में नहीं देते। यथार्थ विरोध तो भूषण नहीं दूषण ही माना गया है। विरोध दिखाई देने पर उसका निराकरण हो जाने पर ही विरोधाभास होता है। संस्कृत के आचार्यों ने भी विरोध और विरोधाभास को अलग अलग नहीं माना है।[1] केशव ने विरोधाभास तथा विरोध के जो लक्षण दिए हैं वे संस्कृत आचार्यों के मत में हैं।[2] उनका लक्षण इस प्रकार है

> बरनत जग विरोध सो अर्थ सबै अविरोध।
> प्रगट विरोधाभास यह समुझत सबै सुबोध॥[3]
> केसवदास विरोधमय रचियत बचन बिचारि।
> तासों कहत विरोध सब कविकुल सुबुधि सुधारि॥[4]

केशव ने प्राचीन आचार्यों के समान गुण, क्रिया, द्रव्य, जाति के आधार पर विरोध के प्रकार नहीं दिखाए। इस दृष्टि से वे उन आचार्यों से जो विरोध को इस प्रकार का मानते हैं भिन्न मत रखते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के समान केशव भी इस भेदीकरण को अनावश्यक मानते हैं। पण्डितराज ने विरोध के दो प्रकार का स्वीकार किया है— शुद्ध और श्लेषमूलक।[5] केशव के उदाहरणों पर दृष्टि डालने से पता चलता

१ (अ) विरोधाभासत्वं विरोधः। ... विना ... प्रतीतेराभासमानत्वात् विरोधाभासः।—रुय्यक पृ० १५४
(आ) एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपाद्यमानयोरेकाधिकरणासम्बद्धत्वेन ... सम्बद्धत्वमान ... विरोधः। ... एकाधिकरणानवच्छेदेन ... । ... प्राप्तश्च ... विरोधाभास इति ... विरोधस्याभासमानत्वात् ... ।
—रसगंगाधर पृ० ४०७

दण्डी—विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा॥—काव्यादर्श २।३३३
भामह—गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥—काव्यालंकार ३।२५
वामन—विरुद्धाभासत्वं विरोधः।—काव्यालंकारसूत्र चतुर्थ अधिकरण अ० ३।१२
रुय्यक—विरुद्धाभासत्वं विरोधः। ... जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं सजातीय
सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोधः।—अलं० स० १४४
मम्मट—विरोधः सो ऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः
जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश।—काव्यप्रकाश, उ० १० १६६-६७
अप्पय—आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।
विनापि तन्वि हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ। —कुवल० पृ० ५६
विश्वनाथ—विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः। —सा० द० १०।६८

३ कविप्रिया ९।१९

४ वही ९।२१

५ वस्तुतो जात्यादिभेदेनानुपदर्शितेऽपि शुद्धत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविधो ज्ञेयः।—रसगंगाधर, पृ० ४२८

है कि वे जात्यादिमूलक तथा श्लेषमूलक दो भेद स्वीकार करते हैं। पर स्पष्टतः उन्होंने इन भेदों का भी उल्लेख नहीं किया।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केशव विरोध और विरोधाभास को अलग अलग अलंकार नहीं मानते। अलग अलग उल्लेख में उनका यही तात्पर्य है कि वे यह दिखाना चाहते हैं कि आचार्य-परम्परा में दोनों नाम प्रचलित हैं। इस तथ्य को लक्ष्य न कर प्रो० अरुण का केशव पर यह दोषारोपण करना[1] कि केशव ने आभास को भी विरोध मान लिया है अपने में भ्रमात्मक है। उसके विषय में केवल यही कहना पर्याप्त है कि आभास होने पर ही इस अलंकार की सत्ता होती है अन्यथा विरोधदोष होता है।

विरोधालंकार के निरूपण के साथ ही उसके सीमा निर्धारण का प्रश्न भी उठता है। कारण यह है कि विभावना, विशेषोक्ति, असंगति आदि में भी विरोध तत्त्व की पर्याप्त अवस्थिति होती है। इस सीमा निर्धारण की आवश्यकता अपने विवेचनों में अनेक आचार्यों ने अनुभव की है।[2] उन्होंने विरोध या विभावना के प्रसंग में अपने गद्यात्मक विवेचनों द्वारा अथवा केवल उदाहरणों के द्वारा उनका अन्तर स्पष्ट किया है।

वास्तव में विरोध एक उत्सर्गरूप सामान्य अलंकार है तथा विभावना, विशेषोक्ति आदि अपवादरूप विशेष हैं। असंगति में कारण कार्य का भिन्न देश-मूलक विरोध होता है। इसी प्रकार अन्य उक्त अलंकारों में विरोध की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। आचार्यों ने इन विशिष्ट विरोधों के लिए विशिष्ट विभावना आदि अलंकारों की सृष्टि की है। इनसे अवशिष्ट स्थल विरोध के अन्तर्गत आते हैं।[3] प्राचीन आचार्यों ने इन अलंकारों के अन्तर को स्पष्ट किया है। विभावना और विरोध के अन्तर को स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने बताया है कि विभावना में कारण भाव प्रधान होता है अतः कार्य बाध्य होता है, कारण बाधक। किन्तु विरोध में कारण कार्य परस्पर एक दूसरे के बाधक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार विशेषोक्ति में कार्याभाव प्रधान होने के कारण बाधक होता है और कारण-सत्ता बाध्य होती है।[4] परवर्ती आचार्यों जैसे विश्वनाथ[5] एवं जगन्नाथ[6] ने यही बात कही है।

1. धरातल एक अध्ययन, पृ० २५
2. विरोधाद्विभावनाया भेदं दर्शयितुमाह—क्रियायाः प्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।
—अलंकारसूत्र, अधि० ४ अध्या० ।१३
3. देयर इज काफी टू बी सेड फॉर दि व्यू दैट विरोध इज दि जेनस ऑफ व्हिच दी अदर फिगर्स (विभावना etc.) आर दि स्पीशीज एण्ड कम्पेयर्ड टू इट, दीज फिगर्स आर मोर स्पेसिफिक। —पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३४२
4. कारणाभावेन बाधितत्वात् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते। ननु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणितविरोधात् भेदः। एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यत्वमनुमेयम्, येन साऽपि विरोधाद् विभावना स्यात्। —अलं० सू० पृ० १५८
5. विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात् कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते। इह तु अन्योन्यस्यापि बाध्यत्वम् इति भेदः। —साहित्यदर्पण १०।६९
6. कारणस्य निषेधेन बाध्यमानफलस्य च।
विभावनायाम् भाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम्॥ —रसगंगाधर पृ० ४३२

संस्कृत आचार्यों ने इन साम्य रखनेवाले अलंकारों की सीमा निर्धारित करने के लिए तथा उनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गद्य का सहारा लिया है। किन्तु केशव के पास गद्य का माध्यम नहीं था। उस दशा में उन्होंने इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक कौशल का आश्रय लिया। सर्वप्रथम तो उन्होंने विरोध और विरोधाभास की एकता दिखाने के लिए दोनों के नाम से एक एक उदाहरण दिया और तत्पश्चात् तीसरे उदाहरण के द्वारा विरोधाभास का विभावना आदि अलंकारों से अंतर स्पष्ट किया। केशव जैसे आचार्य से स्पष्टीकरण के लिए ऐसे ही कौशल की अपेक्षा थी। विरोधाभास के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने जो तीसरा उदाहरण दिया है वह इस प्रकार है

> आपु सितासित रूप चितै चित स्याम शरीर रँगे रँग राते।
> केसव कानन हीन सुनै, सु कहै रस की रसना बिन बातें।
> नैन किधौं कोउ अंतरजामी की जानति हौं जिय बूझति तातें।
> दूर लौं दौरत हे बिन पाइन दूरि दुरी दरसै मति जातें।[1]

कुवलयानन्दकार ने विभावना का जो लक्षण दिया है उसके अनुसार ऊपर के छंद की प्रथम पंक्ति में विभावना सिद्ध है। शेष पंक्तियों में तो विभावना स्पष्ट ही है। संस्कृत के आचार्यों में तथ्य स्पष्टीकरण की परम्परा का ही इस तीसरे उदाहरण के द्वारा केशव ने निर्वाह किया है। इसी तथ्य को न समझ सकने के कारण डा० हीरालाल दीक्षित ने अपने ग्रंथ में इस प्रसंग में लाला भगवानदीन के कथन का प्रमाण देते हुए कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं[3] जो महत्त्वहीन हैं।

विशेष

केशव का विशेष अलंकार संस्कृत के आचार्यों द्वारा वर्णित विशेष अलंकार से सर्वथा भिन्न है। रुय्यक, रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने इस नाम के अलंकार का निरूपण किया है। उनके निरूपणों में साम्य दिखाई देता है। इस अलंकार के वहाँ तीन भेद माने गए हैं

१ कविप्रिया ६।२३
२ विरुद्धात् कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद् विभावना।
शाताशुकिरणास्तन्वी हन्त सन्तापयन्ति ताम्॥—कुवलयानन्द ८१
३ इसी प्रकार केशव द्वारा दिया गया दूसरा उदाहरण भी प्रथम विभावना का हो गया है। यथा आपु सितासित रूप इत्यादि। लाला भगवानदीन ने इस उदाहरण में विरोधालंकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु अन्त में उन्होंने टिप्पणी में लिखा है

हमारा अनुमान है कि यह छन्द प्रथम विभावना का उदाहरण है। लेखकों की असावधानी से यह छन्द यहाँ लिख गया है।

यदि दो एक स्थलों पर इस प्रकार की त्रुटि होती तो यह लेखकों की असावधानी कही जा सकती थी। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।

—आचार्य केशवदास　पृ० २५८

४ अनन्याधारमाधेयमकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः। —अल० स० पृ० १७१

१ बिना आधार के आधेय का वर्णन।

२ एक वस्तु का अनेकत्र गोचरत्व।

३ किसी कार्यारम्भ से असम्भव वस्तु की उपलब्धि।

यथार्थ में यह कोई एक अलंकार नहीं है अलग-अलग तीन अलंकार हैं। मम्मट ने इसका लक्षण दिया है और बाद के आचार्यों में यह पूर्ण रूप से परिगृहीत हुआ है। दण्डी और भामह आदि ने इसका उल्लेख नहीं किया। वहां विशेषोक्ति नाम के एक अलंकार की चर्चा है और वस्तुतः का विशेष अलंकार भी उसी विशेषोक्ति पर बना है। लेकिन यहां यह भी ध्यान रखना है कि दण्डी की विशेषोक्ति वह नहीं है जो परवर्ती आचार्यों में पाई जाती है। उन्होंने विशेषोक्ति का लक्षण देते हुए लिखा है जहां गुण जाति क्रिया आदि की विकलता किसी विशेषता के प्रतिपादन के लिए की जाती है वहां विशेषोक्ति होती है।[1] साम्य की दृष्टि से भामह और वामन के लक्षण मम्मटादि के लक्षणों की अपेक्षा दण्डी के अधिक निकट हैं। भामह के अनुसार किसी एक गुण का अभाव होने पर भी अन्य गुणों की सत्ता जहां किसी विशेषता के प्रतिपादन के लिए दिखाई जाती है वहां विशेषोक्ति होती[2] है। वामन ने भी इसीसे मिलती जुलती बात कही है। वे एक गुण की हानि की कल्पना होने पर ही साम्यपुष्टि को विशेषोक्ति कहते हैं।[3]

इन प्राचीन आचार्यों के लक्षणों में किसी न किसी प्रकार निम्न तथ्य स्वीकार किए गए हैं

१ किसी गुण क्रिया अथवा अंग का अभाव।

२ उपर्युक्त अभाव के होते हुए भी काम सम्पन्नता का प्रतिपादन किसी विशेषता के सम्पादनार्थ।

स्पष्ट है कि ये तथ्य विभावना के बहुत समीप हैं। अतः परवर्ती आचार्यों ने विशेषोक्ति का या तो खंडन किया है या विभावना में अन्तर्भाव करके दिखलाया

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा।
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधो मतः।—काव्यप्रकाश १०।१३५-३६

१ गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते।—काव्यादर्श २।३२३

२ एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा।—भामह काव्यालंकार ३। ३

३ एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः काव्यालंकारसूत्र, अधि० ४ अ० ३।२३

४ एकगुणहानिकल्पनया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिर्यथा द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्। अत्र द्यूतं राज्यस्य तादात्म्येनारोपेण रूपकमस्त्वार्। तत्र सिंहासनरहितं द्यूतं सिंहासनसहितस्य राज्यतादात्म्यं कथं सिद्धयन्ति आरोपानुपपत्तियुक्तिनिरासायारोप्यमाणे राज्येऽपि सिंहासन-राहित्यं कल्प्यत इति ह्यारोपरूपकमिदम्।—काव्यप्रकाश, पृ० ६६०

है।[1] परवर्ती आचार्यों ने विशेषोक्ति का मुख्य लक्षण कारण के होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति बताया है। यह लक्षण दण्डी, भामह आदि के लक्षणों से सर्वथा भिन्न है। फिर भी कहीं कहीं इन्होंने प्राचीन आचार्यों के विशेषोक्ति के उदाहरणों में अपने ढंग से अपनी विशेषोक्ति लागू करके दिखा दी है। उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। प्राचीन आचार्य भामह ने विशेषोक्ति के उदाहरण में लिखा है

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्॥[2]

भामह के इस उदाहरण को मम्मटादि ने अपनी विशेषोक्ति के लिए अपनाया तो है लेकिन लक्षण से संगति बिठाने का दृष्टिकोण भिन्न रखा है। भामह की दृष्टि में शरीर का अभावरूप एक देश विगत होने पर भी बलवान् होना गुणान्तरसंस्थिति है और काम की अजेय शक्तिमत्ता विशेष कथन है।[3] जबकि मम्मट की दृष्टि शरीर हरण रूप कारण होने पर भी बलहरणरूप कार्य के अभाव पर है।[4]

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्यों में विशेषोक्ति के दो रूप प्रचलित थे। एक विशेषोक्ति वह थी जिसका लक्षण विधान दण्डी और भामह ने किया था। और दूसरी वह जिसे मम्मटादि परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण किया। केशव ने दोनों को ही अपनाया। परवर्ती आचार्यों की विशेषोक्ति को उन्होंने विशेषोक्ति के नाम से ही ग्रहण किया और दण्डी तथा भामह की विशेषोक्ति को परवर्ती आचार्यों की विशेषोक्ति से अलग करने की दृष्टि से विशेष नाम देकर ग्रहण किया। एक दृष्टि से तो केशव का दृष्टिकोण मम्मटादि परवर्ती आचार्यों से भी व्यापक ठहरता है। उन्होंने एक ओर जहाँ प्राचीन आचार्यों के प्रति ममत्व दिखाया वहाँ दूसरी ओर सच्चे अलंकारवादी आचार्य के समान विशेषोक्ति के चमत्कार के विभावना के चमत्कारी तत्त्व से किंचित् भिन्न होने पर उसे अलग अलंकार के रूप में स्थान दिया। लेकिन इसके कारण एक गड़बड़ी भी हुई। संस्कृत काव्यशास्त्र में केशव के समय तक विशेष नाम का अलंकार स्वीकृत हो चुका था। वह दण्डी और मम्मट के विशेषोक्ति नाम के अलंकारों से भिन्न था। दण्डी की विशेषोक्ति ही केशव का विशेष है। तब केशव के विशेष और परवर्ती आचार्यों के विशेष में नाम साम्य के कारण भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना बढ़ गई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है संस्कृत के आचार्यों का

1. सा विशेषोक्तिरिति [illegible] व्याहारः। [illegible] प्रधान[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] इति। [illegible]
[illegible] विभावना प्रदर्शिता।—[illegible] १ ६
2. भामह ३।२४
3. [illegible]
[illegible]
काव्यालंकार पृ० [illegible] श्लो० २४
4. अत्र [illegible] सत्यपि कस्मिन् कारणे [illegible]
विशेषोक्तिः। —काव्यप्रकाश पृ० ६६०

विशेष अलंकार एक अलंकार न होकर पृथक् तीन अलंकार हैं और अब तक बाद भी आचार्य इनका सामान्य लक्षण उपस्थित नहीं कर सका है।[1]

लेकिन केशव का विशेष इस विशेष से भिन्न है और इन्हीं की विशेषोक्ति के स्थान पर है। इस दृष्टि से उनका लक्षण तथा उदाहरण ठीक है। और उनमें सामंजस्य भी है। केवल एक ही बात हो सकती है कि इस अलंकार का विभावना में अंतर्भाव दिखाया जा सकता है। उनकी दृष्टि से केशव के उदाहरणों में विभावना भी दिखाई जा सकती है। किन्तु विशेष कथन का विशेष चमत्कार इतना विभावना की अपेक्षा सभी उदाहरणों में स्पष्ट है।

डा० हीरालाल दीक्षित ने केशव के विशेष को व्यतिरेक के आधार पर तथा उसके उदाहरण का समुचित ग्रंथ के ... में सामंजस्य दिखाया है।[2] ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं।

उत्प्रेक्षा

केशव का उत्प्रेक्षा-लक्षण दण्डी के आधार पर बना है। दण्डी का लक्षण है

> अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
> अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा।

जहाँ जड़ या चेतन में किसी दूसरे प्रकार से वस्तुतः स्थित वृत्ति को दूसरे ही प्रकार से उत्प्रेक्षित किया जाता है उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं।

केशव ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार दिया है

> केसव औरहि वस्तु में औरहि कीजै तर्क।
> उत्प्रेक्षा तासों कहत जिनकै बुद्धि सतर्क।[3]

'जब अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु की तर्क या सम्भावना की जाती है तब उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षा का मूल है उपमेय में उपमान का तर्क या सम्भावना। यही दृष्टि अन्य आचार्यों की है। केशव के लक्षण एवं उदाहरण में सामंजस्य है। लक्षण शास्त्रसम्मत है।

आक्षेप

आक्षेप भी एक ऐसा अलंकार है जिसके स्वरूप के विषय में सभी प्राचीन

1 ... [illegible] ... दिखलाया गया है ... [illegible]
विशेषत्वात् ... न पुनरर्थान्तरं ... लक्षणस्य भिन्नत्वात्। ... नाम ... अलंकारसर्वस्व पृ० २५६ तथा अलंकार ... विम० पृ० ... —काव्यप्रदीप पृ० ५६
2 कविप्रिया ११।५४ ...
3 आ० केशव० पृ० ...
4 काव्यादर्श २।२२१
5 कविप्रिया ६।३

आचार्य एकमत नहीं हो सके है। उन्होंने आक्षेप के जो लक्षण बनाए हैं व परवर्ती आचार्यों द्वारा कम ही स्वीकृत हुए हैं। साथ ही परवर्ती आचार्यों ने कहीं-कहीं अलग से नामकरण भी किया है। यहां हम इस अलंकार के सम्बन्ध में तीन प्राचीन आचार्यों— दण्डी, भामह और वामन के लक्षणों को देखकर उनके सम्बन्ध में परवर्ती आचार्यों के मतों की चर्चा करेंगे।

काव्यालंकारसूत्र में वामन ने आक्षेप का लक्षण 'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः'[1] दिया है। इस लक्षण की दो व्याख्याएं की गई हैं १ 'उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः'। अर्थात् जहां उपमान की हेयता दिखायी जाय तथा २ 'उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिः।' अर्थात् प्रस्तुत उपमेय के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत उपमान का आक्षेप करना। कहने की आवश्यकता नहीं कि वामन के आक्षेप के लक्षण की प्रथम व्याख्या परवर्ती आचार्यों के प्रतीप की व्याख्या है। तथा द्वितीय की समासोक्ति की। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि वामन ने आक्षेप का जो लक्षण दिया वह परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकार नहीं हुआ। भामह ने आक्षेप का लक्षण इस प्रकार दिया है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा॥[2]

इस लक्षण में तथा उदाहरणों में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रतिषेध दो प्रकार का होता है—१ वक्ष्यमाण विषय तथा २ उक्त विषय। परवर्ती आचार्य रुय्यक जब आक्षेप का लक्षण दो प्रकार से करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके लक्षण पर भामह के लक्षण का प्रभाव है। रुय्यक के आक्षेप के लक्षण इस प्रकार हैं।[3]

१ उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः।

२ अनिष्टविध्याभासश्च।

इन दोनों लक्षणों में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम में विधि अभीष्ट होती है निषेध का आभास होता है जबकि दूसरे में निषेध अभीष्ट होता है और विधि का आभास होता है। प्रथम लक्षण का आधार भामह है दूसरे का आधार दण्डी प्रतीत होते हैं।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भामह के आक्षेप के लक्षण का विकास परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया।

दण्डी ने आक्षेप के लक्षण में निषेध को आवश्यक तत्त्व ठहराया। निषेध चाहे वाच्य रूप में हो या विध्याभास शैली में। दोनों ही उन्हें स्वीकार थे जबकि रुय्यक ने विध्याभास द्वारा आक्षिप्त निषेध को स्वीकार किया लेकिन वाच्य निषेध को नहीं।[5] इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि में निषेधाभास के द्वारा विधि का

१ काव्यालंकारसूत्र ४।३।२७
२ काव्यालंकार २।६८
३ काव्यालंकारसर्वस्व पृ १४४—४५
४ तस्मादयमपि प्रकार आद्यय समानतया अभिहितोऽनेनाक्षेपे। अभिनवत्वेनेति दण्ड्याद्यपेक्षया। —रुय्यक विम पृ १५४
५ तेन न निषेधविधेः न विधि निषेधः, किन्तु निषेधेन विधिरूपेण —रुय्यक, पृ० १४८—४६

आक्षप दिखाना आक्षप अलकार है।[1] इसलिए उन्होने आक्षप क चार तत्त्व स्थिर किए हैं[2]

१ एक—अभीष्ट अथ होना।
२ उस अथ का निषध।
३ निषेध की अनुपपन्नता अथवा आभासत्व। क्योकि वास्तविक निषध तो दोष है।
४ इस प्रक्रिया स एक विशष अथ की उपलब्धि।

उनक द्वारा स्थिर किए गए आक्षप के उक्त तत्त्व उनके मत की पुष्टि करत हैं। कहना न होगा कि परवर्ती आचाय परम्परा प्राय रुय्यक के इसी लक्षण को मानकर चली है।[3] कुछ ने दण्डी के विध्याभासमूलक आक्षप को भी भामह परम्परा क आक्षप के साथ साथ स्वीकार किया है। विश्वनाथ क साहित्यदपण म दण्डी परम्परा क आक्षप को स्वीकृति मिली है।[4]

दण्डी के आक्षप का लक्षण इस प्रकार है —

प्रतिषेधोक्तिराक्षपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षप्यभेदानन्त्यादनन्तता।[5]

यह लक्षण अन्य आचार्यों क लक्षणो स मल नहीं रखता। अधिक व्यापकता होन क कारण शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक होता है। यही बात दण्डी के आक्षप क सम्बन्ध म भी कही जा सकती ह। इस लक्षण तथा उसक उदाहरणों पर ध्यान दने से जो बातें सामने आती हैं व य हैं

१ प्रतिषधात्मक उक्ति आक्षप है। प्रतिषेध का आभासात्मक होना आवश्यक नहीं। वे वाच्यरूप म निषधवचन म ही आक्षप मानत हैं। यह बात उनक उदाहरणों स ही स्पष्ट है।[6]

१ सर्वथेष्टनिषेधाभासत्व विशेषाभिधित्सयेति स्थितम्। अल० स०, पृ १५७
एव चात्रेष्ट इष्टस्यार्थस्य निषेध निषेधस्यानुपपद्यमानत्वात् सत्यत्व विशेषप्रतिपत्तिं च चतुष्टयमुपयुज्यते। रुय्यक, पृ १४८
३ निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषय स आक्षेपो द्विधा मत।—काव्य प्रका १०।१६१
४ वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।
अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभास परो मत।—साहित्यदपण, १०।६५
५ काव्याद्श २।१२०
६ युत कुवन्त्य कान्त कराचि कलमाचिति।
किमर्थादिमरम्यास्तमस्मिन् कमणि मन्यसे॥ स वतमानाक्षेपोय कुवन्त्येवाभिनीतपत्र कर्येव काचित् प्रियेणैव चाटुकारेण रुध्यते। काव्याद्श २।१२३—२४
हृदय प्रवीमि न स्म मा भ्रष्टु वल्लभ लप्स्यसे।
कथा चुम्बनं सकलमवलोकनेन चक्षुषा। वही २।१२८
धन न च, सन्ति ते मुग्धे स्वेम न क्षमति।
न धमे प्राणम न्यारस्यापि प्रिय भाव्य गा। वही, २।१३७ तथा २।१४७ २।१५१, २।६३

३ वे निषेध को न केवल वाक्य-रूप में अपितु विध्याभास में प्राप्त होने पर भी आक्षेप मानते हैं।[1] रुय्यकादि ने अभिधा-रूप में इसी रूप को अपनाया है।[2]

वे अन्य आचार्यों के समान अविद्यमान—वर्तमान—और भूत—उक्तविषय—आक्षेप ही नहीं वर्तमान विषय भी मानते हैं।

४ दण्डी ने आक्षेप्य भेद अर्थात् जिस तथ्य का निषेध किया जा रहा है—के आधार पर इस अलंकार के अनेकानेक भेद होने की सम्भावना[3] व्यक्त की है। और २४ भेदों के तो उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। इनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके आक्षेप-भेदों के कम से कम दो आधार अवश्य हैं। (क) आक्षेप्य भेद तथा (ख) आक्षेपक भेद। आक्षेप्य भेद रूप लगते वे सब साधन गिनाते हैं जिनके आधार पर आक्षेप्य वस्तु का निषेध किया जाता है जैसे—धर्माक्षेप का नामकरण दो आक्षेप्य धर्म मात्र के आधार पर तथा पुरुषाक्षेप का नामकरण आक्षेप के उपाय भूत परुषवचन के आधार पर हुआ है। परुषाक्षेप में आक्षेप है प्रिय गमन न कि परुषवचन।[4]

५ दण्डी के लक्षण और उदाहरणों के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आक्षेप के विषय में उनकी दृष्टि बहुत ही व्यापक थी। और इसीलिए उसमें शिथिलता भी आ गयी है। व्यापकता होने पर भी उन्होंने भामह के विध्याभास वाले तत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। यही दण्डी आक्षेप के निरूपण के लिए केशव के आदर्श रहे हैं। इस अलंकार का लक्षण देते हुए केशव ने इसके स्वरूप की जो व्याख्या की है उसमें उन्होंने तीन बातों में दण्डी से साम्य रखा है। केशव के आक्षेप का लक्षण यह है

> कारज के आरम्भ ही जहँ कीजत प्रतिषेध।
> आक्षेपन तासों कहत बहु विध बरनि सुमेध।
> तीनो काल बखानिजै भयो जु भावी होतु॥[5]

इस लक्षण में दण्डी से साम्य वाली तीन बातें—निषेधाभास को आवश्यक न मानकर वाच्यनिषेध में आक्षेप मानना विध्याभासमूलक निषेध को भी स्वीकार करना आक्षेप को भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों में मानना है।

यह दिखाया जा चुका है कि दण्डी ने अपने भेदों का आधार आक्षेप्य भेद

१ काव्यादर्श २।१४९
अनिष्टार्थ यानीयरच। अलङ्कारसर्वस्व पृ० १५७
३ अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्याद् भिन्नता।—का० आ० २।१२०
४ एवमन्येऽपि विज्ञेयाः आक्षेपाणामनन्तता।
यदि सत्यैव यात्रा ते काप्यन्या मृग्यतां त्वया मम। का० आ० २।१२९
५ वही २।१४३
६ कविप्रिया १०।१

बताया है। किन्तु उनमें इस तथ्य की पूरी संगति प्राप्त नहीं होती। केशव ने संगति की इस शिथिलता को नहीं आने दिया है। उन्होंने आक्षेपक के आधार पर भेद करके अव्यवस्था को बचाया है। उन्होंने भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों में आक्षेप की गति दिखाते हुए उसे प्रेम अधैर्य धैर्य संशय मरण प्रकाश आशीर्वाद धर्म उपाय शिक्षा के भेदों से दिखाया है। सभी भेदों की पद्धति एक सी ही है। प्रायः आक्षेप्य है प्रियगमन और आक्षेपक हैं विभिन्न उपाय जो इस नामकरण के आधार हैं। शिशिराक्षेप के अंतर्गत नायिका बारहमासे के ढंग पर आतंक उद्दीपनों का वर्णन करके प्रिय को जाने से रोकती है। इन भेदों में भूत भविष्यत् संशय आशिष धर्म तथा उपाय दण्डी में मिलते हैं। दण्डी का मूर्छाक्षेप केशव में मरणाक्षेप के रूप में मिलता है। वास्तव में भेद उपलक्षण मात्र हैं। कहीं नायिका अधैर्य में तो कहीं धैर्य से कहीं प्रेम प्रदर्शन से तो कहीं संशयात्मक वार्ता से कभी अपने मरण की सूचना से तो कभी किसी अन्य प्रकार से प्रिय के विदेशगमन को रोकती है। भेद के इन आधारभूत उपायों की अनंतता को तो स्वयं दण्डी ने भी स्वीकार किया है।

भेदों उपभेदों एवं नामकरण में केशव ने सर्वत्र दण्डी का अनुकरण नहीं किया। केशव जैसे आचार्य से यह आशा भी नहीं की जानी चाहिए साथ ही यह विषय भी अन्धानुकरण का नहीं है। केशव ने सभी आचार्यों का गम्भीर अध्ययन करके इस अलंकार को समझा है और तत्पश्चात् अपनी निजी बुद्धि से अनेक उदाहरणों की सहायता से इसे समझाने का प्रयत्न किया है। सरलता एवं बोधगम्यता की दृष्टि से केशव दण्डी से भी आगे बढ़ गए हैं। जहां आवश्यक समझा है वहां दण्डी के मत से भिन्न मत प्रस्तुत करने में भी हिचक नहीं की गयी है। उदाहरण के लिए दण्डी के धर्माक्षेप में धर्म शब्द का प्रयोग गुण धर्म के लिए हुआ है। किन्तु केशव ने हिन्दी में अधिक प्रचलित कर्तव्य रूप अर्थ में ही उसे ग्रहण किया है।

इस विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि केशव के आक्षेप विवेचन के आधार दण्डी हैं। उनमें और केशव में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है। वास्तव में केशव ने दण्डी के आक्षेप को परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० [illegible] ने केशव के आक्षेप की आलोचना[1] करते समय स्वयं दण्डी का अवलोकन नहीं किया है और ऊटपटांग समीक्षा दी है।

क्रम

केशव का क्रमालंकार संस्कृत के आचार्यों की परम्परा में प्रचलित क्रमालंकार से नितान्त भिन्न है। प्राचीन परम्परा में इसके क्रम तथा यथाक्रम दो नाम मिलते हैं। दोनों ही नाम पर्याप्त प्राचीन हैं। क्योंकि दण्डी ने भी इसके दो नाम बताए हैं।[2] इस अलंकार का विषय प्रथम उद्देश्यरूप में रखे हुए पदार्थों के सम्बन्धक्रम में

१ केशवदास अध्ययन पृ० २७ तथा ८

२ काव्यादर्श, २।२७३

ही दूसरे पदार्थों का सन्निवेश होता है। सभी आचार्यों ने अपने अपने लक्षणों में इसी तथ्य को स्थान दिया है। संस्कृत आचार्यों में यदि इस अलंकार के सम्बन्ध में मतभेद है तो नाम को लेकर है। यदि एक ने इसे क्रम कहा है[1] तो दूसरे ने यथासंख्य[2] तथा किसी किसीने दोनों ही नाम दे दिए हैं।[3] इस अलंकार का लक्षण एवं स्वरूप इतना सरल है कि कोई भी प्रारम्भिक विद्यार्थी किसी भी आचार्य के लक्षण से उसका परिज्ञान कर सकता है। ऐसी अवस्था में केशव जैसे आचार्य के क्रम की स्वरूप भिन्नता का कोई न कोई कारण होना चाहिए। अरुणजी के समान यह कह देने भर से छुट्टी नहीं होगी कि केशव क्रम के लक्षण और उदाहरण को निभा नहीं सके। लक्षण अस्पष्ट है और उदाहरण गलत हैं।[4]

यह समझ में नहीं आता कि केशव जैसा आचार्य क्रम जैसे सरलतम अलंकार के स्वरूप को भी न समझ सके। यदि हम संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में इस अलंकार की स्थिति पर तनिक ध्यान दें तो यह बात हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करेगी कि परवर्ती काल में इस अलंकार को इतना मान नहीं मिला जितना प्राचीन काल में मिला था। यह ठीक है कि आचार्य लोग इसके लक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते रहे। लेकिन यह सब परम्परा के निर्वाह के लिए ही होता था। इसका कारण यह था कि परवर्ती आचार्यों की दृष्टि में क्रम का निर्वाह क्रमभंगदोष का अभाव मात्र ही था। इससे अधिक और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में जयरथ का कथन ध्यान देने योग्य है। उन्होंने बताया है कि 'यह अपक्रम दोष का अभाव मात्र है और दोष से बचना मात्र ही अलंकारत्व नहीं।'[5] और आगे चलकर पण्डितराज जगन्नाथ के समय में आते आते तो इस अलंकार को पूर्णतः छोड़ देने का आग्रह सा किया जाने लगा था।[6] यदि निरूपण किया भी जाता था तो केवल इस आधार पर कि परम्परा से यह चला आ रहा है और उनको परम्परा में अपनी आस्था प्रकट करनी थी।

केशव भी परम्परावादी हैं। लेकिन इस अलंकार के सम्बन्ध में उन्होंने परम्परा को अन्य रूप में निभाया है। वे परवर्तियों द्वारा इस अलंकार के निषेध के सम्बन्ध में दिए गए कारणों की तह तक पहुँचे और उन्हें भली भाँति समझकर उनका

१ भामह काव्यालंकार २।८९

२ वामन ४।३।१७ मम्मट विश्वनाथ १०।७६

३ अलं स पृ १८७

४ केशव एक अध्ययन पृ ३

५ 'न चास्यालंकारत्वमुक्तं दोषाभावमात्रत्वात्। उद्दिष्टानां क्रमेणानुनिर्देशे ह्यक्रियमाणेऽपक्रमाख्यो दोषः प्रसज्यते। दोषाभावमात्रं च नालंकारत्वम्। तस्य कविप्रतिभात्मकविच्छित्तिविशेषत्वेनोक्तत्वात्।'

अलं स०, पृ १८८ विमर्शिनी

६ यथासंख्यमलंकारपदवीमेव तावत् कथमारोढुं प्रभवतीति विचारणीयम्। न ह्यस्मिन् लोकसिद्धे कविप्रतिभानिर्मितत्वस्य चमत्कारस्य चानतिशयितस्योपलब्धिरस्ति येनालंकारव्यपदेशो मनागपि स्थाने स्यात्। अनौपक्रमत्वरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम्। एवं चोद्भटमतानुयायिनामुद्देशतया कुत्र कार्षापणवत्स्मरणीया एव। एतेन यथासंख्यमेव क्रमालंकारसंज्ञया व्यवहरतो वामनस्यापि गिरो व्याख्याता इति तु नव्याः।

—रसगंगाधर ४७८

निराकरण करते हुए उन्होंने अपने क्रमालंकार का लक्षण उपस्थित किया। वास्तव में परवर्ती आचार्यों ने इस अलंकार का निषेध इसलिए किया है कि इसमें अलंकारत्व का मूल विच्छित्ति नहीं है। इस आपत्ति को स्वीकार करते हुए केशव का कथन है कि यदि कहीं क्रमात्मक विच्छित्ति मिल जाय तब तो उसे क्रमालंकार कहा जा सकता है। आचार्यों के निषेध के कारण को ध्यान में रखकर ही केशव ने क्रमालंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है

आदि अंत भरि बरनिए सो क्रम केसवदास।[1]

इस लक्षण के अनुसार, प्रत्येक कथन का अन्तिम अंग आगे के कथन में आद्य स्थान पाता चले, इस क्रम में किए गए वर्णन वाले स्थानों में क्रम अलंकार होता है। इस लक्षण वाले अलंकार का उदाहरण उन्होंने यह दिया है

धिक मंगन बिनु गुनहि गुन सो धिक सुनत न रिझिय।
रिझि सु धिक बिनु मौज मौज धिक देत जु खिझिय।
दीबो धिक बिनु साँच साँच धिक धम न भाव।
धम सु धिक बिनु दया दया धिक अरि कहँ आव।[2]

इस प्रकार के वर्णन वाले स्थानों में संस्कृत के आचार्य एकावली अलंकार मानते हुए थे। लेकिन केशव ने एकावली को अलग मान्यता न देकर उसीको क्रम नाम दिया। केशव के इस प्रयत्न की सफलता इस तथ्य में आँकी जा सकती है कि यदि केशव के मत को मान्यता प्राप्त हो जाती तो दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें सिद्ध हो जातीं। एक क्रम के अस्तित्व के सम्बन्ध में उठी आशंका समाप्त हो जाती क्योंकि यहाँ क्रमात्मक विच्छित्ति का अभाव नहीं था। इस अलंकार का नाम क्रम रखना अनिवार्य होना क्योंकि इसमें क्रियात्मक विच्छित्ति की प्रधानता है। इसका लक्षण है और हिन्दी वालों के लिए तो क्रम नाम एकावली की अपेक्षा अधिक सरल पड़ता। किन्तु इस मान्यता का संस्कृत आचार्य परम्परा से मेल न रह जाता।

गणना

विभिन्न संख्या-सूचक शब्दों के प्रयोग वाले स्थानों पर केशव ने गणनालंकार माना है।

अनुगणना सो कहत हैं जिनके बुद्धि प्रकास।[3]

लक्षण के पश्चात् केशव ने एक से दस तक संख्या-सूचक शब्दों की लम्बी तालिकाएँ देते हुए गणना के उदाहरण दिए हैं। गणना के सम्बन्ध में केशव की इस सामग्री का आधार काव्यकल्पलतावृत्ति प्रतान चतुर्थ स्तबक ६ और अलंकारशेखर मरीचि १८ है। प्रो० भरण की यह आलोचना ठीक ही है कि यह कोई अलंकार नहीं

१ कविप्रिया, ११।१
२ वही, ११।२
३ कविप्रिया, ११।३

है।[1] किन्तु केशव ने उपर्युक्त ग्रन्थों में मान्य गणना को अलंकारत्व में स्वीकृति दी है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध विच्छित्ति विशेष से नहीं है।

आशी

केशव का आशी अलंकार ऐसा है जिसकी पूर्ण परम्परा संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राप्त नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने आशी को या तो मान्यता दी है या उसका उल्लेख किया है। लेकिन परवर्ती आचार्यों वामन रुय्यक मम्मट विश्वनाथ आदि के द्वारा इसका उल्लेख न होने से यह ज्ञात होता है कि बाद में इसकी मान्यता समाप्त हो गई थी। मान्यता देनेवाले प्राचीन आचार्यों में भामह दण्डी और भट्टि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस अलंकार के विवेचन के लिए केशव ने दण्डी को आधार बनाया है। दण्डी के आशी का लक्षण इस प्रकार है

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ॥

अर्थात् जहाँ अभीष्ट वस्तु में आशंसन दिखाया जाय जैसे वह अवाङ्मनसगोचर ज्योति आपकी रक्षा करे। आशंसन शब्द का अर्थ अभीष्ट कामना है। यह दो प्रकार की हो सकती है—अपने लिए दूसरों के लिए। प्रथम अवस्था में यह प्रार्थना स्वरूप होती है द्वितीय अवस्था में मंगलकामना या आशीर्वाद के रूप में होती है। परार्थ मंगलकामना या आशीर्वादरूप होने पर ही वह आशी अलंकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। दण्डी के उदाहरण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। भट्टि ने भी परार्थ मंगलकामना के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।—

पतिवधपरिप्लुतलोलकर्णीनयनजनापहृताञ्जनोष्ठरागा।
कुरुरिपुवनिता जहीहि शोकं क्व च शरणं जगतां भवान् क्व मोहः ॥[2]

भामह के लक्षण ने इस अलंकार के क्षेत्र को और भी व्यापक बना दिया है। वे सौहार्द की किसी भी अविरोधिनी उक्ति को आशीरलंकार के अन्तर्गत स्थान देते हैं। किन्तु उनके उदाहरणों का अभिप्राय सुहृद की मंगल कामना पर नहीं है। केशव ने आशी का लक्षण इस प्रकार दिया है

मात पिता गुरु देव मुनि कहत जो कछु सुख पाय।
ताही सों सब कहत हैं आशिष कवि कविराय।[5]

इस लक्षण को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने इस अलंकार को भामह के समान ही व्यापक अर्थ में अपनाया है। लेकिन दण्डी का आधार होने के

१ केशव एक अध्ययन पृ २५
२ काव्यादर्श २।३५७
३ भट्टि प्रसन्नकाण्ड १।१।७
४ आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता।
सौहृदय्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्यास्च तद्यथा।—काव्यालंकार ३।५५
५ कविप्रिया, ११।२४

कारण लक्षण की यह व्यापकता भामह के ही समान केशव के उदाहरण द्वारा सीमित हो गयी है। वह आशीर्वाद अर्थ तक ही सीमित है—

चिर चिर सोहौ रामचन्द्र के चरण युग।
केसौदास दीबो कर अमित अभाय नर॥

कुछ आलोचकों ने दण्डी और केशव में आशीरलंकार के सम्बन्ध में अन्तर बताया है। डा० हीरालाल दीक्षित ने लिखा है 'दण्डी के अनुसार आशीरलंकार वहीं होता है जहाँ अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की इच्छा अथवा अभिलाषा का स्पष्टीकरण हो। परन्तु केशव ने माता पिता गुरुजन तथा मुनियों द्वारा दिए गए आशीर्वाद को ही आशी अलंकार माना है।'[1] लेकिन हम इस कथन से सहमत नहीं हो सकते क्योंकि केशव और दण्डी में कोई मौलिक अन्तर दिखायी नहीं पड़ता। नाटकों के आशीर्वादात्मक पद्यों को आलोचकों ने आशीरलंकार में रखने की चेष्टा की है कि परार्थगत कामनास्वरूप 'आशीर्वाद' ही आचार्य सम्मत है। इस सम्बन्ध में और कुछ कहना व्यर्थ है।

प्रेमालंकार

काव्यादर्श में दण्डी ने प्रेयस नामक अलंकार का विवेचन किया है। दण्डी का वही प्रेयस केशव का प्रेमालंकार है। किसी भी प्रियतर बात का कथन प्रेयस का विषय हो सकता है—ऐसा दण्डी का कथन है।[3] लेकिन इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि इसमें व्यापकता नहीं है। क्योंकि इसके अनुसार तो किसी प्रियतर बात का कहना मात्र प्रेयस है। उन्होंने प्रेयस के दो उदाहरण दिए हैं।[4] जिनमें से प्रथम में स्तुत्य कृष्ण की प्रीति के आधार पर तथा दूसरे में मानवीय प्रीति के आधार पर प्रेयस के स्वरूप को स्पष्ट किया है। कहना न होगा कि इन उदाहरणों के द्वारा उन्होंने अपने लक्षण की संकीर्णता को दूर करके इस अलंकार को व्यापकता प्रदान की है। भामह ने प्रेयस का लक्षण तो नहीं दिया लेकिन उदाहरण इस समय वही उदाहरण प्रस्तुत किया जो दण्डी का था।[5] इससे स्पष्ट है कि भामह ने उदाहरण न देकर भी यह सिद्ध कर दिया कि उन्हें इस अलंकार का दण्डी द्वारा दिया गया लक्षण मान्य है।

किन्तु परवर्ती काल में इस अलंकार के स्वरूप में विकास हुआ। तब उसका

1 कविप्रिया ११।२५ २६
2 आचार्य केशवदास पृ० २८६
3 प्रेयः प्रियतराख्यानम्।—काव्यादर्श २।२७५
4 अ—अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः।—काव्यादर्श २।२७६
आ—सोमः सूर्यो मरुद् भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्। इत्यादि।—वही, २।२७८—९
5 काव्यालंकार ३।५

रूप उतना सरल न रह पाया जो प्राचीन आचार्यों को मान्य था।[1] और तब उसका स्वरूप—भाव जहाँ किसी अन्य का अंग बन—हुआ।[2] रुय्यक ने इस अलंकार के विकास को एक पग और आगे बढ़ाया। उन्होंने इसके विषय में भाव के अंगभाव या गुणीभाव की बात नहीं रखी अपितु भाव सामान्य के निबंधन को प्रेयस कहा।[3] इसके साथ ही इन आचार्यों ने दण्डी के लक्षण —प्रेयः प्रियतराख्यानम्—की संगति अपने अपने ढंग से दिखायी है। रुय्यक ने कहा है कि जहाँ प्रेयस का निबन्धन हो वहाँ तो प्रियतर का अर्थ है। विश्वनाथ के अनुसार ऐसी रचना विधान अत्यन्त प्रिय होता है अतः वह प्रियतर होने के कारण प्रेय कहा जाता है। रुय्यक ने भाव मात्र के विधान को और ध्वनि परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हुए विश्वनाथ ने भाव-मात्र के गुणीभाव को प्रेयस कहा है। रुय्यक ने रसादि अलंकारों के लक्षण ध्वनिवादी तथा ध्वन्यभाववादी दोनों को ध्यान में रखकर किए हैं। मम्मट ने तो प्रेयस जैसे अलंकारों को अलंकार ही नहीं माना। किन्तु उन्होंने भी गुणीभूत व्यंग्य के प्रसंग में उसके उदाहरण देकर आनन्दवर्धन की परम्परा का पालन किया है। इस विवेचन के आधार पर यह समझा जा सकता है कि दण्डी भामह आदि के प्रेयस तथा रुय्यक विश्वनाथ आदि के प्रेयस में बहुत अन्तर है। दण्डी से प्रभावित होने के कारण केशव ने इस अलंकार को स्वीकार तो किया लेकिन ध्वनिवादियों के प्रेयस से अलग करने के उद्देश्य से उस प्रेयस के स्थान पर प्रेमालंकार का नाम दिया। कहना न होगा कि अपने इस उद्देश्य में उन्हें पूर्ण सफलता मिली क्योंकि वे इसे दण्डी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट कर गए हैं। उनके प्रेमालंकार का लक्षण इस प्रकार है

कपट निपट मिटि जाइ जहँ उपजै पूरन क्षेम।
ताही सों सब कहत हैं केसव उत्तम प्रेम।[4]

केशव ने इसका जो उदाहरण दिया है उसकी लक्षण से पूर्ण संगति है। इस अलंकार के सम्बन्ध में प्रो० अरुण की नितान्त असम्बद्ध टिप्पणी है किसी मनोभाव का कपटरहित वर्णन प्रेमालंकार है। जैसा कि केशव का स्वभाव है उन्होंने अद्भुत खींच-तान से सभी प्रकार के आशीर्वादों में प्रेमालंकार मान लिया है।[5]

श्लेष

श्लेष के निरूपण में भी केशव ने दण्डी का ही आधार ग्रहण किया है। दण्डी ने श्लेष का लक्षण देते हुए कहा है

1 काव्य नोट्स आन साहित्यदर्पण पृ ३१६
2 साहित्यदर्पण १।१६५ ६, ३१६
3 अलं० स पृ २३३
4 अलं स पृ २३२
5 साहित्यदर्पण १।१६३ वृत्ति
6 कविप्रिया ११।२८
7 केशव एक अध्ययन, पृ०३६
8 काव्यादर्श, २।३१०

श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।[1]

अर्थात् एकरूप होते हुए भी अनेकार्थ वचन श्लेष होता है। केशव के लक्षण का भी यही भाव है जो इस प्रकार है

दोइ तीन अरु भाँति बहु आनत जामें अर्थ।
श्लेष नाम तासों कहत जे हैं बुद्धिसमर्थ।[2]

दण्डी ने सामान्यतः श्लेष के दो भेद किए हैं—भिन्नपद और अभिन्नपद।[3] और केशव ने भी इन दो भेदों को स्वीकार किया है। भिन्नपद का लक्षण देते हुए केशव ने कहा है कि जहाँ पद में ही पद काटकर निकाला जाए वहाँ यह श्लेष होता है।[4] इस दृष्टि से जहाँ कोई शब्द भिन्न पक्षों के लिए भिन्न अर्थ देता है वहाँ अर्थ-भेदात् शब्दभेद के अनुसार भिन्न पद माने जाएँगे। यही केशव की दृष्टि में पद में पद काटना है। किन्तु जहाँ भिन्न पक्षों के लिए सर्वथा भिन्न अर्थ न करने पड़ें वहाँ अभिन्न पद होता है। परवर्ती आचार्यों ने पद विच्छेद की व्यवस्था पर आधारित जो सभंग पद और अभंग पद दो भेद किए उन्हें दण्डी के भिन्नपद और अभिन्नपद से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए। इन सामान्य भेदों के अतिरिक्त दण्डी ने श्लेष के सात भेद और दिखाए हैं। ये भेद—अभिन्नक्रिय अविरुद्ध विरुद्धकर्मा नियमवान् नियमाक्षेप रूपोक्ति, विरोधी अविरोधी हैं। दण्डी ने इनके लक्षण नहीं दिए। केवल उदाहरण देकर ही इनके रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उदाहरणों को देखकर इन भेदों के विषय में कुछ निर्णय किया जा सकता है। इनमें नियमवान् और नियमाक्षेपरूपोक्ति लगभग एक-से हैं।[5] तथा ये दोनों वर्तमान परिसंख्या अलंकार में आते हैं। सामान्य श्लेष ही को दूसरा नाम अविरोधी दिया गया है। और विरोधी विरोध मूलक है।[6] अतः केशव ने दण्डी के सात भेदों में से केवल पाँच अभिन्नक्रिय अविरुद्धक्रिय विरुद्ध-कर्मा नियम तथा विरोधी भेदों को अपनाया।[7] और उन्होंने समान लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए। केशव ने परिसंख्या अलंकार को मान्यता नहीं दी है। उनके नियम का उदाहरण इसीलिए दण्डी की परिसंख्या के उदाहरण के समान है। इस दृष्टि से जहाँ भी केशव की रचनाओं में परिसंख्या अलंकार पाया जाता है, वहाँ उसे नियम श्लेष कहना ही उचित है। दण्डी का विरोधी श्लेष का उदाहरण विरोधाभास का है। किन्तु केशव का विरोधी श्लेष व्यतिरेक का उदाहरण है। इससे यह समझा जा सकता है कि आचार्य केशव ने विरोधाभास ही नहीं अन्य समस्त

१ काव्यादर्श २।३१०
२ कविप्रिया ११। ६
३ काव्यादर्श २।३११
४ कविप्रिया ११।३४
५ वही ११।३६
६ काव्यादर्श २।३१६–३२०
७ वही ३ १–३२
८ कविप्रिया ११। ३

विरोधमूलक अलकारो को भी जो श्लेष पर आधारित हैं विरोधी श्लेष के अन्तगत ला दिया है। ऐसा होने पर भी दण्डी और केशव के दृष्टिकोण म कोई मौलिक अन्तर दिखाई नही पडता है। जहा श्लेष भी हो तथा तन्मूलक दूसरे अलकार जसे परिसख्या समासोक्ति, विरोधाभास व्यतिरेक उपमा रूपक आदि हो वहा श्लेष कहा जाए या उन विशिष्ट अलकारो का अधिकार माना जाए ? वास्तव म सस्कृत के आचार्यों के लिए यह विवाद का विषय रहा है और अलग अलग आचार्यों ने अलग अलग मान्यताए दी हैं। तीन मान्यताए तो स्पष्ट हैं। उद्भट के अनुसार ऐसे स्थलो पर श्लेष माना जाना चाहिए। मम्मट और विश्वनाथ ऐसे स्थलों को सकर का विषय मानते हैं। और रुय्यक के वग के अनुसार उन स्थलो पर श्लेष न मानकर विशेष विशेष अलकारो को माना जाना चाहिए।[1] इस सम्बन्ध म दण्डी ने स्पष्ट रूप से अपना मत व्यक्त नही किया है लकिन उन्होंने जो विवेचन किया है उसको देखते हुए उन्हे रुय्यक आदि के वग म रखा जा सकता है। उन्होने विशिष्ट विशिष्ट अलकारो के प्रसग म श्लिष्टोपमा श्लिष्टरूपक श्लिष्टाक्षेप आदि दिखाए हैं। तो फिर विचारणीय यह है कि ऐसी अवस्था म उन्होने श्लेष के प्रसग म उसे स्थलो का क्या स्थान दिया। इसका समाधान यही है कि दण्डी के समय तक यह प्रश्न खुलकर आचार्यों के सामने नहीं आ पाया था। श्लेष की दृष्टि से उनमे कोई श्लेष प्रकार तथा विरोध आदि की दृष्टि म कोई विशिष्टालकार दोनो को ही वे स्वीकार कर लते थे। इसी कारण उन्होने दोनो ही स्थलो पर इनका निरूपण कर दिया। शकाए बाद म उठीं और परवर्ती आचार्यों ने अपनी भिन्न राये प्रस्तुत की। दण्डी के नियम श्लेष तथा विरोधी श्लेष आदि नामो को तो उपलक्षण मात्र समझा जाना चाहिए। केशव भी सस्कृत के आचार्यों के तक वितक म नही पडे। उन्होने सरलतम पथ का अनुगमन करके अपना लक्षण कह दिया। उन्होने दण्डी के समान ही उपलक्षण रूप में उपमा श्लेष का नाम भी बस दे लिखा है जसेकि दण्डी ने उपमारूपक आक्षेप आदि श्लेषों का। ऐसे ही स्थल पर दोनो अलकार अलग अलग बन जाएगे यह बात केशव ने इस प्रकार प्रकट की है

भिन्न भिन्न पुनि पदन के उपमा श्लेष बखानि।[2]

सूक्ष्म

केशव के सूक्ष्म का लक्षण तथा उदाहरण दण्डी के अनुसार है। सूक्ष्म का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है

कौनहु भाव प्रभाव त जानिय जिय की बात।
इगित त आकार त कहि सूक्षम अवदात।[3]

इस अलकार के सम्बन्ध म दण्डी से केशव म एक अन्तर दिखाई पडता है कि

१ पी वी काणे हिस्टरी आफ सस्कृत पोएटिक्स तथा साहित्यदपण पृ २०
२ काव्यादश १।१३
३ कविप्रिया ११। ६
४ कविप्रिया ११। ५

दण्डी ने आकृति तथा इंगित दोनों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जबकि केशव ने केवल इंगितमूलक सूक्ष्म ही उदाहृत किया है।

लेश

केशव के लेश के आधार भी दण्डी ही हैं। दण्डी ने दो प्रकार के लेश बताए हैं। उनमें से केशव का लेश प्रथम प्रकार का है। द्वितीय प्रकार के दण्डी के लेश को केशव ने छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि वह लेश वहां होता है जहां लेशतः निन्दा द्वारा स्तुति या स्तुति द्वारा निन्दा की जाए। परवर्ती काल में ऐसे स्थलों पर व्याजस्तुति तथा व्याजनिन्दा नाम के अलंकार प्रचलित हुए। अतः केशव ने उसे ग्रहण नहीं किया।

लेश के सम्बन्ध में डा० हीरालाल दीक्षित की सम्मति है केशव का उदाहरण अपह्नुति अलंकार से पृथकता दिखाने के लिए दण्डी की अपेक्षा अधिक अच्छा है।[1]

निदर्शना

केशव की निदर्शना का विवेचन भी दण्डी की निदर्शना के आधार पर हुआ है। निदर्शना का लक्षण दण्डी ने इस प्रकार दिया है

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित्तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम्।[2]

इसके अनुसार किसी अन्य अर्थ में प्रवृत्त किसी कार्य द्वारा कुछ उसी प्रकार के सत् या असत् फल के निदर्शन वाले स्थानों पर निदर्शना होती है। केशव के लक्षण का भी यही रूप है

कौनहु एक प्रकार ते सत अरु असत समान।
करिए प्रगट निदर्शना समुझत सकल सुजान।[3]

दण्डी और केशव में अन्तर केवल उदाहरणों में है। दण्डी ने सत् और असत् फल निदर्शन के उदाहरण अलग अलग दिखाए हैं जबकि केशव ने एक ही उदाहरण द्वारा नाना प्रकार का फल निदर्शन करा दिया है।[4]

ऊर्जालंकार

केशव के ऊर्ज का आधार भी दण्डी ही है। जहां अलंकार रूढ़ अवस्था में हो वहां ऊर्जस्वी अलंकार दण्डी ने दिखाया है। दण्डी का वही ऊर्जस्वी केशव ने अपनाया

१ आचार्य केशवदास पृ० २४७
२ काव्यादर्श २।३४८
३ कविप्रिया ११।४६
४ वही ११।५०
५ ऊर्जस्वि रूढाहंकारम् । काव्यादर्श २।२७५

है। लक्षण देते हुए केशव ने वैसी ही बात कही है

तज न निज हंकार को जद्यपि घट सहाय।
ऊज नाम तासों कह केसव सब कविराय।[1]

दण्डी का ऊर्जस्वी परवर्ती आचार्यों के ऊर्जस्वी से सर्वथा भिन्न है। परवर्तियों ने रसाभास या भावाभास के गुणीभूत होने पर इस अलंकार की स्थिति मानी। अन्य स्थलों पर जैसे प्रेयस आदि के समान यहां भी केशव ने परवर्तियों का साथ न देकर दण्डी का ही अनुगमन किया है।

रसवद अलंकार

रसवदलंकार के विषय में आचार्य परम्परा में कई मान्यताएं प्राप्त हैं। आनन्दवर्धन से पूर्व के आचार्य प्रायः रसात्मक सौन्दर्य को अलंकारों में अन्तर्भूत करते हुए रसवदलंकार कहते हैं। कुन्तल ने रसवदलंकारों के प्रति एक भिन्न ही दृष्टि रखी है। गौडीय आचार्यों की दृष्टि अलग है। यहां हम दो प्रमुख मान्यताओं को सामने रखना चाहते हैं। एक ध्वनिवादी मान्यता दूसरी ध्वन्यभाववादी मान्यता। ध्वन्यभाववादी मान्यता में हम भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों को रख सकते हैं; ध्वनिवादी में आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ को। यद्यपि अलंकारवादी आचार्यों की रस चेतना में परस्पर पर्याप्त अन्तर है फिर भी वे सब इस बात में समान हैं कि रसों को रसवदलंकार कहते हैं।

अलंकारवादी आचार्यों के अनुसार रसवद का अर्थ है रस युक्त। वे समस्त रसमय चित्रणों में रसवदलंकार मानते हैं।[2] इन ध्वन्यभाववादियों के दृष्टिकोण का सारांश प्रस्तुत करते हुए रुय्यक रसवत् शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत।[3] इस वर्ग के लोगों के अनुसार जहां रस का प्रधानतया चित्रण होता है वहां रसवत् होता है तथा जहां रस गौण होता है वहां उदात्त नामक अलंकार होता है।

दूसरी मान्यता ध्वनिवादियों की है जिनके अनुसार रस प्राधान्येन व्यक्त होने पर तो ध्वनि कहलाता है गुणीभूत होने पर रसवत।[4] इनकी मान्यता में ध्वन्यभाववादियों के उदात्त का प्रश्न नहीं। मम्मट के अनुसार गुणीभूत रस को रसवदलंकार

१ कविप्रिया ११।५१

२ रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा। काव्यादर्श २।२७५। रसवद् दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसं यथा।
—भामह ।६

३ अलं स पृ २३३

४ तत्र यस्मिन् स्थाने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदलंकाराः तदंगभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकार। वही पृ २३३। यस्मिन् स्थाने इतिध्वन्यभाव इति मतम्।
विमर्शिनी जयरथ, पृ ३३।

५ यत्र तु ध्वन्यंगभूते रसादिविषये रसवदाद्यलंकाराः अन्यत्र रसादिध्वनिना व्याप्तत्वात् तत्र गाढालंकारस्य विषया नावशिष्यन्ते तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्। वही पृ ३२३।

नहीं सीधे गुणीभूतव्यंग्य ही कहना चाहिए।[1] वे रसवदलंकार जैसी कोई चीज स्वीकार नहीं करना चाहते। केवल आनन्दवर्धन के आदेश पर स्वीकार कर लेते हैं।

ध्वनिवाद के अनुसार रसादि गुणीभूत होने पर रसवत् होते हैं तब प्रश्न उठता है रसवत् के स्थलों में प्रधान कौन होता है? मम्मट के अनुसार यह प्रधानीभूत अर्थ कोई रस कोई भाव या कोई वाच्यार्थ हो सकता है।[2] आनन्दवर्धन के अनुसार यह प्रधानीभूत अर्थ किसी देवता राजा गुरु आदि की स्तुति या चाटु रूप होता है। भामह ने ऐसे स्थलों को प्रेय कहा है। अभिनव ने ऐसे स्थलों में आनन्दवर्धन तथा भामह दोनों की दृष्टि से संगति दिखाई है।[3]

यह तो रही मुक्तक काव्य में रसों की रसवदलंकारता की बात। यदि प्रबन्ध में किसी रस प्रवाह के बीच दूसरा रस अंग होकर आता है तो उस अंगभूत रस को क्या कहा जाएगा? सामान्यतः उसे खंड रस या संचारी रस का नाम दिया गया है। भरत ने काव्य में ऐसी स्थितियों की सम्भावना की है। किसी आचार्य ने इस प्रकार गुणीभूत रस को रसवत् नहीं कहा। किन्तु जैसाकि हम अभी देखेंगे केशव ने ऐसी ही परिस्थिति का एक पद्य रसवत् के प्रसंग में उपस्थित किया है। मुक्तक में एक रस के गुणीभूत रस को ध्वनिवाद की दृष्टि से जब रसवदलंकार कहा जाता है तो प्रबन्ध में अन्य रस के गुणीभूत किसी रस का यही नाम क्यों न दिया जाए, उनका यही तर्क प्रतीत होता है। सम्भव है इस प्रकार की चर्चा उनके सामने आई हो।

रसवत के विषय में केशव ने निजी बुद्धि से विभिन्न दृष्टिकोणों से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। हम उनके निरूपण को ठीक ठीक व्यंग्य के रसवद विवेचन पर दृष्टि रखकर ही समझ सकते हैं। केशव ने रसवत् का लक्षण इस प्रकार दिया है

रसमय होइ सु जानिए रसवत केसवदास।
नवरस को संक्षेप ही समुझो करत प्रकास।[5]

रसवत शब्द संस्कृत आचार्यों द्वारा अपनी अपनी दृष्टि से व्याख्यात हुआ है। यहां भी हम केशव के रसमय शब्द को ध्वनिवादियों की दृष्टि से 'रस-आश्रित निरूपण' तथा व्यंग्याभाववादियों की दृष्टि से रसात्मक चित्रण के अर्थ में ले सकते हैं। अब हम केशव के विभिन्न रसवदलंकारों के उदाहरणों की ओर आ सकते हैं।

शृंगार रसवत्

केशव ने अपने विवेचन में प्रथम उदाहरण इस प्रकार का रखा है जिसका

1. अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहिताद्यलंकाराः।—काव्यप्रकाश उ० ४ पृ० ८५
2. वही पृ० १६४
3. ध्वन्यालोक २।२७ की वृत्ति।
4. न हो अन्य काव्य लिरिन्मिन प्रयागन। ना० शा०, ७।१११
5. कविप्रिया १३।४१

सगति उन्होने स्वय ध्वनिवादी तथा ध्वन्यभाववादी दोनों दृष्टियो से लगाई है।[1] केशव का प्रथम शृगार रसवत् का उदाहरण भी इसी प्रकार का दिखाई पडता है। इस उदाहरण मे ध्वनिवादियो की दृष्टि से सयोग शृगार का वणन वियोग के अन्तभूत है। नायिका की विरहाशका मे सयोग गौण है। अत अगभूत सयोग की दृष्टि से यहा ध्वनिवाद की दृष्टि से रसवदलकार कहा जा सकता है। ध्वन्यभाववादियो की दृष्टि से पायन्तिक वियोग शृगार रस का चित्रण मानकर रसवदलकार कहा जा सकता है।

रौद्र रसवत्

द्वितीय उदाहरण रौद्र का है। इसे ध्वन्यभाववादियो की दृष्टि से रसवदलकार का उदाहरण माना जा सकता है। इसमे सीधे सीधे रावण के प्रति राम के क्रोध की व्यजना है।

वीर रसवत्

यह उस प्रकार के प्रबन्धान्तगत रसवत् का उदाहरण है जिसकी चर्चा हमने अभी पीछे की है। यह रामचन्द्रिका के सत्रहवें प्रभाव का ४६वा छन्द है। लक्ष्मण शक्ति का प्रसग है अत प्रकरण करुण रस का है। 'वारक लक्ष्मण मोहिं विलोकी। मो कहु प्राण चले तजि रोकी।' कहकर राम विकल हो उठते हैं। प्रसगवश उन्हे देवताओ के प्रति रोष हो आता है। जिन देवताओ के लिए सब कुछ किया गया व आज कुछ भी सहायता नहीं करते। फिर राम क्यों न ससार को सुरहीन बना डालें। राम के ये उत्साहमय वचन प्रसग से अलग करके वीर रस की प्रधानता के उदाहरण है और ध्वन्यभाववादियो की दृष्टि से रसवदलकार है। दूसरी ओर यह उत्साह प्राकरणिक शोक का अग होने के कारण ध्वनिवादियो की दृष्टि से रसवदलकार है।

करुण रसवत्

इस उदाहरण मे शोक का चित्र है। इसे भी ध्वन्यभाववादी दृष्टि से रसवत मानना चाहिए।

भयानक रसवत्

इसके उदाहरण मे केशव ने दो पद्य दिए है। मन्दोदरी राम के पराक्रमी कार्यों से त्रस्त है किन्तु उसका भय रावण की भर्त्सना का अग बन गया है। यहा रस एक भाव का अग है। यह ध्वनिवादियो की दृष्टि से रसवदलकार का उदाहरण है।

[1] एतदनन्यदप्युदाहरणम्। वाक्यार्थभूतोऽत्र करुणो रस अगभूतस्तु विप्रलम्भ शृगार। एव रसान्तरेष्वपि उदाहार्यम्।—अलकारसर्वस्व पृ० २३६।

[2] श्री रघुनाथ मना अमनाथ न देखि बिना रथ हाथिन घोरहि।
लाग्यो न रम्मन मकर को जिहि सो न करा तुव लक न तोरहि॥—कविप्रिया ११।५६

बीभत्स रसवत्

यह उदाहरण पुनः ध्वन्यभाववादियों की दृष्टि से है। इसमें निन्दा स्थायी है। केवल रसिकप्रिया में अन्तर्भाव की आवश्यकता के अनुरूप बीभत्स का स्थायी निन्दा को निर्धारित कर चुके थे। यहाँ भी उस ही रसवत् उन्होंने अपने विवेचन में एकरूपता लाने का प्रयास किया है। किन्तु निन्दा को स्थायी के स्थान पर ग्रहण करने से वर्णन की शक्ति संचारी के स्तर की ही रह गई है।

अद्भुत रसवत्

केशव ने अद्भुत रसवत् के दो उदाहरण दिए हैं। इसमें राम के अलोक-सामान्य कार्यों के वर्णन द्वारा विस्मय का चित्रण हुआ है। किन्तु राम के प्रभावातिशय के प्रति यह अद्भुत गुणीभूत है। यह स्थिति भी ध्वनिवादियों के अनुकूल है। आनन्दवर्धन ने ऐसी स्थिति में रसवत् माना है।[1] प्रथम उदाहरण में राम का प्रभावातिशय वाक्यार्थीभूत है। दूसरे में कवि-गत रति। इन्हें आनन्दवर्धन की दृष्टि से प्रेय अलंकार का विषय समझना चाहिए।[2]

हास्य रसवत्

हास्य रसवत् का उदाहरण ध्वनि परम्परा का है। इसमें हास्य को शृंगार का अंग दिखाया गया है। इसकी प्रक्रिया जयरथ द्वारा उदाहृत हास्य रसवत् से बिल्कुल साम्य रखती है। इसके उदाहरण में आया हुआ मुसकान शब्द भी विमर्शिनी में उदाहृत स्मित शब्द के समान ही निर्दोष समझना चाहिए।[3]

शान्त रसवत्

यह भी ध्वनि परम्परा के ही अनुकूल है। इसमें शान्त का कविगत रति का अंग दिखाया गया है। यह भामह उद्भट के अनुसार प्रेय का तथा आनन्दवर्धन के

१ इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति। एवंविध एव रसवदलंकारस्य न्याय्यो विषयः। ध्वन्यालोक २। २७ की वृत्ति, पृ० १ २।

२ इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ के निम्न विचार भी द्रष्टव्य हैं :

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गी।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

अत्रीयता नाम्नात्र विस्मय, परन्त्वसौ कथंकार अद्भुतरसध्वनिव्यपदेशहेतु ? प्रतिपाद्यमहा-पुरुषविशेषविषयाया प्रधानीभूताया रतेरङ्गतामुपगतत्वे प्रकर्षत्वेनास्य गुणीभूतत्वात्।

—रसगंगाधर पृ० ४३।

३ का त्वं रक्तपटावगुण्ठनवती मुग्धे तवाहं सखी।
किं शून्येऽसि चकिता निवसामि त्वामागता वेष्टितुम् ॥
एतद्विस्मयमुन्चयेति कथयन्त्यालोक्य कृतानन।
पातु स्मेरमुखाम्बुजस्य तरुणो जाता विलक्षस्मितः ॥
अत्र वाक्यार्थीभूत शृंगार। अङ्गभूतस्तु हास।

—अलंकारसर्वस्व, पृ० २२६।

अनुसार चाटु का उदाहरण होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव ने रसवदलंकार में कई मान्यताओं को परिचित कराने का प्रयास किया है। विशेषत रुय्यक एवं जयरथ की पद्धति अपनाई है। यहां ध्वनिवादी तथा ध्वन्यभाववादी दोनों वर्गों की रसवत् सम्बन्धिनी मान्यताओं का परिचय मिलता है। हास्य तथा शान्त रसवत् के उदाहरणों के रहते इन्हें दण्डी की परम्परा में रसवदलंकार का उदाहरण सिद्ध किया ही नहीं जा सकता।

अर्थान्तरन्यास

केशव के अर्थान्तरन्यास का स्वरूप संस्कृत आचार्यों से एकदम भिन्न है। उनके इस लक्षण पर विचार करने से पूर्व यह उचित होगा कि संस्कृत आचार्य परम्परा में इस अलंकार के स्वरूप विकास को देख लिया जाए।

दण्डी के अनुसार अर्थान्तरन्यास वहां होता है जहां किसी वस्तु को प्रस्तुत रूप में रखकर उसके समर्थन के लिए किसी अन्य वस्तु का न्यास किया जाए।

> ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
> तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः।[1]

दण्डी ने इस लक्षण में समर्थ्य-समर्थक भाव का उल्लेख स्पष्ट है। भामह ने भी इस अन्याय विधान का पूर्ण अर्थानुगत कहकर इस तथ्य को स्वीकार किया है।[2] उद्भट ने भी यही कहा है।[3] उद्भट से बाद के आचार्यों में समर्थक भाव तो मान्य रहा है, लेकिन उसकी सीमाओं के विषय में वे एकमत नहीं हो सके हैं। रुय्यक ने प्रकृत अर्थ-समर्थन को अर्थान्तरन्यास तो कहा लेकिन सामान्य विशेष अथवा कार्य-कारण भाव सम्बन्ध उसमें जोड़ा।[4] विश्वनाथ रुय्यक के समर्थक हैं।[5] लेकिन पण्डितराज जगन्नाथ रुय्यक के कारण कार्य सम्बन्धी समर्थ्य समर्थक भाव वाले अर्थान्तरन्यास को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके मत से यह क्षेत्र काव्यलिंग का है।[6] अर्थान्तरन्यास का नहीं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मूल मतभेद सीमा को लेकर है समर्थ्य समर्थक भाव सबको मान्य अवश्य है। इस तथ्य को सामान्य विद्यार्थी भी किसी भी आचार्य के लक्षण पर दृष्टि डालकर समझ सकता है। लेकिन केशव ने अपने अर्थान्तरन्यास के लक्षण में संस्कृत के आचार्यों द्वारा स्वीकृत इस मूल तथ्य को भी छोड़ दिया है।

१ काव्यादर्श २।१६९

२ उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा।—काव्यालंकार, २।७१

३ समर्थकस्य पूर्वं यद् वचोऽन्यस्यार्थ पृष्ठतः।
विपर्ययेण वा यत्स्यात् हि शब्दोक्त्याऽन्यथापि वा।—उद्भट २।१८

४ सामान्यविशेषकार्यकारणभावेभ्यो निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः। अलं० स० पृ १३१

५ पी० वी० काणे ना स भाग साहित्यदर्पण।

६ यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण वा कारणस्य समर्थनम् इत्यपि भेदद्वयमपि अर्थान्तरन्यासस्या लंकारसर्वस्वकारो न्यरूपयत् तन्न। तस्य काव्यलिंगविषयत्वात्।—रसगंगाधर पृ० ४७४

उन्होंने ऐसा क्यों किया इसके दो कारण ही अनुमान किए जा सकते हैं। (१) केशव इसे समझ न पाए हों। (२) उन्होंने अपना भिन्न दृष्टिकोण प्रगट करने की इच्छा से जान बूझकर इसे छोड़ा हो। हम यह मानने के लिए तयार नहीं कि केशव जिनका संस्कृत साहित्य तथा साहित्यशास्त्र से इतना सविकार परिचय है इतनी मोटी बात भी न समझ पाए। दण्डी के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्रथम चार भेदों तथा अंतिम भेद में समर्थ्य समर्थक भाव आवश्यक है। यहां विशेषतः द्रष्टव्य है कि केशव ने इन पांचों भेदों को छोड़ उन्हीं तीन भेदों को अपनाया है जिनमें इस सम्बन्ध—समर्थ्य समर्थक भाव—का आग्रह नहीं था। यह इस बात का प्रमाण है कि केशव ने अपने अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य समर्थक भाव की बात जान-बूझकर छोड़ी है।

केशव लकीर पकड़कर चलनेवाले आचार्य नहीं हैं। आवश्यकतानुसार अपना पथ बदल भी लेते हैं। कई स्थानों पर हमने देखा है कि उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की पूरी परम्परा को छोड़ शब्दों की सार्थकता को ध्यान में रखकर अलंकारों का स्वरूप विधान कर दिया है। अर्थान्तरन्यास शब्द से सामान्य विशेष या फिर कारण कार्य के बीच समर्थ्य समर्थक भाव तत्त्व पर प्रकाश नहीं पड़ता। फिर अर्थान्तरन्यास के इस स्वरूप को केशव कैसे स्वीकार कर लेते। अतः आवश्यकता हुई कि उसका शब्द के अनुसार नवीन स्वरूप विधान किया जाए। केशव ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा गृहीत जटिलता को छोड़कर उसका अन्वर्थ स्वरूप विधान किया। उनकी इच्छा रीति शास्त्र को अर्थान्तरन्यास के सरलतम रूप को देने की प्रतीत होती है। यह बात दूसरी है कि उनके मत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई। यथार्थ में मान्यता मिलनी भी नहीं चाहिए थी। क्योंकि न तो यह कार्य एक शिक्षक के जैसा है और न एक ऐसे आचार्य के जैसा जो कि पृष्ठभूमि में स्थित संस्कृत आचार्यत्व की उद्धरणी कर रहा हो। फिर केशव ने इस प्रकार के दृष्टिकोण को अन्य सभी स्थानों पर भी वैसा ही अपनाया होता तो बात दूसरी होती। केशव के अर्थान्तरन्यास का लक्षण इस प्रकार है

और जानिए अर्थ जह और वस्तु बखान।
अर्थान्तर को न्यास यह चारि प्रकार सुजान।[1]

जहां किसी अन्य अर्थ के कथन द्वारा अन्य ही अर्थ लगाया जाए वहां अर्थान्तरन्यास होता है। केशव ने अर्थान्तरन्यास को चार प्रकार का माना है। युक्त अयुक्त अयुक्त-युक्त युक्त अयुक्त।[2] दण्डी ने इसी नाम के अलंकार के ८ भेद—विश्वव्यापी विशेषस्थ दलेषाविद्ध विरोधवान अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्त तथा विपर्यय बताए हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि दण्डी के प्रथम चार में दो तथा अन्तिम भेद में समर्थ्य समर्थक भाव आवश्यक है। केशव ने उन पांचों को छोड़कर दण्डी के शेष तीन भेद अयुक्तकारी युक्तात्मा तथा युक्तायुक्त को जहां

१ कविप्रिया १०।६९
२ वही ११।६७

को मिले दोनों ही आसन छिन गए। वह न तो काव्य का एक प्रकार ही स्वीकार हुई और न समस्त अलंकारों का मूल तत्त्व। परवर्ती आचार्यों ने केवल एक अलंकार का पद दिया और उसके काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति दो भेद किए।[1] वामन की वक्रोक्ति सादृश्य के आधार पर की हुई लक्षणा है।[2]

आचार्य कुन्तल ने वक्रोक्ति को बड़े व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने उसे काव्य की आत्मा बताया है तथा सभी प्रकार की व्यंजनाओं को उसमें अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केशव ने कुन्तल को आधार तो बनाया है लेकिन वक्रोक्ति के विषय में उनका दृष्टिकोण कुन्तल के समान व्यापक नहीं है। जिसे कुन्तल ने वदग्ध्य भंगी भणिति कहा है[3] उसी भंगिमा और बांकपन की मात्रा केशव की वक्रोक्ति में अधिक दिखाई देती है। वास्तव में कुन्तल ने वक्रोक्ति के लिए अभिव्यंजना की वक्रता को ही प्रधानता दी है। केशव की वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार है

केसव सूधी बात में बरनिय टेढ़ो भाव।
वक्रोक्ति तासों कहत जे प्रवीन कविराव।

केशव के इस लक्षण के अनुसार जहां सीधी बात में वक्रिम भाव वर्णित किया जाए वहां वक्रोक्ति होती है। कहना न होगा कि वक्रोक्ति का जो शाब्दिक अर्थ होता है उसे केशव के लक्षण में पूर्णतः अपनाया गया है। उदाहरण के द्वारा यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।[5] लेकिन इस विषय में यह आपत्तिजनक है कि इस प्रकार की वक्रोक्ति को अलंकारों के बीच में एक निश्चित स्वरूप के साथ रख दिया गया है। प्रो० अरुण की यह मान्यता कि केशव की वक्रोक्ति दण्डी मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों से मिलती है, ठीक नहीं है। वास्तव में केशव ने वक्रोक्ति पर वक्रोक्ति के आचार्य का ही अधिकार माना है।

अन्योक्ति

रुय्यक के अनुसार यह अलंकार अप्रस्तुत प्रशंसा का सारूप्य निबन्धनामूलक भेद है।[6] हिन्दी में इसे एक अलग अलंकार माना गया है। अन्योक्ति का लक्षण केशव ने इस प्रकार दिया है

औरहिं प्रति जु बखानिए कछू और ही बात।
अन्य उक्ति यह जानिए बरनत कवि न अघात।

१ काव्यप्रकाश ६।१ २
२ काव्यादर्श ४।३।८
३ कुन्तल प्र उन्मेष श्लो १०
४ कविप्रिया १२।३
५ कविप्रिया १२।४
६ अलंकारसर्वस्व पृ १३२
७ कविप्रिया १२।५

केशव का यह लक्षण पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। हां उदाहरणों से इस लक्षण का सामंजस्य तो अवश्य दिखाई देता है। स्पष्टता न होते हुए भी लक्षण में वही भाव व्यक्त किया गया है जो अन्य आचार्यों ने किया है।

अधिकरणोक्ति

केशव की अधिकरणोक्ति का लक्षण निम्न प्रकार है

> औरहि में कीजे प्रगट और हि के गुण दोष।
> उक्ति यह व्यधिकरन की सुनत होइ संतोष।[१]

इस लक्षण के अनुसार जहां अन्य वस्तु के गुण-दोष किसी अन्य वस्तु में प्रकट किए जाते हैं वहां व्यधिकरणोक्ति होती है। कारण कार्य में भिन्न-देशत्व होने के कारण मम्मट तथा विश्वनाथ ने इसे असंगति[२] कहा है। केशव का नामकरण मम्मटादि की अपेक्षा अधिक सार्थक है। दण्डी ने इसका अलग से विवेचन तो नहीं किया लेकिन उन्होंने हेतु में उसका अंतर्भाव किया है। उनके दूर कार्य हेतु[३] से यह बात स्पष्ट है।

विशेषोक्ति

केशव की विशेषोक्ति परवर्ती आचार्यों के अनुरूप है। इसका लक्षण केशव ने दण्डी से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। केशव की विशेषोक्ति का लक्षण इस प्रकार है

> विद्यमान कारण सकल कारज होइ न सिद्ध।
> सोई उक्ति विशेष मय केशव परम प्रसिद्ध।[४]

इस लक्षण के अनुसार समस्त कारण होते हुए भी जहां कार्य सिद्ध न हो वहां यह अलंकार होता है। मम्मटादि परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने जो लक्षण दिए हैं उनका भी यही भाव है।[५]

सहोक्ति

केशव की सहोक्ति के आधार दण्डी हैं। दण्डी का लक्षण इस प्रकार है

> सहोक्तिः सहभावस्य कथनं गुणकर्मणाम्।[६]

केशव का लक्षण यों है

> हानि वृद्धि शुभ अशुभ कछु कहिए गूढ़ प्रकार।
> होइ सहोक्ति सु साथ ही बरनत केसवदास।

१ वही १२।८
२ काव्यप्रकाश ९।१६१ तथा साहित्यदर्पण, १०।६६
३ काव्यादर्श २।२४५
४ कविप्रिया १२।१४
५ काव्यप्रकाश १०। तथा साहित्यदर्पण परि० १०।६७
६ काव्यादर्श २।३५१
७ कविप्रिया १२।

लेकिन संस्कृत का य शास्त्र के परवर्ती आचार्यों म भी स अलकार का रूप अधिक बदला हुआ दिखाई नहीं देता।[1]

याजस्तुति याजनिन्दा

याजस्तुति और व्याजनिन्दा का लक्षण केशव न इस प्रकार दिया है

स्तुति निन्दा मिस होइ जह स्तुति मिस निन्दा जान।
व्याजस्तुति निन्दा कह केसव दास बखान।

इस लक्षण क अनुसार जहा आपातत निन्दा करत हुए स्तुति म पयवसान हो वहा याजस्तुति तथा जहा स्तुति द्वारा निन्दा म पयवसान हो वहा याजनिन्दा अलकार होता है। संस्कृत क आचार्यों न इसकी सज्ञा व्याजस्तुति ही दी है। उन्होन इस नाम की याजस्तुति तथा याजनिन्दा दोनो पक्षों म सगति भी दिखाई है। मम्मट ने कहा है

याजस्तुतिम ख निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा।
याजरूपा यजेम वा स्तुति ।[3]

रुय्यक का मत भी यही है।[4] दण्डी ने याजस्तुति वाल पक्ष का ही ग्रहण किया।[5] इस प्रकार व इसके रूप का सकुचित रखने के पक्षपाती हैं। केशव रुय्यक दोना ही पक्षा को ग्रहण करते ह। इसी कारण उन्होने दोना पक्षो को स्पष्ट करने क लिए अलग अलग नाम दे दिए है। कुवलयानन्द म इन दोना परिस्थितिया को तो याजस्तुति के अ तगत ही रखा गया है[6] किन्तु जहा निन्दा स निन्दा यक्त हो वहा याजनिन्दा कही गई है। इसस यह स्पष्ट है कि कुवलयानन्द की याजनि दा केशव की व्याजनिन्दा स भिन्न कोटि की है। इन अलकारा को स्पष्ट करन क लिए केशव न जो उदाहरण दिया है वह अत्यन्त ही कौशलपूण है। कारण उस उदाहरण द्वारा उन्होंने दोनो अलकारा का स्वरूप एकसाथ ही अलग अलग स्पष्ट कर दिया है। दो उदाहरण व्याजनिन्दा क और दिए गए हैं जिनम स एक म दण्डी की भाति श्लेष का प्रयोग करके दिखाया है[8] इस प्रकार उन्होने दण्डी क आधार को किसी न किसी रूप म स्पष्ट अवश्य कर दिया है।

अमित

केशव क अनुसार अमित अलकार वहा होता है जहा साधक को मिलनेवाली

१ साहित्यदपण १०५५ तथा कुवलयानन्द पृ ६६
२ कविप्रिया १२।२२
३ का यप्रकाश, पृ ६७
४ अलकारसवस्व पृ ११
५ काव्यादश २।३४२
६ कुवलयानन्द पृ० ७
७ वही पृ ७२
८ कविप्रिया १२।२३ २४ २५

सिद्धि का भाग साधनभूत व्यक्ति प्राप्त कर ले।

जहाँ साधन भोगवै साधक की शुभ सिद्धि।
अमित नाम तासों कहत जाकी अमित प्रसिद्धि।[1]

स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए केशव ने इस अलंकार के दो उदाहरण दिए हैं[2] जोकि लक्षण से सामंजस्य तो रखते ही हैं साथ ही उनमें विशेष चमत्कार का पुट भी है। प्रायः सभी संस्कृत आचार्यों में इस अलंकार का उल्लेख नहीं मिलता।

पर्यायोक्ति

केशव ने पर्यायोक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है

कौनहु एक अदृष्ट ते अनहो किये जु होइ।
सिद्धि आपने इष्ट की पर्यायोक्ति सोइ।[3]

इसके अनुसार जहाँ अभीष्ट की सिद्धि बिना प्रयत्न के ही किसी अदृष्टवश हो जाती है वहाँ केशव इस अलंकार की स्थिति मानते हैं। इस लक्षण के साथ उनके उदाहरण[4] की पूर्ण संगति भी बैठती है। लेकिन केशव की पर्यायोक्ति मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों की पर्यायोक्ति से पूर्णतः भिन्न ठहरती है।

संस्कृत के सभी आचार्य इस अलंकार के विषय में एकमत नहीं हैं। उन्होंने चाहे लक्षण देने में एक सी शब्दावली का प्रयोग भले ही किया हो लेकिन उनके दृष्टिकोण में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। इस अलंकार के निरूपण में आचार्यों के तीन वर्ग दिखाई देते हैं—प्रथम वर्ग भामह और उद्भट का है जो ध्वनि को अलग स्थान न देने के कारण सभी व्यंग्यात्मक काव्य सौन्दर्य को पर्यायोक्ति के अन्तर्गत ही ले आते हैं।[5] दूसरा वर्ग रुय्यक और विश्वनाथ का है। यह वर्ग प्रस्तुत कार्य के वाचकत्व के द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना में पर्यायोक्ति मानता है।[6] तीसरा वर्ग मम्मट और जगन्नाथ का है। यद्यपि भामह उद्भट और मम्मट ने इस अलंकार के जो लक्षण दिए हैं उनमें थोड़ा सा ही शब्दों का अन्तर है तथापि दृष्टिकोण की दृष्टि से मम्मट जगन्नाथ आदि का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। मम्मट के अनुसार पर्यायोक्ति में चमत्कार कारण कार्य भाव के वाच्य व्यंग्यत्व में न होकर उस भंगी अथवा कथन के ढंग में है जिसके द्वारा वाच्य का पथ छोड़कर व्यंग्य बात कही जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इन मतभेदों का संग्रह इस प्रकार किया है[9]

१ कविप्रिया, १२।२६
२ वही १२।२७-२८
३ वही, १२।२९
४ वही १२।३०
५ काणे नोटस आन साहित्यदर्पण पृ० २११
६ अलंकारसर्वस्व, पृ० १३५-१४१, तथा साहित्यदर्पण १०।६०
७ उद्भट ४।१२ मम्मट १०।११५
८ काणे नोटस आन साहित्यदर्पण, पृ० २१२
९ रसगंगाधर, पृ० ४५०

१ कारण मात्र से कार्य की गम्यमानता। कारण-कार्य प्रस्तुत होना चाहिए।

२ कार्य वाच्य से कारण की गम्यमानता। कारण-कार्य प्रस्तुत होने चाहिए।

३ कारण कार्य सम्बन्ध अनावश्यकीय किसी भी सम्बन्ध से एक वर्णन द्वारा दूसरी वस्तु व्यंग्य।

इस तीसरे रूप का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ध्वनि और इस स्थिति में अन्तर सिर्फ इतना ही है कि ध्वनि में व्यंग्य प्रधान होता है और सौन्दर्य व्यंग्यपरक होता है। जबकि पर्यायोक्ति में भंगी या कथन प्रकार में सौन्दर्य होता है तथा व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है। दण्डी ने पर्यायोक्ति का जो लक्षण प्रस्तुत किया है उससे भी यह स्पष्ट है कि वे भी इसे व्यापक अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। दण्डी का लक्षण इस प्रकार है

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते।[1]

उनके अनुसार जहां किसी अभीष्ट अर्थ को साक्षात्—वाच्यवाचकरूप—न कहकर प्रकारान्तर—भंग्यन्तर—से कहा जाए वहां पर्यायोक्ति होती है। कहना न होगा कि केशव का लक्षण[2] दण्डी के लक्षण की छाया लिए हुए है। साथ ही उनका उदाहरण भी दण्डी के उदाहरण के समान है।[3] फिर भी उनके लक्षण का भाव दण्डी से नहीं मिलता। वास्तव में केशव ने अमित पर्यायोक्ति समाहित सुसिद्ध प्रसिद्ध एवं विपरीत अलंकारों में कार्य सिद्धि को ध्यान में रखकर लक्षण निर्माण किया है।

युक्त

केशव ने युक्त अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है

जैसो जाको बुद्धि बल कहिए तैसे रूप।
तासों कविकुल कहत है युक्त बरनि बहुरूप।

इसके अनुसार जिसका जैसा बुद्धिबल और वैभव है उसी वैभव के अनुरूप उसका वर्णन जहां हो वहां युक्त अलंकार होता है। केशव ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया था—

मदन बदन लेत लाज को समाज देखि
जदपि जगत जन मोहिबे को है छमी।
कोटि कोटि चन्द्रमा समारि वारि वारि डारौं
जाके काज गजराज आज हू लौं सजभी।
केसोदास सविलास तेरे मुख की सुबास
सनियत सही सार आरसीन से रमी।

१ काव्यादर्श २।२९५
२ कविप्रिया १२।२६
३ कविप्रिया १२।३
४ वही १।३१

मित्र देव छिति दुग दण्ड दल कोश कुल
बन जाके ताके कहो कौन बात की कमी।[१]

लाला भगवानदीन की इसपर टिप्पणी है— गुण का वर्णन जैसा युक्त उचित है वैसा किया गया है। कमल का वर्णन भी उपयुक्त शब्दों से चमत्कारी किया गया है।[२]

भामह और दण्डी से लेकर विश्वनाथ और अप्पय तक के किसी भी आचार्य ने उक्त अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। संस्कृत के आचार्यों ने उदात्त नाम के एक अन्य अलंकार का उल्लेख अवश्य किया है जिसमें कवि प्रतिभाजन्य ऐश्वर्य-वर्णन का विधान होता है। केशव का युक्त उसी कोटि का है।

केशव के स्वभावोक्ति के लक्षण को देखने पर[३] तथा युक्त के लक्षण से मिलाने पर दिखाई देता है कि दोनों की पदावली में बहुत साम्य है। अतः दोनों के अन्तर तथा सीमाओं के समझने में उलझन खड़ी हो जाती है। केशव को चाहिए था कि वे ऐसे स्थलों पर गद्यवृत्ति द्वारा स्पष्टीकरण करते लेकिन ऐसा हुआ नहीं। बस 'कहिये लसत साज' और 'कहिये तन रूप' वाक्यांशों में अन्तर खोजा जा सकता है। फिर भी केशव के उदाहरण दोनों स्थानों पर उनके दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। कहना न होगा कि ऐसे स्थानों पर ठीक ठीक सीमा निर्धारण के लिए उदाहरणों की ही शरण लेना अपेक्षित है।

समाहित

केशव ने समाहित का लक्षण निम्न प्रकार दिया है

होइ न क्योंहूँ होति जहँ दैव जोग तें काज।
ताहि समाहित नाम यह बरनत कवि सिरताज।।[५]

इसके अनुसार जहाँ किसी प्रकार से न होता हुआ कार्य दैवयोग से सम्पन्न हो जाए वहाँ समाहित अलंकार होता है। भामह[६] और दण्डी दोनों ने इस अलंकार का यही स्वरूप बताया है तथा नाम भी यही दिया है। लेकिन रुय्यक मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे समाधि नाम दिया है।[८] उनके लक्षणों का भाव तो वही है जो दण्डी और भामह के लक्षणों का है। केवल उन्होंने दण्डी के दैवयोग के स्थान पर कारणान्तर शब्द रखा है। उन आचार्यों की व्याख्याओं से स्पष्ट है कि

१ कविप्रिया टीका ला० भग० १२।३२ २ वही
३ वही ६।८
४ भा० काव्यशास्त्र पृ २५७
५ कविप्रिया १३।१
६ भामह ३।१०
७ काव्यादर्श २।२९८
८ अलंकारसर्वस्व, पृ २२५, काव्यप्रकाश १०।१६२, सा० द० १०।८६

उन्होंने कारणान्तर से आकस्मिकता का तात्पर्य ग्रहण किया है। दण्डी के समान केशव ने भी दवयोग शब्द का प्रयोग किया है। यह कारणान्तर से भी अधिक व्यापक है। उसमें आकस्मिकता का तत्त्व भी समा जाता है। दण्डी के उदाहरण को मम्मट रुय्यक तथा विश्वनाथ ने अपनाया है।[1] केशव ने भी इसीके आधार पर अपना उदाहरण रचा है।[2] परवर्ती आचार्यों में समाहित के नाम से रसवत् की कोटि का एक अन्य अलंकार प्रचलित हुआ। इसे दण्डी भामह और केशव के समाहित से भिन्न समझना चाहिए।

सुसिद्ध प्रसिद्ध एवं विपरीत

केशव के समाहित में सिद्धि अपने मूल कारण से होती है किन्तु यदा-कदा दवयोग से किसी अन्य कारण से भी हो जाती है। समाहित में मूल दृष्टि कार्यसिद्धि पर है। दवयोग से कार्यसिद्धि हो तो समाहित होता है। लेकिन सिद्धि को ध्यान में रखकर और भी अलंकारों की स्थापना हो सकती है। इस प्रकार समाहित ने ही सुसिद्ध प्रसिद्ध और विपरीत अलंकारों की प्रेरणा दी प्रतीत होती है। सिद्धि के तीन आधारों पर तीन अलंकार बने—

१ साधन कोई और जुटाए और सिद्धि किसी और को मिले इसीको केशव ने सुसिद्ध अलंकार कहा है

साधि साधि और मर और भोग सिद्धि।
तासों कहत सुसिद्ध सब जिनके बुद्धि समृद्ध ॥[3]

२ साधन जुटानेवाला एक हो और उसका फल मिल अनेकों को, इसे केशव ने प्रसिद्ध अलंकार बताया है

साधन साधै एक भव भोग सिद्धि अनेक।
तासों कहत प्रसिद्ध सब केशव सहित विवेक ॥

३ कार्य साधक का जहां स्वयंकृत साधन भूत पदार्थ या व्यक्ति ही बाधक बन जाए उस नायक के लिए दूती यहां केशव ने विपरीत अलंकार माना है

कारज साधक को जहां साधन बाधक होइ।
तासों सब विपरीत कहि सहत सयाने लोइ ॥[5]

इन अलंकारों के उदाहरण स्पष्ट एवं समान्य हैं। संस्कृत के आचार्यों ने इन अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है। केशव का यह प्रयास मौलिक तो है लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि एक तो इनका अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव दिखाया जा सकता या दूसरे इनमें चमत्कार की भी मात्रा पर्याप्त नहीं है।

१ रुय्यक पृ० २०१ मम्मट पृ० ७१६ विश्वनाथ पृ० १।८६ वृत्ति।
कविप्रिया १३।
३ वही १३।४
४ वही १३।७
५ वही १३।६

रूपक

दण्डी ने रूपक का लक्षण "उपमैवेति तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते" दिया है। इसी तथ्य को आधार बनाकर केशव ने रूपक का लक्षण यह दिया है

उपमा ही के रूप सों मिल्यो बरनिए रूप।
ताही सों सब कहत हैं केशव रूपक रूप॥[1]

केशव के अनुसार उपमा के ही ढंग से जब उपमान और उपमेय का मिला हुआ अर्थात् अभेदात्मक वर्णन हो तो रूपक होता है। केशव के और दण्डी के लक्षणों में एक अन्तर स्पष्ट है—दण्डी भेद के तिरोधान की बात कहते हैं जबकि केशव स्पष्ट रूप से दोनों का अभेद मानते हैं। अप्पय और जयदेव ने तो अभेद तथा तद्रूप दोनों ही स्थितियों में रूपक माना है।[2] किन्तु इनका अभेद सीमित है। अध्यवसान को उसके (अभेद के) अन्तर्गत उन्होंने स्थान नहीं दिया है। कुवलयानन्द की विद्यानाथ की टीका में इसकी सीमा के निर्धारण के लिए उत्पत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे अध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति का विषय क्षेत्र अलग हो जाता है। लेकिन केशव ने व्यापक दृष्टिकोण रखा है। उन्होंने अभेद में संसर्ग को ही नहीं अध्यवसान को भी लिया है। यह बात उनके विरुद्ध रूपक के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। प्रतीत होता है कि केशव रूपकातिशयोक्ति को अतिशयोक्ति के भीतर न रखकर रूपक के साथ रखते हैं और इसीके अनुरूप मिल्यो बरनिए रूप कहकर अपने लक्षण को अभेदमात्र तक व्यापक रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने दण्डी के लक्षण को अपनाकर अपने अनुकूल ढाल लिया है। केशव के रूपक के दो उपभेदों के नाम भी दण्डी के ही हैं। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रूपक के भेदों में केशव का दृष्टिकोण दण्डी का अन्धानुगामी न होकर स्वतन्त्र है।

दण्डी ने रूपक के १७ भेद बताए हैं। ये भेद किसी निश्चित आधार पर न बताए जाकर विभिन्न स्थितियों में रूपक का प्रदर्शन मात्र ही हैं।[5] वे १७ भेद ये हैं—समस्त व्यस्त, सकल अवयव एकांग—युक्तायुक्त विषम सविशेषण विरुद्ध हेतु रूप श्लिष्ट उपमारूपक व्यतिरेक रूपक आक्षेप रूपक समाधान रूपक सम्यक रूपक तथा अपह्नुति रूपक। इन १७ भेदों में से समस्त और व्यस्त तो हिन्दी के काम के नहीं थे। क्योंकि इनका आधार समास था। अवयव और अवयवी को भी परवर्ती आचार्यों ने मान्यता नहीं दी थी। अवयवी को छोड़कर अवयव का रूपण या अवयव को छोड़कर अवयवी का रूपण इनका आधार था। अतः इन्हें रूपक के सावयव और निरवयव तथा विश्वनाथ के सांग और निरंग से भिन्न कोटि का समझना चाहिए।

1 काव्यादर्श २।६६
2 कविप्रिया ९।१२
3 कुवलयानन्द, पृ० १७
4 वही पृ० १५
5 काव्यादर्श २।६६

अंगी के आरोप और अंग के वैकल्पिक आरोप में होनेवाला विषय रूपक भी इसी कोटि का है। एसे ही एकांग और द्वयंग हैं। हेतु रूपक में भी हेतु बताना, समाधान रूपक में समाधान करना, शिलष्ट में श्लेष, उपमा, व्यतिरेक, आक्षेप अपह्नुति रूपकों में इन इन अलंकारों के जैसा काम होना कोई रूपक का व्यवस्थित भेदीकरण नहीं है। अतः केशव ने इन सबको छोड़कर केवल शेष रहे विरुद्ध रूपक तथा रूपक रूपक को ही अपनाया। रूपक का तीसरा भेद अद्भुत रूपक केशव की निजी कल्पना है। यह बात नहीं है कि दण्डी ही रूपक के भेदीकरण के इस प्रपंच में फँसे हों, परवर्ती आचार्य भी इससे मुक्त दिखाई नहीं देते। भामह ने तो समस्त वस्तु विषय और एकदेशविवर्ति तथा उद्भट ने समस्त एकदेश मालाओं में केवल चार ही भेद किए। मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ आदि में यह परम्परा पनपती हुई दिखाई देती है। उन्होंने सांग निरंग और परम्परित—तीन मुख्य भेद बताने के बाद अनेक उपभेद भी बताए।[1] अभेद और ताद्रूप्य के आधार पर दो भेद आधिक्य और न्यूनत्व तथा अनुभयत्व के आधार पर भी अप्पय आदि ने भेद दिखाए हैं। किन्तु अप्पय ने स्वयं इन्हें प्रपंच कहा है।[2] केशव की दृष्टि में भी ये प्रपंच समझने चाहिए। अब हम केशव के तीनों रूपकों की ओर आते हैं।

अद्भुत रूपक

जहाँ आरोप के साथ उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ आधिक्य दिखाई दे[3] ऐसी स्थितियों में आचार्य विश्वनाथ ने रूपक के एक भेद अधिकारूढवैशिष्ट्य की स्थिति स्वीकार की है। वास्तव में यह स्थिति व्यतिरेक का क्षेत्र है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए विश्वनाथ ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसको व्यतिरेक की स्थिति कहा जा सकता है। प्रो० काणे ने इसे दिखाया भी है।[4] किन्तु उपमान और उपमेय के गुणों की घट-बढ़ पर ध्यान न देकर यदि उनके अभेद या आरोप पर ध्यान दिया जाए तो वहाँ रूपक की स्थिति ठहरती है। इसी आधार पर आचार्य जगन्नाथ ऐसी स्थितियों में रूपक कहना ही समीचीन ठहराते हैं।[5] केशव ने इसी आधार पर इसे स्वीकार किया है। लेकिन इसका नाम अद्भुत दिया है

सदा एकरस बरनिए और न जाहि समान।
अद्भुत रूपक कहत हैं तासों बुद्धि निधान॥[6]

अभेद को आधार बनाकर उपमेय की अनन्य सामान्य दिखाना ही केशव के

१ नोटस आन साहित्यदर्पण पृ० ११८
२ कुवलयानन्द पृ० २६
३ सा० द० १०।३४
४ नोटस आन साहित्यदर्पण पृ० १२२
५ रसगंगाधर पृ० ४४३६
६ कविप्रिया १३।१५

अनुसार अद्भुत रूपक है। इसके लिए केशव द्वारा चुना गया उदाहरण अपने पूर्वार्द्ध में दण्डी द्वारा निरूपित श्लिष्ट रूपक से प्रेरित लगता है। लेकिन केशव ने रूपक के भेदों के लिए दण्डी को आधार नहीं बनाया है। इसीलिए दण्डी के श्लिष्ट तथा केशव के अद्भुत को पूर्णतः भिन्न मानना चाहिए।

विरुद्ध रूपक

दण्डी ने अपने विरुद्ध रूपक का आधार विरोधी तत्त्व रखा है। उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसका भाव है 'तुम्हारा मुखचन्द्र न कमलों को मलिन करता है, न आकाश में स्थित है वह तो मेरे प्राणों का हरण करने में ही समर्थ है।' उनके अनुसार इस उदाहरण में आरोपित चन्द्र उचित कार्यों को न करके विरुद्ध कार्यों को करता हुआ दिखाया गया है। इसी कारण यहाँ विरुद्ध रूपक की स्थिति है। केशव का विरुद्ध रूपक दण्डी के विरुद्ध रूपक से भिन्न है। केशव ने भी अपने विरुद्ध रूपक का आधार रूप ही विरोधी तत्त्व चुना है। आधार तत्त्व के एक होने पर भी केशव का भेद दण्डी के भेद का व्यापक रूप प्रतीत होता है। कारण यह है कि केशव का विरोध दण्डी के विरोध के समान क्षीण रंग वाला नहीं है बल्कि रूपक के क्षेत्र में पाया जाने वाला सर्वाधिक विरोधी तत्त्व अध्यवसानमूलक है। अध्यवसानमूलक रूप अतिशयोक्ति का दण्डी ने उल्लेख नहीं किया है। लेकिन परवर्तियों ने इसे अपनाया है। केशव ने उस मान्यता को दी है लेकिन अतिशयोक्ति के भीतर रखकर नहीं रूपक के भीतर। आधार विरोधी तत्त्व ही हैं किन्तु दण्डी के समान उपमान के गुण या क्रियाओं में विरोध नहीं। अपितु आपातत प्रतीत होनेवाले अर्थ में।[1] केशव ने अध्यवसान के विरोध को ध्यान में रखा है। उन्होंने विरुद्ध रूपक का लक्षण इस प्रकार किया है

> जहं कहिए अनमिल कछू सुमिल सकल विधि अर्थ।
> सो विरुद्ध रूपक कहै केसव बुद्धिसमर्थ॥[2]

इस लक्षण के अनुसार केशव का विरुद्ध रूपक वहाँ होता है जहाँ आपाततः अर्थ अनमेल दिखाई पड़े किन्तु परिणामतः अध्यवसित उपमानों का निदान लेने पर अर्थसंगति सुमिल हो जाए। चमत्कार विरोधी तत्त्व में है जोकि इस अलंकार का प्रमुख तत्त्व है।

रूपक रूपक

काव्यादर्श में दण्डी ने इस अलंकार का उदाहरण यह दिया है

> मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भ्रूलता नर्तकी तव।
> लीलानृत्तं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम्॥[3]

१ काव्यादर्श २।८८-८४
कविप्रिया १३।२७
३ काव्यादर्श २।६६

अर्थात् हे सुन्दरि तुम्हारे मुखकमल रूपी रंग-स्थल में भ्रूलता रूपी लीला नृत्य कर रही है। यहां सर्वप्रथम मुख में कमल का आरोप है तत्पश्चात् रंगस्थल का। भ्रू में पहले लता का, फिर भ्रूलता में नर्तकी का आरोप होने के कारण रूपक रूपक अलंकार कहा गया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि दण्डी ने यहां आरोप पर आरोप को ही प्रमुख तत्त्व माना है। आरोप की इस परम्परा को ध्यान में रखकर ही परवर्ती आचार्यों ने इसे परम्परित नाम दिया है।[1] ऐसा करने में परवर्ती आचार्यों का दृष्टिकोण संगत प्रतीत होता है। दण्डी के आरोप में मुख में कमल और भ्रू में लता के आरोप को व्यर्थ कहकर छोड़ा जा सकता है। [नि]या दोष भी कहा जा सकता है जबकि परवर्तियों के परम्परित में यह त्रुटि नहीं रह गई है। केशव का लक्षण इस प्रकार है

रूपभाव जहं बरनिए कौनिहु बुद्धि विवेक।
रूपक रूपक कहत कवि केसवदास अनेक॥[2]

इसके अनुसार जिस रूपक में रूप भाव का वर्णन हो वहां रूपक रूपक अलंकार होता है। केशव के रूपभाव शब्द का तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाए। अथवा उपमान द्वारा उपमेय को अपने रूप का करना।[3] संस्कृत आचार्यों ने रूप शब्द का प्रयोग पारिभाषिक शब्द के रूप में किया है।[4] केशव का सामान्य लक्षण भी इसी रूप शब्द से बना है।[5] रूपक रूपक का जो उदाहरण दण्डी ने प्रस्तुत किया है केशव ने भी उसीके आधार पर अपना उदाहरण बनाया है।[6] दण्डी ने आंखों में ब्रह्माण्ड का आरोप किया है केशव ने भी वैसा ही किया है। निमित्तभूत रूपक भी जुटाए गए हैं। अश्लिष्ट निबन्धन परम्परित की भी लगभग यही प्रक्रिया है। केशवदास का उदाहरण दण्डी से अधिक संगत तथा सांग है। डा० प्रो० अरुण का आरोप परम्परा स्पष्ट नहीं हो सकी इसलिए उन्होंने केशव के रूपक को सदोष बताया है।

दीपक

दण्डी ने दीपक अलंकार की स्थिति वहां मानी है जहां जाति क्रिया गुण अथवा द्रव्यवाची एक ही स्थान पर स्थित शब्द के द्वारा समस्त वाक्य का उपकार हो रहा है

१ एकावली पृ २१५ अलंकारसर्वस्व, जयरथ पृ ४५
२ कविप्रिया १३।१६
३ अलंकारसर्वस्व पृ० ३५ एकावली पृ २१२ काव्य के ना म भान सा० २० पृ ११४
४ साहित्यदर्पण १।२८
५ कविप्रिया १३।१
६ वही १३।२०
७ साहित्यदर्पण १।२१ की वृत्ति
८ केशव एक अध्ययन पृ ५

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्तिना
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तदाहुर्दीपकं यथा ॥[1]

केशव ने दीपक के लिए आधार तो दण्डी का ही लिया है लेकिन संस्कृत के परवर्ती आचार्यों के विवेचन को हृदयंगम करते हुए उसके स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन कर लिया है। केशव के दीपक का लक्षण इस प्रकार है

वाच्य क्रिया गुण द्रव्य बहु बरनहिं करि इक ठौर।
दीपक दीपति कहत है केसव कवि सिरमौर ॥[2]

इस लक्षण में केशव के अनुसार क्रिया, गुण, द्रव्य के पद में किसी एक स्थान पर वाक्यरूप में वर्णित होने से दीपक की दीप्ति होती है। केशव ने दण्डी के जाति शब्द को छोड़ दिया है। उन्होंने तो द्रव्य शब्द से ही जाति और द्रव्य दोनों का ही अर्थ ग्रहण कर लिया है। स्वयं दण्डी के उदाहरण में स्पष्ट है कि उन्होंने पवन कलापी पुष्पधन्वा को जातिवाचक तथा विष्णु को द्रव्यवाचक शब्द कहा है। केशव में दण्डी के इस दृष्टिकोण के समावेश न होने का कारण यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में वैयाकरणिक आधार पर यह सूक्ष्म और पारिभाषिक भेद रह नहीं गए हैं। केशव का द्रव्य शब्द दण्डी की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इकठौर शब्द एकत्रवर्ती की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। लेकिन दण्डी ने सर्ववाक्योपकार शब्द का जो प्रयोग किया है वह केशव के लक्षण में नहीं आ पाया है। इस अलंकार का नाम भी उसके स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ है। दीपक अलंकार वाक्य में एक स्थान में प्रतिष्ठित होकर सब वाक्यगत कारकों या क्रियाओं को उसी प्रकार प्रकाशित करता है जिस प्रकार घर में रखा हुआ दीपक घर की सब वस्तुओं को।[3] इतने बड़े भाव को केशव ने दो शब्दों—दीपक दीपति—से ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है। जबकि इसको स्पष्ट करने के लिए लम्बे विवेचन की आवश्यकता थी। फिर भी उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव के लक्षण का उद्देश्य भी वही रहा है जो दण्डी के लक्षण का था। लाला भगवानदीनजी ने इस लक्षण का अर्थ कुछ अन्य ही किया है तथा तदनुसार ही उदाहरण की संगति भी बिठाई है।[4] लेकिन सम्भव है यह दण्डी के लक्षण पर ध्यान न देने के कारण हुआ हो। इतना ही नहीं लाला भगवानदीन के अर्थ को पकड़कर ही न कि मूल को देखकर समीक्षक महोदय भी केशव के लक्षण पर अपनी आलोचना लिख देते हैं।[5]

दीपक के भेद

दीपक के भेदों के वर्णन के लिए भामह का आधार निम्न है

1 काव्यादर्श २।९७
2 कविप्रिया ५।२१
3 अलंकारसर्वस्व पृ० ६१ एकावली, पृ० २४२, रसगंगा, पृ० ३०२
4 कविप्रिया ११।२१
5 केशव एक अध्ययन पृ० ५१

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकं विद्यते।[1]

यही आधार उद्भट ने भी स्वीकार किया है।[2] दण्डी के अनुसार जाति क्रिया गुण और द्रव्यगत दीपक लेकर अनेक वाचक पदों की पद्य की आदि मध्य और अन्त में स्थिति के आधार पर भेदीकरण किया जा सकता है।[3] लेकिन रसगगाधरकार इस आधार को बहुत उचित नहीं मानते क्योंकि इस प्रकार तो अनेक भेद बन सकते हैं।[4] यही समझकर केशव ने भी इन्हें छोड दिया है। उपर्युक्त प्रकार के भेदों के अतिरिक्त दण्डी ने माला विरुद्ध एकार्थ तथा श्लिष्ट चार भेद और बताए हैं। इन चार में से भी विरुद्ध और श्लिष्ट को तो केवल चमत्कारों के आधार पर अलग अलग भेद बताया गया है। ये परवर्तियों की दृष्टि में सकर और ससृष्टि की कोटि में रखे जा सकते हैं। फलत केशव ने उन्हें भी ग्रहण नहीं किया। अब शेष दो भेद मालादीपक और एकार्थदीपक रह जाते हैं। दण्डी ने जिसे एकार्थ कहा है उसीको परवर्ती आचार्यों ने क्रियादीपक कहा है। दण्डी के इस भेद में अनेक क्रियाएं नहीं हैं बल्कि एक ही क्रिया अनेक समानार्थक शब्दों के माध्यम से प्रतिवस्तूपमा के ढग से दिखाई गई है।[5] यह रूप में परवर्तियों को मान्य नहीं हुआ। फलत केशव ने इसे भी छोड दिया। किन्तु इस वर्ग के अनेक लोगों में एक मध्यस्थ पद का अनेकत्र स्थित शब्दों से क्रियाओं के साथ एक कारकवाला रूप कारक दीपक के नाम से प्रवृत्त बना।[6] इस भेद के विषय में भी दो प्रकार की आपत्तियां उठीं। उनमें एक तो यह है कि इसका लक्षण अलग करना आवश्यक है। यह सामान्य लक्षण से ही गतार्थ है। एकत्रवर्ती पद चाहे कारक हो या क्रिया दीपक काम से दीपक है। इस आपत्ति के उठानेवालों ने भेद ही इसके पृथक् लक्षण न करने का आग्रह किया किन्तु उस मान्यता तो दी ही। केशव ने भी इस मान्यता दी। उन्होंने न तो अलग लक्षण दिया न नाम ही लिया। फिर भी उनके उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि केशव इस भेद को स्वीकार करते हैं। दूसरा आपत्ति के अनुसार कारक दीपक को दीपक ही नहीं कहा जा सकता। कुछ आचार्यों के द्वारा दीपक में सादृश्य गम्य होना चाहिए। जहां ऐसा नहीं होता वह दीपक की स्थिति नहीं होती।[7] किन्तु इस आपत्ति को उठाते हुए भी वे एकत्रस्थ पद का अनेकत्र स्थित शब्दों से सम्बन्ध होने के कारण कारक दीपक को दीपक कहते रहे हैं।

दण्डी का एक भेद मालादीपक ही केशव के समक्ष रह जाता है। केशव ने इसे अपनाया है। इस भेद की स्थिति के विषय में भी सभी आचार्य एकमत नहीं है।[8]

1 भामह २।२५
उद्भट १।३
3 काव्यादर्श २।९७ १
४ रसगगाधर पृ ३ ७
५ काव्यादर्श ।११। ११
६ काव्यप्रकाश १।५६ सा० द १।८१ व्यक पृ० ९ कुवलया ११७
७ रसगगाधर पृ ३ ४
८ दण्डी पृ ३२२ तथा काव्या पृ २६२ रसगगाधर पृ० ५

कुछ इसे एक अलग अलंकार मानते हैं, तो कुछ दीपक का एक भेद। मम्मट ने इसे दीपक का एक भेद माना है। वहीं उसका विवेचन किया है। रुय्यक और विश्वनाथ इसे अलग अलंकार मानते हैं और दीपक के साथ इसका विवेचन न करके कारणमाला तथा एकावली के प्रसंगों में इसकी चर्चा करते हैं। मम्मट की दृष्टि दीपक धर्म पर है रुय्यक विश्वनाथ की औपम्य पर।[1] जगन्नाथ ने इसे एकावली का भेद माना है।[2] उन्होंने प्राचीन आचार्यों के प्रति श्रद्धामात्र के कारण इसका विवेचन इसी नाम में किया है। केशव ने इन दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय की चेष्टा की है। उन्होंने जहाँ मम्मट आदि के अनुसार मालादीपक को दीपक के भेद माना है वहाँ उसके उदाहरण के लिए एकावली का उदाहरण प्रस्तुत किया है। मालादीपक के विषय में जयदेव की यह मान्यता सामने आ चुकी थी कि दीपक और एकावली के मिश्रण से मालादीपक अलंकार बनता है।

दीपकैकावलीयोगात् मालादीपकमुच्यते।[3]

हम देख चुके हैं कि केशव एकावली को प्रथम अलंकार नहीं मानते। उनका मत ही एकावली है। भेद सिर्फ नाम का है। अतः मालादीपक के परिचय के लिए एकावली के स्वरूप का परिचय भी आवश्यक है। दीपक का स्वरूप तो ऊपर बताया ही जा चुका है अब मालादीपक का लक्षण करने के बाद पद्य सं० २८ के द्वारा केशव ने एकावली के स्वरूप का परिचय दिया है। तत्पश्चात् १६वें पद्य द्वारा मालादीपक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस एकावली के उदाहरण को इस प्रसंग में उदाहृत करने का दुहरा लाभ था। एक तो दीपक एकावली के योग से मालादीपक का स्वरूप समझाना और दूसरे मालादीपक का एकावली के अंग में माननेवालों के दृष्टिकोण को सामने रखना। और इस अलंकार को दीपक के ही प्रभेद के रूप में दिखाना।

केशव के अनुसार यों तो दीपक के अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु वे उसके दो ही भेद करना उपयुक्त समझते हैं—मणिदीपक और मालादीपक। कहना न होगा कि मणिदीपक नाम की प्रेरणा मालादीपक नाम से मिली होगी। अनेक मणियों की गुम्फित अवलि को माला कहने पर एकाकी रत्न के लिए मणि कहना उचित ही है। इसी आधार पर केशव ने मालेतर दीपक को मणिदीपक कह दिया जो उनका अपना है।

केशव ने अपने उदाहरणों के लिए कुछ सामग्री दण्डी से भी ली है। उदाहरण के लिए केशव के मणिदीपक का उदाहरण दण्डी के जातिदीपक के आधार पर बना है।[4] लेकिन इससे यह तात्पर्य लगाना भूल होगी कि दण्डी का जातिदीपक और केशव का मणिदीपक एक ही हैं। केशव ने सिर्फ सामग्री ही ली है स्वरूप अवश्य भिन्न बनाए

१ अलंकारसर्वस्व, पृ० १७६
२ रसगंगाधर पृ० ३२८
३ चन्द्रालोक कुवलयानन्द, मालादीपक
४ कविप्रिया १३।२२-२४
५ काव्यादर्श २।९८

रखा है। उनके मणिदीपक में दण्डी के अन्य सभी भेद समाते हैं। मणिदीपक के दो उदाहरणों में क्रियादीपक तथा कारकदीपक के स्वरूप स्पष्ट हैं।

प्रहेलिका

प्रहेलिका अलंकार का लक्षण केशव ने यह दिया है

> बरनिय वस्तु दुराय जहं कौनहुँ एक प्रकार।
> तासों कहत प्रहेलिका कविकुल बुद्धि उदार॥[1]

जहां किसी प्रकार छिपाकर बात कही जाए वहां प्रहेलिका अलंकार होता है। इस अलंकार को प्राचीन समय में मान्यता मिलती रही।[2] लेकिन अलंकारवादियों का जोर कम हो जाने पर तथा रसवाद की प्रतिष्ठा हो जाने पर इसका महत्त्व कम हो गया। वैसे यह महत्त्वपूर्ण अलंकार कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। स्वयं आचार्य दण्डी ने इसे क्रीड़ा गोष्ठी विनोदों में दूसरों को चक्कर में डालने या बात को गुप्त रखने के लिए इसके प्रयोग की बात कही है।[3] इसीसे दण्डी का इसके प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। यह गोष्ठियों का अलंकार है। दण्डी ने इसके अनेकानेक भेदों का उल्लेख किया है। किन्तु विश्वनाथ ने तो स्पष्टतः कहा है कि प्रहेलिका कोई अलंकार ही नहीं है।[4] दण्डी के प्रभाव तथा दरबार से सम्बन्धित होने के कारण केशव ने इस अलंकार की स्थिति स्वीकार की है लेकिन उसके भेदादि का वर्णन उन्होंने नहीं किया।

परिवृत्त

दण्डी ने अर्थों के विनिमय को परिवृत्त कहा है।[5] इसे स्पष्ट करने को उन्होंने जो उदाहरण दिया है उसका भाव है कि हे राजन् तुम्हारे बाहु ने प्रहार देकर शत्रुओं के अर्जित यश का हरण कर लिया है। इस उदाहरण से विनिमय का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। भामह ने विनिमय जैसी किसी बात की चर्चा नहीं की है। उन्होंने इस अलंकार की स्थिति वहां मानी है जहां एक वस्तु का त्याग करके दूसरी वस्तु का ग्रहण किया जाए। साथ ही वे उसमें अर्थान्तरन्यास का पुट भी चाहते हैं लेकिन उनका उदाहरण उनके लक्षण को स्पष्ट नहीं करता। कारण इस दृष्टि से उनमें और दण्डी में कोई अन्तर नहीं है।

विनिमय और आदान प्रदान में मोटा भेद यह है कि एक के लिए किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा होती है जबकि दूसरे के लिए नहीं। विनिमय और आदान प्रदान

१ कविप्रिया १३।३०
२ नाट्य शास्त्र ■, काव्य १ २३
३ काव्यादर्श ३।९७
४ व १३।१०६
५ सा द १।१६
६ काव्यादर्श २।३५१
७ काव्यप्रकाश २।३५६
८ काव्यालंकार ३।४१ ४२

में इसी भेद के कारण परवर्ती आचार्यों में मतभेद उठ खड़ा हुआ। उन्हें हम विनिमय-वादी तथा ग्रहण-त्यागवादी नाम दे सकते हैं। प्रथम वर्ग में दण्डी, मम्मट और जगन्नाथ[1] तथा द्वितीय में रुय्यक और वामन[2] आते हैं। यद्यपि रुय्यक ने भी विनिमय शब्द का प्रयोग किया है लेकिन उससे ग्रहण-त्याग मात्र का ही अर्थ निकलता है।[3]

परवर्ती आचार्यों ने इसके तीन प्रकार दिखाए हैं—१ समस्त वस्तु के प्रदान से सम का आदान। २—अधिक के त्याग से न्यून का आदान। ३—न्यून के त्याग से अधिक का आदान।

केशव का परिवृत्त कुछ नवीनता लिए हुए है। उन्होंने इसके निरूपण में दो प्रकार के प्रयत्न किए हैं। (१) नूतन स्वरूप विधान तथा (२) परम्परागत स्वरूप में आस्था। उनका तर्क न्याय्य यह रहा है कि परिवृत्त शब्द का अर्थ परिवर्तन होता है जैसाकि वामन ने किया भी है। केशव का लक्षण यह है

और कछु कीजे जहाँ उपजि परे कछु और।
तासों परिवृत कहत हैं केसव कवि सिरमौर॥[4]

जहाँ एक कार्य के करने पर दूसरा कार्य हो पड़े वहाँ परिवृत्त अलंकार होता है। उनके उदाहरण इस लक्षण से सामंजस्य रखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि केशव के परिवृत्त का स्वरूप हिन्दी का शास्त्र की अपनी वस्तु होता यदि हिन्दी की काव्यशास्त्र-परम्परा संस्कृत की इसी परम्परा का विकसित रूप न होती। केशव का दृष्टिकोण मान्य नहीं हुआ तो छोड़िए। किन्तु यहाँ यह अवश्य देख लीजिए कि केशव ने अपने उदाहरण देने के अनन्तर संस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य स्वरूप का कैसा सुन्दर निदर्शन कराया है। एक उदाहरण देखिए—

हाथ गह्यो ब्रजनाथ सुभायहि छूटि गई पर धीरजताई।
पान भखे मुख नैन रची रुचि आरसी देखि कह्यो यह ठाई।
परिरम्भन मोहन सों मनमोहि दियो सजनी सुखदाई।
लाल गपाल कपोल नखच्छत तेरे दिये सु महा छबि पाई॥[5]

कृष्ण ने हाथ ग्रहण किया और अपना धैर्य त्याग दिया। इसमें रुय्यक-परम्परा की न्यून के आदान पर उत्तम के त्यागवाली परिवृत्ति है। द्वितीय पंक्ति में असंगति गर्भित है, जिसका प्रस्तुत में कोई प्रसंग नहीं। तीसरी पंक्ति में मम्मटीय परम्परा का सम्प्रदान से सम के विनिमय का परिवृत्त है। और चतुर्थ पंक्ति में लालगुपाल नखक्षत देते हैं और महाछवि नायिका को पाते हैं। इसमें भी मम्मटीय परम्परा की न्यूनदान से उत्तम की प्राप्ति वाली परिवृत्ति है।

१ काव्यप्रकाश १०।१७२, प्रदीप काव्यप्र०, पृ० ६७५ रसगंगाधर, पृ० ४८१
२ काव्यालंकारसूत्र ४।३।१६ रसगंगाधर, पृ० ४८०
३ अलंकारसर्वस्व पृ० १६१ ६२
४ कविप्रिया १३।३१
५ वही १३।४१

यमक

केशव ने यमक का निरूपण भी दण्डी के आधार पर प्रस्तुत किया है। प्रक्रिया भी वही है। दण्डी ने अव्यपेत तथा व्यपेत दो भागों में यमकों को बाटा है। जो यमक पद बिना अंतर के होते हैं अव्यपेत कहलाते हैं। सान्तर यमक व्यपेत कहे जाते हैं।[1] इनकी स्थिति पद्य के एक दो तीन चारों पदों में हो सकती है। प्रत्येक पाद के आदि मध्य अन्त मध्यान्त मध्यादि आद्यन्त रूप में अनेक प्रकार हो सकती है।[2] सरलता तथा कठिनता की दृष्टि से यमक सुकर एवं दुष्कर दो प्रकार के हो सकते हैं।[3] केशव ने इन्हें सुखकर तथा दुखकर नाम दिए हैं। दण्डी ने यमकों के अनेक प्रकार दिखाए हैं दुष्कर यमकों के भी उन्होंने अनेक उदाहरण एवं प्रकार प्रस्तुत किए हैं। केशव उतने भेद प्रभेदों तक नहीं गए। उन्होंने निम्न यमकों का परिचय दिया है

अव्यपेत—निरन्तर यमक—आदिपद दूसरे चरण का तीसरे चरण का चतुर्थ चरण का आद्यन्त यमक त्रिपादयमक के ४ प्रकार द्विपादयमक पादानुपादादियमक द्विपादान्त यमक उत्तरार्ध यमक चतुष्पादादि यमक।

सव्यपेत—सान्तर यमक—द्विपदादि आद्यन्त चतुष्पादादि दोनों कई प्रकार से इनके अतिरिक्त कई प्रकार के आवृत्तिमूलक यमकों का निरूपण है।

इन सभी भेदों का निरूपण दण्डी में मिलता है। दण्डी ने उनके विशिष्ट नाम भी यत्र-तत्र दिए हैं केशव ने उनके स्वरूप को सीधे सीधे बताते हुए उनका परिचय दिया है। ११ उदाहरण दुष्कर यमकों के प्रस्तुत किए गए हैं। निस्सन्देह इनमें प्रसाद गुण का स्पर्श भी नहीं है। दण्डी के समान अधिक भेद इसके केशव ने नहीं दिखाए। उदाहरणों में यत्र-तत्र दण्डी की छाया है। उदाहरणों के निर्माण में केशव की कला के दर्शन होते हैं।

निष्कर्ष

अब तक हमने केशव के विशिष्ट अलंकारों के ऊपर विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टिपात किया है। हमने देखा है कि केशव का अलंकार विवेचन पर्याप्त प्रौढ़ है एवं उसकी पृष्ठभूमि में उनका व्यापक अध्ययन निहित है।

केशव ने प्रमुखतया दण्डी को ही आधार बनाया है। उनके ४ अलंकारों में से निम्न २१ अलंकारों के तो दण्डी ही आधार हैं

१ काव्यादर्श दण्डी, परि ३।१ २ ३ १६ तुलना कीजिए कविप्रिया १५।६५
२ वही ३।२ }—कविप्रिया, १५ तु
३ वही ३।३ }—कविप्रिया १५।१ तु
४ अव्यपेत सव्यपेत पुनि यमक बरनि दुहु देन। कविप्रिया १५।६८
सुखकर दुखकर भेद द्वै सुमकर बरने आनि।"

विभावना हेतु विशेष आक्षेप, भाविक प्रेमा श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना ऊर्ज व्यतिरेक, अपह्नुति सहोक्ति रसवत् समाहित, रूपक प्रहेलिका उपमा यमक।

स्वभावोक्ति एवं विरोध भी दण्डी के आधार पर इस दृष्टि से कहे जा सकते हैं कि वे समस्त आचार्य-परम्परा के अनुरूप हैं।

इनमें विशेष प्रेमा और ऊर्ज तथा समाहित चार अलंकार तो दण्डी के उद्धरणीमात्र हैं। इन अलंकारों का स्वरूप इन्हीं नामों से परवर्ती साहित्य में बिल्कुल बदला हुआ है। किन्तु इनमें केशव ने दण्डी का ही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केशव ने दण्डी का अन्धानुकरण किया है। उन्होंने विविध अलंकारों के भेदों को तथा उनके स्वरूपों को अपनाते समय किस प्रकार परवर्ती अध्ययन की उपलब्धियों को सामने रखा है यह हम हेतु आक्षेप श्लेष व्यतिरेक रूपक उपमा आदि के केशव तथा दण्डी के भेदों को सामने रखकर देख चुके हैं। रूपक के भेदों में उन्होंने दण्डी के दो नाम अपनाकर भी निजी दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने दण्डी से स्वतन्त्र रहकर भी अनेक भेदों एवं नामों की सृष्टि की है अनेकत्र दण्डी के नामों की चेतनाओं में परिवर्तन किए हैं। हम देख चुके हैं कि इन परिवर्तनों में केशव का समझा-बूझा दृष्टिकोण है। विशेषोक्ति एवं व्यधिकरणोक्तियों में परवर्ती उपलब्धियों के कारण ही केशव दण्डी के साथ नहीं रहे।

दण्डी के अतिरिक्त केशव अन्य आचार्यों की ओर भी खुली दृष्टि रखते हैं। वक्रोक्ति में उन्होंने वक्रोक्ति के आचार्य कुन्तक की प्रेरणा ली है। भाविक में भामह की व्यापकता समाविष्ट की है। विश्वनाथ के अधिकारूढ-वैशिष्ट्य रूपक को अद्भुत नाम से ग्रहण किया है।

केशव ने अपने अलंकार विवेचन में पर्याप्त स्वतन्त्र दृष्टि से काम लिया है। उनके निरूपण में कई प्रकार की मौलिकताएँ दिखाई पड़ती हैं। यद्यपि उन सभी मौलिकताओं का मूल्य एक-सा नहीं है। हम उनकी स्वतन्त्र दृष्टियों को इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं

(१) कुछ छोटे छोटे अलंकारों की सृष्टि।
केशव ने अमित युक्त सुसिद्ध प्रसिद्ध विपरीत अलंकारों की साध्यसिद्धि को ध्यान में रखकर रूपरेखाएँ बाँधी हैं।

(२) कुछ प्रमुख अलंकारों के नूतन भेदों की सृष्टि।
केशव ने अपने निजी दृष्टिकोण से तथा अन्य आचार्यों के विवेचनों से प्रेरणा लेकर व्यवस्था की दृष्टि से कई अलंकारों में नये भेद किए हैं। अभाव हेतु अयुक्तायुक्त अर्थान्तरन्यास-व्यतिरेक भेद विपरीतोपमा संकीर्णोपमा आदि देखे जा सकते हैं।

(३) कुछ प्राचीन नामों को मान्यता की दृष्टि से नये रूप देने का प्रयास किया गया है।
उदाहरणस्वरूप धर्माक्षेप तथा अर्थान्तरन्यास लिए जा सकते हैं। परिवृत्त में भी यही दृष्टि अपनाई गई है।

(४) कुछ अलकारों के विषय में समस्त संस्कृत साहित्यशास्त्र में सर्वथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाया गया है। जैसे पर्यायान्तरन्यास पर्यायोक्ति तथा परिवृत्त इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। जैसे तथा अर्थान्तरन्यास में केशव का यह प्रयोग सर्वथा अशास्त्रीय हो जाता है। संस्कृत की परम्परा में काव्यशास्त्र का स्मरण होने के बाद केशव के इस प्रकार के दृष्टिकोण नये अपनाए जा सकते।

(५) प्र[चलित] नामों में परिवर्तन।

केशव ने [दण्डी] की व्याख्या करते हुए उनके विशेषोक्ति प्रेयस ऊर्जस्वी समाहित का निरूपण किया है। इनके रूप परवर्ती युग में परिवर्तित हो चुके हैं। केशव ने दण्डी की विशेषोक्ति को विशेष तथा [ऊर्जस्वी] को प्रमाण नाम देकर बनाए रखना चाहा है।

इसी प्रकार की छोटी मोटी निजी मान्यताओं के कारण केशव का यह विवेचन किसी भी आचार्य या परम्परा का अन्धानुकरण नहीं रह गया है।

केशव यत्र तत्र विवेच्य विषय पर विविध वैकल्पिक मान्यताएं भी प्रस्तुत करते हैं। रसवदलकार के निरूपण में ऐसा ही किया गया है। परिवृत्ति के विषय में निजी स्वतन्त्र दृष्टिकोण के साथ आचार्य परम्परा से भी परिचित कराया गया है। वे विवेच्य अलकारों का निरूपण ही नहीं करते उनकी परस्पर टकराती रेखाओं पर भी यत्र-तत्र दृष्टि डालते देखे जाते हैं। इस दृष्टि से विरोधाभास का विवेचन उल्लेखनीय है। विरोध के प्रसग में विभावना का उदाहरण मालादीपक में एकावली का उपस्थापन परिवृत्ति में लक्षण उदाहरण से भिन्न आचार्य सम्मत दो उदाहरण तथा रसवदलकार में विभिन्न स्तरों के रखे हुए कतिपय उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि केशव का विवेचन परिचयात्मक ही नहीं आलोचनात्मक भी हैं। उनके निरूपणों के साथ एक वृत्ति गद्य रूप में अपेक्षित है। या तो केशव ने ऐसी टिप्पणी लिखी थी जो लुप्त हो चुकी है या फिर वे अपनी शिष्यों को समझाते समय इस कार्य को मौखिक रूप में ही सम्पन्न करते थे।

सब मिलाकर केशव का अलकार विवेचन उनके गभीर शास्त्रीय अध्ययन सूक्ष्म निरूपण प्रतिभा तथा शास्त्रीय मान्यताओं के व्यापक परिचय की सूचना देता है। उनके हेर फेर जहा भी हैं वहा तर्कयुक्त हैं। यदि वे किसी शास्त्रीय मान्यता से कुछ हटते दिखाई पडते हैं तो सकारण। उनके ऊपर लगाए गए लाछन तथा आरोप समीक्षक के सकुचित अध्ययन का पता देते हैं। ऐसे समीक्षकों को केशव के प्रति सहानुभूति रखकर धैर्य के साथ उन्हें समझने की आवश्यकता है।

षष्ठ प्रकाश

छन्द निरूपण

अध्येय सामग्री

केशव ने काव्यशास्त्र के अतिरिक्त छंदशास्त्र में भी अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है तथा इस ओर से भी भाषा कवियों को परिचित कराने के लिए छंदमाला की रचना की है।

केशव ने छंदशास्त्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन रामचंद्रिका में इस मात्रा तक किया है कि वह कृति आधुनिक आलोचकों की आलोचना का शिकार भी बन गई है। रामचंद्रिका के अंत में केशव ग्रंथावली खंड १ के पृ० ४२१ से ४३० तक एक लक्षणा सहित छंद सूची भी दी गई है। यह सूची भी पुरानी है, पर यह कहना कठिन है कि यह केशवकृत ही है। इसमें रामचंद्रिका के प्रयुक्त सभी छंद नहीं हैं, अधिकांश ही हैं। साथ ही कतिपय ऐसे भी हैं जो रामचंद्रिका में नहीं हैं। फिर भी रामचंद्रिका में प्रयुक्त छंदों में अधिकांश का रूपात्मक परिचय इस सूची में दिया हुआ है। इस सूची के समस्त छंद केशव की 'छंदमाला' में सम्मिलित नहीं है। रामचंद्रिका के स्वप्रयुक्त समस्त छंद भी छंदमाला में नहीं हैं। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि केशव ने छंदमाला में भाषा कवियों को छंदों का परिचय कराने के लिए छंदों का चुनाव स्वतन्त्र रूप से किया है, अपनी कृति रामचंद्रिका की सापेक्षता में नहीं किया।

हम यहाँ केवल छंदमाला में निरूपित छंदों को अपने अध्ययन का विषय बना रहे हैं।

कतिपय सामान्य तथ्य

केशव के छंद निरूपण का अध्ययन करने से पूर्व कतिपय तथ्य ऐसे हैं जिनकी ओर हम ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। इससे हम अपने अध्ययन में अनावश्यक बातों से भी बचेंगे और केशव की समीक्षा भी यथोचित कर सकेंगे। ये तथ्य इस प्रकार हैं

१—केशव ने जिन छंदों का निरूपण छंदमाला में प्रस्तुत किया है उनके अध्ययन में हमें व्यर्थ के श्रम की आवश्यकता नहीं है। यह विषय एकदम शास्त्रीय है इसमें केवल गणना और यथास्थान वर्णविन्यास का काम होता है। इस विषय का निरूपण एक सामान्य व्यक्ति भी किसी प्राचीन ग्रंथ को सामने रखकर सरलता से

कर सकता है। और नामो पर उसमे भूल की गुंजाइश नहीं है।

२—किसी आचार्य के छन्द निरूपण में यह परखा जा सकता है कि उनके विवेचित छंद का नाम उसका स्वरूप और लक्षण शास्त्रीय एवं किसी मान्य आचार्य के निरूपण पर आधृत है या नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जा सकता है कि उस आचार्य ने किसी छन्द का मौलिकतया निर्माण किया है या नहीं? किन्तु इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? यह कम निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह छन्द उस समय या उस रचना के क्षेत्र में प्रचलित ही नहीं था। वस्तुतः शिक्षाग्रंथ के रूप में प्रस्तुत की जानेवाली छन्दमाला में उन्हीं छंदों की सम्भावना की जा सकती है जो समकालीन हिंदी कवियों के लिए परिचित रहे हों।

३—यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि छन्दों के नामों के विषय में विविध ग्रन्थों में एकता नहीं है। छन्दशास्त्री प्रायः नामों में चिपके नहीं रहे, छंद के रूप की ओर ध्यान रखा है। इसी कारण किसी किसी छन्द के पांच पांच छः छः नाम मिलते हैं। इस विषय का प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं, छन्दशास्त्र के विद्वान् इससे पूर्णतः परिचित हैं। केशव निरूपित छंदों की चर्चा करते समय हम देखेंगे कि छन्दों के नाम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अतः जहां नाम बदला हुआ हो वहां या तो यह हो सकता है कि केशव ने किसी ऐसे ग्रंथ का सहारा लिया है जिसमें यही नाम प्रचलित था, या फिर कई प्रचलित नामों में से उन्होंने ऐसा नाम चुना है जो अप्रचलित या अल्प प्रचलित होने के कारण नया सा लगे, या फिर यह समझा जा सकता है कि केशव के समय में उस छन्द का यही नाम अधिक प्रचलित हो चला था। अतः छन्द के किसी परिवर्तित नाम को न तो मौलिकता ही कहा जा सकता है न ही अशास्त्रीयता।

४—वर्णों की स्थितियों के अनुरूप एक विशिष्ट संख्या के छंदों के अनेक रूप और भेद हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप १० अक्षर के ही छंद में गुरु लघु की स्थितियों के परिवर्तन से छंदशास्त्र के हिसाब से १०२४ भेद सम्भव हैं। ११ अक्षर पाद वाले छंद के २०४८ भेद बन सकते हैं। अतः छंदों के समूचे भेदों को कोई एक ग्रन्थ प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है। पिंगलसूत्र से लेकर अब तक यही सम्भव रहा है कि कतिपय प्रचलित या रुचि के अनुरूप छन्दों का आचार्य परिचय कराता चला आ रहा है। अतः यह आलोचना दृष्टि छन्द के विषय में काम नहीं कर सकती कि अमुक आचार्य ने अमुक छंद का निरूपण क्यों किया और अमुक का क्यों नहीं किया। जिनका निरूपण किया है उनके अध्ययन तक ही सीमित रहना होगा। हां उनके चुनाव के रुचि की सामान्य समीक्षा की जा सकती है।

इन सामान्य तथ्यों के परिचय के साथ अब हम केशव के निरूपण की ओर बढ़ सकते हैं।

केशव का छंद निरूपण

छन्दमाला के प्रथम खंड में वार्णिक छंदों का निरूपण हुआ है, द्वितीय खंड में मात्रिक छन्दों का।

उन के पिंगलसूत्र तथा उसके टीकाकारों के अनुसार तीन वर्ग होते हैं—गणछंद मात्राछंद और अक्षरछंद। गणछंदों में चतुर्वर्णात्मक मात्रिक गणों की छंद में किसी विशिष्ट स्थान पर निश्चित स्थिति होती है। इस वर्ग का उदाहरण आर्या, गीति आदि हैं। मात्राछंदों में समूचे पाद में मात्राओं की संख्या निर्धारित रहती है। वैताली चूलिका आदि इसके उदाहरण हैं। वर्णों के गुरु लघु विन्यास की निश्चित स्थिति का विचार कर चलनेवाले छंद अक्षरछंद कहलाते हैं।[1] बहुत पीछे आकर गणछंद और मात्राछंद मिलकर एक हो गए हैं क्योंकि उन दोनों में ही मात्राओं की संख्या का विचार रहता था।

इनमें से गणछंदों को पिंगलाचार्य ने जाति कहा है, मात्रिक और वार्णिक छंदों को वृत्त।[2] केशव ने भी उनके लिए पारिभाषिक वृत्त नाम का प्रयोग किया है

भाषा तीनहु के सुकवि द्विविध करत कवित्त।
वनवृत्त है एक और कलावृत्त फिर मित्त॥[3]

इन वृत्तों के पादों में विन्यस्त वर्णों या मात्राओं की स्थिति चारों में समान रहने पर छन्द सम होता है प्रथम तृतीय तथा द्वितीय चतुर्थ समान होने पर अर्धसम और परस्पर बेमेल हो जाने पर विषम होता है। केशव ने वार्णिक वृत्तों में केवल समपादीय छंदों का परिचय कराया है किन्तु मात्रिकों में सम और विषम का। अर्धसमों का परिचय उनमें भी नहीं है। अतः अपने निरूपण की सीमा वे इस प्रकार निर्धारित करते हैं

वनवृत्त के सम वरन चारों चरन प्रकास।
कलावृत्त के सम विषम पद करि केसवदास॥[4]

केशव ने मात्रिक छंदों के साथ गाथाओं का भी निरूपण किया है। पिंगलाचार्य के समय में गाथा वे छन्द थे जिनके लक्षण शास्त्र में नहीं हो पाए थे किन्तु जिनकी स्थिति लौकिक काव्य में पाई जाती थी। ऐसे अनुक्त छन्दों को उन्होंने गाथा कहा है। धीरे धीरे पिंगलकालीन अनुक्त छन्द उक्त बनते गए। किन्तु फिर भी यह वर्ग बनाए रखना इसलिए आवश्यक रहा आया कि छन्दशास्त्र से कवियों का प्रयोग सदा आगे रहा आया और कुछ न कुछ छंद अनुक्त ही बने रहे। इस वर्ग को बनाए रखने में कुछ परम्परावादी दृष्टिकोण भी परवर्ती आचार्यों के सामने रहा। किन्तु केशव ने गाथा और उसके भेदों को मात्रिक छंदों में ही मिलाकर निरूपित किया। यह उल्लेखनीय है कि गाथा छन्दों में मात्रासंख्या ही नियमन की आधार थी। अतः केशव का उन्हें इस वर्ग में रखना असमीचीन नहीं।

१ आर्या तावत् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥
पिंगलसूत्र की हलायुध टीका छन्दःशास्त्रम्, पृ० ४६

२ 'वृत्तम्' ४।१ तथा हलायुधी वृत्ति।—छन्दःशास्त्रम्, पृ० ७१

३ छन्दमाला, खंड २ ५

४ वही, ६, ६

वार्णिक वृत्त

वार्णिक वृत्तों का निरूपण केशव ने छन्दमाला के प्रथम खंड में किया है और इसमें केवल सम वृत्त ही उन्होंने लिए हैं यह हम पीछे कह चुके हैं। इनमें एक से छब्बीस अक्षरों तक के छन्द हैं। पिंगलाचार्य ने ६ अक्षरों से कम के छंदों का उल्लेख नहीं किया किन्तु प्राकृतपिंगलसूत्र में प्रारम्भ एकाक्षरी छंदों से ही हुआ है। सम्भावना यह है कि इन अत्यन्त छोटे छन्दों का विकास संस्कृत की अपेक्षा पहले प्राकृत में ही हुआ होगा। परवर्ती संस्कृत के भी छन्दशास्त्रीय ग्रन्थों में इनका उल्लेख पाया जाता है। छंदोमंजरी वृत्तरत्नाकर आदि में इन छन्दों को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

प्राचीन या नवीन सभी छन्दशास्त्रीय ग्रन्थों में २६ अक्षर पादों पर जाकर छंद निरूपण रुक जाता है और उससे आगे के छन्दों को दण्डक कहकर निरूपित किया जाता है। पिंगलाचार्य ने २६ से आगे के छन्दों को दो वर्गों में बांटा है—दण्डक और प्रचित। दण्डकों में एक रगण के तीन-तीन अक्षरों की वृद्धि होती है और वह रगण प्राय छंद है। इस जाति के क्रमश वर्धमान सभी छंद दण्डक जाति के कहे गए हैं शेष को प्रचित कहा गया है।[1] परवर्ती छन्दशास्त्रीय ग्रन्थों में इनके रूप के विषय में कुछ विचार विकसित हुए हैं। साथ ही दण्डकों के अनेक नाम और भेदों की भी उदभावना हुई है।

केशव ने वार्णिक वृत्तों में यही परम्परा निभाई है। उन्होंने पहले एक से छब्बीस अक्षरों तक के छन्दों का परिचय देकर उससे आगे के छन्दों को सामान्य नाम दण्डक से अभिहित किया है और उनमें से एक अनंगशेखर नामक ३२ अक्षर के दण्डक का निरूपण प्रस्तुत किया है।

एक से छब्बीस तक के अक्षरों तक के छन्दों की अक्षर-संख्या के आधार पर जातीय नाम पिंगलग्रन्थों में दिए गए हैं। पिंगलसूत्र में तो ये नाम षडक्षरी छन्दों से ही प्रारम्भ होते हैं किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में ये नाम एकाक्षरी छन्दों से ही मिलते हैं। छन्दोमंजरी के आधार पर हम यहां इन जातीय नामों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रतिपाद अक्षर-संख्या	छन्दजाति नाम	प्रतिपाद अक्षर-संख्या	छन्दजाति नाम
१	उक्था[2]	१४	शक्करी
२	अत्युक्था	१५	अतिशक्करी
३	मध्या	१६	अष्टि

1. शेष प्रचित —छन्द शास्त्रम् ७। ३६
आरभ्यैकाक्षरात् पादादेकैकाक्षरवर्धितैः।
पृथक्छन्दांसि स्यात् छन्द षड्विंशतिं गतम्॥

प्रतिपाद अक्षर संख्या	छन्दजाति नाम	प्रतिपाद अक्षर संख्या	छन्दजाति नाम
४	प्रतिष्ठा	१७	अत्यष्टि
५	सुप्रतिष्ठा	१८	धृति
६	गायत्री	१९	अतिधृति
७	उष्णिक	२०	कृति
८	अनुष्टुप	२१	प्रकृति
९	बृहती	२२	आकृति
१०	पंक्ति	२३	विकृति
११	त्रिष्टुप	२४	संस्कृति
१२	जगती	२५	अतिकृति
१३	अतिजगती	२६	उत्कृति

२६ से अधिक के दण्डक और प्रचित

दूसरी ओर सोमराजी का लक्षण भी शुद्ध नहीं है। सोमराजी का निरूपण पिंगलसूत्र तथा वृत्तरत्नाकर में तो नहीं पर छन्दोमंजरी छन्दकौस्तुभ और प्राकृत पैंगलम में हुआ है। छन्दोमंजरी में इसका नाम सोमराजी ही है, प्राकृतपिंगलसूत्र में ससिवदना या शंखनारी है छन्दकौस्तुभ में इसे सोमराजी शंखधारी कहा गया है। पर सर्वत्र इसका स्वरूप दो यगण वाला बताया गया है

द्वियां सोमराजी ।[1]

लहावण्णबद्धो सुपण्णप्पबद्धो ।

पआ पाअ चारी कही संखणारी ।[2]

किन्तु उक्त छन्दमाला में केशव की सोमराजी का लक्षण द्वियगणात्मक न होकर द्विजगणात्मक लिखा गया है। यह द्विजगणात्मक नहीं द्वियगणात्मक होना चाहिए। लिपिकार की सहज भूल का ही यह परिणाम है। अतः इन दोनों का शुद्ध रूप इस प्रकार होना चाहिए

अथ षडक्षरभेद—'मालती'

आदि जगन पुनि जगन रचि बरन षडक्षर जानि ।

अमल मालती छंद यह कविकुल कौं सुखदानि ॥

उक्थात्युक्था तथा मध्या प्रतिष्ठान्या सुपूर्विका ।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पंक्तिरेव च ॥
त्रिष्टुप् च जगती चैव तथातिजगती मता ।
शक्वरी सातिपूर्वा स्यादष्ट्यत्यष्टी तथा स्मृते ॥
धृतिश्चातिधृतिश्चैव तथा कृतिराकृतिः ।
विकृतिः संकृतिश्चैव अतिकृतिरुत्कृतिस्तथा ।
इत्युक्ताश्छन्दसां संज्ञा क्रमशो ॥—छन्दोमंजरी, प्रथम स्तबक १५ १९

१ छन्दोमंजरी, स्त० २ ३

२ प्रा० पिं० सू० २।५१

ल ग ल ल ग न

'सोमराजी'

यगन दायमय बन पट सोमराजि सो छन्द ।

—न ग ग न ग ग

'विज्जोहा'

केशव के अनुसार दो रगण का विज्जोहा छन्द होता है। पिंगलसूत्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। प्राकृतपिंगलसूत्र में इसी नाम से इसका स्वरूप बताया गया है

इसके अनुसार एक रगण और एक लघु अर्थात् ग ल ग ल है।

'माया'

यह भी सुप्रतिष्ठा जातीय एक पंचाक्षरी छन्द है। इसका स्वरूप केशव के अनुसार सगण लघु गुरु है। पिंगलसूत्र प्राकृतपैंगलम् तथा वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। किन्तु छन्दकौस्तुभ तथा छन्दोमंजरी में इसका निरूपण प्रिया नाम से मिलता है

सलगा प्रिया।[1]

प्राकृतपिंगलसूत्र में प्रिया नाम से एक तीन अक्षर वाले छन्द का निरूपण किया गया है

हे पिए लेक्खिए। अक्खरे तिण्णि रे।[2]

माया नाम के लिए केशव ने किसी अन्य ग्रन्थ को आधार बनाया है।

गायत्री—षडक्षर 'मालती' और 'सोमराजी'

केशव ग्रंथावली खंड १ में प्रकाशित छंदमाला में षडक्षर के ६ छन्द दिए गए हैं—मालती सोमराजी तथा शंकर विज्जोहा मथान और सुखदा। इनमें मालती और सोमराजी के स्वरूपों में कुछ गड़बड़ी है।

केशव ने मालती का लक्षण एक नगण और एक जगण दिया है। सोमराजी का दो जगण। किन्तु दो जगणवाले छन्द का नाम सोमराजी कहीं नहीं दिया गया। पिंगलसूत्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इस दो जगण के छंद का निरूपण हुआ ही नहीं है। किन्तु प्राकृतपिंगलसूत्र में इसका निरूपण मालती के नाम से हुआ है

धअ सरवीअ मणोगुण तीअ।

दई लहु अंत स मालइ कंत॥[3]

वाणीभूषण में इस ही सुमालतिका कहा गया है। अतः हम इस निष्कर्ष

१ छन्दोमंजरी स्तबक २ २
२ प्रा पि सू २।१४
३ वही २।५५

पर पहुँचते हैं कि यहाँ कुछ भूल अवश्य हुई है चाहे वह प्रतिलिपिकारों द्वारा हुई हो चाहे किसी अन्य के द्वारा। इसके पहले जो मालती नाम लिया गया है वह इसी छन्द का होना चाहिए।

यहाँ हम केशव के निरूपित छन्दों को अलग अलग ले रहे हैं।

उक्ता जातीय एकाक्षर 'श्री'

इसका निरूपण पिंगलकृत छन्दशास्त्र में नहीं है। प्राकृतपिंगलसूत्र वृत्त-रत्नाकर और छन्दोमंजरी में इसका निरूपण है। केशव का लक्षण शास्त्रानुरूप है।

अत्युक्ता—द्व्यक्षर 'नारायण'

पिंगलकृत छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका उल्लेख नहीं है। केशव ने इसका स्वरूप एक लघु तथा एक दीर्घ दिया है। लक्षण प्राकृत पि० सू० के अनुरूप है। किन्तु इसे वहाँ मही नाम दिया गया है

लगो जहाँ। मही कहीं।[1]

मध्या—त्र्यक्षर 'रमण'

पिंगलकृत छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी तथा वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। किन्तु इसी नाम और इसी लक्षण के साथ प्राकृतपिंगलसूत्र में इसका निरूपण हुआ है।

सगणो रमणो। सहियो कहियो।[2]

केशव ने भी इसका दो लघु एक गुरुवाला सगणात्मक लक्षण दिया है।

प्रतिष्ठा—चतुरक्षर 'तरणिजा'

पिंगलसूत्र तथा वृत्तरत्नाकर में इसका उल्लेख नहीं है। छन्दोमंजरी में इसका निरूपण सती नाम से है

नगि सती।[3]

केशव ने इसका नाम अन्यत्र में लिया है। लक्षण एक नगण और एक गुरु का उद्धरण दिया है।

सुप्रतिष्ठा—पंचाक्षर 'मदन'

पिंगलकृत छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। यह भी प्राकृत ग्रन्थ से लिया गया प्रतीत होता है। इसका लक्षण केशव के

१ प्रा० पि० सू० २।८
२ वही
३ छन्दो०, स्त० २, २

न, ग ल ल ग ल

'सोमराजी'

यगन दोयमय वन पट सोमराजि सो छन्द।

—ल ग ग ल ग ग

'विज्जोहा'

केशव के अनुसार दो रगण का विज्जोहा छन्द होता है। पिंगलसूत्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। प्राकृतपिंगलसूत्र में इसी नाम से इसका स्वरूप बताया गया है

इसके अनुसार एक रगण और एक लघु अर्थात ग ल ग ल है।

'माया'

यह भी सुप्रतिष्ठा जातीय एक पंचाक्षरी छन्द है। इसका स्वरूप केशव के अनुसार सगण लघु गुरु है। पिंगलसूत्र प्राकृतपैंगलम् तथा वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। किन्तु छन्द कौस्तुभ तथा छन्दोमंजरी में इसका निरूपण 'प्रिया' नाम से मिलता है

सलग प्रिया।[1]

प्राकृतपिंगलसूत्र में प्रिया नाम से एक तीन अक्षर वाले छन्द का निरूपण किया गया है

हे पिए लेक्खिए। अक्खरे तिण्णि रे।[2]

माया नाम के लिए केशव ने किसी अन्य ग्रन्थ को आधार बनाया है।

गायत्री—षडक्षर 'मालती' और 'सोमराजी'

केशव ग्रन्थावली खंड १ में प्रकाशित छंदमाला में षडक्षर के ६ छन्द दिए गए हैं—मालती सोमराजी तथा शंकर विज्जोहा मथान और सुखदा। इनमें मालती और सोमराजी के स्वरूपों में कुछ गड़बड़ी है।

केशव ने मालती का लक्षण एक नगण और एक जगण दिया है। सोमराजी का दो जगण। किन्तु दो जगणवाले छन्द का नाम सोमराजी कहीं नहीं दिया गया। पिंगलसूत्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इस दो जगण के छन्द का निरूपण हुआ ही नहीं है। किन्तु प्राकृतपिंगलसूत्र में इसका निरूपण मालती के नाम से हुआ है

धअ सरवीअ मणोगुण सोय।

दई लहु अंत स मानइ कंत॥[3]

छन्दोभूषण में इसे ही सुमालतिका कहा गया है। अतः हम इस निष्कर्ष

1 छन्दोमंजरी स्तवक २ २
2 प्रा० पि० सू० २। १४
3 वही। ५५

पर पहुचन है कि यहां कुछ भूल अवश्य हुई है चाहे वह प्रतिलिपिकारों द्वारा हुई हो, चाहे किसी अन्य के द्वारा। इसके पहले जो मालती नाम दिया गया है वह इसी छन्द का होना चाहिए।

यहां हम केशव के निरूपित छन्दों को अलग अलग ले रहे हैं।

उक्था जातीय एकाक्षर 'श्री'

इसका निरूपण पिंगल-कृत छन्दशास्त्र में नहीं है। प्राकृतपिंगलसूत्र वृत्तरत्नाकर और छन्दोमंजरी में इसका निरूपण है। केशव का लक्षण शास्त्रानुरूप है।

अत्युक्था—द्व्यक्षर 'नारायण'

पिंगलकृत छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका उल्लेख नहीं है। केशव ने इसका स्वरूप एक लघु तथा एक दीर्घ दिया है। लक्षण प्राकृत पिं० सू० के अनुरूप है। किन्तु इस वर्ग मही नाम दिया गया है

लगो जहीं। मही कही।[1]

मध्या—त्र्यक्षर 'रमण'

पिंगलकृत छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी तथा वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। किन्तु इसी नाम और इसी लक्षण के साथ प्राकृतपिंगलसूत्र में इसका निरूपण हुआ है।

सगणो रमणो। सहियो कहियो।[2]

केशव ने भी इसका दो लघु एक गुरुवाला सगणात्मक लक्षण दिया है।

प्रतिष्ठा—चतुरक्षर 'तरणिजा'

पिंगलसूत्र तथा वृत्तरत्नाकर में इसका उल्लेख नहीं है। छन्दोमंजरी में इसका निरूपण इसी नाम से है

नगि सनी।[3]

केशव ने इसका नाम अन्यत्र से लिया है। लक्षण एक नगण और एक गुरु का उन्होंने दिया है।

सुप्रतिष्ठा—पंचाक्षर 'मदन'

पिंगलकृत छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। यह भी प्राकृत ग्रन्थ से लिया गया प्रतीत होता है। इसका लक्षण केशव के

1 प्रा० पिं० सू० २।८
2 वही
3 छन्दो०, स्त० २, २

अक्खरा जे छआ पाअ पाअ टिठआ।
मत्त पच दहुणा विण्णि जोहा गणा ॥[1]

वाणीभूषण म इस ही विमोहा कहा गया है छद कौस्तुभ म वल्लरी। वैगव ने प्राकृतपगलम् का नाम अपनाया है।

'शकर'

यह भी एक षडक्षरी छद है जिसम एक रगण और एक जगण बताया गया है। पिगलसूत्र छदोमजरी वृत्तरत्नाकर म इसका उल्लेख नही है। प्राकृत छद निरूपक ग्रन्थ स आया प्रतीत होता है।

'मथान'

वगव के अनुसार इसका स्वरूप है दो तगण। सस्कृत परम्परा के पिगलसूत्र छदोमजरी वृत्तरत्नाकर म इसका निरूपण नही है। पर प्राकृतपिगलसूत्र म इसका इसी नाम स निरूपण उपलब्ध होता है

कामावआरेण अवधेण पाएण।
मत्ता दहा सुद्ध मथाण सो मुद्ध ॥[2]

'सुतदा'

पिगलसूत्र छदोमजरी और वृत्तरत्नाकर आदि सस्कृत परम्परा के सभी ग्रथो म इस षडक्षरी छद का निरूपण है। किन्तु दूसरी ओर प्राकृतपिगलसूत्र म इसका निरूपण नही है। उपयुक्त ग्रथो म इसका निरूपण तनुमध्या नाम से है और स्वरूप है तगण यगण परक। वगव न भी ग ग ल ल ग ग स्वरूप बताया है। पर उन्होने नाम इन ग्रथो का नही लिया।

उष्णिक्—सप्ताक्षर 'कुमारललिता'

सप्ताक्षर के इस जगण सगण ग स्वरूप वाले छद का निरूपण इसी नाम और इसी रूप स पिगलसूत्र छदोमजरी आदि ग्रन्थो म उपलब्ध है।

कुमारललिता ज्सौ ग।[3]
कुमारललिता ज्सगा।[4]

प्रमाणिका'

छन्दमाला में सात अक्षर क इस छद का स्वरूप ग, ल ग ल ग ल ग दिया हुआ है और नाम दिया हुआ है प्रमाणिका। किन्तु इस लक्षण के छद का नाम

१ III पि० सू २।४८
२ वही २।५१
३ छन्द शास्त्रम् अ ६, ३
४ छन्दोमजरी २ २ उष्णिक

प्राकृतपिंगल में प्रमाणिका नहीं समानिका दिया हुआ है

चारि हार किज्जहीं तिण्णि गंध दिज्जहीं।
सत्त अक्खरा ठिआ सा पमाणिआ पिआ ॥[1]

अतः प्राकृतपिंगलसूत्र की दृष्टि से यह केशव निरूपित 'प्रमाणिका' समानिका होनी चाहिए। लिपिकार की भूल हो सकती है। केशव के पाठ में 'प्रमाणिका' दिया हुआ है जो समानिका के बहुत समीप है

आदि एक गुरु सोभिज जगन रगन तिन मांह।
कीनी प्रगट प्रमानिका सप्तबन कविनाह ॥[2]

छंदोमंजरी के अनुसार 'प्रमाणिका' और समानिका दोनों ही अष्टाक्षरी छंद हैं सप्ताक्षरी नहीं

प्रमाणिका जरौ लगौ।[3]
गलौ रजौ समानिका तु ॥

अतः केशव का उपर्युक्त छंद संस्कृत पिंगल ग्रंथों की परम्परा का प्रतीत नहीं होता।

अनुष्टुप—अष्टाक्षर 'मल्लिका'

केशव की मल्लिका का लक्षण है —ग ल ग ल ग, ल, ग ल। इसमें उक्त समानिका से एक लघु अधिक है। इसका निरूपण प्राकृतपिंगलसूत्र में ठीक इसी नाम और रूप के साथ हुआ है

हारगंधबंधुरेण दिट्ठअट्ठअक्खरेण।
चारहाहि मत्त जाणि मल्लिआ सुछंद माणि ॥[4]

यह छंद संस्कृत पिंगल परम्परा का नहीं है। इसीका नाम तो छंदोमंजरी में उपर्युक्त समानिका दिया हुआ है

गलौ रजौ समानिका तु।

'नगस्वरूपिणी'

केशव के अनुसार अष्टाक्षरी नगस्वरूपिणी का स्वरूप है—ल, ग ल ग, ल, ग ल, ग। गुरु लघु के हिसाब से यह केशव की मल्लिका और छंदोमंजरी की समानिका का उलटा है।

इसे छंदोमंजरी में प्रमाणिका नाम से निरूपित किया गया है

प्रमाणिका जरौ लगौ।[5]

१ प्रा० पिं सू० २।६५
२ छन्दमाला पृ० ४३३
३ छन्दो०, स्त० ३, अनुष्टुप् ५
४ वही ६
५ प्रा० पिं० सू० २।७१
६ छन्दोमंजरी स्त० २, अनु० ५

पिंगलसूत्र में भी इसे प्रमाणी कहा गया है (गीति प्रमाणी अ० ५ सूत्र ७।) पर पिंगलसूत्र के अनुसार प्रत्येक अष्टाक्षर छंद जो लघु गुरु के रूप में समाप्त होता है प्रमाणी है। प्राकृतपिंगलसूत्र में भी "सका नाम प्रमाणी' ही दिया हुआ है

लहू गरू णिरतरा पमाणि अट्ठ अक्खरा।[1]

किन्तु श्रुतबोध में इसका नाम नगस्वरूपिणी ही दिया हुआ है

द्वितुर्यषष्ठमष्टमं गुरु प्रयोजितं यदा।
तदा निवेदयन्ति तां बुधा नगस्वरूपिणीम्॥[2]

केशव ने यहाँ पिंगलसूत्र और प्राकृतपिंगलसूत्र दोनों का नाम न अपना कर श्रुतबोध का नाम अपनाया है।

'मदनमोहनी'

केशव के अनुसार मदनमोहनी' अष्टाक्षरी का स्वरूप है—तगण जगण ग ल। पिंगलसूत्र छंदोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है।

'बोधक'

बोधक भी पिंगलसूत्र छंदोमंजरी तथा वृत्तरत्नाकर में निरूपित नहीं है। केशव के अनुसार तगण नगण ग ग इसका स्वरूप है।

'तुरगम'

केशव के अनुसार तुरगम नामक अष्टाक्षर छंद का स्वरूप है—नगण नगण ग ग। संस्कृत परम्परा के उक्त ग्रंथों में इसका भी उल्लेख नहीं है। केशव के अष्टाक्षरी छंद प्रमाणी समानी और वितान भेदों के प्रस्तारों में से हैं।

वृहती—नवाक्षर 'नागस्वरूपिणी'

केशव की नागस्वरूपिणी का स्वरूप है—जगण रगण जगण। यह उपर्युक्त नगस्वरूपिणी में एक लघु अक्षर और बढ़ा देने से बन जाती है।

'तामर'

केशव के इस तामर का स्वरूप सगण जगण जगण है और इसका निरूपण प्राकृतपिंगलसूत्र में पाया जाता है

जसु आइ हत्थ विआण। तह बे पओहर जाण।
पभणइ णाअणरिंद। इम माण तोमरछंद॥[3]

१ प्रा० पि० सू० १६६
२ श्रु० बो०
३ प्रा० पिं० सू० ग। ७

पंक्ति—दशाक्षर 'हरिणी'

छन्दशास्त्र छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में इसका निरूपण नहीं है। प्राकृतपिंगल-सूत्र में इसका नाम सारवती पाया जाता है।[1] इसे कहीं कहीं द्वारवती भी कहा गया है। इन सबके अनुसार इसका स्वरूप है—तीन भगण एक गुरु।

'अमृतगति'

केशव के अनुसार अमृतगति का स्वरूप है—नगण, जगण नगण ग। छन्दोमंजरी में इसे त्वरितगति कहा गया है। प्राकृतपिंगलसूत्र में नाम अमृतगति ही है। इसके अन्य नाम अमृततिलका अमृतगतिका तथा 'कुलटा' भी पाए जाते हैं।[2]

'तोमर'

पहले नवाक्षरी छन्दों में एक तोमर का उल्लेख हुआ है। यहाँ दशाक्षर भेदों में भी नगण सगण समण ल स्वरूप के एक तोमर का उल्लेख है। इसका निरूपण पिंगलसूत्र और उसकी परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलता। सम्भव है इसका कोई अन्य नाम केशव ने चुना है और लिपिकार की भूल से यह नाम पुनरुक्त हुआ है।

'संयुता'

संयुता का स्वरूप है—सगण, जगण जगण ग। प्राकृतपिंगलम् में एक संयुक्ता दशाक्षरी का उल्लेख है किन्तु उसका स्वरूप वहाँ सगण, भगण ग ग दिया है। इसे अन्यत्र कमला भी कहा गया है। अत केशव की संयुक्ता का मूल प्राकृतपिंगल ग्रन्थ नहीं है।

त्रिष्टुप्—एकादशाक्षर 'अनुकूला'

यह छन्द भगण तगण नगण ग ग स्वरूप का है और इसी नाम और रूप के साथ छन्दोमंजरी तथा प्राकृतपैंगलम् में पाया जाता है।

'सुपर्णप्रयात'

इसका स्वरूप है—तगण तगण तगण ग ग। इस छन्द का निरूपण छन्दोमंजरी और वृत्तरत्नाकर में 'विद्युन्माला' के नाम से पाया जाता है।

विद्युन्माला भवन्तो तगौ ग ।[3]

'इन्द्रवज्रा', 'उपेन्द्रवज्रा'

ये अत्यन्त प्रसिद्ध छन्द हैं और इनके लक्षण प्राय सब ग्रन्थों में पाए जाते हैं।

१ पिं सू ५।१६
२ छन्दःशास्त्रम्, टीका पृ ११३
३ छं० मं० ... २ त्रिष्टुप् ८

केशव का निरूपण शास्त्रानुकूल है।

जगती—द्वादशाक्षर 'मोतियदाम'

४ जगण के मौक्तिकदाम नामक छंद का उल्लेख छंदोमंजरी में भी है, प्राकृतपिंगलसूत्र[1] में भी। केशव का लक्षण निरूपण शास्त्रानुकूल है।

'तोटक'

चार सगण के तोटक का निरूपण छंदोमंजरी आदि ग्रंथों में इसी नाम से पाया जाता है। केशव का निरूपण शास्त्रीय है।

'सुन्दरी', मोदक'

केशव के सुन्दरी का लक्षण ४ भगण का है। इस स्वरूप के छंद को छंदोमंजरी में मोटक नाम दिया गया है

मोटकनाम समस्तभमैरयम्।[2]

प्राकृतपिंगलसूत्र में एक तो द्रुतविलम्बित को ही सुन्दरी कहा गया है दूसरे एक २३ प्रकार के छंद का नाम भी सुन्दरी दिया गया है। अतः केशव की यह सुन्दरी उनके अनुरूप नहीं है। इन्होंने यह नाम कहीं अन्यत्र से चुना है।

४ सगण के छंद को केशव ने मोदक कहा है। इस स्वरूप के छंद को छंदोमंजरी आदि में तोटक कहा गया है। गुरु लघु क्रम के उलट देने पर भगण और सगण बनते हैं—भगण ग ल ल सगण ल ल ग। ४ भगण पर मोटक होता है ४ सगण पर तोटक। अतः यहाँ कुछ लिपिकार की भूल लगती है। प्रतीत होता है कि केशव ने मोटक को ४ सगण नहीं ४ भगण का ही निरूपित किया होगा। उसके विपरीत ४ सगण के छंद को जिसे अन्यत्र तोटक कहते हैं सुन्दरी नाम दिया होगा। अतः दोनों के लक्षण छंदमाला में इस प्रकार होने चाहिए

चारि सगण को सुन्दरी छंद छबीलो होय।
तथा चारि भगण को कीजियत केसव मोटक छंद॥

यह उल्लेखनीय है कि ४ भगण के छंद का नाम संस्कृत परम्परा में प्रायः मोटक दिया हुआ है किन्तु प्राकृतपिंगलसूत्र में इसे मोदह अर्थात मोदक कहा गया है। केशव ने यह नाम वहीं से लिया हुआ प्रतीत होता है। तब उनके मोदक का स्वरूप चार सगण का हो ही नहीं सकता जैसा कि छपा हुआ है।[3] पर मोदक का निरूपण इस प्रकार है

तोडअछ विपरीअ ठठविज्जसु मोदह छंदह णाम करिज्जसु।
चारि गणा भगणा सुपसिद्धउ पिंगल जपउ कित्तिहिलुद्धउ॥

१ प्राकृतपिंगलसूत्र ।/२१। छन्दशास्त्र, पृ १३७, टीका
२ छन्दो० स्त० २ अर्को १३
३ प्रा पि सू २।१४१

'भुजगप्रयात'

चार यगण का यह छन्द अत्यन्त प्रचलित है।

'तामरस'

न, ज ज यगण के इस छन्द का उल्लेख छदोमजरी में इसी रूप में है।

'द्रुतविलम्बित'

न, भ, भ, रगण का यह छन्द भी अत्यन्त प्रचलित है।

'कुसुमविचित्रा

न य न य गण के इस छन्द का निरूपण छदोमजरी में इसी रूप में उपलब्ध होता है।

'चन्द्रमत

र न भ स गण के इस छन्द का नाम छन्दोमजरी, वृत्तरत्नाकर आदि में चन्द्रवर्त्म' पाया जाता है। स्वरूप यही है। अत लिपि की भूल प्रतीत होती है।

चन्द्रवर्त्म निगदन्ति रनभस ।[1]

'मालती

केशव के अनुसार मालती का स्वरूप है—न, ज ज सगण। किन्तु छन्दोमजरी में मालती का लक्षण न ज ज रगण के रूप में दिया हुआ है

भवति नजावथ मालती जरौ ।[2]

वृत्तरत्नाकर का भी यही लक्षण है। केशव ने जो सगण दिया है उसमें लिपि की भूल की सम्भावना नहीं की जा सकती

कोमल रचि पुनि भगन द्वै लघु गुरु अंत बनाउ।
होय मालती छद यह बारह वर्न प्रभाउ ॥[3]

अत या तो केशव ने किसी ग्रन्थ में इस नाम के छद का उल्लेख इसी रूप में पाया है या उन्होंने स्वय भूल की है। पर इसकी सम्भावना कम हो सकती है। सम्भव यही लगता है कि न ज ज र गण के छद का नाम भी उन्हें कहीं मालती मिला होगा और नयपन के प्रदर्शन के लिए उन्होंने उसी रूप में उसे निरूपित किया होगा।

'वशस्थनित'

यह छद भी अत्यन्त प्रचलित है। पिंगलसूत्र में इसे वंशस्थ कहा गया है छदोमजरी में वंशस्थविल।

१ छन्दो० स्त० २ श्लो० १
२ वही, श्लो० १४
३ छन्दमाला पृ० ४३८

'प्रमिताक्षरा

स ज स म स्वरूप क ङ्स छद का निरूपण छदोमजरी वृत्तरत्नाकर आदि म इसी नाम और ङ्सी रूप क साथ उपल ध है।

'स्रग्विणी

चार रगण क छ स्रग्विणी को छदोमजरी वृत्तरत्नाकर आदि म ङ्सी रूप म निरूपित किया गया है।

अतिजगती—त्रयोदशाक्षर पङ्कजवटिका'

क ाव क अनुसार इस छ द का स्वरूप है—भ न ल ल ल ल ल ग ल ल ग ल ल। यह ङ्प गणों की दृष्टि स इस प्रकार रखा जा सकता है—भ न ज ज ल। प्राकृतपगलम् म ङ्स छद को पङ्कावली क नाम स निरूपित किया गया है

सो जण जणमउ सो गुणमतउ
जे कर पर उवआर हसतउ।
जे पुण पर उअआर विरुज्झउ
ताक जणणि कि णयक्कउ बझउ ॥[1]

पिंगलसूत्र छ दोमजरा वृत्तरत्नाकर ग्र था म ङ्सका निरूपण नही है। क ाव ग्रन्थावली म प्रकाशित छदमाला म ङ्सका स्वरूप गलत छपा हुआ है सम्भव है लिपिकार की भूल हो। वहा लक्षण इस प्रकार है

आदि एक गुरु नगन द्व अत सगन द्व देखि।
छद सु पकजवाटिका तेरह अक्षर लेखि ॥

यहा शुद्ध पाठ होना चाहिए—

आदि एक गुरु नगन द्व अत भगन द्व देखि।

क ाव न जो अपनी रामच द्रिका स उदाहरण चुना है वह भी छ दमाला म इस प्रकार अशुद्ध छपा हुआ है

राम चलत नप के जुग लोचन। बारिज मिटे हुअ बारिदमोचन।[3]

स्वय रामच द्रिका क अनुसार शुद्ध पाठ यों है

राम चलत नप के जुग लोचन। बारि भरित भए बारिद रोचन।

यहा द्वितीय पाद म भए को क ाव न द्विलघु गिना है ए को लघु मानकर। व्रजभाषा म ए लघु का अनेकश प्रयोग पाया जाता है। रामच द्रिका म ही एक दूसरे स्थल पर ए को लघु गिनत हुए पकजवाटिका का स्वरूप ङ्सी परिशुद्ध लक्षण के अनुरूप है

१ प्रा० पि० सू० १।४६ पृ ४७
२ छ दमाला पृ ४३६
३ वही
४ रामचन्द्रिका पृ० २ ७

नारि न तर्जहि मरे भरतारहि । ता सग सहहि धनजय धारहि ।
जौं केहु मिसु करतार जियावत । तौ तेहि कह यह बात सुनावत ॥[1]

'सम कह तेहि आदि म 'ए' को लघु गिना गया है। अत पकजवाटिका का लक्षण छपी छन्दमाला म अशुद्ध है। केशव का मान्य लक्षण हम ऊपर दे चुके है।

'तारक'

तारक का केशवकृत लक्षण चार सगण और एक गुरु है। यह भी प्राकृतपिंगल सूत्र के अनुसार है

सव मजरि लिज्जिअ थूअह माछे ।
परिफुल्लिअ केसु णआ वण आछे ॥[2]

वाणीभूषणकार ने भी यही लक्षण दिया है।[3] पिंगलसूत्र छन्दोमजरी वृत्तरत्नाकर म इसका निरूपण नहीं है।

'कलहस'

कलहस का स्वरूप है—स ज स सगण तथा एक गुरु। छन्दोमजरी म इसी नाम रूप से निरूपित है—सजसा सगौ च कथित कलहस ।[4]

इसके अन्य नाम 'मजुभाषिणी' प्रबोधिता सिंहनाद तथा नन्दिनी भी पाए जाते हैं।[5] यह कराहसी नामक छन्द से भिन्न है। केशव के लक्षण एव उदाहरण शास्त्रानुरूप हैं।

शकरी—चतुर्दशाक्षर 'हरिलीला'

इस छन्द का लक्षण पिंगलसूत्र प्राकृतपैंगलम् छन्दोमजरी वृत्तरत्नाकर म नहीं है। छन्दमाला म इसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है

रगन रगन रचि नगन पुनि जगन अ त लघु आनि ।
चौदह अक्षर आदि गुरु हरिलीला उर आनि ॥

इसके अनुसार स्वरूप हुआ—ग ल ग ग ल ग ल ल ल ल ग ल, ल ल ग ल, ल।
किन्तु केशव ने जो उदाहरण दिया है वह इसके अनुरूप नहीं है

हा राम हा राम हा जगतनाथ धीर ।
लंकाधिनायस जानि तुम जो सु वीर ॥[6]

उदाहरण के अनुसार स्वरूप हुआ ग ग ल ग ग, ल गलल लगल गल अत लक्षण का पाठ इस प्रकार होना चाहिए

1 रा च , पृ २७८
2 प्राकृतपिंगलम २।४४ पृ० ४६५
3 छन्दशास्त्रम पृ १४६
4 छन्दो० २ अतिजगती ७
5 छन्द शा , टि०, पृ १२६
6 रा० पृ० ४३१

रगन रगन रचि जगन पुनि रगन अन्त लघु आनि ।

तब इसका स्वरूप यह होगा—त त भ ज गण तथा गुरु-लघु । लिपि की भूल हो सकती है ।

'बसंततिलका

यह अति प्रचलित छन्द है । केशव का निरूपण शास्त्रानुकूल है ।

'मनोरमा

छंदमाला के अनुसार चार सगण और दो लघु होने पर मनोरमा छंद होता है । इसका निरूपण छंदशास्त्र प्राकृतपिंगल छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर में नहीं है । छन्दकौस्तुभ में एक मनोरमा का निरूपण है किन्तु वह एक दशाक्षरी छंद है । अतः केशव के इस मनोरमा का स्रोत कहीं अन्यत्र ग्रंथ से है ।

अतिशक्वरी—पंचदशाक्षर 'मालती

छन्दमाला में इसका लक्षण इस रूप में छपा है ।

आदि लघु पुनि तीनि गुरु अन्त यगन द्वै मित्त ।
होइ मालती छंद यह पन्द्रह वर्न निमित्त ॥[1]

एक लघु ३ गुरु २ यगण । ये कुल १० अक्षर ही होते हैं जबकि इसे १५ अक्षर का कहा गया है । अतः पाठ की भूल निश्चित है ।

उदाहरण के अनुसार स्वरूप यह है

अति लघु धनु रेखा नेक लाँघी न जाकी ।
खल खर सरधारा क्यों सही तीक्ष्न ताकी ॥

इसके अनुसार रूप हुआ—लघु लघु लघु लघु लघु लघु गुरु गुरु लघु गुरु गुरु लघु गुरु गुरु । यह मालिनी नामक छंद का स्वरूप है

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।[2]

अतः केशव की मालती संस्कृत ग्रंथों की मालिनी ही है । प्राकृतपिंगलम की मालती एक द्वादशाक्षरी चार जगण का छंद है ।

'सुप्रिय

चौदह लघु और एक गुरु का छंद सुप्रिय कहा गया है । पिंगलसूत्र में इसे चन्द्रावर्त कहा गया है—चन्द्रावर्त नौ नौ स म ७।११ । प्राकृतपैंगलम में इसका नाम शरभ है (२।१९७) । वृत्तरत्नाकर आदि में इसे शशिकला कहा गया है । परवर्ती

१ छं० पृ० ४४
२ वही
३ छन्दो० स्त० २ म० श्लो० ४

काल में इसके नाम बदलने का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि चन्द्रावर्त्ता जैसा चार गुरु अक्षरों का नाम इस छन्द के स्वरूप वर्णन के साथ आ ही नहीं सकता था। परवर्ती लक्षणकार लक्षण और उदाहरण एक ही साथ देना चाहते थे। केशव ने इसका नाम सुप्रिय कहीं अन्यत्र से लिया है।

'निशिपालिका'

केशव के अनुसार इसका स्वरूप है—भ ज स न, र गण। यही रूप और नाम प्राकृतपैंगलम् में दिये गये हैं

हत्थ धअ तिण्णि सअ हिदिय परि तिग्गणा
पच गुरु दुण्ण लहु अंत कर रग्गणा।
एत्थ सहि चदमुहि बीस लहु आणआ
कव्वबर सप्प भण छंद णिसिपालआ ॥[1]

छंदःशास्त्र छंदोमंजरी, वृत्तरत्नाकर में यह निरूपित नहीं है वृत्तरत्नाकर के टीकाकार द्वारा परिशिष्ट रूप में निरूपित है।

'चामर'

क्रमशः गुरु लघु चलने वाले गुरु में अंत होने वाले इस १५ अक्षर के छन्द का नाम केशव ने 'चामर' दिया है जो प्राकृतपैंगलम् के अनुरूप है। छंदोमंजरीकार ने इसका दूसरा प्रचलित नाम 'तूणीर' दिया है। केशव का लक्षण शास्त्रीय है।

अष्टि षोडशाक्षर—'नराच'

लघु गुरु क्रम से चलने वाले गुरु में अंत होने वाले १६ अक्षर के इस छंद का नाम केशव ने नराच दिया है। यह नाम भी प्राकृतपैंगल के अनुरूप है

लहू गुरू णिरंतरा पमाणिआ अठक्खरा।
पमाणि दूण किज्जए णराअ सो भणिज्जए ॥[2]

छंदोमंजरीकार ने इसका नाम पंचचामर दिया है जिसे केशव ने नहीं अपनाया है।

'मनहरण'

५ भगण और एक गुरु का यह छन्द केशव के अनुसार 'मनहरण' है। छंदोमंजरीकार ने इसे अश्वगति कहा है प्राकृतपिंगलकार ने नील। स्वरूप सर्वत्र समान है। अतः केशव ने यह नाम कहीं अन्यत्र से पाया है।

'मत्तरूपक'

गुरु-लघु क्रम से १६ अक्षर के इस छन्द का नाम भी प्राकृतपैंगलम् के अनु

१ प्रा० पिं० सू० २।१६०
२ प्रा० पिं० २।६८

'तन्वी'

इसका स्वरूप है—भ त न स भ भ न य। छन्दोमंजरी में इसका निरूपण इसी प्रकार है।

अतिकृति पचविंशाक्षर—'विजया'

पूर्वोक्त माधवी के अंत में एक लघु और बढ़ा देने से यह बनता है।

'मदनमनोहर'

८ सगण एक गुरु के छन्द का नाम मदनमनोहर है।

'मानिनी'

८ सगण और एक लघु के छन्द का नाम मानिनी है। इसमें मदनमनोहर के अन्त्य गुरु के स्थान पर लघु होता है।

उत्कृति छब्बीस अक्षर—'हार'

८ नगण के एक आदि में और एक अंत में लघु जोड़ देने पर केशव के अनुसार यह छन्द बनता है। वस्तुतः तगाने पर इसका स्वरूप हुआ—८ नगण और दो लघु।

दण्डक ३२ अक्षर—'अनंगशेखर'

केशव के अनुसार लघु गुरु क्रम से ३२ अक्षर का अनंगशेखर नामक दण्डक जातीय छन्द होता है। वस्तुतः अनंगशेखर में अक्षरों की संख्या नियत नहीं होती। २६ अक्षरों से अधिक का प्रत्येक छन्द दण्डक है। उन दण्डकों में जिनमें लघु-गुरु के क्रम से रचना है वहाँ अनंगशेखर दण्डक होता है अक्षर संख्या कम अधिक हो सकती है। छन्दोमंजरीकार ने २२८ अक्षर के ही अनंगशेखर को दिया है

लघुगुरुनिरन्तरया यदा निवेश्यते तदैव दण्डको भवत्यनंगशेखरः।[1]

अचिना का उल्लेख पिंगलसूत्र में तो हुआ है किन्तु परवर्ती ग्रन्थों जैसे छन्दोमंजरी में वह निरूपित नहीं है। सम्भवतः यह भेद अप्रचलित होने लगा हो। केशव ने भी अचिना की चर्चा नहीं की।

इस प्रकार वार्णिक वृत्तों का प्रथम खण्ड समाप्त होता है। इसमें बड़े छन्दों का परिचय तो केशव ने कराया है किन्तु छन्दों का स्वरूप बहुत ही सरल चुना है। प्रायः किसी एक ही गण को लेकर ये छन्द चलते हैं इनमें एकाध अक्षर घटा बढ़ा देने से दूसरा छन्द बन जाता है। ये स्वरूप कवि और पाठक दोनों के लिए ही समझने में और प्रयोग करने में निस्सन्देह सरल हैं। यही इनकी उपयोगिता है। अन्यथा विविध पिंगल

[1] छन्दोमंजरी स्त० २, दण्डक ६

ग्रन्थों में पाए जाने की दृष्टि से ये रूप प्रायः अल्प परिचित हैं। इन्हें सरलता की दृष्टि से ही केशव ने खोजा है और इस खोज बीन में निस्सन्देह उन्हें श्रम भी करना पड़ा होगा पर उनकी बहुज्ञता भी इसमें स्पष्ट होती है।

मात्रिक वृत्त

छन्दमाला के दूसरे खंड में केशव ने मात्रिक वृत्तों का परिचय दिया है[1]। इस परिचय का मूलाधार ग्रन्थ प्रमुखतः प्राकृतपैंगलम् है।

प्राकृतपैंगलम् में प्रथम परिच्छेद में मात्रिक वर्णों का परिचय है द्वितीय में वार्णिक वृत्तों का। केशव ने पहिले वार्णिक लिए हैं पीछे मात्रिक। कारण स्पष्ट है प्राकृत में मात्रिक वृत्तों की प्रमुखता हो नहीं थी अनेक छंद उसके अपने विकसित हुए। हिन्दी के अनेक मात्रिक छंदों के विकास की परम्परा का इतिहास प्राकृत में ही है। जिन मात्रिक वृत्तों को केशव ने चुना है उनके अधिकांश केशव के समय तक हिन्दी में पर्याप्त प्रयुक्त हो चुके थे। इन छन्दों का निरूपण पिंगल के छन्द शास्त्रम् में नहीं था अतः छन्दोमंजरी वृत्तरत्नाकर आदि में भी नहीं हुआ। प्राकृतपैंगलम् में इनका निरूपण मिलता है। वृत्तरत्नाकर के टीकाकार भट्ट नारायण ने जिन्होंने अपना समय १६०२ वि० दिया है अपनी टीका में इन प्राकृत छन्दों में से अनेक का परिचय परिशिष्ट रूप में पंचम अध्याय में दिया है। उन्होंने संस्कृत की हिमायत लेते हुए कहा है कि संस्कृत ग्रन्थों में गाथा बहुत विस्तार के डर से पिंगलादि आचार्यों ने इनका निरूपण नहीं किया। ये छंद प्राकृत में परिदृष्ट होते हैं और प्राकृतपैंगलम् छंदश्चूडामणि आदि ग्रन्थों में इनका निरूपण है। भट्टनारायण ने अनेक छंदों को संस्कृत में निरूपित छंदों के नामादि से मिलाते हुए इन प्राकृत छन्दों के प्राचीन संस्कृत रूप भी दिखाए हैं। उदाहरणस्वरूप यह दिखाया गया है कि संस्कृत की आर्या ही प्राकृत की गाथा है उपगीति ही विगाथा है गीति ही उद्गाथा है। पर यह सब छंदों के विषय में नहीं दिखाया जा सका।

इस दृष्टि से केशव का महत्व यह है कि उन्होंने प्राकृत छंदों के निरूपक ग्रन्थों से भी सहायता लेकर हिन्दी के छन्दशास्त्र को 'अप्टूडेट' बनाने का प्रयास किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी क्षेत्र में उनका इस दिशा का प्रयास पहिला ही था।

केशव के छन्दों का क्रम वही है जो प्राकृतपिंगल का है। कहीं कहीं प्राकृतपिंगल के छन्द छोड़ दिए गए हैं अतः केशव द्वारा चुनाव ही किया गया है। छन्दोभंग और नष्टाद्दिष्टता के विषय में जो दो दोहे केशव ने कहे हैं वे प्राकृतपैंगलम् के दो छन्दों के अनुवाद हैं पर हैं बड़े साफ और परिमार्जित अनुवाद।

> १ कनकतुला जो सहत नहिं तोलत अधतिल अंग।
> श्रवनतुला तें जानियो केसव छंदोभंग ॥[1]
>
> जेम ण सहइ कणअतुला तिल तुलिअं अद्ध अद्धेण।
> तेम ण सहइ सवणतुला अवछंद छंदोभंगेण ॥[2]

[1] छंदमाला पृ० ४४६

[2] प्रा० पैं० १।१०

२ अवुध बुधनि म पन्त हीं निभुक्त लक्षणहीन।
भकुटी अग्र खरगग सिर कटतु तथापि अदीन॥[1]
अवह वहाण मज्झे पन्थ जो पढइ लक्खणविहूण।
भुजग्गा लग्ग खग्गहि सीस खुलिअण जाणइ॥[2]

कवित्व की दृष्टि स भुजाग्र लग्न खडग स सिर कटन की बात की अपेक्षा भकुटयग्र खडग कहना अधिक कलापूर्ण है।

यहा हम केशव निरूपित छन्दों का क्रमश अलग ले रहे हैं। इन सभी छन्दों के लक्षण प्राकृतपिंगलम् तथा वृत्तरत्नाकर की भट्टनारायणीय टीका स मिलते हैं। अत सबके निरूपण की आधारभूमि नारनीय है। तब जहा जो बात उल्लेखनीय है उसी का चर्चा हम करनी है। लक्षणों को आमने सामने रख कर प्रस्तुत करने से हमारे निरूपण का विस्तार अनावश्यक बढेगा।

गाथा[3]

गाथा संस्कृत आर्या छन्द है। इसके प्रथम चरण म १२ द्वितीय म १८ तृतीय म १२ और चतुर्थ म १५ मात्राए होती हैं। इनकी २७ विधाओं का उल्लेख प्राकृत पगलम् और भट्टीय टीका म मिलता है। प्रथम विधा लक्ष्मी है।

लक्ष्मी नामक भेद म पूर्वार्ध की तीस मात्राओं म से २७ गुरु और ३ लघु होने पर गाथा का नाम लक्ष्मी होता है। यदि एक गुरु घट जाए तो मात्रा-संख्या की पूर्ति क लिए स्वाभाविक तौर पर उसके स्थान पर दो लघु बन जाएग। तब २६ गुरु और पाच लघु होंगे। उस गाथा का नाम ऋद्धि होगा। इसी प्रकार एक एक गुरु घटने और उसके स्थान पर दो लघु बनने स अततोगत्वा सबलघु गाथा बनेगी और कुल भेद २७ होंगे।

केशव ने इन २७ नामों का उल्लेख किया है। कुछ नाम बदले हुए हैं कुछ के क्रम बदले हुए हैं। अत उनके सम्बन्ध म छन्दमाला का छपा पाठ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। सम्भव है लिपिकारों की भूल रही हो। हम यहा प्राकृतपगलम् और भट्टीय टीका म दिये नामों एव उनके क्रम के साथ केशव के नामों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रमसं०	केशव	प्राकृतपगलम्	भट्टीयटीका	गुरु	लघु	योग अक्षर
१	लक्ष्मी	लक्ष्मी	लक्ष्मी	२७	३	३०
२	सिद्धि	ऋद्धि	ऋद्धि	२६	५	३१
३	बुद्धि	बुद्धा	बुद्धि	२५	७	३२
४	लज्जा	लज्जा	लज्जा	२४	९	३३
५	विद्या	विद्या	विद्या	२३	११	३४

१ छन्दमाला पृ ४४६
२ प्रा पैं० १।११

क्रमसं०	कव	प्राकृतपैंगलम	भट्टीयटीका	गुरु	लघु	योग अक्षर
६	क्षमा	कम्मा	क्षमा	२१	१३	३५
७	दही	दहीमा	देही	२१	१५	३६
८	गौरी	गोरी	गौरी	२०	१७	३७
९	धात्री	धाई। राई।	रात्रि	१९	१९	३८
१०	घूणा	चुण्णा। पुण्णा	पूर्णा	१८	२१	३९
११	छाया	छामा	छाया	१७	२३	४०
१२	कांति	काता	कांति	१६	२५	४१
१३	महामाया	महामाई	महामाया	१५	२७	४२
१४	कीर्ति	कित्ती	कीर्ति	१४	२९	४३
१५	सिद्धा	सिद्धी	सिद्धा	१३	३१	४४
१६	मनोरमा	माणा	माना	१२	३	४५
१७	रामा	रामा	रामा	११	३५	४६
१८	गाहनी	गाहिणि	गाहिनी	१०	३७	४७
१९	विश्वा	विगाम	विश्वा	९	३९	४८
२०	वासिता	वासीमा	वासिता	८	४१	४९
२१	शोभा	सोहा	शोभा	७	४३	५०
२२	हरिणी	हरिणी	हरिणी	६	४५	५१
२३	चित्रा	चक्की	चक्रा	५	४७	५२
२४	सारसि	सारसा	सारसी	४	४९	५३
२५	कुररी	कुररी	कुररी	३	५१	५४
२६	सिंही	सिन्नीम	सिंही	२	५३	५५
२७	हंसा	हसीमा	हंसी	१	५५	५६

इस प्रकार हम देखते हैं कि कव का परिचय शास्त्राधारित है। जहाँ अन्तर है लिपिकार की भूल हो सकती है।

इनमें १३ लघु तक की गाथाएँ ब्राह्मणी जाति की, १४ से २१ लघु तक की क्षत्रिया, २३ से २७ लघु तक की वैश्या तथा शेष शूद्रा होती हैं।

जिस गाथा के प्रथम, तृतीय, पंचम तथा सप्तम विषम स्थानों में जगण पड़ जाता है उसे 'गुर्विणी' कहा जाता है। यह गाथा दुष्टा कही गयी है और रचयिता तथा नायक के लिए अनिष्ट मानी गयी है। कव ने इन मान्यताओं का भी उल्लेख किया है।

विग्गाहा'

गाथा के पूर्वार्द्ध में कुल ३० मात्राएँ होती हैं, उत्तरार्द्ध में २७। यदि इस क्रम को बदल कर पूर्वार्द्ध में २७ और उत्तरार्द्ध में ३० मात्राएँ रखी जाएँ तो उस छन्द को कव और प्राकृतपैंगलम् के अनुसार विग्गाहा और भट्टनारायण के अनु

सार विगाथ' कहते हैं। संस्कृत में इसे 'उदगीति' कहा गया है।

इन गाथाओं के अनेक भेद हो जाते हैं। इनका उल्लेख प्राकृतपैंगलम् में कुछ किया हुआ है। केशव ने ग्रन्थ विस्तार के भय की बात कह कर उन्हें छोड़ दिया है।

दोहा

दोहा का लक्षण है प्रथम पाद में तेरह मात्रा दूसरे में ग्यारह। इसी प्रकार तीसरे में १३, चौथे में ११। कुल मिला कर ४८ मात्राएं।

इसके भी गुरु लघु की घटा बढ़ी से २३ भेद बताए गए हैं जिनका विवरण इस प्रकार है

क्रमसं०	केशव	प्राकृतपैंगलम्	भट्टीयटीका	गुरु	लघु	योग अक्षर
१	भ्रमर	भमरु	भ्रमर	२२	४	२६
२	भ्रामर	भामरु	भ्रामर	२१	६	२७
३	शरभ	सरहु	शरभ	२०	८	२८
४	श्येन	सथाण	श्येन	१९	१०	२९
५	मंडूक	मडूअ	मंडूक	१८	१२	३०
६	मर्कट	मक्कड	मर्कट	१७	१४	३१
७	करभ	करहु	करभ	१६	१६	३२
८	मराल	नर	नर	१५	१८	३३
९	मनुष्य	मराल	मराल	१४	२०	३४
१०	मत्तगजराज	मअगलु	मदकल	१३	२२	३५
११	पयोहर	पओहरु	पयोधर	१२	२४	३६
१२	बल	बलु	बल	११	२६	३७
१३	बानर	वाणर	बानर	१०	२८	३८
१४	त्रिकल	तिणिकुल	त्रिकल	९	३०	३९
१५	मीन	कच्छ	कच्छप	८	३२	४०
१६	कच्छप	मच्छ	मत्स्य	७	३४	४१
१७	शार्दूल	सद्दूल	शार्दूल	६	३६	४२
१८	अहिवर	अहिवर	अहिवर	५	३८	४३
१९	बिडाल	वघ्घ	व्याघ्र	४	४०	४४
२०	बाघ	विराडउ	बिडाल	३	४२	४५
२१	उन्दर	सुणह	श्वा	२	४४	४६
२२	सर्प	उंदुर	उंदुर	१	४६	४७
२३	श्याल	सप्प	सर्प		४८	४८

इस तालिका से स्पष्ट है कि केशव के नामों के क्रम में दो-तीन जगह गड़बड़ी है। मराल—नर मीन—कच्छ, बिडाल—बाघ, के क्रम आगे पीछे हैं। २१ वें स्थान

नामक भेद को केशव की सूची में हम नहीं पाते उसकी जगह अगले उद्दुर ने ले ली है। सप के साथ उसका पर्यायवाची एक 'व्याल' और अनावश्यक रूप से आ गया है और संख्या पूरी हो गई है। केशव के नाम छन्दोबद्ध हैं अतः लिपिकार की भूल की सम्भावना कम है। लघु गुरु क्रम जो गिनाया है उसमें केवल सप का उल्लेख है, व्याल का नहीं। एक छंद का पाठ त्रुटित भी है। अतः लगता है, मूल पाठ किसी प्रकार लिपिकार की दृष्टि में गड़बड़ाया है और उसने अपनी ओर से यहां छंदों को सुधारने का प्रयास किया है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो परिवर्तन का काम केशव द्वारा ही हुआ कहना होगा और उसे अकारण तथा अशास्त्रीय मानना होगा।

जिस दोहा के प्रथम-तीसरे तथा द्वितीय चतुर्थ पादों में जगण आ जाता है वह दोहा दोषयुक्त माना जाता है। प्राकृतपिंगलकार ने इसे 'चाण्डाल गृहस्थिता दोहा'[1] कहा है। केशव ने इसे 'विदारिका' कहा है[2] इस नाम का उल्लेख भट्टनारायण ने भी नहीं किया।

कवित्त

'कवित्त' का निरूपण प्राकृतपिंगलम् में काव्य नाम से तथा भट्टनारायण ने काव्य नाम से किया है। उनके अनुसार आदि और अंत में एक एक छकल और बीच में तीन चतुष्कल इस प्रकार कुल चौबीस मात्राएं होनी चाहिए। तृतीय या तो जगण हो या चतुर्लघु। केशव ने इन बंदिशों का उल्लेख न कर सीधा २४ मात्राओं के पाद वाला लक्षण दिया है। इस कवित्त के ४५ भेद होते हैं। जातिगत दोष आदि बताए गए हैं। केशव ने उन सबका उल्लेख नहीं किया।

चतुष्पदी

प्राकृतपिंगलकार और भट्टनारायण के अनुसार क्रमशः इसके नाम चउपइया और चतुष्पदी हैं। इसके एक पाद में ७ चतुष्कल तथा अंत में एक गुरु अतः कुल मात्राएं ३० होती हैं। चारों पादों में १२० मात्राएं हुई। किन्तु यह एक छंद चतुष्पदी नहीं कहलाएगा। ऐसे चार छंद मिल कर चतुष्पदी कहलाएगे। अतः कुल मात्राएं इसमें ४८० होंगी। किन्तु केशव ने इस विस्तार को समाप्त कर उक्त लक्षण के चार पाद वाले छंद को ही चतुष्पदी कहा है

> 'सात चतुष्कल को चरन अंत एक गुरु जानि।
> एसे चारो चरन चौपया छंद बखानि ॥'[3]

इसे तुलसी आदि में प्रचलित चौपाई से भिन्न समझना चाहिए।

घत्ता

इसे उक्त दोनों ग्रंथों में घत्ता कहा गया है घत्ता नहीं। पर हिन्दी में इसके

१ प्रा० पि० १।८४
२ छन्दमाला पृ० ४५२
३ छ० पृ० ४५१

सार विगाथ' कहते हैं। संस्कृत में इसे 'उदगीति' कहा गया है।

इन गाथाओं के अनेक भेद हो जाते हैं। इनका उल्लेख प्राकृतपैंगलम् में कुछ किया हुआ है। केशव ने ग्रंथ विस्तार के भय की बात कह कर उन्हें छोड़ दिया है।

दोहा

दोहा का लक्षण है प्रथम पाद में तेरह मात्रा दूसरे में ग्यारह। इसी प्रकार तीसरे में १३, चौथे में ११। कुल मिला कर ४८ मात्राएं।

इसके भी गुरु लघु की घटा बढ़ी से २३ भेद बताए गए हैं जिनका विवरण इस प्रकार है

क्रमसं०	केशव	प्राकृतपैंगलम्	भट्टाचटीका	गुरु	लघु	योग अक्षर
१	भ्रमर	भमर	भ्रमर	२२	४	२६
२	भ्रामर	भामरु	भ्रामर	२१	६	२७
३	शरभ	सरहु	शरभ	२०	८	२८
४	श्येन	सचाण	श्येन	१९	१०	२९
५	मडूक	मडूअ	मडूक	१८	१२	३०
६	मर्कट	मक्कड	मर्कट	१७	१४	३१
[illegible]	करभ	करहु	करभ	१६	१६	३२
८	मराल	नर	नर	१५	१८	३३
९	मनुष्य	मराल	मराल	१४	२०	४
१०	मत्तगजराज	मअगलु	मदकल	१३	२२	३५
११	पयोहर	पओहरु	पयोधर	१२	२४	३६
१२	बल	बलु	बल	११	२६	३७
१३	बानर	बाणर	बानर	१०	२८	३८
१४	त्रिकल	तिणिकुल	त्रिकल	९	[illegible]	९
१५	मीन	कच्छ	कच्छप	८	३२	४०
१६	कच्छप	मच्छ	मत्स्य	७	३४	४१
१७	शार्दूल	सद्दूल	शार्दूल	६	३६	४२
१८	अहिवर	अहिवर	अहिवर	५	३८	४३
१९	विडाल	वग्घ	व्याघ्र	४	४०	४४
२०	बाघ	बिराडउ	बिडाल	३	४२	४५
२१	उदर	सुणह	श्वा	२	४४	४६
२२	सर्प	उदुर	उदुर	१	४६	४७
२३	व्याल	सप्प	सर्प	०	४८	४८

इस तालिका से स्पष्ट है कि केशव के नामों के क्रम में दो-तीन जगह गड़बड़ी है। मराल—नर मीन—कच्छ विडाल—बाघ, के क्रम आगे पीछे हैं। २१ वें श्वान

नामक भेद को केशव की सूची में हम नहीं पाते, उसकी जगह अगले छन्द उदुर न ले ली है। मच के साथ उसका पर्यायवाची एक व्याल और अनावश्यक रूप से आ गया है और संख्या पूरी हो गई है। केशव के नाम छन्दोबद्ध हैं अतः लिपिकार की भूल की सम्भावना कम है। लघु गुरु क्रम जो गिनाया है उसमें केवल सर्प का उल्लेख है, व्याल का नहीं। एक छन्द का पाठ त्रुटित भी है। अतः लगता है, मूल पाठ किसी प्रकार लिपिकार की दृष्टि में गड़बड़ाया है और उसने अपनी ओर से यहाँ छन्दों को सुधारने का प्रयास किया है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो परिवर्तन का काम केशव द्वारा ही हुआ कहना होगा और उसे अकारण तथा अशास्त्रीय मानना होगा।

जिस दोहा के प्रथम-तीसरे तथा द्वितीय चतुर्थ पादों में जगण आ जाता है वह दोहा दोषयुक्त माना जाता है। प्राकृतपिंगलकार ने इसे 'चाण्डाल-गृहस्थिता दोहा'[1] कहा है। केशव ने इसे विडारिका कहा है[2] इस नाम का उल्लेख भट्टनारायण ने भी नहीं किया।

कवित्त

'कवित्त' का निरूपण प्राकृतपैंगलम् में काव्य नाम से तथा भट्टनारायण ने 'काव्य' नाम से किया है। उनके अनुसार आदि और अन्त में एक एक छकल और बीच में तीन चतुष्कल इस प्रकार कुल चौबीस मात्राएं होनी चाहिए। तृतीय या तो जगण हो या चतुर्लघु। केशव ने इन बंदिशों का उल्लेख न कर सीधा २४ मात्राओं के पाद वाला लक्षण किया है। इस कवित्त के ४५ भेद होते हैं। जातियां दोष आदि बताए गए हैं। केशव ने उन सबका उल्लेख नहीं किया।

चतुष्पदी[3]

प्राकृतपिंगलकार और भट्टनारायण के अनुसार क्रमशः इसके नाम चउपइया और चतुष्पदी हैं। इसके एक पाद में ७ चतुष्कल तथा अंत में एक गुरु अतः कुल मात्राएं ३० होती हैं। चारों पादों में १२० मात्राएं हुईं। किन्तु यह एक छन्द 'चतुष्पदी' नहीं कहलाएगा। ऐसे चार छंद मिल कर चतुष्पदी कहलाएंगे। अतः कुल मात्राएं क्रमशः ४८० होंगी। किन्तु केशव ने इस विस्तार को समाप्त कर उक्त लक्षण के चार पद वाले छंद को ही चतुष्पदी कहा है

सात चतुष्कल को चरन अंत एक गुरु जानि।
ऐसे चारों चरन चौपया छंद बखानि॥[3]

इसे तुलसी आदि में प्रचलित चौपाई से भिन्न समझना चाहिए।

घत्ता

इसे उक्त दोनों ग्रन्थों में घत्ता कहा गया है घत्ता नहीं। [illegible]

१ प्रा० पिं० १।८८
२ छन्दमाला पृ० ४५१
३ छं०, पृ० ४५१

लिए घत्ता ही प्रचलित है। इसमें ७ चतुष्कल और ३ लघु होते हैं। १०, १८, १३ मात्राओं पर क्रमश यति होती है। पर केशव ने यति नियम का उल्लेख नहीं किया।

नंद

प्राकृतपैंगल और भट्टीय टीका में इसे घत्तानंद नाम दिया गया है। इसमें एक षट्कल तीन चतुष्कल एक पंचकल तथा एक चतुष्कल कुल ३१ मात्राएं होती हैं। ११, ७, १३ पर यति होती है। केशव ने केवल यतियों का उल्लेख किया है। यतियों के योग से यह पता चल जाता है कि इसमें कुल ३१ मात्राएं होती हैं पर गणों का विचार सामने नहीं आता। वस्तुत केशव उसे आवश्यक नहीं समझते। इसीलिए उन्होंने घत्ता के निरूपण में भी उनका उल्लेख नहीं किया।

उल्लाला

१५ और १३ के पादों से उल्लाला छंद बनता है। इसका उल्लेख उक्त दोनों ग्रंथों में भी इसी रूप में है।

षटपद

इसे प्राकृतपैंगलम् में छप्पउ कहा गया है। यह कवित्त और उल्लाला के संयोग से बनता है। हिंदी में यही छप्पय का रूप प्रचलित है।

इस छंद के ७१ भेद गिनाए गए हैं। छप्पय में कवित्त और उल्लाला की मिला कर कुल मात्राएं १५२ होती हैं। इनमें अधिकतम गुरु वर्ण कवित्त में ४४ और उल्लाला में २६ कुल ७० होते हैं तथा दोनों के लघु १२ शेष रह जाते हैं। इस स्वरूप को अजय नाम दिया गया है। इससे आगे एक एक गुरु घटने और उसके स्थान पर दो-दो लघु बढ़ने से भेद संख्या बढ़ती है जो कुल मिला कर ७१ तक पहुंचती है। केशव ने इन भेदों के नाम तथा उसमें लघु वर्णों की संख्या गिना दी है। शेष गुरुओं की संख्या समझनी चाहिए। केशव के नाम और रूप प्राकृतपैंगलम और भट्टीय टीका के अनुरूप हैं। कहीं कहीं नाम का या क्रम का कुछ हेर फेर है। बीच में एक दो पंक्ति का पाठ भी प्रकाशित हस्तलेखों में त्रुटित है। जहां अंतर है उसे बाह्यत भ्रान्त समझना चाहिए। प्राकृतपैंगलम् में ये नाम परिच्छेद १, छंद १२१-१२३ में दिए गए हैं और नारायणी टीका में अध्याय ५ पृ० १५२-३ पर।

३२ लघु तक विप्र आगे ४० तक क्षत्रिय फिर ४८ तक वैश्य और शेष छप्पय शूद्र कहलाते हैं।

प्राकृतपैंगलम् में छप्पय के दोषों की भी चर्चा है जो इस प्रकार है

पंगु—अशुद्ध पदवाला	पअइ असुद्धउ पंगु अयवा ऊन पादवाला
खंज—गण हीन	हीण खाडउ पमणिज्जइ।
बाउला—मात्राधिक्यवाला	मत्तगगल बाउलउ
काणा—कलाओं से शून्य	सुण्णकल काण सुणिज्जइ।

बधिर—मल वर्णों से रहित मलवज्जिअ तह वहिर,
अंध—अलंकारहीन अंध अलंकार रहिअउ।
मूक—छंदकी उट्टवनिका शून्य वुत्तउ छंद उट्टवण
दुवल—अर्थ शून्य अत्थ विण दुव्वल कहिअउ।
डर—हठाक्षरों से युक्त डरउ हट्टक्खरहिं, होइ।
काण—गुण रहित काणा गुण मत्तहि रहिअ।

प्राकृतपिंगल के इन छप्पय दोषों में मानवी अंगों का समारोप तो है किन्तु इनके पीछे कोई साम व्यवस्था नहीं है। केशव इसीलिए इसे बदल कर अपने ढंग से इस रूप में प्रस्तुत करते हैं

मत्त अधिक वावरो, मत्त घटि पंगु कहिज्ज।
बधिर ति सबदविरुद्ध अंध अति अर्थ मनिज्ज।
अलंकार बिनु नगन अंग बिनु मृतक कहाव।
बालक मनि पुनरुक्ति, व्यंग अमहीनहि गाव।
अतिमित्त अमित्त जु पद अपर अर्थविरोध न आनियो।
दोष सहित रसरहित सब छप्पय ये न बखानियो॥[1]

बावला—मात्राधिक्य पर। पंगु—मात्रा न्यूनता पर। बधिर—शब्द विरोध पर। नग्न—अलंकार हीन। मृतक—अर्थ हीन। बालक—पुनरुक्तिवाला। व्यंग—रसहीन। इनके अतिरिक्त मित्रामित्र गण अर्थ विरोध रस रहितता आदि होने पर भी छप्पय दोषयुक्त होता है।

केशव के इन छप्पय दोषों में एक प्रकार से सांगता के निर्वाह का प्रयत्न है जो प्राकृतपैंगलम् में नहीं है। हम दोष निरूपण के प्रसंग में देख चुके हैं कि केशव ने प्राकृतपैंगलम् के कवित्त दोषों तथा छप्पय दोषों से प्रेरणा लेकर समस्त काव्य-दोषों के निरूपण को सांग रूपकात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ भी उसी प्रकार का एक प्रयास है। वहाँ और यहाँ के दोष निरूपण की दृष्टि में साम्य की एक गहरी छाया है। ये छायाएं छन्दमाला के केशव कृत होने की बात का असंदिग्ध संकेत करती हैं।

पद्धटिका

इसका निरूपण प्राकृतपैंगलम् में पद्धटिका और भट्टीय टीका में भी पद्धटिका नाम से ही है। केशव का निरूपण तदनुरूप ही है।

अरिल्ल

इसका निरूपण भी इन्हीं ग्रंथों के अनुरूप है। प्राकृतपैंगलम् में १।१२८ पर अडिल्ल और अलिल्लह नाम से तथा भट्टीय टीका में अलिल्लह नाम से इसका निरूपण मिलता है।

१ छन्दमाला पृ ४४३

'पादाकुलिक

प्राकृतपैंगलम् में इसका निरूपण १।१३० पर हुआ है।

राजसेनी नवपदी

ऊपर के षटपदी छंदों में ५ पाद होते हैं। प्राकृतपैंगलम् में कतिपय ९ पादों के छंदों का भी उल्लेख हुआ है। भट्टनारायण ने भी उनकी चर्चा नवपदी के रूप में की है। इसके ७ भेद निम्न बताए गए हैं

करभी नन्दा मोहिनी चारुसेना भद्रा राजसेन तालंकिनी।

केशव ने इनमें से एक राजसेनी नवपदी का परिचय कराया है। प्राकृतपैंगलम् में इसका एक नाम और दिया हुआ है—रड्डा या रडा[1]। इसके पादों में मात्रा-संख्या इस प्रकार है

१–१५ २–१२ ३–१५ ४–११ ५–१५ ६ ७ ८ ९—दोहा चार चरण। कुल मात्राएं—११६।

पद्मावती

पद्मावती का निरूपण प्राकृतपैंगलम् में १।१४४ पर है। भट्टनारायण ने भी इसका उल्लेख किया है। केशव का निरूपण इनके अनुरूप है।

सोरठा

प्राकृतपैंगलम् में इसका १।१७१ पर सोरट्ठा और भट्टीय टीका में सौराष्ट्रा के नाम से अध्याय ५ पृ० १५९ पर निरूपण हुआ है। यह दोहे का उलटा रूप है। केशव का निरूपण उक्त ग्रन्थों के अनुरूप है।

कुण्डलिया

प्रा० पै० में १।१४७ पर तथा भट्टीय टीका में अ० ५ पृ० १५७ पर इसका निरूपण है। केशव का निरूपण तदनुरूप है।

शेष छंद

शेष छंद हैं—चूडामणि हाकलिका मधुभार आभीर हरिगीत त्रिभंगी हीर *मदनमनोहर और मरहठा। इन सबका आधार भी प्राकृतपैंगलम् ही है प्रायः इनमें* से अधिकांश का निरूपण भट्टनारायण ने भी किया है। केशव के निरूपण में परिचयात्मक दृष्टि रही है और वे इन छंदों के विषय में भेदों जातियों आदि के अमल में नहीं पड़े। प्रायः इन बातों का उल्लेख इन छंदों के विषय में उक्त आधार ग्रन्थों में भी रही है। हां गणों आदि की विशिष्टता की चर्चा जब कभी अवश्य है।

१ प्रा० पै० १।१३३

केशव ने प्रायः पूरे पाद की मात्रा संख्या देकर परिचय को सरल बनाने का ही प्रयास किया है। वे कुछ ही छन्दों के विषय में यहाँ भेद प्रस्तार में गए हैं।

इस प्रकार केशव के मात्रिक वर्णों के लिए प्राकृत, और वार्णिक वृत्तों के लिए प्राकृतपैंगलम् ही मुख्य आधार रहा है।

गण विचार

केशव ने कविप्रिया के तीसरे प्रभाव में अगण नामक दोष का निरूपण करते हुए गण सम्बन्धी कतिपय बातों का उल्लेख किया है।

छंद दोष—सामान्यतः छन्द-भंग के कारण काव्य को पंगु कहा गया है।

छंद विरोधी पंगु गनि।[1]

हम छन्दमाला में निरूपित छप्पय के प्रसंग में देख चुके हैं कि वहाँ केशव ने मात्रा न्यूनता होने पर छप्पय को पंगु कहा है

मत्त घटि पंगु भनिज्ज।[2]

यह केवल छप्पय की दृष्टि से है। कविप्रिया में समूचे काव्य को ध्यान में रखकर व्यापक दृष्टि से छन्द लोप युक्त काव्य को पंगु नाम दिया गया है। छन्दोलोप के लिए उन्होंने छन्दोभंग शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि दक्ष श्रुति के लोग हलका सा भी छन्दोभंग नहीं सह सकते

तौलत मुल्य रहे न ज्यौं कनक तुलित तिल आधु।

त्यौं ही छंदोभंग को सहि न सकत स्रुति साधु॥[3]

ऐसी ही बात यतिभंग दोष को लेकर छंदमाला में कही गयी है जिसका आधार प्राकृतपैंगलम् है हम यह देख चुके हैं।

कविप्रिया में छन्द दोष पंगु के प्रसंग में एक अगण नामक दोष की चर्चा की गई है और उसी दोष को बताने के लिए समस्त गण सम्बन्धी विचार से परिचित कराया गया है। 'गण विचार' उसी प्रसंग में आता है।

गण विचार में केशव ने निम्न बातों की चर्चा की है

गण-संख्या और स्वरूप

म भ म य ज र स त। इनके स्वरूप।[4]

शुभ और अशुभ गण

शुभ गण—म न, भ य। अशुभ—ज, र त स।[5]

1 क० प्रि० ३।७
2 छन्दमाला २।३३
3 क० प्रि० ३।१०
4 वही ३।१६-२०
5 वही ३।१७-१८

गण देवता

म—मही न—नाग य—जल भ—चंद्र ज—सूर्य र—अग्नि स—वात त—आकाश।[1]

गण जाति

मित्र—म, न। दास—भ, य। उदासीन—ज, त। शत्रु—र, स।

गण फलाफल

म—मही सुख। य—नीर आनंद। र—अग्नि जगदाह।
ज—सूर्य सुख शोषण। त—आकाश अफल। स—वात देश हानि।
भ—चंद्र मंगल। न—नाग बुद्धिप्रकाशन।[2]

द्विगुण विचार

मित्र मित्र समृद्धि अधन। मित्र दास युद्ध त्रास का अभाव।
मित्र उदास गात्र दोष उदय। मित्र शत्रु बंधु नाश।
दास मित्र कार्य सिद्धि। दास दास सर्ववशता। दास उदास धननाश।
दास शत्रु शोक। दास मित्र अपवाद।
उदास मित्र तुच्छ फल। उदास दास प्रभुता।
उदास उदास न फल न अफल। उदास शत्रु सुखहानि।
शत्रु मित्र अफल। शत्रु दास वनिता नाश।
शत्रु उदास कुलनाश। शत्रु शत्रु नायक नाश।

गुरु लघु निरूपण

गुरु-संयोगादि बिंदु युत दीर्घ मात्रिक।
लघु अवशिष्ट। दीर्घ भी मुखसुख के साथ लघु रूप में पढ़ने पर लघु।
संयोग के आदि का भी कभी कभी उच्चारण वश लघु।[3]

इन समस्त विषयों का निरूपण इसी रूप में पिंगलग्रंथों में पाया जाता है। 'प्राकृतपैंगलम्' में भी यह विवेचन इसी रूप में है। अतः केशव ने इन शास्त्रीय बातों को प्रस्तुत किया है। सम्भवतः प्राकृतपैंगलम् को ही आधार बनाया गया है। प्राकृत पैंगलम् में जिन बातों का अंतर पड़ता है हम केवल उन्हीं का निरूपण और उल्लेख यहाँ करना चाहते हैं। अन्य सब बातें शास्त्रानुकूल एवं बहु निरूपित समझनी चाहिए।

१ क. प्रि. ३।२२–२३
२ वही ३।२४
३ वही ३।२५
४ वही २६ २० ८ अ ३
५ वही ३।३२–३३। ५–३६

इन बातों का निरूपण प्राकृतपैंगलम् के प्रथम परिच्छेद प्रारम्भ में तथा वृत्तरत्नाकर की भट्टनारायणी टीका में प्रथम अध्याय में देखा जा सकता है।

गण देवता

कवि ने सगण का देवता 'काल' लिखा है। प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार निरूपण है

पुहवी जल सिहि पवण गअण सूरो अ चंदमा णाओ।
गण अट्ठ इट्ठ देओ जहसंख पिंगले कहिआ॥[1]

यहाँ काल नहीं पवन का उल्लेख है। किंतु इसका काल पाठांतर भी मिलता है।[2]

भट्टनारायण ने किसी अनिर्दिष्ट व्यक्ति के आधार पर नगण का देवता नाग लिखा है। प्राकृतपैंगलम् में नाग ही है। केशव ने भी नाग ही लिया है। अन्य बातें सामान्य हैं।

निष्कर्ष

केशव की छंदमाला में निरूपित छंदों एवं तत्सम्बन्धी अन्य निरूपणों के इस अध्ययन के अनन्तर हम निष्कर्ष रूप में कुछ बातें कह सकते हैं

१ केशव का निरूपण शास्त्रीय ग्रंथों पर आधारित है। इनमें प्राकृतपैंगलम् और उनकी परम्परा के ग्रंथों का योगदान प्रमुख है।

२ केशव के छंद निरूपण का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। उन्होंने प्रायः प्रचलित तथा अल्प परिचित अनेक प्रकार के वार्णिक मात्रिक छंदों को लिया है, और अधिकांश के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

३ केशव ने परिचय के लिए सरल छन्दों को ही प्रायः चुना है। वह मात्रिक वृत्तों में तो यह बात अत्यंत स्पष्ट है। किसी एक ही गण द्वारा कुछ पदों बनाकर बनने वाले छन्दों का उन्होंने प्रायः लिया है। इससे कवियों और पाठकों को सरलता होगी। यही दृष्टि सामने रही है। इस चुनाव में अनेक अपरिचित छन्द भी आये हैं, यद्यपि उनमें से अनेक का केशव ने स्वयं रामचन्द्रिका में प्रयोग किया है।

४ वार्णिक वृत्तों में संस्कृत परम्परा के ग्रंथों से अनेकत्र नाम नहीं मिलते। इन स्थलों पर नाम प्रायः प्राकृत परम्परा से लिए गए हैं। किंतु ऐसे भी अनेक छन्द हैं जिनमें प्राकृतपैंगलम् आदि के नामों का भी अनुसरण नहीं है। ऐसे स्थलों में केशव ने अल्पपरिचित नामों को लिया है। इसमें अपने को प्रभावशाली बनाना ही उनका उद्देश्य हो सकता है।

५ कहीं कहीं लक्षणों में या लक्षणानुरूप उदाहरणों में प्रकाशित छंदमाला के अनुरूप कुछ गड़बड़ी दिखाई देती है। ऐसे स्थलों का विश्लेषण करने पर लिपि

१ प्रा० पैं० १।३४
२ देखिए वही पृ० ४

कारों की भूल की सहज सम्भावना स्पष्ट होती है। यही बात कतिपय मात्रिक छंदों के भेदों के विषय में कही जा सकती है। केवल छप्पय के भेदों में हेर-फेर निर्विकार का किया हुआ प्रतीत नहीं होता। पर वहाँ का और भी पाठ गड़बड़ है। हमारी सम्भावना यह है कि किसी परवर्ती व्यक्ति ने लिपि आदि करते हुए पाठ को अपूर्ण पाकर उसे अपनी ओर से सुधारने का प्रयास किया है। अन्यथा वह विषय एक शास्त्रीय पण्डित के लिए इतना स्पष्ट है कि उसमें अन्तर देना कठिन है।

६ केशव के दृष्टिकोण में कहीं सो निद्धा का उद्देश्य स्पष्ट होता है, तब वे सरलता की ओर जाते दिखाई पड़ते हैं। कभी वे अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन करना चाहते हैं और अनावश्यक भेद विस्तार का उल्लेख भी कर देते हैं। कभी इस मौलिकता हीन क्षेत्र में नवीन या अल्प परिचित नामों आदि को देकर मौलिकता की प्रभावशीलता प्राप्त करना चाहते हैं।

७ मौलिकता की झलक कभी अत्यन्त सामान्य विषयों में दिखाई दे जाती है। जैसे छप्पय के दोषों को प्राकृतपैंगलम् की अपेक्षा अधिक साफ रूप में प्रस्तुत किया गया है। यों कवि के नाते उनके निरूपण में कहीं कहीं प्राकृतपैंगलम् से अच्छी सफाई भी मिल जाती है।

८ छन्दशास्त्र के इस ग्रन्थ का हिन्दी काव्यशास्त्र के क्षेत्र में केशव द्वारा ही प्रथमावतार हुआ था इस तथ्य को ध्यान में रखकर हम छन्दमाला का योगदान महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। वे संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः निरूपित वार्णिक वृत्तों तक ही नहीं रहे प्राकृत ग्रन्थों में निरूपित उन अनेक मात्रिक वृत्तों का भी उन्होंने निरूपण किया जो प्रयोग द्वारा हिन्दी के अपने छन्द बन चुके थे। इस परिचय को हिन्दी में लाना कितना आवश्यक रहा होगा यह उस युग का भाषा कवि ही समझ सकता है।

९ सब मिलकर छन्दमाला का निरूपण शास्त्रीय भूमि पर आधारित शिष्टदृष्टि की सफलता के सहित तथा केशव की अपनी प्रवृत्तियों की छाप लिए हुए है।

सप्तम प्रकाश

अन्य काव्यांग

पिछले प्रकाशों में हमने केशव के आचार्यत्व के सन्दर्भ में उनके ग्रंथों में निरूपित प्रमुख काव्यांगों का अध्ययन किया है। ये विषय केशव ने भी विस्तार के साथ लिए थे, समीक्षात्मक अध्ययन के लिए भी ये विस्तार की अपेक्षा रखते थे, साथ ही काव्यशास्त्र में उनकी अपनी विशिष्ट स्थिति भी है। इन बातों को ध्यान में रखकर उनका अध्ययन हमने स्वतन्त्र प्रकाशों में अलग अलग रखकर किया है। अब हम यहां इस प्रकाश में ऐसे विषयों को लेना चाहते हैं जिनको या तो केशव ने अपने निरूपण में विस्तार नहीं दिया या फिर महत्त्व की दृष्टि से काव्यशास्त्र में जिनका स्थान उतना ऊंचा नहीं है। प्रथम श्रेणी के तीन विषय हमारे सामने हैं दोष निरूपण, वृत्ति निरूपण और चित्रकाव्य निरूपण। इन्हें केशव ने अधिक विस्तार के साथ निरूपित नहीं किया। चित्रकाव्य को इनमें अपेक्षाकृत फिर भी अधिक अवकाश मिला है। द्वितीय प्रकार का विषय है कविशिक्षा। केशव के निरूपण में इस विषय से सम्बद्ध बातों का विस्तार एवं अवकाश तो बहुत है पर संस्कृत काव्यशास्त्र के भीतर उसका स्थान उतने महत्त्व का नहीं है जितना पीछे के प्रकाशों में निरूपित काव्यांगों का है। वस्तुतः कविशिक्षा काव्यशास्त्र का मूल काव्यांग रहा भी नहीं है। कविशिक्षा से सम्बद्ध विषय जिनका केशव ने निरूपण किया है प्रमुख रूप से हैं कवि-समय, नखशिख-वर्णन, संख्या नियम, ऋतुवर्णन (बारहमासा) तथा सामान्यालंकार के अन्तर्गत निरूपित काव्य के वर्ण्यविषय। इन सब बातों को ही हम इस प्रकाश में अपने अध्ययन का विषय बनाना चाहते हैं। हमारे अध्ययन का क्रम इस प्रकार रहेगा

क—दोष निरूपण
ख—वृत्ति निरूपण
ग—चित्रकाव्य निरूपण
घ—कविशिक्षा
१ कवि समय २ नखशिख ३ संख्यानियम ४ बारहमासा ५ सामान्यालंकार—काव्य के वर्ण्यविषय।

दोष निरूपण

संस्कृत काव्यशास्त्र में दोष निरूपण किसी न किसी रूप में भरत से ही

चला आ रहा है। हां उसके प्रति दृष्टियों में अन्तर और विकास होता रहा है। दोष का स्वरूप उसका काव्य के शब्द अर्थ रस आदि से सम्बन्ध भेद उपभेद आदि बातें विविध आचार्यों ने विविध रूपों में निरूपित की हैं। यहां उन सबका विस्तृत परिचय इसलिए अपेक्षित नहीं है कि केशव ने इस विषय में किसी विशिष्ट आचार्य का अनुसरण नहीं किया है। दोष निरूपण के विषय में उन्होंने अपना निजी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। यहां केशव के दृष्टिकोण की निजता और उसकी प्रेरणा को समझने के लिए ही प्राचीन दृष्टिकोणों की चर्चा हम अपेक्षित है।

भरत ने १६वें अध्याय में दस काव्यदोषों का निरूपण किया है। ये शब्द और अर्थ दोनों से सम्बद्ध हैं रस से नहीं।[1] भामह ने २५ तथा दण्डी ने १० दोषों का निरूपण किया है। इनके दोष भी युग चेतना के अनुरूप शब्द और अर्थ के विविध रूपों से सम्बद्ध हैं कुछ छन्दों में भी। वामन ने दोषों को पद पदार्थ और वाक्य वाक्यार्थ से सम्बद्ध करके देखा है। रुद्रट की भी यही दृष्टि रही।

आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम दोषों को रस से सम्बद्ध किया। शब्द और अर्थ के दोष भी रस को प्रभावित करने के कारण 'दोष' हैं। परवर्ती ध्वनिवाद में यही मान्यता सुप्रतिष्ठित हुई जिसकी पूर्ण व्यवस्था हम मम्मट में मिलती है।[2] विश्वनाथ ने भी उसीका अनुगमन किया।

अलंकारवादी आचार्य भामह से लेकर ही कतिपय अलंकारदोषों की चर्चा भी करते पाए जाते हैं। कतिपय आचार्यों ने दोषों को गुणाभाव के रूपों में देखते हुए उनका सम्बन्ध गुणों से जोड़ा है। किन्तु इनके विषय में यह ध्यान रखना है कि ये आचार्य गुणों का सम्बन्ध भी रसों से न जोड़कर शब्द तथा अर्थ से जोड़ने वाले थे। इन दोषों को गुणाभाव या गुण विपर्यय के रूप में मानना भी शब्द अर्थ से ही सम्बद्ध करना था रस से नहीं।

इस प्रकार प्राचीन आचार्य ध्वनिपूर्व युग में दोषों को शब्द अर्थ के विविध रूपों से सम्बद्ध करते हैं आनन्दवर्धन परम्परा के आचार्य रस से।

काव्य को पुरुष रूप में कल्पित करके उसके विविध अंगों को मानवीय अंगों के रूपक में देखने का काम अनेक आचार्य कर रहे थे। राजशेखर ने ऐसी ही कल्पना की है। मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्य भी शब्द अर्थ को काव्यशरीर रस को आत्मा, गुणों को आत्म-गुण अलंकारों को कटक-कुण्डलादि और दोषों को काणत्व-खंजत्व के रूप में देखते हैं।

केशव के सामने ये सब निरूपण विद्यमान थे। दोषों की एक लम्बी संख्या

---

१ गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥
—ना० शा० १६।८८

२ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥
—का० प्र० उ० ७

स्वीकृत थी। मम्मट ने अलंकार दोषों को निकालकर भी लगभग ६० दोषों को मान्यता दी थी। सम्भवतः केशव ने हिंदी के सामान्य भाषा कवि के लिए इस सब जंजाल को अनावश्यक और दुरूह समझा और काव्य शरीरी की कल्पना के साथ दोषों की योजना करते हुए उनका परिचय नये ढंग से दिया।

केशव का दोष निरूपण

केशव ने दो स्थलों पर दोष निरूपण किया है, एक तो रसिकप्रिया के अंतिम प्रभाव में अनरस कहकर रसदोषों का, दूसरे कविप्रिया के तृतीय प्रभाव में काव्य दोषों का। रसिकप्रिया का दोष निरूपण केवल रस से सम्बद्ध होने के कारण काव्य दोषों का ही एक अंग है। कविप्रिया के दोष निरूपण के अन्त में इसीलिए केशव ने रसिकप्रिया में विवेचित उपयुक्त रस-दोषों की स्मृति भी दिला दी है

केसव नीरस, विरस अरु दुस्सधान विधानु।
पात्र जु दुष्टादिकन को रसिकप्रिया तें जानु ॥[1]

कविप्रिया में काव्य-दोषों का निरूपण दो वर्गों में बांटकर हुआ है सामान्य और विशेष। पहले केशव ने सामान्य रूप से काव्यपुरुष के शरीर रूपक को ध्यान में रखकर दोषों के ५ वर्ग या भेद किए हैं

१—अन्ध — का मपथ के विरुद्ध वर्णन वाला काव्य अन्ध होता है।

२—बधिर — अभिप्रेत अर्थ के विरुद्ध अर्थ के वाचक शब्दों के प्रयोग पर बधिर दोष होता है।

३—पगु — छन्द शास्त्र के नतन के चरण कहे जाते हैं। छददोष होने पर काव्य पगु हो जाता है।

४—नग्न — भूषण हीन काव्य नग्न होता है। केशव का भूषण या अलंकार का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है यह हम जानते हैं। उसमें वर्ण्य विषयों को समेटने वाले सामान्य तथा अलकारक विशिष्ट अलंकार दोनों ही आते हैं। इन विशिष्टालंकारों में ही समस्त रस रसवत अलंकार के रूप में सम्मिलित हैं। अत इस नग्न वर्ग के दोषों के दो उपवर्ग है अलंकारहीन तथा रसहीन।

५—मृतक — अर्थ शून्य काव्य 'मृतक' कहलाता है।

इन सामान्य दोषों के अनन्तर नमूने के तौर पर कुछ दोष परिचित कराए गए हैं जिन्हें हम विशेष दोष कह सकते हैं। यों सामान्य और विशेष के अन्तर का उल्लेख केशव ने स्पष्ट नहीं किया किन्तु उनकी निरूपण पद्धति से यही निष्कर्ष निकलता है। विशेष रूप में परिचित कराए गए दोष निम्न १२ हैं—

१—अगण	२—हीनरस	३—यति भंग
४—व्यर्थ	५—अपार्थ	६—हीनक्रम

1 क० प्रि० ३।५६

७—कर्णकटु ८—पुनरुक्ति ९—देश विरोध
१०—काल विरोध ११—लोकन्याय विरोध १२—आगम विरोध

इनके अतिरिक्त रसिकप्रिया में निरूपित ५ रस-दोषों की याद दिलाई गई है —

१—प्रत्यनीक २—नीरस ३—विरस
४—दुस्सधान ५—पात्रादुष्ट

केशव के इन विशिष्ट दोषों को उपयुक्त पांच वर्गों में इस प्रकार रखा जा सकता है

१—अंध — पथ विरोधी दोष
देश विरोध काल विरोध लोकन्याय विरोध आगम विरोध

२—बधिर — शब्द विरोधी दोष
हीन क्रम कर्णकटु शाब्दी पुनरुक्ति

३—पंगु — छन्द विरोधी दोष
अगण (यतिभंग)

४—नग्न — अलंकार तथा रस विरोधी दोष—
क—हीनालंकार
ख—हीनरस प्रत्यनीक नीरस, विरस दुस्सधान

५—मृतक — अर्थ दोष
व्यर्थ अपार्थ आर्थी पुनरुक्ति

केशव ने यह समन्वय दिखाया नहीं है किन्तु उन्होंने जो काव्य के शरीरी रूपक को लेकर दोषों के वर्गों का नामकरण किया है उसमें उनके बताए दोष इसी प्रकार रखे जा सकते हैं।

वस्तुतः केशव ने दोषों का परिचय बड़े ही स्थूल और सामान्य ढंग का प्रस्तुत किया है। जिन दोषों को हम विशिष्ट दोष कह रहे हैं उनमें बड़े ही सामान्य कोटि के दोषों को परिचित कराया गया है। जिन्हें भी परिचित कराया गया है वे सब के साथ नियम रूप में केशव के वर्गों में नहीं आते। उदाहरणस्वरूप पुनरुक्ति को अलंकार दोष में रखा जाए अर्थदोष में रखा जाए या शब्ददोष में। इन सबमें अर्थदोष का वर्ग उनके लिए अधिक ठीक है। किन्तु इस वर्ग का नाम केशव ने मृतक दिया है। यह नाम सर्वात्मना अर्थशून्य काव्य के लिए तो ठीक हो सकता है किन्तु हलके अर्थ दोषों का हीन अर्थ जैसा वर्ग होना चाहिए था। अतः इन दोषों का परिचय सामान्य दृष्टि से ही समझना चाहिए।

केशव के इस दोष निरूपण पर हम यहां कुछ समीक्षात्मक विचार कर सकते हैं। केशव ने काव्यदोषों का जो अन्ध बधिर पंगु नग्न और मृतक के रूप में शारीरिक वर्गीकरण किया है उसे सामान्यतः सिद्धान्त रूप में ही लिया जा सकता है नियम के रूप में नहीं। इन वर्गों को न्याय या औचित्य-सम्बन्धी दोष शब्ददोष छन्ददोष अलंकार-दोष जिसमें रसदोष भी सम्मिलित है तथा अर्थदोषों के रूप में

ही क्रमशः लेना चाहिए। शब्ददोषों में पद, पदांश, वाक्य वाक्यार्थ के सभी दोष लेने होंगे, अर्थदोषों में सभी प्रकार के अर्थदोष।

केशव का यह आलंकारिक वर्गीकरण किसी प्राचीन आचार्य में अपने इस रूप में नहीं मिलता। साथ ही परवर्ती हिंदी आचार्यों में भी अनुगत नहीं हुआ। या देव के दोष निरूपण पर केशव का कुछ प्रभाव देखा जा सकता है, सुरति मिश्र, श्रीपति और जगतसिंह के ग्रंथों में कुछ नाम केशवी दोषों के पाए जा सकते हैं, किंतु सामान्यतः इस विषय में आचार्यत्व संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित दोषों को ही स्वीकार करके चला है।

केशव के इस दोष वर्गीकरण के आधार पर उनके कतिपय दृष्टिकोणों पर भी प्रकाश पड़ता है। एक तो यह कि केशव अलंकार या रस को काव्य की आत्मा न मानकर अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं, क्योंकि उन्होंने अर्थशून्य काव्य को ही मृतक कहा है, रसशून्य या अलंकारशून्य को नहीं। दूसरे यह कि नग्न दोष के प्रसंग में भी उन्होंने जो रसों को अलंकारों के भीतर ही रखा है, वह उनके इस दृष्टिकोण के ही मेल में है कि रस भी रसवद् अलंकार ही हैं। यह बात उनके दृष्टिकोण से भले ही ठीक हो, किंतु उनके समय तक रसों को जो महत्त्व मिल चुका था, उसके अनुरूप नहीं कही जा सकती। काव्यरसों को रसवद् अलंकार कहने का एक कारण यह समझ में आ सकता है कि केशव भक्ति-शृंगार को ही केवल स्वतंत्र 'रसराज' का स्थान दे चुके थे, अतः उसी परम्परा से प्रभावित होकर उन्होंने काव्यरसों को रसवद् अलंकार कहा और यह बात प्राचीन आचार्यों से मेल भी खा गई। किंतु उस स्वतंत्र भक्ति रस के निरूपित दोषों को भी हीनरस से सम्बद्ध करके नग्न की कोटि में कम रखा जा सकता है। यहाँ प्रत्यनीक आदि रसदोष केवल भक्ति शृंगार के ही नहीं रह जाते, उनका सम्बन्ध रस सामान्य से मानना होगा। तभी 'हीनरस' वर्ग से सम्बद्ध करके उन्हें नग्न काव्य कहा जा सकेगा। अतः यह सब मौलिक है, पर अधिक युक्त नहीं।

केशव के विशिष्ट दोषों के स्वरूप और नाम भी प्रायः उनकी अपनी ओर से रखे हुए हैं। पंथदोष में वि उपक्रम विपरीतता या विरुद्धता का द्योतक है। क्रमहीन भग्नप्रक्रम का पर्याय है। पुनरुक्त को शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार निभाना चाहा है। अतः यही तथ्य सामने आता है कि केशव ने दोषों का निरूपण शास्त्रीय गम्भीरता से नहीं किया, सामान्यतः भाषा कवियों की शिक्षा की दृष्टि से ही किया है। इन दोषों के रूप में उन्होंने छंद के गण और यतियों के प्रति सावधान किया है, देशकाल शास्त्र और साहित्य की परम्पराओं के प्रति सावधान किया है तथा रस और अर्थ के प्रति जागरूक किया है। बस, इससे अधिक इनका उपयोग नहीं है।

फिर भी केशव की मौलिकता इस क्षेत्र में इस बात में स्वीकार करनी पड़ती है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम दोषों को जो व्यापक भूमि पर काव्य-पुरुष के आलंकारिक रूपक से जोड़ा है। यदि प्राचीन आचार्यों के द्वारा निरूपित समस्त दोषों को वे अपने

नये वर्गीकरण में फिट भी कर देते तो उनकी मौलिकता सरल और अनुगम्य हो जाती। शायद ऐसा करना उनके लिए कुछ कठिन न था पर वे अपने सामान्य शिष्यों के ग्रंथ में इस विषय समझते थे। उनके सामने दोष-चर्चा करते समय रायप्रवीन बैठी हुई थी उस बेचारी को भ्रम से बचाना उद्देश्य था शास्त्रीय झमेले में फँसाना नहीं। रायप्रवीन को वे दोष-परिचय करा रहे थे, यह बात निम्न शब्दों में स्पष्ट है

> अंध बधिर अरु पंगु तजि नग्न मृतक मतिसुद्ध।
> अंध विरोधी पंथ को बधिर सु शब्दविरुद्ध॥
> छन्दविरोधी पंगु गनि नग्न जु भूषणहीन।
> मृतक कहावै अर्थ बिनु केशव सुनहु प्रवीन॥[1]

इन शब्दों में प्रवीन को सम्बोधन करती हुई तजि तथा गनि आज्ञावाचक क्रियाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं। अधिकारी की दृष्टि से ही विषय का प्रतिपादन भी सीमित हो जाया करता है।

केशव के निरूपण की पद्धति को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र और कृष्णचन्द्र वर्मा आदि अनेक विद्वानों ने केशव निरूपित दोषों की संख्या १८ मानी है। वे अंध बधिर आदि भेदों को भी सामान्य दोषों के साथ मिलाकर गिनते हैं। साथ ही प्रायः उन रसिकप्रिया में निरूपित दोषों को भूल जाते हैं जिनका स्मरण केशव ने प्रभाव के अंत में दिला दिया है। इस भ्रान्त धारणा का निराकरण न होने के कारण दोषों के विषय में उन लोगों की आलोचनाएँ भी अनावश्यक और असम्बद्ध हैं।[2] हम निवेदन कर चुके हैं कि केशव के निरूपण को उनकी निरूपण पद्धति पर ध्यान रखकर ही ठीक से समझा जा सकता है।

वृत्ति विवेचन

काव्यशास्त्र में उल्लेखनीय विवेचन वृत्तियों का आता है। यद्यपि इनका निरूपण अधिक विस्तार से नहीं किया गया तथापि जो भी संक्षिप्त निरूपण हुआ है उसके आधार पर ही हम केशव का दृष्टिकोण समझ सकते हैं तथा उसकी शास्त्रीयता की परख भी कर सकते हैं।

रसिकप्रिया के १५ वें प्रभाव में वृत्तियों का प्रसंग आता है। इसमें उत्थान

१ कविप्रिया प्रभाव ३ छन्द ६ ७
२ कृष्णशंकर शुक्ल केशव की काव्यकला
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र पृ० ५८ ५
डा० हीरालाल दीक्षित आचार्य केशवदास
कृष्णचन्द्र वर्मा केशव एक अध्ययन
केशव के काव्य ... सम्बन्धी मतवाद ...

कैशिकी भारती आरभटी और सात्वती इन चार वृत्तिया का वणन किया है।[1] चार दोहो म इनके लक्षण दिए गए हैं और चार छन्दो म इनके उदाहरण। ये लक्षण वस्तुत लक्षण नहीं हैं, किस वृत्ति स किस किस रस का सम्ब ध है, आदि कतिपय बाता का सकेत किया गया है। केवल इन लक्षणो पर आश्रित रहकर वत्तियो का स्वरूप नही समभा जा सकता। वास्तविक बात तो यह है कि जिसे समूचे सस्कृत काव्यशास्त्र म फल वृत्ति निरूपण का अच्छा परिचय नही है वह केशव की बात को सही दृष्टिकोण क साथ ग्रहण भी नही कर सकता। यह स्पष्ट है कि यहा केशव का उद्देश्य वृत्तियो का शास्त्रीय विवेचन करना नहीं है अपितु रस क सन्दभ म वृत्तिया का उल्लख करके वह अपन रसग्रन्थ को एक साग रूप ही देना चाहते हैं। केशव क निरूपण की ओर आने स पहल हम सस्कृत आचार्यों की प्रमुख मान्यताओ पर एक विहगम दृष्टि डालना चाहते हैं।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे वत्ति निरूपण

सस्कृत साहित्य म वृत्ति शब्द अनक अर्थों म प्रयुक्त पाया जाता है। साहित्य शास्त्रीय ग्रन्था म भी कई अर्थों म इस शब्द का प्रयोग हुआ है। कारिकाओ की वृत्तिया सूत्रो की वत्तिया भी प्रचलित हैं। व्याकरण म समासो की वत्तिया की चर्चा आती है इस अथ का साहित्य शास्त्र म उपयोग किया गया है। इन अर्थों स हमारा यहा सीधा सम्बन्ध नही है। अभिधा लक्षणा आदि शब्द शक्तियो को भी शब्दवृत्ति कहा गया है। इस अथ से भी हमारा सम्बन्ध नही है। सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास हम बताता है कि वत्तियो का चर्चा मूलत नाटय क सदभ म प्रारम्भ हुई काव्य क सन्दभ म वत्तियो के स्थान पर रीतिया की चर्चा प्रारम्भ हुई और परवर्ती काल म आकर धीरे धीरे काव्य म नाटयवत्तिया घुल मिल गइ और रूपान्तर पा गइ।[2] केशव क वत्ति निरूपण म भी हम वही रूपान्तरित वत्तिया पात हैं।

नाटयवृत्तिया

नाटयवत्तिया का प्रथम निरूपण हमें अन्य कई प्रमुख काव्यागा क समान भरत क नाटयशास्त्र में ही उपलब्ध होता है।[3] य नाटयवृत्तिया ४ हैं—कैशिकी भारती सात्वती और आरभटी। नाटय क सन्दभ में ही इनक विषय में दृष्टिकोण का विकास होता रहा है तथापि भरत की मूल दृष्टि सवथा परिवर्तित नहीं हुइ।

[1] इहि विधि बरन्यो बरन बहु नव रस रसिक विचारि।
बाधो वृत्ति कवित्त की कहि केसव विधि चारि॥ र प्रि०, प्र० १४ ४१
प्रथम कसिकी भारती आरभटी भनि भाति।
कहि पसव सुभ सात्वती चतुर चतुर विधि जानि॥ र प्रि०, प्र १५ १

[2] दी हिस्ट्री आफ वृत्ति इन काव्य' 'सम् कन्सप्ट्स आफ अलकारशास्त्र' डा० वी रा वन् पृ० १८२–१९३

[3] नाट्यशास्त्र अध्याय २०

वृत्ति शब्द को इस सन्दर्भ में व्यवहार के अर्थ में ग्रहण किया गया है। धनजय ने दशरूपक में नायक के व्यापार को वृत्ति कहा है।[1] यह नायक वस्तुतः मूल अनुकार्य पात्र नहीं नाट्य स्थित प्रधान पात्र है इसीके वाचिक आंगिक सात्त्विक व्यापारों या चेष्टाओं को जिन्हें विशेष दृष्टि से व्यवहार नाम दिया गया है, वृत्ति कहा गया है।[2]

दशरूपककार ने इनके लक्षण इस रूप में दिए हैं—

कैशिकी— तत्र कैशिकी।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदु शृङ्गारचेष्टितैः ॥[3]

सात्त्वती— विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्याः सांघात्यः परिवर्तकः ॥

आरभटी— आरभटी पुनः।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥[4]

भारती— भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।[5]

यह सामान्यतः नाट्यवृत्तियों के सम्बन्ध में प्रतिनिधि विचारधारा है। यों भरत से लेकर विश्वनाथ तक इनके सम्बन्ध में विचारधारा में विकास भी पाया जाता है तथापि मोटे रूप से नाट्य के सन्दर्भ में वृत्तियों की परिचायक विचारधारा के रूप में हम इसे स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि भरत की मान्यता की मूल चेतना इसमें सुरक्षित रही है।

इन नाट्यवृत्तियों में भारती को वस्तुतः व्यवहार के रूप में नहीं वाग्व्यापार के रूप में स्वीकार किया गया है। भरत ने भारती का लक्षण इस प्रकार किया है—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या
स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

इसी कारण इस वृत्ति का सम्बन्ध नाटक के कतिपय वर्णनात्मक अंगों से जोड़ा गया है जैसे प्ररोचना वीथी प्रहसन आदि से।[6] इसी वाक्य प्रधानता के

---

१ तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा। दश० प्र० २ ४७

२ [illegible] —अभिनवभारती अध्याय २ श्लो० १ का ३ पृ० ८३

३ दश० २।४७

४ वही २।५३

५ वही ।५६

६ वही ३।५

७ नाट्यशास्त्र [illegible]
कैशिकी श्लोक ४३ सात्त्वती श्लोक ४१ आरभटी श्लोक ६५ भारती श्लोक २६

८ [illegible] श्लो० २६

९ प्ररोचनामुखे चैव वीथी प्रहसन तथा।

कारण इसे अर्थवृत्ति न मानकर शब्दवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

अन्य तीनों वृत्तियाँ नाट्य के इतिवृत्त, प्रसंग-निरूपण, प्रदर्शन से सम्बद्ध हैं। कैशिकी में कोमल भावों और प्रसंगों का समावेश है, आरभटी में परुषता का। सात्वती की स्थिति बीच की समझनी चाहिए।

इन वृत्तियों का विशिष्ट-विशिष्ट रसों से सम्बन्ध स्वयं भरत ने ही निर्धारित किया है, जो इस प्रकार है—

कैशिकी—हास्य, शृंगार
सात्वती—वीर, अद्भुत, शान्त
आरभटी—रौद्र, भयानक
भारती—बीभत्स, करुण

रसों के साथ विशिष्ट वृत्तियों का यह सम्बन्ध-निर्धारण स्वयं भरत में दृष्टिकोण-भेद का संकेत करता है। एक ओर तो भारती को वाक्प्रधाना वृत्ति कहा गया है जिसका अर्थ है कि भारती एक वाग्वृत्ति के रूप में समस्त रसों से सम्बद्ध है, दूसरी ओर अन्य अर्थवृत्तियों के समान उसे भी दो विशिष्ट रसों बीभत्स और शृंगार से सम्बद्ध किया गया है।[2] इस दृष्टिभेद ने परवर्ती युग में भी वृत्तियों के सम्बन्ध में दृष्टि-भेद बनाया है। धनंजय ने कैशिकी को शृंगार से, सात्वती को वीर से तथा आरभटी को रौद्र और बीभत्स से सम्बद्ध करते हुए भारती को समस्त रसों में जोड़ा है—

> शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
> रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती॥[3]

यह दृष्टिकोण भारती की वाक्प्रधानतावाली मान्यता के आधार पर ही बन सका है, विशिष्ट रस-सम्बद्धता के आधार पर नहीं। इसी प्रकार इनकी विशिष्ट रस-सम्बद्धता भी सर्वथा एकरूप नहीं रही है। उदाहरणस्वरूप विद्यानाथ इस सम्बन्ध को इस प्रकार रखते हैं—

सत्त्वाभ्यासात्तु विज्ञेयास्त्वारो-द्भवमागता ॥ नाट्यशास्त्र २०।२७
तथा देखें दशरूपक प्र० २, श्लो० ४

2 शृङ्गाररसानुरक्तेन नाथ-वर्त्तित परा।
चतुर्थी भारती नापि वाच्य नाट्यलक्षणा ॥
कैशिकी भारती चापि सात्वत्यारभटीति च।
पठन्ति पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटा प्रतिजानते ॥—ना० शा०, अ० २, श्लो० ६० ?
रसप्रयोगमासां च कीर्त्यमानं निबोधत।
हास्य शृङ्गारबहुला कैशिकी परिचक्षिता।
सात्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया॥
रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः।
बीभत्से करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्तिता॥—ना० शा०, अ० २०, श्लो० ७२-४

3 द० रू० । २ । ६२

4 प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ४३-४५, कल्लिनाथ म०, सम् कन्सेप्टस इत्यादि, डा० राघवन्, पृ० १६१

कशिकी—शृगार करुण।
आरभटी—रौद्र वीभत्स।
सात्वती—वीर भयानक।
भारती—हास्य शान्त अदभुत।

का यवत्तिया

पीछे हमन नाट्य क सम्बध म कशिकी आदि वृत्तिया की चर्चा की है। का य के सन्दभ म इस शब्द का प्रयोग निम्न रूपो म हुआ है—

अनुप्रास जाति

समान वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहा जाता है। भामह न अनुप्रास का ल ण एव उदाहरण दकर उसक ग्राम्यानुप्रास और लाटीयानुप्रास दो भद किए हैं। इन अनुप्रास भदो को उनक टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज न वृत्ति नाम दिया है—

भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रास व्याख्यातवान्।[1]

उदभट ने अनुप्रास क तीन भद करत हुए एक भद का नाम ही वृत्त्यनुप्रास रखा है और इसकी परिधि म आन वाली तीन वत्तिया की चर्चा की है। परुषा उपनागरिका और ग्राम्या। पहली म परुष वर्णों का बहुल प्रयोग होता है दूसरी म कोमल वर्णों का। तीसरी ग्राम्या की स्थिति बीच की है। उदभट की इन वृत्तियो म विशिष्ट वर्णों का बहुल प्रयोग ही अपेक्षित नही अपितु उनका अनुप्रासात्मक प्रधान समान वर्णात्मक प्रयोग भी अपेक्षित है क्योकि य अनुप्रास क रूप में ही यहा स्वीकृत की गई हैं। विशिष्ट वर्ण विशिष्ट रसो की अभिव्यजना में सहायक होत ह यह आज नय पुराने सभी आचाय किसी न किसी रूप म स्वीकार करत है। अत अनुप्रास जातियों का विशिष्ट रसो की अभिव्यक्ति स भी सम्बध है ही। इस प्रकार उदभट क अनुसार तीन वृत्तिया होती हैं—परुषा उपनागरिका और ग्राम्या। य वत्तिया वर्ण जातिया ही हैं। इसी कारण प्रतीहारेन्दुराज न भामह और उदभट क आधार पर वत्तिया को रस की अभिव्यक्ति म सहायक वर्णों का यवहार विशष कहा है—

अतस्तावदनयो रसाभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिका प्रथममभिधीय त। ताश्च तिस्र परुषोपनागरिकाग्राम्यात्वभेदात्।[2]

अभिनवगुप्त न भी वत्तिया का अनुप्रास जाति[3] क रूप म ही स्वीकार किया है। व ना वृत्ति शब्द का युत्पत्ति भी इसी दृष्टि स करत है—

वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति।

१ मन कल्पद्रुम ग्रन्थ सम्पादक रा म वा रत्नाकर पृ १ ३
वही पृ १ ४
३ ध्वन्यालोक लोचन पृ ४ ४६
४ वही पृ १८ १ ८
स्पष्ट वृत्त्य नुप्रासाख्या नागरिकाद्या नात्र वकल्प्या । वही पृ०

मम्मट ने भी रस विषयक नियत वर्ण-गत व्यापार को ही वृत्ति कहा है—

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार ।[1]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उद्भट से लेकर मम्मट तक परुषा उपनागरिका और ग्राम्या नाम से तीन प्रकार के वर्ण-व्यवहारों को वृत्ति कहा गया है और उन्हें अनुप्रासजाति के रूप में स्वीकार किया गया है।

इस चेतना में कुछ विकास और परिवर्तन भी लक्षित होता है। आनन्दवर्धन ने इन्हें वर्णव्यवहार के रूप में न लेकर शब्द-व्यवहार के रूप में स्वीकार किया है—

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान वाच्याश्रयो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तय। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्या।[2]

या काश्चित् प्रसिद्धा उपनागरिकाद्या शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वाश्रया कैशिक्याद्या ता सम्यक् प्रतिपत्तिपदवीमवतरन्ति।[3]

वृत्तियों को वर्ण-व्यवहार से शब्द-व्यवहार की ओर लाने में रीति की विचार धारा का योग है। रीति भी विशिष्ट वर्णों की रचना ही थी किन्तु उसे वामन के अनुसार शब्द रचना के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। उन्होंने गुण विशिष्ट पद रचना को रीति कहा था। इस प्रकार उनकी रीति से दो तत्त्व जुड़े हुए थे—विशिष्ट वर्ण-समात्मक पद और गुण। ये गुण उनकी दृष्टि से तो शब्द और अर्थ के ही धर्म थे किन्तु ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा के साथ साथ इन्हें रस धर्म के साथ स्वीकार किया जाने लगा। इस विकसित दृष्टिकोण का फल यह हुआ कि धीरे धीरे रीतियों और वृत्तियों को एक ही समझा जाने लगा। वामनादि की वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियां ही क्रमशः उपनागरिका परुषा और कोमला हैं ऐसा मम्मट की ही स्वीकृति हमारे सामने है—

माधुर्यव्यञ्जकवर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

ओज प्रकाशकैस्तु परुषा कोमला परै ॥

केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मता ।

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडीया-पांचालाख्या रीतय उच्यन्ते।[4]

इन वृत्तियों को वर्ण-व्यवहार की अपेक्षा शब्द-व्यवहार के रूप में लेने का अर्थ यह था कि इनमें समान वर्णों के प्रयोग की अपेक्षा समान स्थानीय या समान जातीय वर्णों का ही प्रयोग-बाहुल्य स्वीकार किया जाए।

इस प्रकार काव्य-वृत्तियों को अनुप्रास जाति मानते हुए वर्ण-व्यवहार के रूप में परिगृहीत किया गया फिर शब्द-व्यवहार के रूप में देखा गया और अन्त में इन्हें

१ का० प्र० ९ ६
२ ध्वन्यालोक वृत्ति ३।३३
३ वही, वृत्ति ३।४८ तथा—
रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो ।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा स्थिता ॥ वही ३।३३
४ काव्यालंकारसूत्र
५ काव्यप्रकाश, उ० ९ का० ३-४ तथा वृत्ति।

२—नाट्य वृत्तियाँ और काव्य वृत्तियाँ अलग अलग स्वीकार की गई हैं। नाट्यवृत्तियाँ कैशिकी आदि हैं काव्यवृत्तियाँ उपनागरिका आदि। पहली प्रयवृत्तियाँ के रूप में काव्य में आई दूसरी पहले वर्णवृत्तियाँ थीं पीछे शब्दवृत्तियाँ मानी गई। नाट्यशास्त्र में कैशिकी आदि की कल्पना कुछ भिन्न थी काव्य में आकर वे रीतियों के मूल में समझी गई।

३—कैशिकी आदि तथा उपनागरिका आदि में काव्य में आकर समान तत्वों पर ध्यान दिया गया जैसे रस गुण समास विशिष्ट वर्ण आदि। तथापि कैशिकी आदि को रीतियों का पर्याय नहीं बनाया जा सका। पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कैशिकी आदि के विषय में रीतियों की धारणा का यथासाध्य सपान का दृष्टिकोण रहा। यह एक प्रकार से वृत्ति और जाति का सामंजस्य था। यहाँ वृत्ति से हमारा तात्पर्य नाट्यवृत्तियों से है तथा जाति से अनुप्रास तथा समास की जातियों से।

४—कैशिकी आदि वृत्तियों के सम्बन्ध में काव्य-समीक्षा में आकर विशिष्ट रस सम्बद्धता वाली भरत की दृष्टि सामने रही।

इन निष्कर्षों की छाया में अब हम केशव के वृत्ति निरूपण को समझने का प्रयास करेंगे और उसका सही मूल्यांकन कर सकेंगे।

केशव का वृत्ति निरूपण

केशव ने रसिकप्रिया में अपना वृत्ति निरूपण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है —

इहि विधि बरन्यों बरन बहु नव रस रसिक बिचारि।
बाधौं वृत्ति कवित्त की कहि केसव बिधि चारि॥
प्रथम कैसिकी भारती आरभटी भनि भाति।
कहि केसव सुभ सात्वती चतुर चतुर विधि जाति॥
कहिये केसवदास जहं करुन हास सिंगार।
सरल बरन सुभ भाव जहं सो कैसिकी बिचार॥
बरनिय जामैं बीर रस रसमय अद्भुत हास।
कहि केसव सुभ अर्थ जहं सो भारती प्रकास॥
कसब जाम रौद्र रस भय बीभत्सहि जान।
आरभटी आरम्भ यह पद पद जमक बखान॥
अद्भुत और सिंगार रस समरस बरनि समान।
सुनतहि समुझत भाव जिहि सो सात्वती सुजान॥[1]

केशव के इस निरूपण में हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१ केशव ने चार ही वृत्तियाँ मानी हैं। वे हैं—कैशिकी भारती आरभटी और सात्वती।

[1] रसिकप्रिया प्रभाव १४ छन्द ४९, तथा प्र० १४ ... ६, ६ ८

२ इन वृत्तियों को उन्होंने नाट्यवृत्तियों के रूप में नहीं काव्यवृत्तियों के रूप में ही स्वीकार किया है जैसा कि उन्होंने स्वयं संकेत किया है—बांधौ वृत्ति कवित्त की। कवित्त की अर्थात् श्रव्य काव्य की। हम देख चुके हैं कि कैशिकी आदि वृत्तियां मूलत नाट्यवृत्तियां थीं काव्य वृत्तियों के रूप में नामन के यहां रहकर भी स्वरूपत ज्यों की त्यों नहीं रहीं। केशव में भी ये काव्यवृत्तियों के रूप में ही आई हैं अत उनका मूल रूप नहीं विकसित रूप ही मानना उचित है। यहां भारती और सात्वती भी कैशिकी और आरभटी के समान ही प्रयुक्त हुई हैं न कि अन्तर के साथ जैसा कि नाट्य के संदर्भ में होता था। वहां भारती का शब्दवृत्ति के रूप में लिया जाता था।[1]

३ केशव के इस निरूपण में आनन्दवर्धन का सामंजस्य झलकता है आनन्दवर्धन ने नाट्यवृत्ति और अनुप्रास जातियों का अर्थ-व्यवहार और शब्द व्यवहार के रूप में समन्वय किया था। यह सामंजस्य, जैसा कि हम निरूपित कर चुके हैं वृत्ति और जाति का सामंजस्य था। केशव ने भी वृत्ति और जाति के सामंजस्य की ओर इन दोनों शब्दों का एक साथ ही प्रयोग करते हुए संकेत किया है—

> बांधौ वृत्ति कवित्त की कहि केसव विधि चारि।
> प्रथम कैसिकी भारती आरभटी भनि भांति।
> कहि केसव सुभ सात्वती चतुर चतुर विधि जाति॥[2]

आनन्दवर्धन ने कैशिकी आदि को रसानुगुण अर्थवृत्ति के रूप में लिया और अनुप्रास जातियों का शब्द-व्यवहार के रूप में। परवर्ती आचार्यों ने शब्दवृत्तियों का वैदर्भी आदि रीतियों से एकाकार किया, और वृत्तियों के नाम पर उन्हींकी प्रमुखतया चर्चा की। उन्होंने प्राय कैशिकी आदि का सम्बन्ध श्रव्य काव्य की चर्चा में नहीं किया। इसका यही अर्थ है कि उन्होंने शब्दवृत्तियों में ही अर्थवृत्तियों के तत्त्वों को समाविष्ट करते हुए उन्हें ही अर्थवृत्तियों का स्थानापन्न बना लिया। इसमें एक प्रकार से आनन्दवर्धन का विभाजन रेखा लुप्त होती है। केशव ने इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण अपनाया। जो अर्थवृत्तियों की कुछ उपेक्षा-सी प्रतीत होने लगी थी उसे उन्होंने वृत्तियों के रूप में परुषा उपनागरिका या गौडी वैदर्भी आदि नाम न लेकर कैशिकी आदि नाम लेते हुए पूरा करना चाहा। इन नामों के अपनाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि केशव रसिकप्रिया में अनेक रस-सम्बन्धी मान्यताओं में सीधे भरत और नाट्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों से प्रेरणा ले रहे थे। अलंकार और रीति आदि को वे वामनादि की दृष्टि से स्वीकार कर रहे थे। अत रस के सन्दर्भ में रस के मूल आधार भरत की मान्यता के अनुरूप ही भरत की वृत्तियों को लिया जाए। किन्तु उन्होंने इन्हें भरत की दृष्टि से नहीं आनन्दवर्धन की सामंजस्यवादिनी दृष्टि से स्वीकार किया। इस प्रकार अन्य समकालीन संस्कृत आचार्यों से कुछ भिन्न रूप में केशव ने वृत्तियों के रूप में कैशिकी आदि का स्वीकार किया जिसमें अर्थ

[1] डा० राघवन के उक्त मत के आधार पर
[2] रसिकप्रिया

वृत्ति और नृत्यवृत्ति दोनों का सामंजस्य या नाम नाटकीय अर्थवृत्तियों के ही थे।

४ केशव ने इन वृत्तियों के निरूपण में रसानुगुण शब्द व्यवहार और रसानुगुण अर्थ व्यवहार दोनों से सम्बद्ध उपकरणों का उपयोग किया है। वे एक ओर जहां कैशिकी में सुभ भाव और भारती में सुभ अर्थ की चर्चा करते हैं वहां दूसरी ओर कैशिकी में सरल बरन' और आरभटी में पद पद जमक की। सात्वती में तो प्रसाद गुण का समावेश अपेक्षित माना गया है—सुनतहि समुझत भाव जिहिं सो सात्वती सुजान। इस प्रकार उभय पक्षीय तत्त्वों को समाविष्ट करते हुए केशव वृत्ति और जाति दोनों के सामंजस्य को अभीष्ट समझते हैं। किन्तु उल्लेखनीय यह है कि इन सभी तत्त्वों को किसी समान व्यवस्था के आधार पर सभी वृत्तियों के प्रसंग में एक रूपता के साथ निरूपित नहीं किया गया। उदाहरणस्वरूप वर्णों की चर्चा केवल कैशिकी के प्रसंग में है अन्यों के प्रसंग में नहीं। अर्थव्यक्ति रूप प्रसाद गुण की चर्चा केवल सात्वती के प्रसंग में है जब कि कैशिकी के प्रसंग में माधुर्य और आरभटी के प्रसंग में ओजस की चर्चा की जा सकती थी। अतः अर्थ व्यवहार और शब्द-व्यवहार दोनों पक्षों के तत्त्वों की चर्चा केवल चर्चा ही रह गई है।

५ केशव ने इन वृत्तियों के सम्बन्ध में उन रसों का उल्लेख किया है जिनकी स्थिति इन वृत्तियों में होती है। वृत्तियों की विशिष्ट रस सम्बद्धता की चर्चा हमें भरत में ही मिल जाती है यह हम देख चुके हैं। हम यह भी जान चुके हैं कि इस रूप में भारती वृत्ति भी कैशिकी आदि के समान अर्थ वृत्ति ही प्रतीत होती है केवल वाग्व्यापार नहीं रह जाती। केशव ने इन वृत्तियों के प्रसंग में विशिष्ट रसों का जो उल्लेख किया है वह किसी आचार्य से ज्यों का त्यों लिया गया प्रतीत नहीं होता। अतः हम केशव की वृत्तियों की विशिष्ट रस सम्बद्धता पर यहां पृथक से विचार करना चाहेंगे।

वृत्तियों की विशिष्ट रस-सम्बद्धता

केशव के अनुसार यह सम्बन्ध इस प्रकार है—

कैशिकी—करुण हास्य शृंगार।

भारती—वीर अद्भुत हास्य।

आरभटी—रौद्र भय, बीभत्स।

सात्वती—अद्भुत वीर शृंगार शान्त।

पीछे के विवेचन में हम यह देख चुके हैं कि संस्कृत आचार्यों में इस विषय में एकरूपता नहीं पाई जाती। हम भरत और विद्यानाथ की विशिष्ट रस-सम्बद्धता को उदाहरणस्वरूप में देख चुके हैं। यहां हम कुछ विशिष्ट आचार्यों की तुलना में केशव की मान्यता को रखना चाहेंगे—

वृत्ति	भरत[1]	धनंजय धनिक[2]	रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4]	विद्यानाथ[3]	केशव
कैशिकी	हास्य शृंगार	शृंगार	हास्य, शृंगार	शृंगार, करुण	शृंगार हास्य करुण
सात्वती	वीर अद्भुत शान्त	वीर	रौद्र, वीर शान्त, अद्भुत	वीर भयानक	अद्भुत, वीर, शृंगार शान्त
भारती	बीभत्स, करुण	समस्त रस	समस्त रस	हास्य शान्त, अदभुत	वीर, अदभुत हास्य
आरभटी	रौद्र भयानक	रौद्र, बीभत्स	रौद्रादि दीप्त रस	रौद्र बीभत्स	रौद्र भय बीभत्स

यहाँ केशव की मान्यता को हमने विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित केशव-ग्रन्थावली खण्ड १ में दिये गये पाठों के अनुसार प्रस्तुत किया है। किन्तु सात्वती के लिए दिया गया नीचे उद्धृत पाठ हमें युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता यद्यपि यह पाठ भी कम पुराना नहीं है। यह पाठ इस प्रकार है—

अदभुत बीर सिंगार रस समरस बरनि समान।
सुनतहिं समुझत भाव जिहिं सो सात्वती सुजान॥[5]

रसिकप्रिया के प्राचीनतम टीकाकार सरदार कवि ने भी इसी पाठ को प्रमुखता दी है।[6] इस के अनुसार सात्वती का सम्बन्ध अदभुत, वीर शृंगार और शान्त इन चार रसों से जुड़ता है। हम ने अभी भरत धनंजय, रामचन्द्र और विद्या

1 हास्यशृंगारबहुला कैशिकी परिचक्षिता।
सात्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतरसाश्रया॥
रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयाऽऽरभटी पुनः।
बीभत्से करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्तिता॥ ना० शा०, अ० २०, श्लो० ७-८
2 शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥ द० रू०, प्र० २, ६२
3 प्रतापरुद्रयशोभूषण, बालमनोरमा सं० पृ० ४३-५।
4 कैशिकी हास्य शृंगाररसनाट्यनर्मस्मितान्विका। नाट्यदर्पण, सं० डा० नगेन्द्र, पृ० २८७
सात्त्वती सत्त्वशौर्याभिनेय कर्म मानसम्।
सामवा धर्मयुद्धैर्यरौद्रवीररसाद्भुतम्॥ वही पृ० २८५
प्रायः संस्कृतनिःशेषरमाऽन्या वाचि भारती। वही पृ० २८७
आरभटी मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तचेष्टितम्। वही, पृ० २८८
रौद्रे रसे रौद्रबीभत्सरसान्वितम्। वही वृत्ति पृ० २८८।
5 केशवग्रन्थावली, पृ० ११।
6 रसिकप्रिया वेंकटेश्वर प्रेस सं० १९८८ वि०, सरदार कवि टीका पृ० १८५

नाथ की मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। इन में से कोई आचार्य शृंगार को सात्वती की परिधि में नहीं रखना चाहता। शृंगार के लिए केवल कैशिकी वृत्ति ही स्वीकार की गई है। सरदार कवि ने एक दूसरे पाठ का और उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—

> अद्भुत रुद्रो वीर रस, समरस बरनि समान।
> सुनतहि समुझत भाव मन, सो सात्वकी प्रमान॥[1]

इस पाठ के अनुसार सात्वती का सम्बन्ध अद्भुत रौद्र वीर और शान्त इन चार रसों के साथ है। इसमें शृंगार के स्थान पर रौद्र को लिया गया है। रौद्र को भरत ने तो नहीं किन्तु रामचन्द्र ने नाट्य-दर्पण में सात्वती के सन्दर्भ में स्वीकार किया है। उन्होंने इस पाठ में प्राय रौद्र वीर शान्त और अद्भुत चारों ही रसों को सात्वती में माना है। अतः यह पाठ ही वैष्णव ग्रन्थावली के पाठ से अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस प्रकार वैष्णव के अनुसार सात्वती के अन्तर्गत रौद्र वीर शान्त और अद्भुत ये चार रस माने जाने चाहिए।

पीछे दिए हुए चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के आचार्य विशिष्ट रस सम्बद्धता के विषय में कोई एकरूप परम्परा स्थापित नहीं करते। अतः वैष्णव को भी इस विषय में स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाने की पूरी गुंजाइश थी जिसका उन्होंने पूर्ण उपयोग किया है। अतः हम यहाँ उनके निजी दृष्टिकोण को तथा उसके कारण को समझने का प्रयास करेंगे।

हम यह देख चुके हैं कि वैष्णव ने इन कैशिकी आदि वृत्तियों को नाट्य-वृत्तियों के रूप में नहीं अपितु काव्य-वृत्तियों के रूप में ग्रहण किया है। अतः कैशिकी आदि काव्य-वृत्तियों के रूप में तथा शब्द-जाति रूपा उपनागरिका आदि या कहिए उनके स्थानापन्न रूप में स्वीकृत वैदर्भी आदि वृत्ति रीतियाँ शब्द वृत्तियों के रूप में स्वीकृत हुई हैं जैसा कि आनन्दवर्धन का दृष्टिकोण था। यदि इन सब का सम्बन्ध परस्पर स्थापित किया जाय तो कुछ इस प्रकार रखा जा सकेगा

१ उपनागरिका	कोमला	प्रौढ़ा	परुषा
२ वैदर्भी	लाटी	पांचाली	गौडी
३ कैशिकी	भारती	सात्वती	आरभटी

यह सम्बन्ध अधिक वैज्ञानिक नहीं है किन्तु इस निभाने की ओर आचार्यों ने प्रयास किया है। भोज अनुप्रास जातियों के १२ भेद करते हैं और इन्हें समता सौकुमार्य आदि गुणों में तथा भारती आदि वृत्तियों में समान की बात कहते हैं—

समता सौकुमार्यादिषु गुणेषु भारतीप्रभृतिषु वृत्तिषु यथायथमन्तर्भावोऽवगन्तव्य।[2]

अन्य आचार्यों में भी इस प्रयास की झलक मिल सकती है।[3] इस प्रयास में सफलता एक दूरी तक ही स्वीकार की जा सकती है। इस दृष्टिकोण की धुरी है रीति

1 [illegible] संवत १८८८ सं० सरदारकवि टीका पृ १८५।
2 [illegible] पृ ३८६
3 वही पृ १८८ ९६

सम्बन्धी दृष्टि। रीतियों में एक ओर वदर्भी है, जो कोमलतम वृत्ति है दूसरी ओर दूसरे सिर पर गौडी है जिसमें चरम कठोरता है। इसी प्रकार उपनागरिका ओर परुषा वृत्तियों की स्थिति थी। यही विशेषता कनिकी और आरभटी में प्राप्त होती है। बस इन दो सिरों को कोमलतम और कठोरतम रेखाओं को लेकर बीच की स्थितियों को बीच में रखने के प्रयास किये गये। तो कोमलतम और कठोरतम सिरों की स्थिति तो ठीक रही किन्तु बीच की चीजों को अधिक वैज्ञानिक रूप में नहीं रखा जा सका। उदाहरण स्वरूप विश्वनाथ के समय तक भी यह नहीं कहा जा सका कि लाटी और पांचाली में कम कम क्या गुण, किस मात्रा तक समास आदि होने चाहिए। वे केवल वदर्भी और गौडी की ही स्थिति साफ साफ कह सके। पांचाली को इन दोनों के बीच का तथा लाटी को वदर्भी और पांचाली के बीच की रीति बता कर सन्तोष कर लिया गया।[1] यही स्थिति उपनागरिका और परुषा के बीच की स्थितियों की हुई। अतः उनके मूल में कनिकी आदि वृत्तियों को रखते समय भी दो सिरे की वृत्तियों को तो ठीक प्रकार से रखा जा सका किन्तु बीच की स्थितियों में वैज्ञानिक रूप नहीं लाया जा सका। भोज और विद्यानाथ इतना ही दृष्टिकोण अधिक से अधिक दे पाये कि कोमलतम कनिकी और कठोरतम आरभटी के बीच में भारती और सात्वती पड़ती हैं। भारती में प्रौढ़ि के साथ कोमलता की मात्रा कुछ अधिक है अतः वह कनिकी के अधिक समीप पड़ती है सात्वती में प्रौढ़ता कुछ और बढ़ जाती है अतः वह आरभटी की ओर झुकी हुई है।[2] ऊपर परस्पर सम्बद्ध स्थिति इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर निर्धारित की जा सकी है। केशव में भी हम यही दृष्टि पाते हैं। उनका कोमलता से कठोरता की ओर क्रम यही है—कशिकी भारती सात्वती, आरभटी।

कनिकी के अन्तर्गत केशव ने तीन रसों को रखा है—शृंगार हास्य और करुण। हम देखते हैं कि भरत और धनंजय इस वृत्ति में शृंगार और हास्य को ही लेते हैं करुण को नहीं। उनकी दृष्टि से करुण का स्थान भारती है। पर ज्यों ज्यों नाट्य वृत्तियां काव्य वृत्तियां बनती जाती हैं तथा उन्हें उपनागरिका या वदर्भी आदि के मूल में बिठाला जाता है त्यों त्यों भरत का दृष्टिकोण अस्वीकार्य होता जाता है। रीतियों की दृष्टि से करुण की अभिव्यक्ति कोमलतम साधनों में स्वीकार की गयी है।[3] उसे वदर्भी रीति और मधुर व्यंजनों से व्यंग्य माना गया है। अतः उसकी कोमलतम स्थिति को ध्यान में रखकर उसका सम्बन्ध भारती से नहीं कनिकी से ही होना चाहिए। भरत की नाट्यवृत्ति में कनिकी में विलास और लालित्य की मात्रा अधिक होने के कारण करुण को कनिकी में नहीं रखा जा सकता था। किन्तु काव्य वृत्तियों के रूप में स्वीकृत हो जाने पर करुण का स्थान कनिकी के साथ ही होना

१ —वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पांचालिका मता॥
लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरा स्थिता। सा० द०, परि० ९ सू० ४५

२ सम० के हिस्ट्री आफ अलंकारशास्त्र पृ० १६० १

३ करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। का० प्र०, उ० ८, सू० ११

चाहिए। केशव ने इसी दृष्टि से करुण को कशिकी के साथ सम्बद्ध किया है। इस बदलती हुई दृष्टि का प्रभाव अन्य आचार्यों पर भी देखा जा सकता है। विद्यानाथ ने भी कशिकी के साथ ही करुण को रखा है।

केशव ने कई रसों को दो-दो वृत्तियों से सम्बद्ध किया है ऐसा अन्य भरत आदि आचार्यों ने नहीं किया। उनके अनुसार यह सम्बन्ध इस प्रकार है—

शृंगार	कशिकी।
हास्य	कशिकी भारती।
करुण	कशिकी।
वीर	भारती सात्वती।
अद्भुत	भारती सात्त्वती।
रौद्र	सात्वती आरभटी।
शान्त	सात्वती।
भय	आरभटी।
वीभत्स	आरभटी।

यहाँ हम देखते हैं कि केशव शृंगार, करुण, शान्त, भयानक और वीभत्स इन ५ रसों को तो केवल एक ही एक वृत्ति से सम्बद्ध मानते हैं किन्तु हास्य, वीर, अद्भुत और रौद्र इन चार को दो-दो वृत्तियों से। इस प्रकार रसों की दृष्टि से दो वर्ग बन जाते हैं।

शृंगार कोमलतम भावों में से है। उसका सम्बन्ध वदर्भी रीति और कशिकी वृत्ति से सवमान्य रहा है। केशव ने भी उसे ज्यों का त्यों स्वीकार किया है।

करुण के सम्बन्ध में हम पीछे देख चुके हैं कि भरत ने इसे भारती में रखा था किन्तु काव्य वृत्तियों की दृष्टि से इसका सम्बन्ध कशिकी से ही होना चाहिए था। वदर्भी रीति का भी यही आग्रह था। विद्यानाथ भी इसे स्वीकार कर चुके थे अतः केशव ने उस ठीक ही कशिकी के साथ सम्बद्ध किया।

शान्त का सम्बन्ध भरत ने सात्वती वृत्ति से ही जोड़ा है। यद्यपि यह माना जाता है कि भरत के निरूपण में मूल रूप में शान्त का समावेश नहीं था किन्तु यह समावेश अभिनव से बहुत पहिले हो चुका था सम्भवतः उद्भट द्वारा। केशव के सामने शान्त के सम्बन्ध में दो बातें उठी होंगी—क्या भरत का अनुसरण करते हुए शान्त को सात्वती वृत्ति में रखा जाय? या फिर ध्वनिवादियों के अनुसार शान्त का सम्बन्ध माधुर्य गुण और वदर्भी रीति से देख कर उसे कशिकी में ही रखा जाय? मम्मटादि ने शान्त में माधुर्य को शृंगार और करुण से भी अधिक माना है।[1] इस हिसाब से उसे कशिकी के साथ मिलाया जाना चाहिए। इन दो विचार धाराओं में से केशव भरत का ही अनुसरण करते हैं। वे शान्त का सम्बन्ध सात्वती से ही मानते हैं। लगता है शायद केशव की विवेचना में वह सम्पूर्णता स्वीकार्य न थी जो अभिनव परम्परा के

१ करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। का० प्र०, उ० ८, सू० ६९

शान्तिवादी देख चुके थे। उसमें जगत् के प्रति एक हलकी जुगुप्सा या घृणा की भावना भी मिली रहती है। अतः केशव ने शान्त को सात्त्वती में ही रखना उचित समझा। सात्त्वती में कैशिकी की कोमलता नहीं, वह आरभटी के समीप की वृत्ति मानी गयी है। पर उसमें आरभटी की वैसी कठोरता भी नहीं। केशव के अनुसार उसमें ओजस की अपेक्षा प्रसाद की मात्रा अधिक है। प्रसाद के कारण निर्वेद की व्यंजना में बाधा नहीं होगी। अतः केशव का यह दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त नहीं। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने की है। केशव ने शम या शान्त रस को दो रूपों में स्वीकार किया है। एक तो स्वतन्त्र निर्वेदमूलक शान्त। दूसरा शृंगार में अन्तभूत शान्त। रसिकप्रिया में इस अन्तभूत शान्त की दृष्टि ही प्रधान है, यह रस विवेचन में हम देख चुके हैं। अतः केशव को चाहिए यह था कि वे शान्त का सम्बन्ध भी दो वृत्तियों से जोड़ते, कैशिकी और सात्त्वती से। शृंगार में अन्तभूत शान्त कैशिकी में रहता है और स्वतन्त्र सात्त्वती में। किन्तु केशव ने ऐसा नहीं किया। सात्त्वती से सम्बद्ध शान्त को निर्वेदमूलक स्वतन्त्र शान्त ही समझना चाहिए।

भय को भरत ने भी आरभटी के साथ रखा है, केशव ने भी। विश्वनाथ ने सम्भवतः उसमें कम परुषता पाई है और उसे सात्त्वती के साथ सम्बद्ध किया है। किन्तु केशव उस विषय में भरत के अनुयायी हैं। भय की स्थिति की परुषता को कम स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः केशव का दृष्टिकोण शास्त्रसम्मत भी है, तर्कसम्मत भी।

बीभत्स को भरत ने भारती वृत्ति के साथ रखा है। किन्तु भरत का यह दृष्टिकोण परवर्ती युग में स्वीकृत नहीं रहा। बीभत्स के चित्रण में कवियों ने नाटकों तक में लम्बे लम्बे समासों एवं ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। भवभूति इसके निदर्शन हैं। उसका सम्बन्ध गौड़ी रीति और परुषा वृत्ति से जुड़ गया है। अतः धनंजय और विश्वनाथ आदि बीभत्स को भारती के साथ न रख कर आरभटी के साथ ही रखते हैं। केशव ने भी बीभत्स को आरभटी के साथ ही रखा है। वस्तुतः काव्य-वृत्ति के रूप में आकर तथा रीतियों के आमने-सामने रखी जा कर भारती तो कैशिकी के निकट की वृत्ति स्वीकार की जा चुकी है, अतः केशव बीभत्स को उसके साथ नहीं रख सकते। यहाँ केशव विकसित दृष्टिकोण का उपयोग करते हैं।

हास्य को भरत ने कैशिकी के साथ रखा है, केशव ने इसके लिए दो वृत्तियाँ स्वीकार की हैं— कैशिकी और भारती। इसका भी एक कारण है। नाट्य-वृत्ति के रूप में कैशिकी में जिस हास्य का समावेश है, वह वस्तुतः स्वतन्त्र हास्य नहीं है। शृंगार के अंगभूत नर्म के भेदों के रूप में यह हास्य आता है। कैशिकी का शृंगार नर्ममय है। नर्म को हास्य-नर्म, सशृंगार हास्य नर्म तथा सभय हास्य-नर्म के रूप में स्वीकार करके फिर और कई उपभेद किए गए हैं।[1] यह हास्य स्वतन्त्र हास्य नहीं है। भरत, धनंजय और रामचन्द्र के ग्रन्थों में वस्तुतः यही हास्य कैशिकी में परिगणित है।

१ दशरूपक, प्रकाश २, का० ४७, ४८, ४९, ५०

काव्याचार्यों का स्वतन्त्र हास्य उसमें कुछ नीची वृत्ति भारती में है जैसा कि विद्यानाथ ने रखा है। केशव काव्य परक दृष्टिकोण के अनुरूप हास्य को भारती में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार केशव रसिकप्रिया के उद्देश्य के अनुरूप तो शृंगार के अंगभूत हास्य के लिए कैशिकी का क्षेत्र स्वीकार करते हैं तथा स्वतन्त्र हास्य के लिए भारती का। इस प्रकार उनके अनुसार हास्य का सम्बन्ध दो वृत्तियों से है।

दूसरा रस वीर है जिसे भारती और सात्वती इन दो वृत्तियों से सम्बद्ध किया गया है। वीर में रौद्र की सी परुषता अपेक्षित नहीं समझी जाती अतः उसे भरत आदि सभी आचार्य सात्वती के ही अन्तर्गत रखते हैं। किन्तु केशव सात्वती की अपेक्षा कुछ कोमल भारती वृत्ति से भी उसका सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इसका यही अर्थ है कि ये कोमल किन्तु प्रौढ़ सामग्री से भी उत्साह की व्यंजना स्वीकार करते हैं। आचार्यों को चाहे यह दृष्टि स्वीकार न रही हो किन्तु काव्य इसका औचित्य स्वीकार करता है। तुलसी के गीतावली के अनेक पद हैं जो कोमल वर्णादि सामग्री के रहते हुए भी उत्साह की अच्छी व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। अतः उत्साह को भारती से अभिव्यंग्य मानना युक्तियुक्त ही है। साथ ही केशव ने वीर को शृंगार के अंग के रूप में भी दिखाया है। इसके लिए भी कैशिकी की समीपी वृत्ति भारती ही अधिक उपयुक्त है।

इसी प्रकार अद्भुत को भी केशव ने भारती और सात्वती से सम्बद्ध माना है। अद्भुत को भरत और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने केवल सात्वती के साथ ही सम्बद्ध किया है। किन्तु काव्य में वस्तु स्थिति यह है कि शृंगार के अन्तर्गत भी नायक नायिका के सौन्दर्य में अद्भुत के चमत्कार का समावेश रहता है। अतः स्वतन्त्र अद्भुत के लिए सात्वती का क्षेत्र स्वीकार करते हुए भी शृंगार के अंग अद्भुत के लिए कैशिकी के निकट की भारती वृत्ति ही स्वीकार की जानी चाहिए आरभटी के निकट की सात्वती नहीं। साथ ही केशव ने अद्भुत को रसिकप्रिया में शृंगार के अंगरूप में ही प्रस्तुत किया है अतः उसका स्थान ठीक भारती के बिना हो नहीं सकता। यही कारण है कि केशव ने अद्भुत के लिए भारती और सात्वती दो वृत्तियाँ स्वीकार कीं।

चौथा रस रौद्र है जो कि दो वृत्तियों के साथ स्वीकार किया गया है। केशव रौद्र में सात्वती और आरभटी दोनों वृत्तियाँ मानते हैं। संस्कृत के अन्य सभी आचार्य रौद्र का सम्बन्ध गौडी रीति परुषा वृत्ति और सात्वती से ही जोड़ते हैं। भरत और धनंजय भी केवल आरभटी में ही उसे सम्बद्ध करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रौद्र को सात्वती और आरभटी दोनों में सम्बद्ध किया है। रीतिकार की इस धारणा में इस विकास का एक कारण गुणवाद का प्रभाव भी हो सकता है अर्थात् यह स्वीकार किया जाना कि प्रसाद सब रसोपयोगी है। रौद्र की अभिव्यक्ति ओजस और प्रसाद दोनों की परिधि में हो जाती है। केशव के लिए एक कारण और हो सकता है। उन्होंने रौद्र को शृंगार के अंग रूप में प्रस्तुत करते हुए बड़े हलके रूप में प्रस्तुत किया है यह हम रस विवेचन में देख चुके हैं। शृंगार के अंगभूत रौद्र में उतनी उग्रता का अवकाश नहीं है जितना आरभटी में अपेक्षित है। अतः रौद्र के लिए केशव सात्वती और आरभटी दोनों वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि केशव के अनुसार

सात्वती का मूल आधार प्रसाद गुण है जिसे ओजोमिश्रित प्रसाद समझना चाहिए।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है यदि अंतर्भावविवाद की आवश्यकताओं के अनुरूप केशव हास्य वीर अद्भुत और रौद्र के लिए दो दो वृत्तियां स्वीकार कर सकते हैं तो अन्य रसों के लिए क्यों नहीं ? केशव ने शृंगार करुण शान्त भय और वीभत्स के लिए केवल एक ही वृत्ति स्वीकार की है।

यह आक्षेप हलका नहीं है। फिर भी इसे सर्वथा इसी रूप में संगत स्वीकार नहीं किया जा सकता। शृंगार को उसके कोमलतम पद से हटाने का प्रश्न ही नहीं उठता। करुण चाहे स्वतन्त्र हो चाहे शृंगार का अंग उसके लिए कैशिकी का ही एक क्षेत्र है। शेष शान्त भय और वीभत्स के विषय में इस आक्षेप को स्वीकार किया जा सकता है। अंतर्भूत शान्त का सम्बन्ध कैशिकी में भी होना चाहिए था हम यह आवश्यकता पीछे अनुभव कर चुके हैं। अंतर्भूत भय और वीभत्स के लिए या प्रसाद मयी शैली में व्यक्त भय और वीभत्स के लिए भी आरभटी के साथ ही सात्वती वृत्ति भी स्वीकार की जा सकती थी। किन्तु केशव ने ऐसा नहीं किया। इससे उनके निरूपण में कुछ कमी अवश्य आ जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव का वृत्ति विवेचन शास्त्र और विचारों की मौलिक आधार भूमि पर प्रतिष्ठित है। उसके सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हुए हम निम्न बातें कह सकते हैं—

१ केशव ने अपने वृत्ति विवेचन में कैशिकी आदि नाट्य वृत्तियों को अपना कर भी उन्हें काव्य वृत्तियों के रूप में स्वीकार किया है। उनका शब्द-वृत्तियों से सामंजस्य करते हुए शब्द वृत्तियों के मत में ही विठाने का प्रयास किया है। ऐसे प्रयास उनके समकालीन युग में भी चल रहे थे।

२ केशव ने शास्त्र की मान्यताओं को विवेक के साथ अपनाया है। वे ग्रहण करते समय प्राचीन और नवीन दोनों उपलब्धियों की उपयोगिता की दृष्टि से देखते हैं केवल श्रद्धा की दृष्टि से नहीं। केशव शास्त्र और विकास दोनों की चेतनाओं के प्रति पूर्ण जागरूक हैं।

३ अन्य आचार्य जहां विशिष्ट रस-सम्बद्धता में एक रस को किसी एक ही वृत्ति से सम्बद्ध बताते हैं केशव ने ४ रसों को दो-दो वृत्तियों से सम्बद्ध किया है। यह सम्बन्ध निर्धारण तर्क युक्त एवं मौलिक है। यदि शान्त भय और वीभत्स को भी दो वृत्तियों से सम्बद्ध किया जाता तो उनका विवेचन इस दृष्टि से पूर्ण हो सकता था।

४ केशव का वृत्ति का रस से सम्बन्ध निर्धारण उनके द्वारा स्थापित सभी रसों में शृंगार में अन्तर्भाव से प्रभावित है।

५ केशव का यह निरूपण संक्षिप्त होने पर भी उनके व्यापक शास्त्र ज्ञान मौलिक विचार स्वतन्त्र चयन शक्ति एवं व्यापक दृष्टिकोण का संकेत देता है।

उदाहरणों का सामंजस्य

अब तक हमने केशव के वृत्ति निरूपण के शास्त्रीय पक्ष की चर्चा की। अब

हम यहां उनके द्वारा प्रस्तुत इन वृत्तियों के उदाहरणों एवं उनके लक्षणों के साथ सामंजस्य की चर्चा करना चाहते हैं। केशव ने इनके निम्न उदाहरण दिये हैं—

कशिकी—

मिलिबे कौं एक मिली मिली फिरें दूतिकानि
मिलि मन ही मन विलास बिलसति हैं।
बोलिबे कौं एक बाल बोल सुनिबे कौं एक
बोलि बोलि तीरथनि वतनि बसति हैं।
देखिबे को फिरें एक देवता सो दौरि दौरि
देवता मनाइ दिन दान मनसति हैं।
कौन यहा करम को इहि रूप मेरी माइ
वे तो मेरे कान्ह जू के नामहिं हसति हैं।।[1]

भारती—

कानिनि कनक पत्र चक चमकत चारु
भुजा झलमुली झलकत अति सुखदाइ।
केसव छबीलो छत्र सीसफल सारयो सो
केसरि की आड अधिरचिक रची बनाइ।
नीकोई नवीय समनीको नकमोती नाक
एक ही बिलोकनि गुपाल हौ गये बिकाइ।
लोचन बिसाल भाल जरित जराऊ टीको
मानो चढयो मीनन के रथ मनमथराइ।।[2]

सात्वती—

केसवदास लाख लाख भांतिन के अभिलाष
बारि द री बावरी न बारि हियो होरी सी।
राधा हरि केरी प्रीति सब त अधिक जानि
रति रतिनाथ हू न देखी रति थोरी सी।
तिन मह भेद न भवानि हू प पारयो जाइ
भनत मे भारती की भारती है थोरी सी।
एक गति एक मति एक प्रान एक मन
देखिबे कौं देह ▮ हैं नैननि की जोरी सी।।[3]

आरभटी—

घरि घन घन घोरत स[illegible]रस उ[illegible]जल ब[illegible]जत की रुचि राच।
चूने फिर इम स नम पाइक सावन की पहुँची तिथि पाच।

1 केशव ग्रं पृ० ६
वही पृ ६
3 वही पृ ६१

घोहू कुघा तडिता तडप डरय बनिता कहि केसव साच।
जानि मनो ब्रजरमण बिना व्रज ऊपर कालकुटुंबिनि नाच॥[1]

इन उदाहरणों से एक बात स्पष्ट है। केशव ने ये उदाहरण रसिकप्रिया के उद्देश्य एवं निरूपण-शैली के अनुरूप शृंगार के ही प्रस्तुत किये हैं। इनमें जो अन्य भावों या केशव की दृष्टि से कहिए, रसों का समावेश हुआ भी है वह शृंगार के अंग भूत रसों का ही है स्वतन्त्र रसों का नहीं। अत इन सब की रीति समास, शब्दावली एवं वर्ण योजना शृंगारापेक्षित सामग्री की छाया से मुक्त नहीं हो सकी है। आरभटी में भी समासों का अभाव है। केवल वर्णात्मक यमक या संयुक्त वर्णों के प्रयोग तक ही सीमित रह गया है। अपने रस विवेचन में जिस पद्धति से केशव ने अन्य अंगात्मक रसों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उसी प्रकार यहां भी हुआ है। उदाहरण स्वरूप रौद्र की वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं, वियोग के अन्तर्भूत अभिव्यंजना या अलंकार के रूप में ही हुई है। भारती के उदाहरण में भी वीर रस काम के युद्ध रसिक रूप के रूपक के रूप में ही आया है। इसी प्रकार कैशिकी उदाहरण में भी हास्य शृंगार का अंग एवं वाच्य कोटि में हो कर आया है।

इस प्रकार इन उदाहरणों का सामंजस्य केशव के अपने विशेष दृष्टिकोण और पद्धति के अनुरूप है। उस पद्धति एवं दृष्टि को ध्यान में रख कर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनकी शास्त्रीयता अपरिपक्व है एवं निरूपण सफल है।

चित्रकाव्य

कविप्रिया के १६वें प्रभाव में दण्डी के ही आधार पर कतिपय चित्र रूपों का निरूपण केशव ने किया है। कुछ चित्र रूप अन्यत्र से भी अपनाये गये हैं।

चित्र का बड़ा टेढ़ा जंजाल है। चित्र सागर में सयाने भी डूब जाते हैं। यह रस हीन काव्य है। इसमें यति-गण सम्बन्धी तथा सन्धि-विसर्गादि का भी दोषों का विचार नहीं किया जाता।[2] इनका उद्देश्य कुतूहलात्मक चमत्कार पैदा करना होता है।

केशव ने चित्रकाव्य के अन्तर्गत तीन प्रकार के रूप अपनाये हैं। कुछ यमकों के प्रकार हैं कुछ प्रहेलिकाओं के रूप हैं तथा कुछ विशेष प्रकार के बन्ध हैं। अधिकांश सामग्री का आधार दण्डी है। सभी के रूप शास्त्र-दृष्टि से ठीक हैं।

केशव ने निम्न चित्रों का निरूपण किया है—

१ निरोष्ठ्य

इसमें ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग नहीं होता। दण्डी ने चतुःस्थानीय, त्रिस्थानीय, द्विस्थानीय तथा एकस्थानीय चित्रों का उल्लेख किया है।[3] केशव ने केवल चतुःस्थानीय को ही दिखाया है।

१ रसिकप्रिया, पृ० ६०१
२ कविप्रिया १६।१२ ३
३ काव्यादर्श ३।८८ ८६, ६ ६१
४ कविप्रिया १६।५ ६

हम यहां उनके द्वारा प्रस्तुत इन वृत्तियों के उदाहरणों एव उनकी लक्षणों के साथ सामजस्य की चर्चा करना चाहते हैं। केशव ने इनके निम्न उदाहरण दिये हैं—

कैशिकी—

मिलिबे कों एक मिली मिली फिरें दूतिकानि
मिलि मन ही मन विलास बिलसति हैं।
बोलिबे कों एक बाल बोल सुनिबे कों एक
बोनि बोलि तोरथनि बतनि बसति हैं।
देखिबे को फिरें एक देवता सी दौरि दौरि
देवता मनाइ बिन दान मनसति हैं।
कौन कहा करम को इहि रूप मेरी माइ
ये तो मेरे कान्ह जू के नामहि हसति हैं॥[1]

भारती—

कानिनि कनक पत्र चक चमकत चारु
भुजा झलमुली झलकत अति सुखदाइ।
केसव छबीलो छत्र सीसफूल सारयो सो
केसरि की आड अधिरथिक रची बनाइ।
नीकीई नकीब समनीको नकमोती नाव
एक ही बिनोकनि गुपाल सौं गये बिकाइ।
लोचन बिसाल भाल जरित जराऊ टीको
मानो चढ्यो मीनन के रथ मनमथराइ॥[2]

सात्वती—

केसवदास लाख लाख भांतिन के अभिलाष
बारि द री बावरी न बारि हियो होरी सो।
राधा हरि करी प्रीति सब त अधिक जानि
रति रतिनाथ हू म देखीं रति थोरी सी।
तिन मह भद न भवानि हूं प पारयो जाइ
भनत मे भारती की भारती है थोरी सी।
एक मति एक मति एक प्रान एक मन
देखिब कों देह द्व हैं नननि की जोरी सो॥[3]

आरभटी—

घरि घन घन घोरत स न उजल कजल की रुचि राच।
फून फिर इम स नन पान्ह सावन की पहलो तिथि पाच।

[1] कवि प्रि पृ ६
[2] वही पृ ६
[3] वही पृ ६१

चौंहू कुवा तड़िता तड़प डरप वनिता कहि केसव साथ।
जानि मनो ब्रजरमण बिना ब्रज ऊपर कालकुटुंबिनि नाथ॥[1]

इन उदाहरणों से एक बात स्पष्ट है। केशव ने ये उदाहरण रसिकप्रिया के उद्देश्य एवं निरूपण शैली के अनुरूप शृंगार के ही प्रस्तुत किये हैं। इनमें जो अन्य भावों या केशव की दृष्टि से कहिए, रसों का समावेश हुआ भी है वह शृंगार के अंग भूत रसों का ही है, स्वतन्त्र रसों का नहीं। अतः इन सब की रीति समास, शब्दावली एवं वर्ण योजना शृंगारापेक्षित सामग्री की छाया से मुक्त नहीं हो सकी है। आरभटी में भी समासों का अभाव है। केवल वर्णात्मक यमक या संयुक्त वर्णों के प्रयोग तक ही सीमित रहा गया है। अपने रस विवेचन में जिस पद्धति से केशव ने अन्य अशृंगारिक रसों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उसी प्रकार यहां भी हुआ है। उदाहरण-स्वरूप रौद्र की वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं, वियोग के अन्तर्भूत अभिव्यंजना या अलंकार के रूप में ही हुई है। भारती के उदाहरण में भी वीर रस काम के युद्ध रसिक रूप के रूपक के रूप में ही आया है। इसी प्रकार कैशिकी उदाहरण में भी हास्य शृंगार का अंग एवं वाच्य कोटि में हो कर आया है।

इस प्रकार इन उदाहरणों का सामंजस्य केशव के अपने विशेष दृष्टिकोण और पद्धति के अनुरूप है। उस पद्धति एवं दृष्टि को ध्यान में रख कर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनकी शास्त्रीयता अपरिक्षत है एवं निरूपण सफल है।

चित्रकाव्य

कविप्रिया के १६वें प्रभाव में दण्डी के ही आधार पर कतिपय चित्र रूपों का निरूपण केशव ने किया है। कुछ चित्र रूप अन्यत्र से भी अपनाये गये हैं।

चित्र का बड़ा टेढ़ा जंजाल है। चित्र सागर में सयाने भी डूब जाते हैं। यह रस हीन काव्य है। इसमें यति-गण सम्बन्धी तथा अन्य-अधिरादि का [illegible] का विचार नहीं किया जाता।[2] इनका उद्देश्य कुतूहलात्मक चमत्कार उत्पन्न करना [illegible]।

केशव ने चित्रकाव्य के अन्तर्गत तीन प्रकार के रूप अपनाये हैं। कुछ [illegible] के प्रकार हैं, कुछ प्रहेलिकाओं के रूप हैं तथा कुछ विशेष प्रकार के [illegible]। [illegible] सामग्री का आधार दण्डी हैं। सभी के रूप शास्त्र-दृष्टि से [illegible]।

केशव ने निम्न चित्रों का निरूपण किया है—

१ निरोष्ठ्य

इसमें ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग नहीं होता। दण्डी ने [illegible] स्थानीय तथा एकस्थानीय चित्रों का उल्लेख किया है।[3] [illegible] को ही दिखाया है।

१ कराल अ०, पृ ३० १
२ कविप्रिया १६।१२ ३
३ काव्यादर्श ३।८८ ८३ ६ ६१
४ कविप्रिया १६।५ ६

२ मात्रा रहित

इसमें केशव ने केवल अकारमात्रिक का उदाहरण दिया है।[१] दण्डी ने चार से लेकर एक मात्रा तक के चित्र दिखाए हैं।[२]

३ एकादि शब्द

इसमें केशव ने एक, दो तथा तीन वर्णों से बने शब्दों का प्रयोग दिखाया है।[३] दण्डी ने ४, ३, २, १ वर्णों के पद्यों के चित्र प्रस्तुत किए हैं। किन्तु केशव और दण्डी के इस रूप में अन्तर है। दण्डी किन्हीं विशिष्ट वर्णों को सम्पूर्ण पद्य में प्रयुक्त करते हैं जबकि केशव किन्हीं भी वर्णों की निश्चित संख्या तक ही सीमित रहते हैं।[४] यों तो केशव के उदाहरणों में कुछ न कुछ चित्रात्मकता है किन्तु दण्डी के रूपों की सी नहीं।

४ षड्विंशाक्षरादि एकाक्षरान्त

इसमें केशव ने ऐसे विभिन्न २६ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें २६ से लेकर १ ही वर्ण तक का प्रयोग हुआ है।[५] दण्डी ने इस चित्र भेद का उल्लेख नहीं किया। दण्डी के वर्ण-सम्बन्धी चित्रों का सम्बन्ध वर्णों की संख्या के साथ निश्चित रूप से है। केशव के वर्ण चित्र केवल वर्ण-संख्या पर आधृत हैं।

५ बहिर्लापिका अन्तर्लापिका गुप्तोत्तरी एकानेकोत्तरी व्यस्त समस्तोत्तरी व्यस्त गतागतोत्तरा नागपाशोत्तरी प्रश्नोत्तरी।

ये भेद प्रहेलिकाओं से ग्रहण किए गए हैं। इन प्रहेलिका रूपों में निस्सन्देह चित्रता की प्रधानता है। दण्डी ने प्रहेलिका के १६ निर्दोष तथा १४ सदोष भेदों का उल्लेख किया है।[६] वह ये इनके अन्तर्गत भेद मानते हैं। उन्होंने इन नामों की प्रहेलिकाओं का निरूपण तो नहीं किया किन्तु

१ कविप्रिया १६।७८
२ काव्यादर्श ३।८४ ८५ ८६ ८७
३ कविप्रिया १६।८ ९ ११ १२ १३
४ काव्यादर्श ३।९२ ९ ९४ ९५
५ [illegible] —[illegible] । काव्या ३।६
[illegible]— [illegible] ।
[illegible] पूरन पुण्य [illegible] ॥ कवि १६।१२
६ काव्यादर्श ३।१४ ६
७ कविप्रिया ।४३ ६७
८ [illegible] पूर्वाचार्यै [illegible] ।
[illegible] ॥ ३।९ ६

	सूचनात्मक संकेत अवश्य दिया है।[1] केशव ने इन्हें अन्यत्र से ग्रहण किया है।
६ गतागत—गतागत एकाक्ष गतागत अनेकाक्ष, गतागत चतुष्पदी त्रिपदी प्रतिलोम	ये भेद यमक पादों के आवर्तन तथा आनुलोम्य प्रातिलोम्य से बनते हैं। अनुलोम प्रतिलोम के स्थान पर केशव ने गतागत शब्द का प्रयोग किया है। ये चित्रभेद दण्डी पर आधृत हैं।[2] दण्डी ने इस जाति के यमक चित्रों के अनेक प्रकार दिखाये हैं। केशव ने बहुत थोड़े ही लिये हैं।
७ सर्वतोभद्र पद्मबन्ध कमलबन्ध धनुषबन्ध पर्वतबन्ध सर्वतोमुख हारबन्ध, डमरूबन्ध मन्त्रीगतिबन्ध	केशव ने इन ६ वर्गों के उदाहरण दिये हैं। इनके निरूपण यत्र तत्र विभिन्न काव्यों में भी मिलते हैं। दण्डी ने सर्वतोभद्र का उल्लेख किया है। ये बन्ध वर्णों की विशिष्ट स्थितियों के द्वारा रचे जाते हैं।

कविशिक्षा

'कविशिक्षा वस्तुत काव्यशास्त्र का मूल अंग नहीं है पर संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह अंग उसके प्रारम्भिक युग से ही उसके साथ संलग्न रहा है और आगे चल कर आवश्यकतानुरूप प्रमुख रूप से भी विकसित होता रहा है। फलत हम कई ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जो प्रमुखत कविशिक्षा के ही कहे जा सकते हैं।

काव्यशास्त्र के वर्ण्य उद्देश्य में से तीन प्रमुख हैं एक तो स्वयं काव्य चिकीर्षु कवि को काव्य रचना विधि की शिक्षा देना दूसरे पाठक सामाजिक को काव्यास्वादन की योग्यता एवं कुशलता देना तीसरे समालोचक को काव्य समीक्षा करने के लिए मान-दण्ड देना। इन उपयोगितावादी उद्देश्यों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र एक शास्त्र या विज्ञान के नाते भी केवल ज्ञान की खातिर काव्य तत्त्वों का स्वरूपविवेचन करता है। यह पिछला कार्य परोक्षत ही उपयोगितावाद के भीतर आता है।

कवि पाठक और समालोचक के लिए जब काव्यशास्त्र सिद्धान्तों नियमों और रूढ़ियों का परिचय प्रस्तुत करता है तब वह शिक्षकत्व के अधिक समीप होता है। विशेषत इस रूप में काव्यशास्त्र का विकास श्रव्य साहित्य के रचनात्मक स्वरूप के विकसित हो जाने पर ही सामने आता है। संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास इस बात

[1] इति प्रहेलिकामाला ... दर्शित ।
वि... ... ... प्रकाशनाय ॥
वही, ३। अन्तिम पद्य
काव्यादर्श ... ३। ७३, ७८, ७८, ७२
[3] कविप्रिया १६। ६८ ७६
[4] कविप्रिया १६। ७० ८६

का साक्षी है।

भारतीय काव्यशास्त्र के उपलब्ध आदिम ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र का मूल स्वर नट के लिए नाट्य कला की शिक्षा का है। काव्य से सम्बद्ध भामहादि के प्रारम्भिक ग्रन्थो मे भी इस स्वर की कमी नही है।

कालिदासोत्तर संस्कृत काव्य मे कृत्रिमता और कला-पक्ष का विकास उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। इनमे जो कला पक्ष के पोषक साधन अपनाये गये हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि उनके रचयिताओ के सामने कोई न कोई ग्रन्थ अवश्य एसे थे जो इन चमत्कारी साधनो की शिक्षा कवियों को देते थे। भामह और दण्डी के ग्रन्थ प्रमुखतया उन विषयो का परिचय कराते हैं जो एक कवि को काव्य रचना मे सहायक होते हैं। जैसे अलकार दोष चित्र-काव्य के विविध रूप रचना की शैलियाँ आदि।

इस प्रकार काव्यशास्त्र का उदय श्रव्य साहित्य के कलात्मक स्वरूप के अधिकाधिक विकसित होते जाने के कारण कविशिक्षा की एक सम्मुखीन आवश्यकता के फलस्वरूप होता है यो कभी-कभी आत्म निरीक्षण और आत्म-स्वरूप विश्लेषण के रूप मे साथ ही दूसरा पक्ष भी मिला रहता है। आनन्दवर्धन के ग्रन्थ और उसके उपरान्त के ग्रन्थो मे आत्म विश्लेषण वाला चिन्तन पक्ष बढता जाता है कविशिक्षा का स्वर उतना सबल नहीं रह जाता।

अत यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि भारतीय काव्यशास्त्र मे कविशिक्षा के अग को कब से प्रारम्भ माना जाय और इसके मूल उदभावकत्व का श्रेय किसे दिया जाय। इतना ही कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक काल से ही यह उद्देश्य के रूप मे घुला मिला रहा है श्रव्य साहित्य की कला प्रवणता का परिचय देने के लिए अन्य काव्य के शास्त्र को जन्म देने मे इसने भारी काम किया है। पर इतना होते हुए भी कवि शिक्षा का स्वरूप अधिक नहीं उभरा और सब मिला कर प्रारम्भिक ग्रन्थो का रूप शास्त्र के अनुरूप ही रहा है।

भरत के टीकाकारो द्वारा रस की निरन्तर आत्मपक्षीय व्याख्याओ एव आनन्दवर्धन तथा परवर्ती ध्वनिवादियो के द्वारा किये गये आत्मपक्षीय विश्लेषणो के फलस्वरूप काव्यशास्त्र का रूप शिक्षा की अपेक्षा विज्ञान की ओर मुडता दिखाई देता है। काव्यशास्त्र के इस मध्य युग के ग्रन्थ सीधे कविशिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का उल्लेख बहुत हलके ढग से करते हैं या नहीं भी करते। और इस प्रकार कविशिक्षा एक उपेक्षित प्राय व्याख्यान हो जाता है। किन्तु काव्य मे कलावादी धारा समाप्त नहीं होती। संस्कृत अपभ्रश और उसकी अनुवर्तिनी देशभाषाओ मे यह कलावादी अजस्र धारा के रूप मे विकसित रहता है। राजदरबार और दूसरे सामाजिक मे चमत्कारी रुचि का पोषण एक मात्रा मे करते ही रहते हैं। फलत व्युत्पत्ति निमित्त कवियों का शिक्षा और अभ्यास के सहारे सफलता के अवसर युग मे बने रहते हैं। और इसी कारण काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थो के आत्म प्रधान हो जाने पर भी शिक्षा काव्याग की आवश्यकता समाप्त नहीं होता।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक प्रतिभाशाली ग्रंथकार इन युगीन आवश्यकताओं को वाणी देते रहे और शिक्षा प्रमुख ग्रन्थों का निर्माण करते रहे हैं। आज वे सब ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं पर हम उनकी एवं परम्परा की उपयुक्त आवश्यकता के अनुरूप अनुमान कर सकते हैं। फिर भी कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ उपलब्ध हैं। कुछ के नाम ही मिलते हैं कृतियाँ नहीं। यहाँ हम कविशिक्षा से सम्बद्ध आचार्यों का उल्लेख कर रहे हैं। इन आचार्यों में भामह दण्डी आदि की कोटि के आचार्य नहीं हैं जिनके ग्रन्थों में कविशिक्षा का उद्देश्य गौण रूप में घुला मिला है। इनमें उत्तर युग के वे अलंकारवादी या शृंगारवादी और नायिकाभेद निरूपक आचार्य भी सम्मिलित नहीं हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य अलंकार शृंगार और नायिकाभेद के शिक्षा ग्रन्थ तैयार करना था। संस्कृत काव्यशास्त्र के उत्तर युग में इस पिछली कोटि के छोटे-मोटे आचार्यों की संख्या भी कम नहीं है। हम यहाँ केवल उन आचार्यों की चर्चा करना चाहते हैं जो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की बँधी बँधाई परम्परा में ही निरूपित विषयों को न लेकर कविशिक्षा के भीतर आने वाले अन्य सामान्य विषयों का निरूपण करते हैं।

राजशेखर

राजशेखर का समय डा० एस० के० डे के अनुसार दसवीं शती है। कविशिक्षा पर स्वतन्त्र रूप से लिखी गयी उनकी पुस्तक अपने ढंग की अनूठी अकेली और सर्वप्रथम पुस्तक है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने अनेक ऐसे विषयों का निरूपण कविरहस्यमयी कल्पना के साथ किया है जिनका निरूपण अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलता। दशम अध्याय से आगे तो काव्यमीमांसा का स्वरूप मुख्यतः कविशिक्षामय हो जाता है। काव्य के विषय, एक कवि द्वारा दूसरे कवि की सामग्री के हरण के कलात्मक उपाय एवं रूप कवि-समय जिनमें देश काल और प्रकृति की विशेषताओं का ध्यान रखा गया है देश विभाग काल विभाग जिनमें प्रकृति और ऋतुओं के अनुरूप विशेषताओं को स्थान विशेष के सन्दर्भ में ध्यान रखा गया है, आदि बातें सीधी कविशिक्षा के स्वतन्त्र अध्याय से सम्बद्ध हैं। इन बातों में से अनेक वामन, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में भी निरूपित हैं। किन्तु राजशेखर ने इन्हें एक व्यवस्थित अध्याय निरूपण के भीतर रखकर प्रस्तुत किया है। राजशेखर को कविशिक्षा के स्वतन्त्र अध्याय का प्रथम आचार्य कहा जा सकता है।

क्षेमेन्द्र

११वीं शती के उत्तरार्ध में वर्तमान आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य विचार चर्चा और कविकण्ठाभरण नामक ग्रन्थों में कविशिक्षा के तत्त्व बड़े मुखर रूप में प्राप्त होते हैं। यद्यपि क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्रीय समस्याओं के आत्मिक पक्ष पर भी पूर्ण दृष्टि रखते हैं फिर यह पक्ष भी पर्याप्त प्रमुख है।

जयमंगल

११वीं शती के अन्त में आचार्य जयमंगल की 'कविशिक्षा' नामक कृति का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थ का नाम ही उसके विषय का निरूपक है। कृति उपलब्ध नहीं है।

अरिसिंह और अमरचन्द्र

१३वीं शती के मध्य में श्वेताम्बर जैन आचार्यों अरिसिंह और अमरचन्द्र की सम्मिलित कृति 'काव्यकल्पलता वृत्ति' एक उल्लेखनीय कृति है। मूल ग्रन्थ का नाम 'कवितारहस्य' या 'काव्यकल्पलता' है जिसमें एक अंश की पूर्ति अमरचन्द्र ने की थी। साथ ही अमरचन्द्र ने 'कविशिक्षावृत्ति' के नाम से इस पर अपनी टीका भी लिखी थी। इस कृति में नौसिखिए कवियों के लिए शिक्षा की प्रचुर सामग्री है। छन्द और अलंकार के परिचय के साथ यह कृति विविध प्रकार के शब्द चातुर्य, प्रहेलिका, श्लेष, अनुप्रास, चित्र आदि कविसमय तथा अन्य प्रकार के वर्ण्य विषयों एवं वर्णन विधियों की सूचना इसमें निहित है। पंचम प्रतान में काव्य के अनेक वर्णनात्मक विषयों का परिचय है जिनमें राजा, मन्त्री, राजकुमार, सेना, युद्ध, आखेट आदि के साथ-साथ नगर, उपवन, सरिता, तड़ाग आदि की भी चर्चा है। अंतिम प्रतान में उपमेय भूत विविध अंगों के लिए नाना उपमानों की तालिकाएं दी गई हैं।

काव्यकल्पलतावृत्ति कविशिक्षा का एक बड़ा प्रभावशाली ग्रन्थ रहा है, परवर्ती कई आचार्यों ने उसे आधार बनाया है।

देवेश्वर

१३वीं शती के अन्त में अमरचन्द्र से लगभग ५० वर्ष बाद आचार्य देवेश्वर ने 'कविकल्पलता' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ उपर्युक्त 'काव्यकल्पलता वृत्ति' में निरूपित अमरचन्द्र की बातों को ही आधार बनाकर चला है।[1]

राघवचैतन्य

राघवचैतन्य के नाम से एक 'कविकल्पलता' का उल्लेख मिलता है[2] जिसका आधार सम्भवतः देवेश्वर की कविकल्पलता है। ये रचनाएं अमरचन्द्र की परम्परा के निरन्तरता की सूचना देती हैं।

गंगादास

छन्दोमंजरी के कर्ता आचार्य गंगादास के द्वारा एक 'कविशिक्षा' की रचना का भी उल्लेख मिलता है।[3]

१ [illegible], भा २ पृ० २८६
२ वही भा १, पृ० २६५
३ वही भा १ पृ २६०

केशवमिश्र

अरिसिंह अमरचन्द्र की कृति 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के उपरान्त केशवमिश्र के 'अलंकारशेखर' का नाम महत्त्व की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह महत्त्व इसलिए नहीं कि इसमें किन्हीं विशिष्ट मौलिक बातों की चर्चा हो अपितु इस दृष्टि से कि काव्य चिकीर्षुओं के लिए यह ग्रन्थ भी विशेषतः अध्येय रहा है।

'अलंकारशेखर' में यों अपने पूर्वाचार्यों के आधार पर काव्यशास्त्र के आधारभूत अंगों उपांगों की भी चर्चा है पर अमरचन्द्र की परम्परा की शिक्षा सामग्री भी प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत की गयी है। काव्यकल्पलतावृत्ति से केशवमिश्र ने पर्याप्त सामग्री ली है। वर्ण्य विषयों से सम्बद्ध अनेक चीजों की तालिकाएँ हैं। इनमें से कई 'काव्यकल्पलता वृत्ति' में से भी हैं, कई उनकी तालिकाओं से पूरा मेल नहीं भी खाती हैं।[1] अतः अनुमान किया जा सकता है कि इसी परम्परा के अन्य भी ग्रन्थ रहे होंगे जिनका आधार केशव मिश्र ने लिया है। १ वीं मरीचि में उपमा के प्रसंग में नाना अंगोपमान, चौदहवीं मरीचि में राज लक्षण, पन्द्रहवीं में कवि-समय, १६वीं में राज वर्ग की तथा ऋतु सम्बन्धिनी सामग्री, सत्रहवीं मरीचि में वर्णों के आधार पर विभिन्न वर्ण्य पदार्थों की तालिकाएँ, अठारहवीं में एक से एक सहस्र तक की संख्या वाले पदार्थ आदि का निरूपण इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

केशवमिश्र के इस ग्रन्थ की रचना १६वीं शती के उत्तरार्ध में हुई थी।

केशव और कविशिक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य केशव के सामने काव्यशास्त्र के एक विकसित अंग के रूप में काव्यशास्त्रीय शिक्षा-ग्रन्थों की परम्परा विद्यमान थी। शिक्षा ग्रन्थों का उद्देश्य विषय की बहुत गहराई में जाना नहीं था। ये ऐसे विषयों का निरूपण प्रस्तुत करते हैं जो काव्यशास्त्र के परम्परा भुक्त विषय नहीं हैं तथा सामान्य कोटि के कवियों के लिए विविध प्रकार की इनकी तालिकाएँ प्रस्तुत करते हैं और व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर कवि बनाने का मार्ग सामने रखते हैं। इनका मूल्यांकन और महत्त्व भी इसी दृष्टि से है न कि काव्यशास्त्र की मूल प्रकृत चेतना को सामने रख कर।

केशव के सामने भी कविशिक्षा की युगीन आवश्यकता थी। हिन्दी की काव्य प्रतिभा के प्रकृत क्षेत्र से व्युत्पत्ति के क्षेत्र की ओर बढ़ चला था। राज्याश्रय एवं जन रुचि शास्त्र-कवियों को सम्मान दे रहे थे। हिन्दी में अनेक काव्यचिकीर्षु इस क्षेत्र की शिक्षा की अपेक्षा रखते थे। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अवगाहन करने की क्षमता उनमें थी नहीं, हिन्दी में कोई अच्छा ग्रन्थ इस कोटि का था नहीं। केशव ने ऐसे ही अनेक भाषा-कवियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित समस्त शिक्षा-सामग्री को टटोला और उसे अपनी दृष्टि से सजो कर कवि प्रिया और छन्दमाला के रूप में प्रस्तुत किया। कविप्रिया की रायप्रवीण ऐसे ही

[1] संस्कृत पोएटिक्स। एस० के० डे भा० २, पृ० २६

भाषाकवियों की प्रतीक एवं प्रतिनिधि है।

केशव की शिक्षा सम्बन्धी सामग्री के आधार ग्रन्थ दोनों ही प्रकार के हैं। भामह दण्डी आदि प्राचीन अलंकारवादियों तथा अलंकार-नायिकाभेद शृंगार के विविध नवीन आचार्यों के ग्रन्थों का सहारा लेते हुए उन्होंने अलंकार चित्र-काव्य दोष छन्द आदि का परिचय दिया। रस विषयक उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर रस नायिकाभेद आदि विषयों के निरूपण में भी गौण रूप से यह शिक्षक रूप घुला मिला रहा। किन्तु इन गौण रूपों के अतिरिक्त उन्होंने उन शिक्षा विषय से सम्बद्ध बातों का निरूपण भी किया जो काव्यशास्त्र के प्रकृत क्षेत्र से कुछ अलग सी चली आ रही थीं और परम्परावादी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ जिनकी चर्चा नहीं किया करते थे। ऐसी चर्चाओं के लिए केशव ने संस्कृत के उपयुक्त काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर आदि ग्रन्थों को ही आधार बनाया है।

किन्तु केशव के द्वारा इस समस्त सामग्री के निरूपण और प्रस्तुत करने में एक विशेषता है। उन्होंने समस्त निरूपणों को दृष्टिकोण की एकसूत्रता में बांधने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने प्राचीन आचार्यों के अनुरूप अलंकारत्व को एक व्यापक दृष्टि से अपनाकर वर्ण्य एवं वर्णन शैली दोनों पक्षों को उनमें समाहित किया है और अलंकारों के दो वर्ग बनाये हैं—सामान्य और विशेष। सामान्यालंकारों के अन्तर्गत उन्होंने चार वर्ग बना कर संस्कृत के उक्त शिक्षा ग्रन्थों में निरूपित विविध वर्ण्य विषयों को अन्तर्भुक्त कर लिया है। दृष्टिकोण की यह एकसूत्रता प्रायः संस्कृत के उक्त शिक्षाप्रधान ग्रन्थों में नहीं मिलती।

अब हम यहां केशव की कविशिक्षा सम्बन्धी प्रमुख बातों का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना चाहेंगे। इसके लिए हमारे सामने उनके आचार्यत्व सम्बन्धी तीनों ही ग्रन्थ हैं।

कवि-समय

केशव ने अनेक कवि समयों का एवं कवि नियमों का कवि रीतियों के नाम से निरूपण किया है। यह निरूपण कविप्रिया के चतुर्थ प्रभाव में आता है।

कवि-सम्प्रदाय में परम्परा से स्वीकृत इन बातों की चर्चा केशवमिश्र ने अपने अलंकारशेखर की १५वीं मरीचि में इस प्रकार का है

> असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात्।
> नियमस्य पुरस्कारात् सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः ॥[1]

कवि-सम्प्रदाय के तीन रूप हैं सत् अर्थात् लोक में उपलब्ध वस्तुओं का काव्य में वर्णन न करना लोक में असत् भी पदार्थों का काव्य में वर्णन करना किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं का विशिष्ट देश-काल-व्यक्ति के साथ ही सम्बद्ध कर नियम के साथ वर्णन करना। केशव ने भी कविप्रिया के चतुर्थ प्रभाव में इन्हीं तीन बातों को लिया है

[1] अलंकारशेखर केशवमिश्र मरीचि १५ १।

साँची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनत नियम करि कवि-मत विविध बखानि ॥[1]

यहाँ केशव ने उक्ति को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए केशवमिश्र के सत्' और असत् को साँचा और झूठी कह कर अनूदित किया है। केशवमिश्र ने एतद् विषयों की सूचियाँ कुछ लम्बी दी हैं। अलंकारशेखर के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे निरूपण हुआ करते थे। आचार्य केशव केशवमिश्र के निरूपण में से कुछ चीजें लेकर विषय का परिचय करा देते हैं सब के उदाहरण देने से ग्रन्थ विस्तार का भय है इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण को केशव ने अपने सामने रखा है

सबके कहत उदाहरन बाढ़ ग्रन्थ अपार।
कहुँ कहुँ तातें कह्यो कविकुल चतुर विचार ॥

केशव ने जिन बातों को लिया है वे केशवमिश्र की तालिका के प्रारम्भिक दो श्लोकों में वर्णित हैं। प्रत्येक सागर में रत्नों का वर्णन सामान्य से सरोवरों में भी हंसों की चर्चा, तमस की मूर्तता मुष्टिग्राह्यता सूचीभेद्यता चन्द्रिका की अञ्जलिग्राह्यता मूर्तता की चर्चा केशव ने की है। इनके उदाहरण भी पद्यों में दिये हैं।

नियमों की केशव की सूची कुछ लम्बी है फिर भी उतनी लम्बी नहीं जितनी उनके आधार ग्रन्थ केशवमिश्र के अलंकारशेखर में है। फिर भी केशव ने अपनी निर्धारित बातों के लिए आधार-ग्रन्थों में से चयन किया है। मलय पर ही चन्दन का वर्णन हिमालय पर ही भूर्जपत्र का देवताओं के अंग-वर्णन का क्रम चरणों से तथा मानुषों का सिर से प्रारम्भ करना कुलवधुओं की ही सलज्ज और गणिकाओं का ही निर्लज्ज दिखाना आदि अनेक बातों को केशव ने लिखाया है। यहाँ इन सब बातों का उल्लेख करना गणना करना उनके मूल ग्रन्थों के तथा संस्कृत ग्रन्थों के मूल पाठ का प्रस्तुत करना हम अपेक्षित भी नहीं और आवश्यक भी नहीं है। इन वर्णनों तथा निरूपणों के विषय में यही समझना चाहिए कि कविशिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार की चर्चाएँ होती चली आ रही थीं। केशव ने भी उनका उसी परम्परा में निरूपित किया है।

नखशिख वर्णन

केशवमिश्र ने अलंकारशेखर में उपमालंकार के प्रसंग में नारी के अंगों के अनेक उपमान देते हुए नखशिखनिरूपण किया है। यह वर्णन पर्याप्त विस्तृत है और कविकल्पलता तथा गोवर्धन के आधार पर बनाया गया है साथ ही पद्यों का आधार भी है। नारी के वर्णन के विषय में केशवमिश्र कहते हैं

चन्द्रकसाम्बुजवामनिरीक्ष विद्युत्ताराञ्जनकनना च।
दमनकचालनयष्टी दीप सर्वैरेभिर्योषित् वर्ण्या ॥[3]

१ कविप्रिया ४।४
२ वही ४।८
३ अलंकारशेखर, मरीचि १३, श्लो० १

कविप्रिया में केशव ने भी १५ वें प्रभाव में उपमालंकार के निरूपण प्रसंग में ही इन बातों की चर्चा की है। केशव के शब्द छायानुवाद भर हैं

चन्द्रकला उडु दामिनी कनकसलाका देखि।
दीपसिखा औषधिलता माला बाला लेखि ॥[1]

पर केशव ने अपने निरूपण में एक विशेषता की है। उन्होंने इस विषय को परमानन्द भगवान कृष्ण की आनन्द शक्ति राधा के साथ सम्बद्ध कर दिया है।[1] अत उनका नखशिख वर्णन मानुषी योषित् का नहीं देवी योषित् का वर्णन हो जाता है। फलत केशव ने अंग वर्णन चरणों से प्रारम्भ किया है जबकि केशवमिश्र के अलंकारशेखर में यह वर्णन शिर से प्रारम्भ होता था और उसमें शृंगार के अन्तर्गत आने वाले इस विषय का भक्ति क्षेत्र से कोई सम्बन्ध न था। केशव ने इस प्रसंग में कवियों को सलाह दी है कि वे राधा को इष्टदेवता मान कर नख शिख वर्णन में प्रवृत्त हों कम से कम केशव की अपनी आस्था इसी रूप में है

जग के देवी देव के श्रीहरि देव बखानि।
तिन हरि की श्रीराधिका इष्ट-देवता जानि ॥[2]

केशव अलंकारशेखर में वर्णित अंगों या उनके उपमानों तक ही बंध कर नहीं रहे अन्यत्र भी उन्होंने कुछ लिया है। कवि परम्परा से परिचित होने के नाते तथा स्वयं इस क्षेत्र के समय कवि होने के नाते भी इस विषय पर वे बहुत कुछ स्वयं भी कह सकते थे। केशवमिश्र ने इन अंगों का उल्लेख किया है तनुद्युति कच ललाट कपोल मुख नासिका कण्ठ नेत्र ओष्ठ रद वाणी बाहु कर, नख उरोज नाभि वली पृष्ठ जघन नितम्ब ऊरु अंगुष्ठ नख कटाक्ष हास्य श्वास नूपुरध्वनि। इनके अतिरिक्त कविकल्पलताकार शिह्र श्रीपाद का अनुयायी कहा गया है तथा गोवर्धन के अनुसार कतिपय और बातों का भी उल्लेख किया गया है। केशवमिश्र की इन तालिकाओं में अनिवार्यत अंगों तक ही निरूपण सीमित नहीं है हास्य और नूपुरध्वनि जैसी चीजें भी हैं। कविप्रिया में केशव ने क्रमश इन का वर्णन रखा है यावक एवं यावकयुक्त चरण अंगुली नूपुर जहरी, ऊरु नितंब कटि रोमराजी कुच भुज करभूषण नखांगुलिमुद्रिका महंदीयुक्त हाथ ग्रीवा ग्रीवा भूषण, पीठ चिबुक अधर दशन हास, मुखवास मुखराग रसना वाणी कपोल नासिका नकमोती लोचन अंजन भ्रूयुग श्रवण भृकुटि ललाट अलक मुखमण्डल शिर वेणी बेंदी शिरोभूषण वसन अंगदीप्ति गति और सम्पूर्ण मूर्ति। केशव की यह तालिका बताती है कि उन्होंने अपने का अलंकारशेखर या किसी ग्रन्थ एक ग्रन्थ तक सीमित नहीं रखा अपितु प्रसंग स्थान पर सब ओर से सामग्री जुटा कर विषय को पूर्णता प्रदान की है। इसीलिए वे अपने विषय को 'नखशिख-वर्णन' का एक अलग नाम दे सके हैं

१ कविप्रिया प्र १५ छन्द ११
२ १ केशव परमानन्द की आनन्द-शक्ति किधौं बरनि।
आदर कर मन धरन को राधा अवराधा हरनि ॥ कवि प्रि १५।१३
२ कविप्रिया प्र १५ छन्द ४

जो अलंकार शेखर आदि में नहीं है।

संख्या निरूपण

केशव ने ११ वें प्रभाव में 'गणनालंकार' के अन्तर्गत एक से लेकर दस संख्या तक के पदार्थों का उल्लेख किया है। उदाहरण-स्वरूप आत्मा रवि चन्द्र ध्रुव-चक्षु गणेश-दन्त को एक ही माना जाता है। नदी के तट राम के पुत्र पक्ष खड्ग की धारें नत्र द्विज के जन्म चरण भुजाएं अश्विनीकुमार लक्ष्मी के ढक सर्प की जिह्वाएं अयन गजदन्त चुकरड (दुमुहीं) के मुंह कलानिधि—इनकी संख्या दो मानी जाती है। इसी प्रकार केशव ने दस तक की संख्या वाले पदार्थों की तालिकाएं दी हैं।

ऋतुवर्णन (बारहमासा)

केशव ने कविप्रिया के दशम प्रभाव में आक्षेप अलंकार के अनेक रूपों का निरूपण किया है। इनमें एक रूप है 'निषेधाक्षेप'। इसके प्रसंग में उन्होंने एक 'बारहमासा' उदाहृत किया है।

बारहमासे का सीधा सम्बन्ध काव्यशास्त्र से नहीं है न ही निषेधाक्षेप अलंकार से है। यह केशव के कवि रूप से अधिक सम्बद्ध है। इस कवि रूप को हम कवि शिक्षा के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं। क्योंकि कविशिक्षा कविप्रिया का एक सामान्य उद्देश्य रही है, अतः इस बारहमासे का उदाहरणरूप में प्रस्तुतीकरण भी भाषा-कवियों के लिए शिक्षा के रूप में भी समझा जा सकता है। इसी अनुरोध से हम कविशिक्षा के अन्तर्गत उसकी चर्चा कर रहे हैं।

यह बारहमासा वियोग वर्णन के रूप में नहीं है जैसा कि प्रायः हिन्दी के बारहमासे पाये जाते हैं। नायक नायिका से वियुक्त होकर विदेश जाना चाहता है। इस वियोग भय के प्रसंग से फिर भी इसका सम्बन्ध अवश्य है। नायिका प्रत्येक मास में तत्तत्कालीन ऋतु-पदार्थों की उद्दीपनता सामने लाकर तथा अन्य व्यंजनापूर्ण ढंगों से नायक के विदेश-गमन को रोक देती है। इसीलिए इस बारहमासे को निषेधाक्षेप के अन्तर्गत रखा गया है। यहां एक उदाहरण पर्याप्त होगा

> फूली लतिका ललित तरुनितर फूले तरुवर।
> फूली सरिता सुभग, सरस फूले सब सरवर।
> फूली कामिनि कामरूप करि कंतन पूजहिं।
> सुक सारी कुल कलित फूलि कोकिल कल कूजहिं।
> कहि केसव ऐसो फूल महं सूल न फूलहि लाइए।
> पिय आपु चलन की को चलो चित्त न चैत चलाइए॥[1]

इसी पद्धति पर विभिन्न ऋतुओं की उद्दीपन सामग्री द्वारा प्रत्येक मास में

[1] कविप्रिया, प्र० १०, निषेधाक्षेप के विविध उदाहरण

नायक के विदेश-गमन को रोकने या आक्षिप्त करने का प्रयास किया गया है। वर्णन चैत्र से प्रारम्भ होकर फाल्गुन पर समाप्त होता है।

केशवमिश्र ने अलंकारशेखर में भी इस प्रकार की तालिकाएँ दी हैं जिनमें एक से लेकर १६ तक तथा अठारह बीस सौ और एक सहस्र संख्या तक के पदार्थ गिनाए गए हैं। सम्भवतः वहाँ १७ और १९ संख्या के पदार्थों का उल्लेख करने वाली पंक्तियाँ लिपिकारों की असावधानी से कभी च्युत हो गई हैं। केशवमिश्र के उल्लेख से स्पष्ट है कि इस प्रकार की चर्चा उन्होंने ही नहीं की अपितु वह कविशिक्षा के भीतर एक परम्परा बन चुकी है

उदाहरणमेतेषां प्रसिद्धत्वान्न लक्ष्यते।
प्रवर्तते केवलं पाठ्या मार्गेण काव्यवर्त्मनि॥[1]

पर केशवमिश्र ने इस वर्णन को गणनालंकार नहीं कहा है उन्होंने इसे संख्या-नियम नाम देकर कवि नियमों के अन्तर्गत रखा है और 'संख्यानियममरीचि' के नाम से अलग एक मरीचि में उनका वर्णन किया है। पर केशव ने विशिष्टालंकारों के भीतर इस विषय को अनुगणना अलंकार कहा है।

अनुगनना सो कहत हैं जिनके बुद्धि प्रकास।[2]

नियम या अलंकार कहे जाने के लिए किसी विशिष्टता या चुनाव का आधार होना चाहिए। अतः इस कोटि में वे ही पदार्थ रखना उचित रहता जो काव्य में एक विशिष्ट परम्परा के रूप में निश्चित संख्या में माने जाते हैं या लोक में जिनकी संख्या किसी विशिष्ट मान्यता के अनुरूप स्वीकृत है। उदाहरणस्वरूप गणेश के दाँत या शुक्र की दृष्टि की बात ली जा सकती है। इस प्रकार की वस्तुओं को नियम भी कहा जा सकता है और केशव के व्यापक दृष्टिकोण के अनुरूप अलंकार भी। केशवमिश्र की तालिकाओं में प्रायः ऐसी ही वस्तुएँ संकलित हैं जिनके विषय में कुछ न कुछ उल्लेख्य विशिष्टता प्रचलित है। पर केशव ने कविप्रिया की तालिकाओं में अत्यन्त सामान्य और सर्व प्रचलित वस्तुएँ भी परिगणित कर ली हैं जिनके विषय में नियमत्व या अलंकारत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप दो संख्या वाले पदार्थों में करों नेत्रों और भुजाओं को गिनना लिया जा सकता है। पर केशवमिश्र की तालिकाओं में भी कुछ न कुछ ऐसी सामग्री सम्मिलित है। जैसे दश संख्या में इन्होंने अंगुलियाँ का लिया है दो संख्या में भुजादि की बात उन्होंने भी कही है। अतः यह कमी परम्परागत दृष्टिकोण की ही समझनी चाहिए।

भूमिभूषण

हम पीछे कह चुके हैं कि केशव ने अलंकार के विषय में अत्यन्त प्राचीन दृष्टिकोण अपना कर उसकी परिधि में काव्य के वर्ण्य विषयों को भी समेट लिया है। इसके चार उपवर्ग बनाए गए हैं वर्ण वर्ण्य भूश्री राजश्री। इन चार उपवर्गों

१ अलंकारशेखर पृ ६३
२ कविप्रिया ८ ११।१

में उन्होंने संस्कृत के कविशिक्षा के विविध ग्रंथों में निरूपित विविध वर्ण्य विषयों की सामग्री को संयोजित करके समाहित किया है। अतः १६वीं १७वीं शती के आलोचना के विकसित युग में अलंकार का प्राचीन अर्थ लेना चाहे उपयुक्त न रह गया हो किन्तु कविशिक्षा के विविध विषयों को काव्यशास्त्र की मूल समस्याओं के साथ समंजस रूप में वर्णित कर सकने का एक सफल मार्ग केशव के द्वारा अवश्य प्रस्तुत कर दिया गया है। अलंकारशेखर आदि संस्कृत के कविशिक्षा के ग्रन्थ इन बातों की चर्चा प्रायः बिखरे और अग्रथित रूप में करते हैं।

वर्णालंकार

वर्णालंकार के भीतर केशव ने श्वेत पीत कृष्ण, अरुण धूसर नील एवं मिश्रित इन ७ वर्णों की वस्तुओं को वर्णन के लिए काव्य विषयों के रूप में वर्णित किया है। यह वर्णन कविप्रिया के पंचम प्रभाव में आता है। केशवमिश्र ने अलंकार शेखर की सत्रहवीं मरीचि में इस विषय का निरूपण नियमों के अन्तर्गत रख कर किया है

> श्वेताश्चन्द्रादयो ज्ञेया नीलाः श्रीकेशवादयः।
> शोणास्तु क्षत्रधर्माद्या पीता दीपशिखादयः।
> धूसरा रणभूम्याद्या ज्ञातव्या काव्यवर्त्मनि ॥[1]

काव्य मार्ग की इन वर्ण्य वस्तुओं को केशव ने पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। यों केशवमिश्र की तालिकाएं भी छोटी नहीं हैं किन्तु काव्यकल्पलतावृत्ति में व संक्षिप्त रूप ही हैं।

वर्ण्यालंकार

वर्ण्यालंकारों के भीतर आकार और गुणों का आधार लेकर वर्ण्य वस्तुओं को वर्गीकृत किया गया है। वर्णालंकारों में पदार्थों का वर्गीकरण वर्णों के आधार पर था।

भूश्री और राजश्री

केशव ने प्रकृत और राजजीवन सम्बन्धी विषयों को अलग अलग दो उपवर्गों में रख कर सामान्यालंकार के भीतर नियोजित किया है। भूश्री में देश, नगर वन, बाग गिरि आश्रम सरिता ताल रवि शशि सागर, समस्त ऋतुएं रख गए हैं। राज्यश्री में राजा रानी राजसुत पुरोहित दलपति, दूत, मंत्री, मंत्र प्रयाण, गय हय, संग्राम आखेट जलक्रीडा, विरह स्वयंवर सुरत आदि को रखा गया है। इस प्रकार दोनों के भीतर प्राकृत एवं राजजीवन की सामग्री अलग अलग वर्गीकृत है। फिर इन प्रत्येक की विशिष्ट विशेषताओं के अनुरूप उनका निरूपण और उदाहरणों

१ केशवमिश्र, अलंकारशेखर, मरीचि १७, पृ ६०

द्वारा स्पष्टीकरण है।

अमरचन्द्र और देवेश्वर का आधार लेकर चलने वाले आचार्य केशवमिश्र ने भी अपने अलंकारशेखर में सोलहवीं मरीचि में इन विषयों का उल्लेख किया है। पर उन्होंने एक तो इनको स्थानीय कह कर भी नियमों के अन्तर्गत रखा है दूसरे प्रकृति और राज जीवन के विषयों को अलग अलग न कर मिला जुला ही वर्णित किया है। ये दोनों बातें ही उपयुक्त नहीं। वर्ण्य विषयों को कवि-अध्ययन का नियम कहना काव्य विषयों की अनिवार्य सीमा निर्धारित कर देना है। भले ही साहित्य की परम्परा किसी काल में अपने को संकुचित कर ले पर काव्यशास्त्र का काम उसकी सीमा नियम के रूप में निर्धारित करना उपयुक्त नहीं। केशव ने उक्त सामान्य प्रकार के भीतर वर्ण्य विषयों के रूप में सामने रखा है। दूसरी ओर राज जीवन और प्रकृति उपादानों के मिले जुले रहने से वर्ण्य विषयों के सम्बन्ध में कोई दृष्टिकोण की स्पष्टता नहीं रह जाती। केशव ने इन कमियों को परिमार्जित किया है। केशवमिश्र के वर्ण्य विषय इस रूप में निरूपित हैं

वर्ण्यस्तु राजा देवी च देशो ग्राम पुरी सरित्।
सरो अरण्योद्यानाद्रिप्रयाणरणवाजिन ।
हास्यरसग्रन्थवतयो विवाहोत्सव स्वयंवर ।
सुरापुष्पाम्बुसंभोग विप्रलम्भमृगयाधमा ।
शशी ऋतुषट्क सन्ध्या धातुज रात्रिसारिता ॥[1]

लगभग इसी प्रकार के विषय और इसी प्रकार के निरूपण विवरणों के साथ केशव ने कविप्रिया में वर्णित किये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य केशव ने कविशिक्षा के ग्रन्थों में निरूपित उस क्षेत्र के प्रमुख विषयों को भाषा कवियों के सामने प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण में श्रेय इस बात का है कि निरूपण कितनी सफाई से किया गया है और दृष्टिकोण की सफाई कितनी है। केशव के निरूपण के विषय में हम यही कह सकते हैं कि वह कविशिक्षा के ग्रन्थों पर आधारित एक लम्बी चली आती हुई परम्परा की कड़ी के रूप में तथा कविशिक्षा की युगीन आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए है साथ ही कविशिक्षा के ये विषय काव्य-शास्त्र के मूल विषयों से कटे कटे से प्रायः ही अलग संस्कृत ग्रन्थों में निरूपित दिखाई पड़ते हैं। केशव ने अलंकार की व्यापक परिधि के भीतर उन सब को बाँध कर विषय निरूपण की एकसूत्रता ही नहीं स्थापित की अपितु कविशिक्षा को काव्यशास्त्र में एक समंजस और प्रकृत अंग बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयास में केशव को उनके दृष्टिकोण के अनुरूप पूर्ण सफलता मिली है। फिर भी उस सफलता का अनुगमन नहीं हुआ। उसका कारण केशव के निरूपण की अशास्त्रीयता या कमी नहीं है अपितु वह गया बीता (आउट आफ डेट) दृष्टिकोण है जिसे अपना कर उन्होंने अलंकार को इतने व्यापक अर्थ में लिया है।

१ अलंकारशेखर केशवमिश्र मरीचि १६ पृ ५७

अपने को प्रमुख आचार्यों की श्रेणी में रखवाने वाले सभी आचार्य अपने मान्य सिद्धान्त की परिधि का विस्तार कर अन्य काव्यांगों को उसमें समेटने का काम बहुत पुराने समय से करते चले आ रहे हैं। प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार और रीति की परिधियाँ इस दृष्टि से विस्तृत की थीं। ध्वनिवाद ने वैसा ही दृष्टिकोण सामने रखा। उसकी देखा-देखी अभिनव जैसे आचार्यों ने रसवाद की परिधि का विस्तार किया था। कुन्तल ने वक्रोक्ति की परिधि में सब कुछ समेट कर दिखाया था। क्षेमेन्द्र ने यही काम औचित्य की परिधि को विस्तृत कर करने का प्रयास किया था। आचार्य केशव ने भी अलंकार की व्यापक परिधि स्वीकार कर अलंकार, रस, नायिकाभेद और कविशिक्षा सब को उसमें समेटने का प्रयास किया। रसिकप्रिया में दृष्टिकोण की कुछ भिन्नता रखने के कारण इस परिधि का प्रयोग नहीं किया गया पर कविप्रिया में यह दृष्टिकोण छाया रहा। और अलंकार की व्यापक परिधि के भीतर कवि-शिक्षा को भी उन्होंने समाहित किया।

इसके अतिरिक्त परम्परागत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में निरूपित विविध काव्यांगों को केशव ने अपने ग्रन्थों में एक शिक्षक आचार्य के नाते परिचित कराया है। इनमें अलंकार, चित्र-काव्य, यमक, छन्द-विषयक बातें और छन्दमाला का छन्द-निरूपण विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सम्बद्ध स्थलों पर हम इन विषयों की चर्चा कर चुके हैं। यहाँ [illegible] विषय में यही उल्लेख करना है कि इनके निरूपण में केशव का मूल दृष्टिकोण परिचयात्मक रहता है और मूल स्वर एक शिक्षक का। यों वे यत्र तत्र मौलिकता लाने और प्रभावशील बनने का प्रयास भी करते हैं, साथ ही उनके वक्तव्यों के पीछे बहु अधीत पाण्डित्य की झलक स्पष्ट हो जाती है, तथापि इन निरूपणों का शिक्षात्मक स्वरूप ही सर्वोपरि रहता है। इसी कारण कविप्रिया और छन्दमाला को प्रमुख रूप से तथा रसिकप्रिया को गौण रूप से कविशिक्षा के ग्रन्थों के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। पर केशव के ये शिक्षा-ग्रन्थ स्वतन्त्र शिक्षा-ग्रन्थ नहीं हैं, काव्यशास्त्र की प्रकृत परम्परा के साथ समन्वित रूप में ग्रथित की गई कविशिक्षा के ग्रन्थ हैं। युग के हिन्दी काव्यशास्त्र और अधिकारी भाषा-कवियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर केशव के इस कार्य का मूल्य भी कम नहीं है।

अष्टम प्रकाश

केशव का आदान प्रदान

आदान

पिछले प्रकाशों में हम देख चुके हैं कि केशव का आचार्यत्व सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र की विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधारित है। उन्होंने अपने आचार्यत्व सम्बन्धी ग्रंथों में संस्कृत के प्राचीनतम आचार्य से लेकर अपने समय तक के आचार्यों की सामग्री का उपयोग किया है। यही कारण है कि रसिकप्रिया, कविप्रिया तथा छन्दमाला में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। हम विगत प्रकाशों में इन ग्रंथों की सामग्री के आदान एवं उपयोग का स्वरूप देख-समझ चुके हैं। प्रत्येक विषय को लेकर उस आदान एवं प्रभाव का यहाँ वर्णन करना मात्र पुनरुक्ति ही होगी।

सामग्री के चयन एवं निरूपण में तो ये ग्रंथ केशव के आधार रहे ही हैं। कहीं-कहीं केशव में उनसे भावसाम्य भी पाया जाता है। रसिकप्रिया, कविप्रिया और छन्दमाला में भावसाम्य के बहुत से स्थल दिखाए जा सकते हैं। परन्तु हम यहाँ आदान के प्रसंग में उसी भावसाम्य के कुछ निदर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

विस्तारभय के कारण मात्र कतिपय उद्धरण देकर ही हम अपने कथन को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

रसिकप्रिया

रसिकप्रिया की रचना में केशव पर पड़े प्रभाव के प्रधान स्रोत भरतकृत नाट्यशास्त्र, मम्मटकृत काव्यप्रकाश, विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण, भोज नरेन्द्रकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, शिंगभूपाल कृत रसार्णवसुधाकर, कल्याणमल्लकृत अनंगरंग, वात्स्यायन का कामसूत्र आदि हैं। यहाँ उक्त ग्रंथों से कतिपय उद्धरण देकर तथा रसिकप्रिया से उनका भावसाम्य दिखाकर केशव के इस क्षेत्र के आदान को समझा जा सकता है।

नाट्यशास्त्र

भरत के नाट्यशास्त्र में रस की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।[1]

रसिकप्रिया में केशव ने रस की जो परिभाषा दी है वह नाट्यशास्त्र की परिभाषा से साम्य रखती है। केशव ने लिखा है—

मिलि विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सुअनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो, सोई रस सुखरूप ॥[2]

रस की परिभाषा के साथ साथ स्थायीभाव के भेदों के निरूपण में भी दोनों आचार्यों में साम्य दिखाई देता है। नाट्यशास्त्र में दिए गए स्थायी भाव ये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावाः प्रकीर्तिताः ॥[3]

रसिकप्रिया में वर्णित स्थायीभाव नीचे के छन्द में देखे जा सकते हैं—

रति हासौ अरु शोक पुनि क्रोध उछाह सुजान।
भय निन्दा विस्मय सदा थायीभाव प्रमान ॥[4]

काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश एवं विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में रस की परिभाषाएं भरतमुनि से भिन्न रूपों में दी हैं। काव्यप्रकाश में रस की परिभाषा इस प्रकार है—

विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥[5]

साहित्य-दर्पण में रस की परिभाषा निम्न है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥[6]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उनमें केवल शब्दों का ही भेद है। केशव की रस की परिभाषा हम ऊपर देख चुके हैं। उसे देखने से ऐसा लगता है कि उन्होंने मम्मट और विश्वनाथ के मतों से अवश्य सहायता ली है।

नायक-नायिका भेद वर्णन में भी केशव पर विश्वनाथ के प्रभाव को देखा जा सकता है। रसिकप्रिया में नायक के लिए जिन गुणों की मान्यता मिली है वे सभी विश्वनाथ के वर्णन से मेल खाते हैं—

१ नाट्यशास्त्र छठा अध्याय ३२वें श्लोक की वृत्ति
२ रसिकप्रिया छन्द २
३ नाट्यशास्त्र छठा अध्याय श्लोक १८
४ रसिकप्रिया ६।१
५ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास श्लोक २८
६ साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद ११ का

केशव ने वाग्वज्जा का लक्षण देते समय उसमें इसी प्रभाव को व्यक्त किया है—

वाग्वक्रसज्जा होई सो कहि केशव सविलास ।
विलय रति गृह द्वार त्यों प्रिय आवन की आस ॥'

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि शृंगारतिलक से केशव पर्याप्त प्रभावित थे और उन्होंने अपने प्राय लक्षणों में रसार्णवसुधाकर के लक्षणों से साम्य रखा है ।

अनंगरंग

रसिकप्रिया के प्रणयन में अनंगरंग के प्रभाव को नायिकाभेद वर्णन में देखा जा सकता है । यदि यह कहा जाए कि केशव के नायिकाभेद वर्णन का मुख्य आधार यही ग्रन्थ है तो अत्युक्ति न होगी । अनंगरंग में दिए नायिकाओं के चार प्रकार—पद्मिनी चित्रिणी शंखिनी तथा हस्तिनी—को केशव ने स्वीकार किए ही हैं उनके लक्षण भी अनंगरंग के आधार पर लिए हैं । कल्याणमल्ल की चित्रिणी नायिका का लक्षण केशव की उसी नायिका के लक्षण से तुलनीय है—

तन्वंगी गजगामिनी चपलदृक् सगीतशिल्पान्विता
नो ह्रस्वा न च दीर्घकाय सुदृशा सर्वे मयूरस्वना ।
पीनश्रोणि पयोधरा सुललिते जंघे वहन्ती बने
कामाम्भो मधुगन्धवोष्ठमपि सा तुच्छोन्नतांतस्थला ।
कामागारमसान्द्रलोभसहित मध्ये मृदु प्रायशो
विभ्रद्युल्लसित च बहुलमयो रस्यम्बनाढय सदा ।
भृङ्गीश्यामल कुन्तलाच्य जलजग्रीवोपभोगे रता
चित्रा न्वितमतो रतेरल्पकचिका स्यांगना चित्रिणी ॥'

इन श्लोकों में चित्रिणी नायिका को तन्वंगी गजगामिनी सुदृशा सगीत शिल्पान्विता आदि लक्षणों से युक्त बताया गया है । साथ ही काम क्रीडाओं में उसकी रुचि को भी स्पष्ट किया गया है । केशव ने भी चित्रिणी नायिका के लक्षण वर्णन करने में इसी भाव को व्यक्त किया है—

नृत्य गीत कविता रुच अचल चित्त चल दृष्टि ।
बहिरति रति अति सुरत जल सुख सुगन्ध की सृष्टि ॥
विरल लोभ तन मदनगृह भावत सकल सुबास ।
मित्र चित्र प्रिय चित्रिणी जानहु केसवदास ॥'

इसके अतिरिक्त केशव ने रसिकप्रिया के दूती वर्णन को भी अनंगरंग के दूती वर्णन के आधार पर ही प्रस्तुत किया है । साम्य को परखने के लिए नीचे के उद्धरण पर्याप्त होंगे —

१ रसिकप्रिया ७।१०
२ अनंगरंग श्लोक १३ १४ पृ० ४
३ रसिकप्रिया ३।५ ६

अनगरग—

> मालाकारवधू सखी च विधवा धात्री नटी शिल्पिनी ।
> सन्न्यासी प्रतिगेहका च रजकी दासी च सम्बन्धिनी ॥
> वाला प्रव्रजिता च भिक्षुवनिता तम्बूलस्य विक्रेतिका ।
> मायाकारवधू विदग्धपुरुष प्रख्या इमा दूतिका ॥[1]

रसिकप्रिया—

> धाइजनी नाइन नटी प्रकट परोसिनि नारि ।
> मालिनि बरइनि सिल्पिनी चुरिहोरिनी सुनारि ॥
> रामजनी सन्यासिनी पटु पटुवा की वाल ।
> केसव नायक नायिका सखी करहि सब काल ॥[2]

उक्त उद्धरणों म अन्तर केवल इतना ही है कि केशव न इन्हें नायक-नायिका की सखी का नाम दिया है जबकि अनगरग म इन्ह दूती कहा गया है ।

कामसूत्र

रसिकप्रिया क नायिकाभद वणन पर वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रभाव को का भी देखा जा सकता है । अगम्या नायिका का वणन करत समय वात्स्यायन ने कुष्ठिनी उन्मत्ता पतिता स्वयम रहस्य प्रगट कर देने वाली वृद्धा अतिश्वेतवर्णा, शिष्य की स्त्री तथा मित्रभार्या आदि को इस श्रेणी म रखा है—

> अगम्यास्त्वेवता कुष्ठिन्युन्मत्ता पतिता भिन्नरहस्यप्रकाशा ।
> प्रार्थिनी गतप्राययौवना अतिश्वेतातिकृष्णा दुर्गन्धा सम्बन्धिनी ।
> सखी प्रव्रजिता सम्बन्धि च सखिधात्रियराजदाराश्च ॥[3]

केशव ने इसी को आधार बनाकर अगम्या का वणन इस प्रकार किया है—

> तजि जननी सम्बन्ध की जानि मित्र द्विजराज ।
> राखि लेइ कुल भूल तें ताकी तियतें भाग ॥
> अधिक बरन अघ अम धरि अन्त्यजजन की नारि ।
> तजि विधवा अरु पूजिता रमियहु रसिकविचारि ॥

इस सम्बन्ध म यह बात अवश्य दिखाई देती है कि केशव न कामसूत्र की कुछ अगम्याओं को छोड़ दिया है और कुछ क क्षेत्र को विस्तार दे दिया है फिर भी यह निश्चित है कि केशव क नायिका भेद का आधार कामसूत्र भी है । कामसूत्र ने दूती वणन को भी केशव न ध्यान से परखा है और उनम स भी कुछ को ग्रहण किया है । उनकी धाइ जनी नाइन नटी आदि दूतियां कामसूत्र की विधवा दासी भिखारिन तथा

1 अनगरग छन्द ५३
2 रसिकप्रिया १२।१ २
3 कामसूत्रकारिका, श्लोक ४३ पृ० ६७
4 रसिकप्रिया ७।४३ ४४

निरूपित न तुलनीय है।[१]

इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे ग्रंथ देखे जा सकते हैं जिनके कुछ स्थलों को आधार बनाकर केशव ने रसिकप्रिया के प्रणयन के लिए सामग्री जुटाई है। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि केशव ने केवल उन आधार ग्रंथों से भाव साम्य रखा है। रसिकप्रिया में बहुत से स्थल ऐसे हैं जहाँ केशव ने उन ग्रंथों का समन्वय कर अपने ढंग से विवेचन किया है। ऐसे स्थल भी अनेक हैं जहाँ केशव ने प्राचीन आचार्यों से भिन्न दृष्टिकोण रखा है। रस तथा नायिकाभेद के प्रकरणों में पीछे इस पर विस्तार से विचार हो चुका है। रसिकप्रिया के कुछ वर्णन ऐसे हैं जो संस्कृत के आचार्यों के ग्रंथों में दिखाई ही नहीं देते वे केशव के आचार्यत्व के साक्षी हैं। इस तरह की प्रवृत्ति पर यहाँ दृष्टिपात कर लेना अनुचित न होगा।

नायिका भेद वर्णन में केशव ने नायक नायिका के प्रथम मिलन स्थान वर्णन में मौलिकता का प्रदर्शन किया है। उन्होंने प्रथम मिलन के लिए इन स्थानों को उपयुक्त माना है—

> जनी सहेली धाइ घर सूने घर निसिचार।
> अति भय उत्सव व्याधि मिस न्योते सुवन विहार॥
> इन ठौरनि ही होत है प्रथम मिलन ससार।
> केसव राजा रंक को रचि राखे करतार॥

प्रथम मिलन के इन स्थलों एवं मिसों का किसी भी संस्कृताचार्य की रचना में उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार सखी जन कर्म वर्णन में मनाना और उर हूना देना केशव की निजी सूझ है—

> सिक्षा बिनय मनाइबो मिलिबो करि सिंगार।
> भूकि अब देइ उराहनो, यह तिनके व्योहार॥[२]

इसके अतिरिक्त मध्या, धीराधीरा प्रौढ़ा अधीरा आदि नायिकाओं के हावभाव तथा वियोग शृंगार आदि के वर्णन भी इस क्षेत्र में केशव की मौलिकता के व्यंजक हैं।

कविप्रिया

कविप्रिया की रचना करने में केशव ने जयदेव कृत चन्द्रालोक, केदारभट्ट कृत वृत्तरत्नाकर, दण्डीकृत काव्यादर्श, रुय्यककृत अलंकारसूत्र, केशवमिश्रकृत अलंकार शेखर, अमरचन्द्रकृत काव्यकल्पलतावृत्ति, प्राकृतपैंगलम् तथा भर्तृहरिकृत नीति शतक से कुछ न कुछ ग्रहण किया है। कविप्रिया में अनेक स्थलों पर उन ग्रंथों के वर्णनों से भावसाम्य दिखाई देता है। नीचे इन ग्रंथों से कविप्रिया के भावसाम्य के कतिपय उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं।

१ कामसूत्र श्लोक ६२ पृष्ठ २८
२ रसिकप्रिया ५।२४ २५
३ वही १३।१

चन्द्रालोक

चन्द्रालोककार जयदेव शायद मम्मट के अलंकारों के विषय में पुनः दवाधि वाले कथन से प्रभावित थे। उन्होंने काव्य में अलंकारों के स्थान को व्यक्त करते हुए लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥[1]

केशव भी अलंकारों के विषय में कुछ इसी प्रकार का मत रखते थे। काव्य में अलंकारों के स्थान के विषय में उन्होंने लिखा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त ॥[2]

किन्तु उनका ऐसा कहने में विशिष्ट दृष्टिकोण भी था जिसे हम यथास्थान स्पष्ट कर चुके हैं।

वृत्तरत्नाकर

कविप्रिया में केशव ने जहां दोषवर्णन और गण अगण पर विचार किया है वहां उन्होंने शुभ और अशुभ गणों का उल्लेख करते हुए सभी गणों के लक्षण लघु और गुरु के अनुसार निर्दिष्ट किये हैं। उनका यह सम्पूर्ण वर्णन वृत्त रत्नाकर पर आधारित है। वृत्त रत्नाकर में सभी गणों के देवता, मैत्री फल तथा उनकी शत्रुता आदि पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है—

मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियं दिशति यो वृद्धिं जलं चादिलो
रोऽग्निर्मध्यलघुर्विनाशमनिलो देशाटनं सोऽन्त्यगः।
तो व्योमान्तलघुर्धनापहरणं जो रुक् ददात्यध्यगो,
भश्चन्द्रो यश उज्ज्वलं मुखगुरुर्नो नाक आयुस्त्रिलः।
मनौ मित्रे भयौ भृत्यावुदासीनौ जतौ स्मृतौ।
रसावरी मौचमती भ्रं द्यावेतौ मनीषिभिः ॥[3]

इसके अनुसार मगण का देवता, पृथ्वी यगण का जल, तगण का आकाश भगण का चन्द्र और नगण का वायु कहा गया है। मगण और नगण मित्र तथा रगण सगण को शत्रु बतलाने के साथ-साथ मगण का फल लक्ष्मी तगण का धन हानि आदि बातों का वर्णन हुआ है। केशव ने इसी ग्रंथ के भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है।

मही देवता मगन को नाग नगन को देखि।
जल जिय जानहु यगन को चन्द्र भगन को लेखि।
मगन नगन को मित्र गन भगन यगन मनि दास।
उदासीन जत जानिये र स रिपु केसवदास ॥

1 चन्द्रालोक १।८
2 कविप्रिया ५।१
3 वृत्तरत्नाकर, पृ० ३१

भूमि भूरि गुन देस मोर हित आडम्बरी।
थागि चंग बिन बहै सूर गुन सोभै भारी॥
बनाव अपल अवास काम रिस देस उदासे।
मगर चन्द और नाग बहु बदि प्रकासे॥[1]

काव्यादर्श

कविप्रिया का दोष प्रकरण काव्यादर्श से प्रभावित है। व्यर्थ दोष के लक्षण इस समय दोनों आचार्यों में भावसाम्य ही नहीं भाषासाम्य भी दिखाई देता है।

काव्यादर्श

एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोष नु पठ्यते॥[2]

कविप्रिया

एक कवित्त प्रबन्ध में अर्थ विरोध जु होइ।
पूरब पर अनमिल सदा व्यर्थ कहैं सब कोइ॥[3]

केशव के दोष लक्षणों की दृष्टि से काव्यादर्श से समानता रखते हुए भी एकाध स्थल पर नाम की दृष्टि से भिन्नता भी रखते हैं। यथा काव्यादर्श के कला विरोध को केशव ने लोक विरोध का नाम दिया है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कविप्रिया के दोष प्रकरण पर काव्यादर्श का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त अनेक अलंकारों के लक्षणों में भी दोनों ग्रंथों में भावसाम्य देखा जा सकता है। यहाँ विरोधाभास एवं व्यतिरेक को लेकर उनके लक्षणों के साम्य को स्पष्ट किया जाता है। दंडी ने विरोधाभास वहाँ माना है जहाँ विरोधी पदार्थों अथवा वस्तुओं का संसर्ग दिखलाया जाता है।

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोध स्मृतो यथा॥

केशव ने भी यही भाव निम्न दोहे में व्यक्त किया है—

केशवदास विरोधमय रचियत बचन बिचारि।
तासों कहत विरोध सब कवि कुल सुबुद्धि सुधारि॥[4]

काव्यादर्श में व्यतिरेक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥[5]

१ कविप्रिया ३।२२ २४ २५
२ काव्यादर्श पृ० १६
३ कविप्रिया ३।४२
४ काव्यादर्श, श्लोक ३२३ पृ० २६५
५ कविप्रिया ६।२१
६ काव्यादर्श श्लोक १८० पृ० १८७

कविप्रिया में इसी लक्षण को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

तामहिं जानिय भेद क्यु होय जु वस्तु समान।
सो व्यतिरेक सुभाति द्वै जुक्ति सहज परमान॥[1]

अलंकारसूत्र

रुय्यक कृत अलंकारसूत्र का प्रभाव कविप्रिया पर यत्र तत्र अलंकारों के वर्णनों में दिखाई देता है। विरोधाभास, विशेष विभावना तथा क्रम आदि अलंकारों के वर्णन में केशव पर उक्त ग्रंथ के प्रभाव को देखा जा सकता है। विरोधाभास का उल्लेख ऊपर दंडी के प्रसंग में हो चुका है। यहां विभावना और क्रम पर विचार करके रुय्यक के केशव पर पड़े प्रभाव को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

रुय्यक ने विभावना का लक्षण देते हुए लिखा है कि जहां बिना कारण के ही कार्य हो जाता है वहां विभावनालंकार होता है—

कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना।[2]

केशव ने भी यही भाव व्यक्त किया है—

कारज को बिनु कारनहिं उदो होत जेहि ठौर।[3]

केशव ने जिस क्रमालंकार का नाम दिया है वही रुय्यक का एकावली अलंकार है। दोनों के लक्षणों में भावसाम्य है लेकिन केशव ने बड़े कौशल के साथ नाम में परिवर्तन कर दिया है। अलंकारसूत्र में एकावली का उदाहरण यह है—

न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजम,
न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मन॥[4]

केशव के क्रमालंकार का उदाहरण इससे पूर्ण मेल खाता है—

धिक मंगन बिन गुनहिं, गुनड धिक सुनत न रीझय।
रीझ धिक बिनु मौज मौज धिक देइ सिजझय॥[5]

अलंकारशेखर

आचार्य केशव कविप्रिया में कुछ स्थलों पर अलंकारशेखर से प्रभावित दिखाई देते हैं। कविप्रिया का आद्यम वर्णन अलंकारशेखर से प्रभावित है।

१ कविप्रिया ११।७८
२ अलंकारसूत्र पृ० १३८
३ कविप्रिया ६।११
४ अलंकारसूत्र, पृ० १६४
५ कविप्रिया १०।२

अलंकारशेखर—

आश्रमे तिथिपूजेन विश्वासो हिंस्रशान्तता।
यज्ञधूमो मुनिसुता प्रसेको वल्कल द्रुमा ॥[१]

कविप्रिया—

होम धूम जुत बरनिय ब्रह्म घोष मुनि वास।
सिंहादिक मग मोर अहि इभ सुभ बर विनास ॥[२]

केशव मिश्र ने आश्रम वर्णन के लिए सहज बैर विनाश की प्रवृत्ति तथा यज्ञ धूम के वर्णन की बात कही है। आचार्य केशव ने भी आश्रम-वर्णन में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

राज्यश्री वर्णन के प्रसंग में आचार्य केशव ने एक स्थान पर लिखा है—

सची स्वयंवर रक्षिय मंडल मध्य बनाय।
रूप पराक्रम बस गुन बरनिय राजा राय ॥[३]

उनका यह छंद अलंकारशेखर के स्वयंवर प्रकरण के निम्न श्लोक के आधार पर लिखा गया है—

स्वयंवरे शचीरक्षा मंचमंडपसज्जना।
राजपुत्री नृपाकारान्वयचेष्टाप्रकाशनम् ॥[४]

इसी प्रकार आचार्य केशव द्वारा विरहवर्णन में चिंता के उल्लेख की अलंकारशेखर के इसी भाव के वर्णन से तुलना की जा सकती है—

कविप्रिया—

स्वास निसा चिंता बढ़, रुदन परे ख बात।
कारे पीरे होत कृस, ताते सीरे गात ॥[५]

अलंकारशेखर—

विरहे ताप निश्वासश्चिंता मौन कृशाङ्गता।
अब्जशय्या अध्वजागर शिशिरोष्मता ॥[६]

ऊपर के इन कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि आचार्य केशव कविप्रिया के अनेक वर्णनों में केशवमिश्र से प्रभावित हुए हैं।

काव्यकल्पलतावृत्ति

कविप्रिया पर अमरचन्द्र कृत काव्यकल्पलतावृत्ति का प्रभाव भी अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखाई देता है। काव्यकल्पलतावृत्ति का स्वयंवर वर्णन वाला श्लोक

१ कविप्रिया ६
२ कविप्रिया ७।१
३ कविप्रिया ८।४४
४ अलंकारशेखर, पृ० ५६
५ कविप्रिया ८।३८
६ अलंकारशेखर पृ० ६

से अलकारशेखर से पूर्णत मिलता है केवल 'सज्जना' के स्थान पर 'सज्जता' शब्द का भेद है। अलकारशेखर के इस श्लोक से आचार्य केशव के छद का साम्य हम ऊपर दिखा ही आए हैं। सूर्योदय वर्णन के लिए अमरचन्द्र ने जिन जिन वस्तुओं के वर्णन को आवश्यक बताया है वे अरुणता, रविमणि, कमल पथिक तारावली आदि हैं। साथ ही उन्होंने सूर्योदय से आनन्दित तथा दुखी होने वाले जीवों एव पदार्थों की कवि-सम्मत सूची भी दी है—

> सूर्ये अरुणता रविमणिचक्राम्बुजपथिकलोचनप्रीति ।
> तोरदुदीपकौषधिधूकतमश्चौरकुमुदकुलटार्ति ॥[1]

आचार्य केशव उक्त श्लोक से पूर्ण भावसाम्य रखते हैं—

> सूर उदयते अरुनता पथ पावनता होइ,
> जल थल ध्वनि मुनि करें पथ लग सब कोइ।
> कोक कोकनद सो कहत दुख कुवलय कुलटानि,
> तारा ओषधि दीप ससि घूक चोर तम हानि ॥[2]

स्थिरवस्तु वर्णन एव देशवर्णन के अन्तर्गत अमरचन्द्र ने जिन जिन बातों को वर्णन करने की बात कही है केशव ने भी उन्हीं को गिनाया है। नीचे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

स्थिरवस्तुवर्णन—

अमरचन्द्र—

> स्थिराणि पृथ्वी शैलो धर्माधर्मौ सतां मन ।
> सती शैल रणे धीर प्रतिपन्न महात्मनाम् ॥[3]

केशव—

> सती समर भट सत मन धर्म अधर्म निमित्त।
> जहा जहां ये बरनिये केसव निश्चल चित्त ॥[4]

देशवर्णन

अमरचन्द्र—

> देशे बहुखनिद्रव्यपण्यधान्यकरोद्भवा ।
> दुर्गग्रामजनाधिक्यनदीमातृकतादय ॥[5]

१ काव्यकल्पलतावृत्ति सूर्योदयवर्णन, पृ० १४८
२ कविप्रिया ७।२२ २३
३ काव्यकल्पलतावृत्ति, प्रतान ४, स्तबक ४ पृ० १४०
४ कविप्रिया ६।२३
५ श्लोक ६२ पृष्ठ २५

केशव—

रतन खानि पशु पक्षि बसु बसन सुगन्ध सुवेष।
नदी नगर गढ़ बरनिये भाषाभूषण देष ॥[1]

सत्य को झूठे रूप में वर्णन करने वाले छन्द भी दोनों ग्रंथों में अद्भुत भाव-साम्य रखते हैं। अमरचन्द्र ने लिखा है—

वसन्ते मालतीपुष्पं फलं पुष्पं च चन्दने।
अशोके च फलं ज्योत्स्ना ध्वान्ते कृष्णान्यपक्षयोः ॥[2]

केशव का दोहा इस प्रकार है—

केसवदास प्रकास सब चन्दन के फल फूल।
कृष्णपक्ष की जोन्ह ज्यों सुक्ल पक्ष तम तूल ॥[3]

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि आचार्य केशव कल्पलतावृत्ति से भली भांति प्रभावित थे। वे अनेक स्थलों पर उक्त ग्रंथ से भावसाम्य ही नहीं भावानुवाद अथवा भाषानुवाद भी रखते हुए दिखाई देते हैं।

प्राकृतपैंगलम्

कविप्रिया के दोष प्रकरण को प्रस्तुत करने में केशव ने प्राकृतपैंगलम् का भी आधार लिया है। प्राकृतपैंगलम् में छप्पय के दोषों की चर्चा हुई है जो इस प्रकार है—

पंगु—अशुद्ध पदवाला	पअह असुद्धउ पंगु। अथवा न्यून पादवाला।
खंज—गणहीन	हीण खोड पमणिज्जइ।
बावला—मात्राधिक्यवाला	मत्तग्गल बाउलउ
काणा—कलाओं से शून्य	सुण्ण कल कण्ण सुणिज्जइ।
बधिर—अलं वर्णों से रहित	अलंवज्जिउ तहँ बहिर।
अंध—अलंकार हीन	अंध अलंकार रहिअउ
मूक—छंद की उदवनिकाशून्य	बुलउ छन्द उटटवण।
दुबल—अर्थशून्य	अत्थ बिणु दुब्बल कहिअउ।
ढेर—हठाक्षरों से युक्त	ढेरउ हटठक्खरहिं होइ।
काणगुण रहित	काणा गुण सत्रहि रहिअ।

इन छप्पय दोषों में मानवी अंगों का समावेश हुआ है। केशव ने इन छंद दोषों से प्रेरणा लेकर समस्त काव्यदोषों को निरूपण करने का सांगरूपकात्मक रूप में प्रयत्न किया है। केशव ने पांच काव्यदोष बताये हैं और उनके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है—

अंध बधिर अरु पंगु तजि नग्न मृतक मतिसुद्ध।
अंध विरोधी पंथ को बधिर सो सबद विरुद्ध ॥

1 कविप्रिया ७।२
2 काव्यकल्पलतावृत्ति पृ १७
3 कविप्रिया ४।५

छन्द विरोधी पगु गनि, नग्न जु भूषन हीन ।
मृतक कहावै अर्थ बिनु केशव सुनहु प्रवीन ॥[1]

केशव के दोष—अन्ध, बधिर पगु नग्न और मृतक हैं। काव्यपथ के विरुद्ध वर्णन करने से अन्ध दोष होता है। छन्दविरोधी बधिर छन्दभंगवाला पंगु अलंकार हीन नग्न एवं अर्थहीन काव्य मृतक होता है। यहाँ काव्य को पुरुष मानकर उसके दोषों के अंग का निरूपण सामासिकतात्मक रूप में हुआ है। केशव ने प्राकृतपैंगलम् में दिए छन्दोदोषों को आधार के रूप में तो ग्रहण किया है लेकिन उसमें भी मौलिकता दिखाई है। प्राकृतपैंगलम् का काणा ही केशव का अंध है और प्राकृतपैंगलम् का अंध केशव का नग्न तथा प्राकृतपैंगलम् का दुर्बल केशव का मृतक है। शेष दोनों दोषों में समानता है।

इससे स्पष्ट है कि कविप्रिया के काव्यदोष प्रकरण के लिए केशव प्राकृत पैंगलम् के छन्ददोषों से प्रभावित हुए हैं और उन्होंने उन्हें कुछ अधिक व्यवस्थित रूप में वर्णन किया है।

नीतिशतक

पीछे लिखा जा चुका है कि केशव ने कविभेद वर्णन करते समय उत्तम मध्यम और अधम तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है। उनका यह विभाजन भर्तृहरि के नीतिशतक के उस श्लोक के आधार पर हुआ प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने मनुष्यों की तीन कोटियाँ—सज्जन सामान्य एवं राक्षस बताई हैं। नीतिशतक का श्लोक यह है—

एके सत्पुरुषा परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥[2]

आचार्य केशव ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

हैं अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहैं,
केशवदास अनुत्तम ते नर सतत स्वारथ संजुत जोहैं।
स्वारथ ॥ परमारथ भोग न मध्यम लोगनि के मन मोहैं,
भारत पारथ मति कह्यो, परमारथ स्वारथ हीन ते को हैं ॥[3]

ऊपर संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से केशव की कविप्रिया के साम्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केशव ने कविप्रिया की रचना में उन आचार्यों से बहुत कुछ लिया है। कहीं उनमें संस्कृत ग्रन्थों से भाषा का भी साम्य है कहीं भाषानुवाद है तथा

1 कविप्रिया ३।६ ७
2 नीतिशतक, श्लोक ७४, पृ० १०१
3 कविप्रिया ४।३

कहीं भावानुवाद से ही संतोष किया है। ऊपर देखा जा चुका है कि भावानुवाद के स्थल ही अधिक हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सम्पूर्ण कविप्रिया संस्कृत के ग्रंथों का अनुवादमात्र है। केशव ने स्थान स्थान पर अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। उनके प्रेम, प्रसिद्ध सुप्रसिद्ध एवं प्रहेलिका अलंकार नवीन हैं। संस्कृत ग्रंथों में उनका संधान प्राप्त नहीं होता। साथ ही कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जिनका हिन्दी में सर्वप्रथम वर्णन केशव ने ही किया है। ऐसे अलंकारों में गणना एवं आशिष आदि अलंकार आते हैं। इन सभी अलंकारों को स्पष्ट करने के लिए केशव ने जो लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे उनका मनन चिंतन एवं आचार्यत्व स्पष्ट व्यंजित होता है।

छन्दमाला

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है छन्दमाला के निर्माण में केशव ने मौलिकता का दावा कम ही किया है। इस ग्रंथ के निरूपण में केशव का उद्देश्य शिक्षा का ही रहा है इसलिए उन्होंने प्राचीन पिंगल के ग्रंथों से सामग्री लेकर उसे कवियों की सहायता के लिए सरल ढंग से निरूपित कर दिया है। छन्दमाला में छन्दों का निरूपण पूर्णतः शास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर हुआ है। वार्णिक वृत्तों के निरूपण के लिए पिंगलसूत्र छन्दःकौस्तुभ, छन्दोमंजरी, वृत्तरत्नाकर का तथा मात्रिक छन्दों के लिए पूर्णतः प्राकृतपैंगलम् का आश्रय ग्रहण किया गया है। वार्णिक छन्दों के निरूपण में केशव ने अधिक कौशल दिखाया है। उन्होंने एक से लेकर छब्बीस अक्षरों तक के छन्दों के निरूपण के लिए प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथों को टटोला है और जहां भी उसका लक्षण मिला है वहीं से देने की चेष्टा की है। संस्कृत के पिंगल ग्रंथों में से किसी एक में उन सब छन्दों के लक्षण नहीं मिलते। साथ ही कुछ छन्दों के लक्षणों के लिए प्राकृत छन्दों के निरूपक ग्रंथों का आश्रय ग्रहण किया है। इस प्रकार सामग्री के शास्त्रानुकूल होने पर भी केशव ने अपनी छन्दमाला में जो एक पूर्णता ला दी है इससे उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

मात्रिक छन्दों के निरूपण का मूलाधार तो प्राकृतपैंगलम् ही है। छन्दमाला के मात्रिक छन्दों का क्रम भी प्राकृतपैंगलम् के अनुसार ही प्राप्त होता है। फिर भी केशव ने इस ग्रंथ के सभी छन्दों का उल्लेख नहीं किया बीच बीच में कुछ छन्द छोड़ दिये गए हैं। शायद इसका कारण यही हो कि केशव ने उसको अनुपयोगी ठहरा दिया हो। छन्द दोषों पर विचार करते समय केशव ने प्राकृतपैंगलम् को ही दृष्टि में रखा है। छन्दोभंग तथा 'गणहीनता' के केशव ने जो छन्द दिये हैं वे प्राकृत पैंगलम् के छन्दों के अनुवाद हैं—

छंदोभंग

छंदमाला—

कनक तुला जो सहत नहिं तोलत अध तिल अंग ।
श्रवन तुला तें जानियो केसव छंदोभंग ॥[1]

प्राकृतपैंगलम्—

जेमण सहइ कण अतुला तिल तुलहि अद्ध अद्धेण ।
तेमण सहइ सवण तुला अव छंद छंदोभंगेण ॥[2]

लक्षणहीनता

छंदमाला—

अवध बुधन में पढ़त हो निश्चकृत लक्षण हीन ।
भकुटी अग्र खरग सिर कटत तथापि अहीन ॥[3]

प्राकृतपैंगलम्—

अवहं बुहाण मज्झे कव्व जो पन्ढइ लक्खण विहूण ।
भूअग्ग लग्ग खग्गहिं सीसं खुलिअं ण जाणेइ ॥[4]

कविप्रिया में छन्दोष युक्त काव्य को 'पंगु' नाम दिया गया है और छन्दोभेद का छंदोभंग नाम देकर लिखा है—

तोलत तुल्य रहे न ज्यों कनक तुलित तिल आधु ।
त्यों ही छंदोभंग को सहि न सकत सुति साधु ॥[5]

कहना न होगा कि यह भी प्राकृतपैंगलम् के आधार पर ही लिखा गया है और छन्दमाला के छंदोभंग के प्रसंग में दिए छन्द से पूर्ण साम्य रखता है।

मात्रिक छन्दों के निरूपण के लिए केशव ने वृत्तरत्नाकर की भट्ट नारायणी टीका को भी अपनाया है। उनके सभी छन्दों के लक्षण उक्त दोनों ग्रंथों में मिलते हैं। कुछ छन्दों के नामों तथा भेदों में केशव ने इन दोनों ग्रंथों से भिन्नता दिखाई है। उदाहरण के लिए नाम भेद के रूप में कवित्त तथा भेद भिन्नता के रूप में गाथा को लेकर इस पर विचार करेंगे।

केशव ने जिस छन्द को कवित्त कहा है उसे प्राकृतपैंगलम् में कव्व तथा भट्ट नारायणी टीका में काव्य की संज्ञा दी गई है। वहाँ उसके जो लक्षण दिए हैं केशव ने उन्हें सरल करने के उद्देश्य से सीधी बात लिख दी है कि उसके प्रत्येक पाद में २४ मात्राएं होती हैं। प्राकृतपैंगलम् में वर्णित उसके भेदों को भी केशव ने छोड़ दिया है। गाथा छंद को प्राचीन आचार्यों ने अलग वर्ग का मानकर उसे न वर्णिक में स्थान दिया

[1] छन्दमाला पृ० ४४७
[2] प्राकृतपैंगलम् ११२०
[3] छन्दमाला, पृ० ४४६
[4] प्राकृतपैंगलम् ११११
[5] कविप्रिया ३११०

और न मात्रिक में। लेकिन केशव ने उसे मात्रिक के अंतर्गत ही रखा। गाथा के भेदों का वर्णन करते समय केशव ने प्राकृतपैंगलम् भट्ट नारायणी टीका से नाम और क्रम में कुछ अंतर भी रखा है। लेकिन यह अंतर शास्त्रीय दृष्टि से अशुद्ध है हमने छंदमाला के प्रकरण में दिखाया है कि केशव से ऐसी भूल संभव नहीं थी। यह अंतर लिपि की भूल से हुआ प्रतीत होता है। छन्दमाला के प्रकरण में यह दिखाया जा चुका है कि वार्णिक वृत्तों के कतिपय नामों में संस्कृत परम्परा के आधार ग्रंथों से जो भेद मिलता है वह भी इस कारण से है कि केशव ने वह नाम किसी प्राकृत के पिंगल ग्रंथ के आधार पर दे दिया है। शायद उन्होंने ऐसा इसलिए किया है कि नवीन या अल्प परिचित नाम देने से छन्दशास्त्र के क्षेत्र में भी कुछ मौलिकता प्रदर्शित कर सकें।

ऊपर कुछ ऐसे स्थलों को दिखाने की चेष्टा की गई है जहां केशव ने शास्त्रीय ग्रंथों से भिन्नता प्रदर्शित की है। ऐसा इसलिए किया गया है कि छंदमाला का छंद निरूपण शास्त्रीय ग्रंथों पर ही आधारित है इसलिए उसमें भिन्नता प्रदर्शित करने का अवकाश ही नहीं है। छंदों का निरूपण करने में केशव का दृष्टिकोण व्यापक रहा है। उन्होंने प्रचलित और कम प्रचलित सभी छंदों को लिया है। कहीं-कहीं उन्होंने आधार ग्रंथों से भी अधिक सुंदर ढंग से वर्णन किया है। उदाहरण के लिए छप्पय के दोषों का निरूपण करते समय प्राकृतपैंगलम् से भी आगे बढ़ गए हैं।

केशव द्वारा मात्रिक छंदों का निरूपण यह व्यक्त करता है कि उन्होंने प्राकृत पैंगलम् के उन छंदों को वर्णन के लिए ग्रहण किया जो हिन्दी के कवियों द्वारा अपना लिए गए थे। उपयोगिता की दृष्टि से यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने प्राकृत छंदों के निरूपक ग्रंथों से सहायता लेकर हिन्दी के छन्दशास्त्र को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की सफल चेष्टा की है।

केशव और परवर्ती आचार्य : प्रभाव प्रदान

केशव को हिन्दी के प्रथम व्यवस्थित आचार्य होने का गौरव प्राप्त है।[1] पर केशव को रीतिकालीन आचार्यत्व का प्रवर्तक मानने में इतिहासकारों को आपत्ति है। इसके दो कारण बताए जाते हैं। एक तो केशव और चिंतामणि के बीच ऐसी कड़ियां नहीं हैं जो केशव को रीतिकाल की निरवच्छिन्न परम्परा से जोड़ सकें, दूसरे केशव का अनुकरण, अनुसरण परवर्ती आचार्यों ने नहीं किया।[2] पहले कारण के निराकरण में

१. (क) भगीरथ मिश्र : 'वे सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्रधानतया काव्यशास्त्र पर लिखा। अपने समय में और सम्पूर्ण रीतिकाल भर में केशव का स्थान एक आचार्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है।' हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४६

(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'इसमें सन्देह नहीं कि काव्य रीति का सम्यक् समावेश पहले-पहल आचार्य केशव ने ही किया है।' हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०१

(ग) भानुप्रकाश : 'आचार्य केशव ने ब्रजभाषा में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देने का श्रीगणेश किया था।' हिन्दी अलंकारसाहित्य, पृ० ५, आदि।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी रीति ग्रंथों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली। अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।' हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०२

लिए केशव और चिन्तामणि के बीच के साहित्य की शोध अपेक्षित है। पर दूसरा कारण बहुत ही साधारणीकृत विश्वास पर आधारित है। विद्वान प्रचलित मत में संशोधन करने के लिए तत्पर हो रहे हैं। डा० सत्यदेव चौधरी का कथन द्रष्टव्य है—'यह अलग प्रश्न है कि अगले ५० वर्षों तक काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रायः अवरोध ही बना रहा और आगे चलकर चिन्तामणि से लेकर प्रतापसाहि तक पूरे दो सौ वर्षों तक जिन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण पूरे वेग से हुआ वे केशव के आदर्श पर निर्मित नहीं हुए फिर भी अनेक प्रमुख आचार्यों ने केशव के ग्रंथों से सहायता अवश्य ली है।'[1] आगे चलकर लेखक ने अपने मत को कुछ विशिष्ट आचार्यों का नाम लेकर पुष्ट किया है—दास आदि रीतिकालीन आचार्यों ने इनकी गणना प्राचीन आचार्यों के साथ बड़े सम्मान पूर्वक की है। देव राम जी उपाध्याय गंगापुत्र ने इनके अलंकार प्रकरण से, पदुमनदास और शिवप्रसाद कवीश्वर ने इनके कवि शिक्षा प्रकरण से, देव, सोमनाथ, जानकीप्रसाद ने इनके नायक नायिका भेद प्रकरण से तथा राम जी उपाध्याय गंगापुत्र ने इनके दोष प्रकरण से कुछ प्रसंग ग्रहण किए हैं इस अनुकरण का प्रमुख कारण है केशव का हिन्दी के आचार्य-वर्ग में सर्व प्रथम अग्रसर होना, दूसरे शब्दों में हिन्दी काव्य सरणि को भक्ति पथ की ओर मोड़ देना।'[2] चिन्तामणि ने अपने आधारभूत संस्कृत ग्रंथों के साथ रसिकप्रिया को भी सूची में जोड़ा है। देव तो उन्हें एक अनुकरणीय आचार्य के रूप में देखते थे। डा० नगेन्द्र के शब्दों में रीतिकाल के कवियों में केशवदास किन्हीं अंशों में देव के आदर्श थे। रीति विवेचन में उन्होंने किस प्रकार केशव की महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकृत करते हुए उनके प्रभाव को ग्रहण किया है इसका सांग विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। केशव को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अनुकरणीय महाकवि माना है। उनके काव्य पर भी केशव का प्रभाव निश्चित रूप से लक्षित होता है। देव के अनेक छंदों पर केशव के छन्दों की छाया है।'[3] इस प्रकार उस सामान्य कथन से कि केशव का अनुगमन किसी रीतिकालीन आचार्य ने नहीं किया आज का प्रबुद्ध शोधक समालोचक सहमत नहीं हो सकता। केशव के सामान्य प्रभाव और विशिष्ट प्रदान पर विचार करने के लिए आज प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

सामान्य दृष्टि से केशव के सभी परवर्ती आचार्य ऋणी माने जा सकते हैं। केशव के पूर्व का हिन्दी काव्यशास्त्रीय सूत्र या तो भक्ति में विलीन मिलता है, या इतना क्षीण मिलता है जो आगे कोई परम्परा बनाने में सक्षम नहीं हो सकता। केशव ने सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचन का मार्ग प्रशस्त किया। शुद्ध काव्यशास्त्रीय या कवि शिक्षात्मक उद्देश्य से वे आचार्य कर्म में संलग्न हुए। उन्होंने संस्कृत काव्य से वंचित युवकों के लिए काव्यशास्त्र लिखा। उससे जाने अनजाने अनेक कवियों या कवि आचार्यों ने प्रेरणा और सामग्री ग्रहण की। परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों ने

१ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठ भाग पृ
२ वही, पृ० ३१२
३ देव और उनकी कविता, पृ० २४४

कवि शिक्षा की दिशा में विशेष प्रयत्न नहीं किया। उनका झुकाव कला की ओर या काव्य रस के शास्त्रीय पद्धति से रसास्वाद की ओर रहा। इस प्रकार केशव ने ब्रज भाषा के क्षेत्र में आचार्यत्व के मार्ग का निर्माण किया। परवर्ती आचार्यों का उपजीव्य स्रोत चाहे केशव से भिन्न हो पर मार्ग निर्देशन और दिशा का संकेत केशव ने ही किया। यह वह तथ्य है जिसे प्रायः सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं।

जिस प्रकार भामह से पूर्व संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी, वह नाट्यशास्त्र के विशाल वट वृक्ष की केवल एक शाखा थी। भामह ने नाट्यशास्त्रीय स्रोत की काव्यशास्त्रीय सामग्री का चयन और संयोजन किया और इसे नाट्यशास्त्र से एक स्वतन्त्र सत्ता प्रदान की। इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र के पितामह के रूप में भामह प्रतिष्ठित हैं। लगभग इसी प्रकार का प्रयत्न केशव का था। भक्ति की व्यापक भूमिका से सम्बद्ध काव्यशास्त्र को केशव ने स्वतन्त्र सत्ता प्रदान की। केशव के पूर्व जो छुट पुट प्रयत्न हुए थे उनको भी केशव ने नियोजित किया। इस दृष्टि से केशव को हिन्दी के काव्यशास्त्र की परम्परा में वही स्थान प्राप्त है जो संस्कृत में भामह को। भक्ति में भी विरोध नहीं समझौता करके ही केशव चले। राम तथा कृष्ण दोनों को ही केशव ने अपनाया। इस समझौते के मूल में भी आचार्यत्व का ही उद्देश्य निहित है। आचार्यत्व के साथ उदाहरण-योजना भी अनिवार्यतः संलग्न रहती है। साथ ही रस अलंकार निरूपण के लिए लक्ष्य सामग्री भी चाहिए थी। लक्ष्य साहित्य यदि हिन्दी के पास उस समय था तो भक्ति साहित्य ही था। युग की रुचि और प्रवृत्ति की दृष्टि से भक्ति पूर्व का हिन्दी साहित्य लक्ष्य नहीं बन सकता था। जिस प्रकार भामह ने सामान्य रूप से और दण्डी ने विशेष रूप से वृत्ति वृत्यंग संधि संध्यंग आदि नाट्य तत्त्वों को सहेज कर अलंकारादि काव्यांगों का निरूपण किया उसी प्रकार केशव ने भी भक्ति पक्षीय सामग्री का पुनः चयन करके उसके लक्षण शास्त्रीय दिशा का उद्घाटन किया। राम और कृष्ण के वृत्तों और प्रकरणों को उदाहरण के रूप में जुटा कर केशव ने लक्ष्य लक्षण परम्परा को एक सुनिश्चित और उपयुक्त आधार प्रदान किया।

रस-पुरुष

संस्कृत के काव्यशास्त्र में एक 'काव्यपुरुष' की झांकी आचार्य करते रहे। काव्यपुरुष की कल्पना हिन्दी के आचार्यों में भी चलती रही।[1] पर केशव ने इस

१ दण्डी ने शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली कहकर काव्य पुरुष के शरीर की सूचना दी। वामन ने रीतिरात्मा काव्यस्य कहकर उसकी आत्मा की स्थापना की। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को आत्मा काव्यस्य कहा। विश्वनाथ ने वाक्यं रसात्मकं काव्यम् कहा। हिन्दी के आचार्यों में भी काव्य पुरुष के रूप की परम्परा चलती रही। चिन्तामणि ने शब्द और अर्थ को काव्यपुरुष का शरीर, रस को उसका जीवित (आत्मा), श्लेषादि गुणों को शौर्यादि गुणों के समान रस रूप आत्मा के धर्म, उपमादि अलंकारों को हारादिवत् शोभाकारक धर्म, रीति को उसका स्वभाव और वृत्ति को उसकी वृत्ति माना। (कविकुलकल्पतरु १ ६ १०)

काव्यपुरुष को हिंदी काव्यशास्त्र के लिए विशिष्ट रूप में ग्रहण नहीं किया, बस उनका समस्त लक्षण साहित्य काव्यपुरुष के विविधांगों का ही निरूपण करता है। केशव ने भक्तिगत लक्ष्य साहित्य को ध्यान में रखते हुए, सब रस-संस्थान रस राट कृष्ण की विराट कल्पना की। कृष्ण के आश्चर्य सुंदर और लीला वैविध्य से युक्त व्यक्तित्व में केशव को एक काव्यशास्त्रीय विराट पुरुष के दर्शन हुए—

कहि केशव सेवहु रसिक जन।
नवरस में व्रजराज नित॥[1]

हिंदी में इस रसाश्रय का आविष्कार पहले पहल केशव ने किया। यद्यपि बंगाली वैष्णव आचार्यों और भक्त कवियों ने इस रस पुरुष को माधुर्याधिष्ठान कहा था पर नवरसमय व्रजराज की कल्पना केशव की अपनी है। रस पुरुष-कल्पना ने शृंगार के रसराजत्व को नवीन दिशा और नई सिद्धि प्रदान की। वास्तव में केशव का रस पुरुष भी शृंगारावतार ही है। पर उसका 'रसराज' की दृष्टि से नवीन संस्करण किया गया। यह रसपुरुष केशव के समस्त आचार्यत्व में व्याप्त है। केशव के कृष्णमय आचार्यत्व का सामान्य प्रभाव रीतिकाल के सभी आचार्यों पर माना जा सकता है। इस प्रकार केशव ने राधा कृष्ण का काव्यशास्त्रीय ग्रंथ विस्तार करके, परवर्ती आचार्यों के लिए लक्ष्य साहित्य निश्चित कर दिया। साथ ही उदाहरण रचना का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

राधा-कृष्ण को इस रूप में ग्रहण करने के सम्बन्ध में केशव सशंक भी थे क्योंकि गहि न जाइ रसना काहू की कहे जाहि जोई सूझ। पर केशव ने सभी से क्षमा याचना करके अपनी लक्ष्य-पूर्ति को प्रमुख रखा।[2] राधा माधव को स्पष्ट रूप से काव्यशास्त्र से सम्बद्ध करके केशव ने जो परम्परा स्थापित की वह आगे के आचार्यों को भी स्वीकार्य रही। देव ने राधा-कृष्ण भावना को काव्यशास्त्रीय उद्देश्य

देव ने भी काव्यपुरुष की चर्चा की है—
शब्द जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति अलंकार गम्भीर॥
शब्दरसायन

सोमनाथ ने काव्यपुरुष का एक रूपक यों लिया है—
व्यंग्य प्राण अरु अंग सब, सब्द अर्थ पहचानि।
दोष गुन अरु अलंकृति, दूषनादि उरआनि॥
रसपीयूषनिधि ७।१६

भिखारीदास का काव्य पुरुष यह है—
रस कविता को अंग भूषण हैं भूषन सकल।
गुन सरूप और रंग दूषन करै कुरूपता॥
काव्यनिर्णय १।१३

[1] रसिक प्रिया १।२
[2] राधारमण के कहे यथाविधि हाव।
रिझाइ केशवदास की छमियो कवि कविराय॥

प्रयोग किया है आत्मपति आलमनाथ आदि।

केशव ने रीतिकालीन भाषा-कवियों के लिए साहित्यिक भाषा का जो आदर्श रखा भिखारीदास ने सिद्धान्त रूप में तथा अन्य कवियों ने व्यवहार रूप में उसे स्वीकार किया। भिखारीदास ने छः भाषाओं के मिश्रण को आदर्श बताया।[1] इसमें व्रज मागधी संस्कृत यवन पारसी तथा नागभाषा का मिश्रण रहता था।

ऊपर परवर्ती आचार्यों पर केशव के सामान्य प्रभाव की चर्चा की गई है। संक्षेप में यह प्रभाव उस पृष्ठभूमि का है जिसका निर्माण केशव ने हिन्दी के आचार्यत्व के लिए किया। आचार्यत्व के विशिष्ट क्षेत्रों में भी कुछ परवर्ती आचार्यों ने केशव को अनुकरणीय माना और उन पर केशव का ऋण स्पष्ट दिखलाई भी देता है। अब तक केशव के विशिष्ट प्रदान को सामान्य तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की गई है। डा० किरणचन्द्र शर्मा ने केशव तथा हिन्दी के परवर्ती आचार्य[2] शीर्षक के अन्तर्गत इसी तुलनात्मक शैली से केशव के प्रदान को आंकने की चेष्टा की है। उन्होंने शास्त्रीय पक्षों के विस्तार और निरूपण पद्धति की तुलना की है। इस तुलना से कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते क्योंकि यह समानता केशव के परवर्ती आचार्य पर उनके ऋण को ही स्पष्ट नहीं करती उनकी स्रोतगत समानता की ओर भी संकेत करती है। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने भी केशव का आदान प्रदान[3] के अन्तर्गत इसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया है। यहां इन विवरणों की उद्धरणों द्वारा विस्तार की आवश्यकता नहीं है। आचार्यत्व के विभिन्न क्षेत्रों में उनके विशिष्ट प्रदान को ही यहां स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसमें केवल उन्हीं अंगों पर विचार किया गया है जहां केशव का प्रदान स्पष्ट और असंदिग्ध है। अब तक केशव की अन्य आचार्यों से व्यक्तिगत रूप से तुलना की गई है। नीचे आचार्यत्व के क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया है जिससे विशिष्ट क्षेत्र में केशव के प्रदान की परम्परा भी स्पष्ट हो जाए।

रस-क्षेत्र

रस निरूपण में केशव की तीन प्रमुख प्रवृत्तियां दिखलाई देती हैं। सभी रसों का शृंगार में अन्तर्भाव करने की पद्धति द्वारा शृंगार के रसराजत्व की प्रतिष्ठा नायिका भेद तथा विशिष्ट काम प्रकरणों का संयोग करके शृंगार की विस्तृत तथा वृत्तियों के अनुसार रसों का वर्गीकरण।

शृंगार का रसराजत्व

शृंगार के रसराजत्व के सम्बन्ध में केशव की दो धारणाएं थीं। सभी रसों

1 व्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट् विधि कहत बखानि॥
2 कराकाम्रु ओवनो कला और कृतित्व, पृ० ४३६-५१२
3 केशव और उनका साहित्य पृ० ३६३ ३७

का इसमें अन्तर्भाव हो सकता है[1] तथा ब्रजराज का चरित्र नवरसमय है।[2] इनमें से प्रथम सकल्प की दीर्घकालीन परम्परा संस्कृत काव्य शास्त्र के क्षेत्र में उपलब्ध होती है। दूसरी कल्पना केशव की अपनी है। इस कल्पना को पूर्ण बनाने के लिए सखी समाज को भी केशव ने ग्रहण किया।[3] इस प्रकार कृष्णशाखा की भक्ति सामग्री को काव्यशास्त्रीय शृङ्गार की ओर केशव ने उन्मुख किया।

शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट कहने की परम्परा तो भरत से ही चली आ रही है। भरत ने इस संसार के सभी पवित्र विशुद्ध और उज्ज्वल को शृङ्गार रस से उपमा दी है।[4] रुद्रट ने इसकी व्यापकता बतलाते हुए शृङ्गारहीन काव्य को अधम माना।[5] आनन्दवर्धन के अनुसार शृङ्गार ही सर्वाधिक मधुर और परमाह्लादक रस है।[6] पर इन आचार्यों ने सभी रसों का मूल शृङ्गार में मान कर उसके रसराजत्व की प्रतिष्ठा नहीं की। इसलिए केशव को विचारधारा का विशेष सम्बन्ध इन आचार्यों की परम्परा से नहीं माना जा सकता। पर केशव पर सामान्य प्रभाव इसका भी था।

शृङ्गार की श्रेष्ठता सम्बन्धित दूसरी परम्परा भोजराज और अग्निपुराण की है। भोज ने रस की सत्ता केवल शृङ्गार को प्रदान की है। इसके अतिरिक्त सभी तथाकथित 'रस' भाव की कोटि में आते हैं। भोज ने रस की एक कोटि 'प्रेमन्' मानी है। कवि कर्णपूर ने सभी रसों का 'प्रेमन्' में अन्तर्भाव माना है।[7] अग्निपुराण की पद्धति भी ऐसी ही है। रति का रूप यह है अहंकार अभिमान रति। यही सचारी आदि के संयोग से शृङ्गार में परिणत। अपने अपने स्थायीभावों से पुष्ट और जाग्रत हास्यादि रस रति या शृङ्गार के भेद मात्र हैं।[9] इससे स्पष्ट होता है कि केशव की रस-सम्बन्धी मूल विचारधारा का उत्स इसी परम्परा में है। केशव के पश्चात् भी यह परम्परा केशव के अनुकरण पर चली। देव ने भी सभी रसों का मूल शृङ्गार ही कहा है।

मूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।[10]

देव के अतिरिक्त सोमनाथ ने भी केशव से प्रभाव ग्रहण करके शृङ्गार के रस राजत्व की घोषणा की।

१ नवहू रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि नायक है शृङ्गार॥ रसिकप्रिया १।१६

२ कहि केशव मे बहु रसिक जन नवरस में ब्रजराज नित। वही १।३

३ राधा हरि बाधा हरण बरनो सखी समाज॥ वही १२।१६

४ यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते। ना० शा० ६।४५

५ मनान् विरममेवानेन हीनं हि काव्यम्। काव्यालङ्कार १४।३८

६ शृङ्गार [illegible] मधुर पर प्रह्लादनो रस। ध्वन्यालोक २ ७

७ काम्नामिषु ददारसान् सुधियो वय तु।
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनाम॥ शृङ्गारप्रकाश

८ उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यपरिच्छेदरसत्वत।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ॥ अलंकारकौस्तुभ

९ अग्निपुराण ३३९।१-८

१० भावविलास १

नवरस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि ।[1]

यहा भी केशव का प्रभाव प्रायः सर्वस्वीकृत है।[2] डा० नगेन्द्र ने भी इन सबको एक ही परम्परा म माना है।[3] देव और सोमनाथ पर केशव का विशिष्ट प्रभाव स्पष्ट है। इ होने संस्कृत के मूल स्रोतो से सम्भवत इस दृष्टि को नहीं लिया। केशव का अनुकरण करके ही इन दोनो ने ही शृङ्गार को सर्वाधिक विस्तृति प्रदान की है। इस रसराजत्व की परम्परा ने एक और रूप आगे चलकर ग्रहण किया है। कुछ आचार्यों ने सभी रसो पर न लिखकर केवल शृङ्गार पर भी लक्षण ग्रंथ लिखे। इस परम्परा म ही मतिराम का 'रसराज' देव का 'भवानी विलास' सोमनाथ का 'शृङ्गार शिरोमणि' प्रभृति ग्रंथ विशेष रूप म प्राप्त है। केशव की रसिकप्रिया म यद्यपि सभी रसो का निरूपण है पर मूलत यह भी शृङ्गार निरूपक ग्रंथ ही कहा जा सकता है। क्योकि १६ प्रकाशो म से १३ प्रकाशो म केवल शृङ्गार का निरूपण है। अन्य रसो का विवरण केवल चौदहवें प्रकाश म देकर इस आचार्य ने सतोषलाभ किया है। शेष दो म रसदोष और वृत्तियो का निरूपण है। इस प्रकार केवल शृङ्गार का निरूपण करने वाले आचार्य केशव के शृङ्गार विस्तार और उसके रसराजत्व को रसिकप्रिया म देखकर ही स्वतन्त्र ग्रंथो म शृङ्गार निरूपण करने की ओर प्रवृत्त हुए। इस परम्परा का भी मूल ग्रंथ रसिकप्रिया को ही मानना चाहिए।

रसो का परस्पर सम्बन्ध

रसो के परस्पर सम्बन्ध को भी केशव ने स्पष्ट करने की चेष्टा की है। सभी रसो का शृङ्गारपरक वर्णन केशव का अपना निजी प्रयोग माना जा सकता है। इसकी प्रेरणा रूपगोस्वामी से मिली हो सकती है। देव ने भी सभी रसो का शृङ्गारपरक रूप दिया है।[4] केशव के अनुसार मुख्य रस चार हैं बीभत्स शृङ्गार वीर और रौद्र। शान्त के अतिरिक्त शेष रसो की इन्हीं चार रसों से उत्पत्ति होती है।

भय उपज बीभत्स त अरु शृंगार ते हास।
केशव अद्भुत वीर तें करुणा कोप प्रकास ॥[5]

१ रससुधानिधि ८।१

२ केशव के समय स चली आ रही हिन्दी रीतिकालीन परम्परा के पालनमात्र में उन्होंने शृंगार का रसपति कह दिया है।

डा सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ २१८

३ शृंगार की प्रधानता देने वाला यह सिद्धान्त संस्कृत रसशास्त्र म बहुत पुराना है। भोजराज ने अपना पूरा शक्ति लगाकर इसका प्रतिपादन किया है। हिन्दी में भी देव से पूर्व केशव चिन्तामणि और मतिराम आदि इसको स्वीकार कर चुके थे। देव और उनकी कविता पृ १४६

४ इस ग्रंथो की सूची देखिए हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ५८७

५ केशव आदि देव ने भी यही चेष्टा की है कि सभी रसो का शृंगारपरक वर्णन किया जाए। परन्तु वे बुरी तरह असफल हुए हैं। डा नगेन्द्र वही पृ १४६

६ रसिकप्रिया १६।१३

इस प्रकार का उत्पादक उत्पाद्य रस सम्बन्ध भरत ने भी स्वीकार किया था।[1] केशव के पश्चात् देव ने इस रस सम्बन्ध परंपरा को अपनाया। कई स्थलों पर देव ने केशव से बीज ग्रहण करके उनका पल्लवन किया है। रसों का परस्पर सम्बन्ध बतलाने की प्रेरणा केशव से लेकर देव ने इस क्षेत्र का कुछ विकास किया। केशव द्वारा निर्दिष्ट मुख्य रसों में से देव ने वीभत्स और रौद्र को छोड़ दिया और शान्त को जोड़कर संख्या तीन कर दी और एक-एक से दो-दो रसों की उत्पत्ति बतला कर रसों के परस्पर सम्बन्ध की धारणा का पल्लवन किया। देव ने यह क्रम इस प्रकार निश्चित किया[2]—

शृंगार—हास्य वीर—रौद्र शान्त—अदभुत
भय करुण वीभत्स

यह क्रम केशव की धारणा से बिल्कुल साम्य नहीं रखता। यह धारणा देव की अपनी हो सकती है अथवा किसी अन्य स्रोत से, पर केशव का प्रदान यहां सिद्ध नहीं होता।

इस सम्बन्ध में रसों के परस्पर सम्बन्ध की स्थापना इस प्रकार की गई है मुख्य रस केवल चार हैं शृंगार रौद्र वीर और वीभत्स। शान्त के अतिरिक्त सभी रस इन्हीं चार रसों से उत्पन्न होते हैं। शृंगार से हास्य रौद्र से करुण वीर से अदभुत और वीभत्स से भयानक।[3] यह स्थापना भी रस के केशव के अनुसार ही है। यहां केशव का प्रदान स्पष्ट स्वीकार करना चाहिए। साथ ही केशव के नायक है सिंगार सूत्र को पकड़कर भी देव ने विस्तार किया और सभी रसों का सम्बन्ध शृंगार से स्थापित करके उसका रसराजत्व स्पष्ट कर दिया। केशव ने अपने सूत्र का विस्तार नहीं किया था। देव ने विस्तार की पद्धति यह रखी। पहले तीन रस मुख्य माने। फिर शान्त और वीर का भी समावेश शृंगार में कर लिया गया। इस प्रकार एक ही मूल रस शृंगार रह जाता है। यहां केशव ने केवल बीज दान किया। देव ने उसका पोषण-

१ शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ॥ नाट्यशास्त्र ६।३९

२ तीनि मुख्य नौ हू रसनि द्वै-द्वै प्रथमनि लीन।
प्रथम मुख्य तिन तिनहु में दोऊ तेहि आधीन ॥
हास्य भय सु सिंगार सुन रौद्र करुन रस बीर।
अद्भुत अरु वीभत्स सग, शान्ति, बरनत धीर ॥ भवानीविलास

३ तीन हास्य सिंगार के करुण रौद्र ते जानु।
बीरजनित अद्भुत कहौ वीभत्सु ते भयानु ॥ शब्दरसायन

४ सो संयोग वियोग भेद शृंगार द्विविध कहु।
हास्य, वीर अद्भुत संयोग के, संग अग लहु।
अरु करुना रौद्र भयान भये तीनौं वियोग सग।
रस वीभत्स र सान्त हान दोऊ दुहुन स्ग।
यह सूच्छम रीति जानत रसिक जिनके अनुभव सब रसनि।
नवहू सुभाव भावनि सहित रहत मध्य शृंगार तनि ॥ शब्दरसायन

पल्लवन किया। इसके अनुसार शृंगार के संयोग पक्ष में हास्य वीर और अद्भुत का सम्बन्ध जोड़ा गया और वियोग में रौद्र करुण और भयानक का अंतर्भाव किया गया। बीभत्स और शान्त दोनों से ही सम्बद्ध हो सकते हैं। इस योजना में एक सीमा तक केशव के शृंगारेतर रसों के उदाहरण सहायक हुए होंगे।

प्रच्छन्न और प्रकाश

इस क्षेत्र में केशव की एक और विशेषता शृंगार के प्रच्छन्न एवं प्रकाश भेद मानने की है। केशव ने इन भेदों को सम्भवतः भोज से ग्रहण किया था। देव ने केशव से इस विभेद को ग्रहण किया। पहले देव ने शृंगार को संयोग और वियोग में विभाजित करके इनको प्रच्छन्न और प्रकाश माना है—

> द्वै प्रकार सिंगार रस है संभोग वियोग।
> सो प्रच्छन्न प्रकाश करि कहत चारि विधि लोग॥

प्रच्छन्न और प्रकाश के लक्षण भी दोनों आचार्यों में समान ही हैं। पर इतना अन्तर है कि केशव ने इस भेद पर विशेष बल दिया है और इसका लक्षण निरूपण भी कुछ अधिक विस्तार के साथ किया है। देव ने इस निरूपण को कुछ चलता सा कर दिया है। केशव के अनुसार प्रच्छन्न संयोग वह है जिसे प्रिया प्रियतम तथा अंतरंग सखी के अतिरिक्त कोई नहीं जानता है[1] और प्रकाश संयोग को सभी अपने मन में जानते रहते हैं।[2] देव ने साधारणतः कह दिया है कि जो विलास गुप्त रहता है वह प्रच्छन्न और जिसे सब जानते हैं वह प्रकाश कहलाता है।[3] केवल प्रच्छन्न के निरूपण में यह अन्तर है कि उसमें सखी का नाम नहीं लिया गया। हो सकता है केशव की दृष्टि पर उन राधावादी सम्प्रदायों का प्रभाव रहा हो जहां सखियां सभी विलास रहस्यों में परिचिता ही नहीं उनमें सहायिका भी मानी जाती थीं। इस भेद निरूपण में देव निश्चित रूप से केशव के ऋणी हैं।[4] देव के पश्चात् प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों का व्यापक प्रयोग श्री कृष्णदेव ऋषि ने अपने शृंगाररसमाधुरी नामक ग्रंथ में किया है।[5] इस ग्रंथ के द्वितीय स्वाद में नायक के चार भेदों के प्रच्छन्न और प्रकाश दो भेद किए हैं। तृतीय स्वाद में चतुर्विध दर्शन के भी प्रच्छन्न और प्रकाश दो रूपों का वर्णन किया गया है। चेष्टाओं को भी प्रच्छन्न और प्रकाश दो रूपों में वर्गीकृत किया गया है।

१ सो प्रच्छन्न संयोग अरु कहै वियोग प्रमान।
जानै पीउ प्रिया कि सखि होहि जु निर्दै समान॥ रसिकप्रिया १।२४

२ सो प्रकास संयोग अरु कहै प्रकास वियोग।
अपने-अपने चित्त में जानैं जियरे लोग॥ वही १।२५

३ देव कहै प्रच्छन्न सो जाको दुरो विलास।
जानहि जाको सकल जन बरनै ताहि प्रकास॥ भावविलास

४ डा० नगेन्द्र देव और उनकी कविता पृ० १४

५ *० हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ३६२ पर इसका विवरण।

रस और वृत्तियाँ

रस क्षेत्र में केशव की एक और विशेषता वृत्तियों के अनुसार रसों का वर्गीकरण है। संस्कृत में नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र दोनों ही परम्पराओं में वृत्ति निरूपण मिलता है।[1] हिन्दी के अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने इस पक्ष को छोड़ दिया था। इसका कारण यह हो सकता है कि वृत्तियों का प्रमुख क्षेत्र नाट्य ही था। केशव ने चार वृत्तियों पर विचार किया है[2] कौशिकी (कैशिकी) भारती आरभटी सात्त्विकी (सात्वती)।[3] केशव के पश्चात् भिखारीदास ने इस प्रकरण को केशव से ग्रहण किया। देव ने भी वृत्तियों का निरूपण किया है। देव का आधार भी रसिकप्रिया ही है देव के शब्द रसायन का वृत्ति रस क्रम रसिकप्रिया की भाँति ही है केवल एक अंतर है कि सात्वती के अन्तर्गत देव ने शृंगार के स्थान पर रौद्र माना है[4]

केशव—

> अद्भुत वीर शृंगार रस, समरस वरणि समान।
> सुनतहि समुझत भाव जिहि, सो सात्त्विकी सुजान॥[5]

देव—

> वीर, रौद्र अद्भुत भई जहाँ सांत सवित्त।
> हर्ष, क्रोध, अचरज, छमा, प्रकट सात्वती वृत्ति॥[6]

शेष क्रम केशव के समान ही है। देव के पश्चात भिखारीदास ने रस सारांश में वृत्ति रस सम्बन्ध क्रम को ग्रहण किया है। पर दास ने भारती वृत्ति को छोड़कर शेष तीन ही वृत्तियों का निरूपण किया है। यद्यपि उनका वृत्ति निरूपण केशव से पूर्णतः ग्रहण किया हुआ नहीं है फिर भी केशव का दास को आंशिक प्रभाव स्पष्ट है। दास और केशव दोनों का कैशिकी निरूपण अक्षरशः समान है—

के०— कहिए केशवदास जहँ करुणा हास शृंगार।
सरल वरण शुभ भाव, जहँ सो कौशिकी विचार॥[7]

दा०— सुभाविनि युत कौसिकी करुना हास, सिंगार।[8]

१ इस परम्परा में भरत (नाट्यशास्त्र २२।६५, ६६) धनंजय (दशरूपक २।६२), रामचन्द्र गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण १५२ १५८) विश्वनाथ (साहित्यदर्पण ६।१२२) शारदातनय (भावप्रकाश, गायकवाड़ ओरियं० सीरीज पृ १२) तथा सिंगभूपाल आते हैं।

२ रसिकप्रिया १५।१ २, ३ ६ ८

३ प्रथम कौशिकी भारती आरभटी मति आनि।
कहि केशव शुभ सात्त्विकी चतुर चतुर विधि जानि॥ रसिकप्रिया १५।१

४ केशव ने शृंगार का सम्बन्ध कौशिकी और सात्त्विकी दोनों से माना है, हो सकता है देव ने इस पुनरावृत्ति को दूर करने के लिए ही सात्त्विकी में शृंगार के स्थान पर रौद्र कर दिया हो।

५ रसिकप्रिया

६ शब्दरसायन

७ रसिकप्रिया

८ रससारांश ४४५

एक विशेष बात यह है कि दोनों ही आचार्यों ने 'कैशिकी' के स्थान पर 'कौशिकी' अशुद्ध रूप लिखा है।

आरभटी के अन्तर्गत भी दोनों आचार्यों ने रौद्र वीर बीभत्स को सम्मिलित किया है।[1] सात्वती में केशव ने अद्भुत वीर शृंगार और शान्त को रखा है।[2] पर दास ने इन चारों के अतिरिक्त हास्य को भी इसमें सम्मिलित किया है। यहाँ एक विशेष बात यह है कि दास ने दो दोहों में रस वृत्ति सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। प्रथम दोहे की प्रथम पंक्ति में कौशिकी का दूसरे दोहे की प्रथम पंक्ति में आरभटी का तथा प्रथम तथा द्वितीय दोहे की द्वितीय पंक्तियों में सात्त्विकी का निरूपण है। प्रथम दोहे की द्वितीय पंक्ति में इसके अन्तर्गत वीर हास्य और शृंगार बताए गए हैं तथा द्वितीय दोहे की द्वितीय पंक्ति में भिखारीदास ने उन्हीं चार रसों को सम्मिलित किया है जिनको केशव ने लिया है अद्भुत वीर शृंगार और शान्त।[3] सात्त्विकी के इस प्रकार के बिखरे हुए निरूपण का रहस्य समझ में नहीं आता। पर केशव से साम्य अवश्य स्थापित किया जा सकता है। संस्कृत आचार्यों से दास का उतना साम्य नहीं है जितना केशव से। इस दृष्टि से दास को केशव का वृत्ति निरूपण में ऋणी कहा जाना अनुचित नहीं है। नीचे की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है —

वृत्ति	भरत	धनंजय	रामचन्द्र गुणचन्द्र	केशव	दास
कैशिकी	शृंगार हास्य	शृंगार	शृंगार हास्य	करुण शृंगार हास्य	करुण शृंगार हास्य
सात्वती	रौद्र वीर अद्भुत	वीर	रौद्र वीर अद्भुत शान्त	अद्भुत वीर शृंगार शान्त	वीर हास्य शृंगार अद्भुत शान्त
आरभटी	भय बीभत्स	रौद्र	वीर रौद्र	रौद्र, भय बीभत्स	रौद्र भय बीभत्स
भारती	करुण अद्भुत	सब रस	सब रस	वीर अद्भुत हास	

इसके आधार पर कौशिकी और आरभटी के निरूपण में केशव का प्रदान

१ क—केशव जामें रुद्र रस भय बीभत्स जान।
आरभटी आरम्भ यह पन्पन्न जमक बखान॥ रसिकप्रिया १५।६
ख—भय बिभत्स अरु रौद्र तें आरभटी उर आनि। रससारांश ५५६

२ रसिकप्रिया १५।८

३ वीर हास शृंगार त्रिविधि सात्त्विकी निरधारि।
अद्भुत बर शृंगार युत सान्त सात्त्विकी जानि॥ रससारांश ५५५-५५६

४ हो सकता है कि यह निरूपण 'भारती' का स्थानापन्न हो जिसे भिखारीदास ने छोड़ दिया है। यह मानने से 'भारती' का छोड़ देने की बात भी एक भूल के कारण मानी जा सकती है।

स्पष्ट है। सात्वती पर पहले विचार किया जा चुका है। साथ ही हास्य तो शृंगार के साथ स्वत सम्बद्ध है ही।[1]

दास के पश्चात् कृष्णभट्ट देवऋषि ने अपने 'शृंगाररस माधुरी' के पन्द्रहवें स्वाद में केशव के अनुसार वत्तियों तथा उनमें आने वाले रसों का निरूपण किया है। इस प्रकार केशव के प्रदान की परम्परा इस क्षेत्र में अविच्छिन्न और दीर्घ रही। अन्य आचार्यों ने प्रायः इस प्रकरण को छोड़ दिया।

नायिका भेद

नायिका भेद प्रकरण की मूल रूपरेखा प्राय सभी आचार्यों में समान रही है। केशव के तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत निरूपण और उनके परस्पर साम्य और वैषम्य पर पीछे विचार किया जा चुका है। केशव की दृष्टि भक्ति से प्रभावित रही। परवर्ती आचार्यों में काव्यशास्त्रीय दृष्टि प्रधान होती गई। माधुर्य भावना वाले कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में 'सखियों' का महत्वपूर्ण स्थान था। केशव के विचार भी सखी के प्रति ऐसे ही प्रतीत होते हैं। देव ने 'भावविलास' में सखी के स्थान पर दूती का रखा है। इस प्रकार केशव की मूल दृष्टि परवर्ती आचार्यों से भिन्न हो गई। इसके अतिरिक्त केशव ने भानुदत्त का अनुकरण नहीं किया। फिर भी परवर्ती आचार्यों ने केशव से प्रेरणा और पद्धति ग्रहण की।

चिन्तामणि और मतिराम पर तो विशेष प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। पर देव केशव के पर्याप्त ऋणी दिखलाई देते हैं। मूल ढांचे में समानता तो है[2] पर कुछ अन्तर भी है। उदाहरण के लिए जिस देव ने रस के क्षेत्र में प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों को स्वीकार किया उसी ने नायिका निरूपण में इन भेदों को त्याग दिया। कुछ अन्तर इसलिए भी है कि देव ने इस प्रकरण का कुछ मौलिक विस्तार भी किया। पर इस मौलिक विस्तार में केशव का प्रेरणादान अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। केशव ने देश और वय के अनुसार नायिकाभेद का संकेत किया था—

> इहि विधि नायक नायिका बरनौं सहित विवेक।
> देश काल वय साजते केशव जानि अनेक॥[3]

केशव ने यह कथन नायिका भेद का उपसंहार करते हुए किया है। इसका तात्पर्य यह है कि देश-काल के अनुसार विस्तार करना केशव के मस्तिष्क में था पर

1 डा० सत्येन्द्र चौधरी के अनुसार कैशिकी और आरभटी वृत्तियों में उन (दास) पर केशव का प्रभाव स्पष्ट है। सात्वती के साथ इन्होंने केशव-सम्मत तीन रसों—अद्भुत, वीर, शृंगार के अतिरिक्त हास्य और शान्त रस और जोड़ दिए हैं। हास्य तो शृंगार के साथ स्वत सम्बद्ध है ही।

हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ० ३५५

सम्भवत डा० चौधरी ने केशव के सात्वती निरूपक दोहे में प्रयुक्त 'समरस' को शान्तवाची नहीं माना है। इसलिए उन्होंने केशव और दास के निरूपण में दो रसों—शान्त, हास्य का अन्तर माना है।

2 किरणचन्द्र शर्मा केशवदास जीवनी, कला और कृतित्व पृ ४८०

3 रसिकप्रिया ७।४०

वे कर नहीं पाए। देव ने केशव के इस कथन से प्रेरणा लेकर देश के अनुसार नायिकाओं का निरूपण किया[1] और अन्य नायिकाओं की वय सरणियों को स्पष्ट किया।[2] यह केशव का प्रेरणा प्रदान है। इसके साथ ही काल शब्द भी देव ने केशव से ग्रहण किया है।[3] यह अन्य आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त अवस्था का ही पर्याय है।

केशव ने मुग्धा के केवल चार भेद माने हैं नवल वधू नव यौवना नवल अनंगा लज्जा प्रायरति। देव ने इनमें वयस संधि को जोड़ कर संख्या पाँच कर दी। इससे पहले यह सन्देह होता है कि देव ने केशव से इन रूपों को नहीं लिया। धनंजय विश्वनाथ ने भी पाँच ही भेद माने हैं। अतः देव का स्रोत कहीं वही है। पर डा० नगेन्द्र ने देव पर यहाँ भी केशव का ऋण स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि नवल वधू नाम प्रायः संस्कृत के आचार्यों का मान्य नहीं रहा। केशव ने इस भेद को माना है और देव ने भी। केशव के द्वारा उपेक्षित वय संधि को देव ने परम्परा के आग्रह से ग्रहण किया है।

मध्या और प्रौढा के अवांतर भेद देव ने इस प्रकार दिए हैं

मध्या	प्रौढा
रूढयौवना	लब्धापति
प्रकटमनोजा	रतिकोविदा
प्रगल्भवचना	आक्रांतनायका
विचित्रसुरता	सविभ्रमा

बिल्कुल ये ही भेद प्रभेद केशव ने रसिकप्रिया में दिए हैं। संस्कृत आचार्यों के नाम आदि में जो परिवर्तन केशव ने किया वह देव ने स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र का मत यहाँ द्रष्टव्य है

उपर्युक्त विभेद भी देव ने प्रायः ज्यों के त्यों केशव ने थोड़ा परिवर्तन कर विश्वनाथ से लिए हैं और विश्वनाथ का आधार यहाँ भी धनंजय ही है। देव ने उन्हें सीधे विश्वनाथ से नहीं ग्रहण किया इसका प्रमाण यह है कि इनके क्रम अथवा नाम आदि में जो परिवर्तन हुए हैं वे पहले केशव में मिलते हैं। अतएव उनका दायित्व अथवा श्रेय केशव को ही दिया जायगा।[4]

१ मध्यप्रदेशवधू मगधवधू कौशलवधू पाटलवधू उत्कलवधू कलिंगवधू कामरूपवधू बंगवधू विन्ध्यवनवधू मालववधू आभीरवधू सिन्धुवधू, कुकन(कोंकण)वधू केरलवधू, द्राविड़वधू तैलंगवधू करनाटकवधू सिंधवधू गुजरातवधू मारवाड़वधू आदि भेद हैं। देशभेद का सकेत केशव ने रसिकप्रिया में पहले ही दे दिया है। डा नगेन्द्र देव और उनकी कविता, पृ १५४

२ डा नगेन्द्र देव और उनकी कविता पृ० १५२ १५३

३ देव ने यह भेद भी विस्तार काल क्रमानुसार माना है। यहाँ 'काल' शब्द विचारणीय है। काल का प्रयोग देव से पूर्व केशव ने भी किया है। वही पृ १५४

४ धनंजय से विश्वनाथ ने, विश्वनाथ से केशव ने और केशव से देव ने इन्हें ग्रहण किया है। वही पृ १५२

५ देव और उनकी कविता पृ १५३

केशव के नायिका भेद की एक और विशेषता जाति के अनुसार पद्मिनी चित्रिणी शंखिनी हस्तिनी नायिकाओं की स्वीकृति है। देव ने जाति पर आधारित इस चतुर्विध वर्गीकरण को माना है।[1] संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने इनको नायिका-भेद विधान में स्थान नहीं दिया। देव के पश्चात् भी कुछ आचार्यों ने इस वर्गीकरण को माना है। चिंतामणि ने स्वयं तो इस भेद निरूपण को स्वीकार नहीं किया, पर अकबर शाह विरचित शृंगारमंजरी की हिंदी छाया में ये आई हैं। सोमनाथ ने भी पद्मिनी आदि का लक्षण निरूपण किया है।[2] इनके लक्षण निरूपण की केशव के साथ तुलना पहले की जा चुकी है। भिखारीदास ने रस साराश में यद्यपि अत्यन्त संक्षिप्त लक्षण निरूपण किया है पर इन कामशास्त्रीय नायिकाओं का ग्रहण अवश्य किया है—

भई पदम सौगंध सो अंग जाको वही पदिमनी नाइका मन कीज।
रती राग विशेषमा चित्रिनी है, सब भेद तो कोक सो जाति लीज।
कहै शंखिनी हस्तिनी नाम जो है सो तो ग्राम्य नारी वही म गनीज।
इन्हें सुभ्र शोभा भई काव्य के बीच केहू नहीं बरनि को चित्त दीज॥

अंत की पंक्ति में संक्षिप्त रूप में इनके वर्णन करने का कारण भी निर्दिष्ट है। भिखारीदास के अतिरिक्त कुछ सामान्य आचार्यों ने भी पद्मिनी आदि भेदों का निरूपण किया है। कृष्णभट्ट देवऋषि ने अपने शृंगाररसमाधुरी नामक ग्रंथ में इन नायिकाओं का निरूपण केशव की रसिकप्रिया के आधार पर किया है।[3] शिवनाथ ने भी इनको स्वीकार किया है। चन्द्रदास कृत शृंगारसागर में भी इनका विवरण मिलता है।[4] यह परम्परा गिरधरदास तक चली आई है। भारतेन्दु द्वारा सम्पादित तथा खग विलास प्रेस बांकीपुर से प्रकाशित 'रसरत्नाकर' में पद्मिनी आदि का निरूपण है।[5] इस प्रकार जो परम्परा संस्कृत काव्यशास्त्र में अत्यन्त शिथिल और नगण्य सी रही उस परम्परा को केशव ने बल दिया, जिसके आधार पर हिन्दी में उसकी परम्परा चलती रही। विशेष रूप से शृंगार प्रधान लक्षण ग्रन्थों में यह कामशास्त्रीय नायिका भेद मान्य रहा।

रसदोष

केशव ने पांच अनरस माने हैं प्रत्यनीक नीरस विरस दुःसंधान तथा पात्रादुष्ट। यद्यपि देव की रसदोष-कल्पना केशव से पूर्ण साम्य नहीं रखती, पर

१ पद्मिनि-चित्रिनि सांखिनिया, और हस्तिनी जानि। सुजानविलास
२ रसपीयूषनिधि ८।१२ १५, १७, १६
३ शृंगाररसमाधुरी तृतीय स्वाद
४ रसवृष्टि, तृतीय रहस्य, हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठ भाग, पृ० ४०१
५ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठभाग पृ० ४२५ ६ रसिकप्रिया १६।१
७ सरस निरस सम्मुख विमुख रस-पर निष्ठ पहिचानि।
मीत अमीत उदास चित, उचित, मुचित बखानि॥ शब्दरसायन

इन्हीं नामों से संस्कृत में भी इनका स्रोत खोजना कठिन है। फिर भी केशव से प्रेरणा और प्रभाव दोनों ही देव ने ग्रहण किए हैं।[1] डा० नगेन्द्र जी ने इस प्रभाव की चर्चा नहीं की है। उनके अनुसार नीरस के भेदों का संकेत ग्रहण केशव ने रस-तरंगिणी से किया।[2] जगतसिंह ने अपने ग्रंथ साहित्यसुधानिधि के दोष प्रकरण में रसिकप्रिया में निर्दिष्ट दोषों का निरूपण किया है। निरस विरस दुःसंधान पात्रादुष्ट।[3] कुमारमणि शास्त्री ने अपने रसिकरसाल के नवें उल्लास में कुछ दोषों के उदाहरण केशव से ग्रहण किए हैं। कृष्णभट्ट देवऋषि ने भी केशव द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यनीक नीरस विरस दुस्संधान पात्रादुष्ट नामक दोषों का निरूपण किया है।[4] रस-दोषों की कल्पना में केशव ने अपनी मौलिकता का पुट देकर एक परम्परा चलाई थी उसका निर्वाह कुछ परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने किया है। रस निरूपक आचार्य तो अवश्य ही केशव के इस प्रकरण से प्रभावित रहे।

दूती सखी प्रकरण

केशव ने केवल सखी शब्द का प्रयोग किया है। जब राधाकृष्ण को शृंगारालंबन रूप में ग्रहण किया गया तब सखी समाज ने भी केशव को आकर्षित किया। कृष्णभक्ति शाखा के राधापरक सम्प्रदायों में सखी तत्व प्रमुख हो गया था। केशव को निश्चित ही इन भक्ति सम्प्रदायों से प्रेरणा मिली। राधा कृष्ण के प्रणय मार्ग की बाधाओं को दूर करना ही इस सखीसमाज का कार्य था।[5] यहां तक कि कृष्णभक्ति-शाखा में सखीसम्प्रदाय भी चल पड़ा जिसके अनुयायी सखीभाव से इष्टोपासना करते थे। दूती सखी प्रकरण का अत्यधिक विस्तार रूपगोस्वामी ने भी किया था।[6] पर इन्होंने दूती और सखी दोनों के भेदोपभेद का परिगणन किया। केशव ने केवल सखी शब्द को ही ग्रहण किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में बहुधा दूती और सखी को पृथक मानकर इनके स्वरूप और कर्म निरूपित किए गए हैं। भरत ने केवल दूती का ही निरूपण किया है।[8] केशव ने इन दोनों परम्पराओं से

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग पृ ३३७

२ इस प्रसंग के अधिकांश का संकेत रस तरङ्गिणी से ही लिया गया है। परन्तु देव उसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत भी नहीं कर पाये उनका विवेचन तो दूर रहा। देव और उनकी कविता पृ १४७

३ साहित्य सुधानिधि दसवीं तरंग। इसमें जगतसिंह ने सौ दोषों का निरूपण किया है।
ये सत दोस मुख्य हैं इन्हीं के अन्तरभूत में और दोष आनियो।
इन्हीं में रसिकप्रिया और कविप्रिया के दोषों को सम्मिलित किया गया है।

४ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ३४५

५ शृंगाररसमाधुरी १६ वां स्वाद

६ राधा हरि बाधा हरण, बरनों सखीसमाज। —रसिकप्रिया ११।१८

७ उज्ज्वल नीलमणि सप्तम अध्याय

८ ना शास्त्र २४।१६ १६२। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में भी 'दूती' का ही उल्लेख है।
कामसूत्र १।२।३५ ३७

पृथक अकेली सखी का निरूपण करने की परम्परा चलाई। कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में गोपीभाव और सखीभाव दोनों थे। प्रथम में कृष्ण के साथ विहार करने की अलौकिक आसक्ति रहती थी। दूसरे भाव में केवल युगल-सरकार की रासलीला के सम्पादन का प्रयत्न कुञ्ज रन्ध्रों से राधाकृष्ण रतिलीला का दर्शन तथा सुरतोपरान्त युगल सरकार की सेवा ही रहते थे। केशव ने इसी दूसरे भाव को अपनाया। यही नायक नायिका निरूपण के उपयुक्त भी था। केशव की सखी सम्बन्धी उक्त धारणा भक्तिकालीन सखीभाव से साम्य रखती है। पर केशव के उपरान्त केवल सखी निरूपण की पद्धति नहीं चली। देव ने यद्यपि निरूपण रसिकप्रिया के आधार पर ही किया है पर उन्होंने 'दूती' नाम ही रखा है। चिन्तामणि ने तो इनका निरूपण ही नहीं किया। सोमनाथ ने सखी दूती को स्वीकार करके दोनों का पृथक कर्तव्य कर्म का निरूपण किया है।[1] भिखारीदास ने इस प्रकरण को कुछ विस्तार से तो लिया है पर सखी दूती परम्परा को ही स्वीकार किया है।[2] पर कृष्णभट्ट देव ऋषि ने केशव की पद्धति से एक पूरे अध्याय में सखियों का वर्णन किया है।[3] आगे के अध्याय में दूती निरूपण पृथक रूप से किया है। पर सखी निरूपण में ये केशव के निश्चित रूप से ऋणी हैं। शिवनाथ ने भी केवल सखीभेद ही प्रस्तुत किया है। इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केशव का सखी शब्द आगे भी चला पर परम्परा प्रबल नहीं रही। इसका कारण साहित्यशास्त्र और कामशास्त्र का सघन प्रभाव और भक्तिदृष्टि का उत्तरोत्तर क्षीण होता जाना माना जा सकता है।

जहाँ तक सखियों की जातियों का प्रश्न है केशव ने अधिकांश निम्न जातियों से उनको सम्बद्ध माना है।[5] परवर्ती आचार्यों में दो परम्पराएं मिलती हैं एक तो उन आचार्यों से सम्बन्धित है जिन्होंने दूतियों के कर्म का ही निरूपण विशेष रूप से किया है।[6]

१ रसपीयूषनिधि १२।१०, २१

२ भिखारीदास ने सखी सहचरी नाम दिए हैं—
निज पिय की हितकारिणी अन्तर्गत हिं हाइ।
और दिव्यभा सहचरी, सखी कहावै सोइ॥—रससारांश २१४
यह परम्परा केशव में मिलती है।

३ शृंगाररसमाधुरी बारहवां स्वाद

४ रसवाटिका, आठवां रहस्य

५ भरत ने भी निम्न जातियों की दूतियों का ही उल्लेख किया है।—ना० शा० २४।४ १०

६ सोमनाथ ने सखी के कर्म तथा दूती के कर्म का निरूपण 'रसपीयूषनिधि' (१२।१ ,११) में किया है। इस परम्परा से सम्बन्धित आचार्यों ने रसमंजरी के आधार पर ऐसा किया है। विश्वनाथ ने भी इन सखियों का उल्लेख किया है (साहित्यदर्पण, परि छ० ३) कामसूत्र (७।५।४) तथा अनंगरंग में भी केशव के समान ही सूची दी गई है। नाट्यशास्त्र की परम्परा में भरत के पश्चात् धनंजय ने भी ऐसी ही दूतियाँ मानी हैं। (दशरूपक)

दूसरी परम्परा केशव-द्वारा प्रवर्तित कही जा सकती है। इस परम्परा के आचार्यों ने केशव की भांति निम्नवर्गीय दूतियों की सूची भी दी है और उनके कर्तव्य कर्म का भी निरूपण किया है। नीचे की तालिका से परवर्ती आचार्यों पर केशव का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

केशव की सखी	देव[1]	कृष्णभट्ट देवऋषि[2]	भिखारीदास[3]
धाय	धाय	धाय	धाई
जनी	—	जनी	—
दासी	—	—	—
नाइन	नाइन	नाइन	नाइन
नटी	नटी	नटिनी	नटी
पड़ोसिन	—	परोसिन	परोसिन
मालिन	मालिन	मालिन	मालिनि
बरइन (तमोलिन)	—	बरइन	—
शिल्पिनी	शिल्पिनी	शिल्पिन	—
चुड़िहारिन	—	चुरिहरिन	चुरिहेरिन
सुनारिन	—	सुनारिन	सुनारिन
रामजनी (गुसाइन)	—	रामजनी	रामजनी
सन्यासिनी	सन्यासिनी	सन्यासिनी	सन्यासिनी
पटवा की स्त्री	—	पटविन	पटइन

इस प्रकार केशव हिंदी में सखीदूती निरूपण की एक प्रणाली के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इनका सम्बन्ध संस्कृत के भरत, धनंजय, विश्वनाथ और कामशास्त्रीय ग्रंथों से है। हिंदी के कुछ केशव परवर्ती आचार्यों ने केशव से प्रेरणा या सामग्री लेकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया और कुछ ने भानुदत्त आदि की पद्धति को ग्रहण किया। केशववाली परम्परा में उक्त तीन आचार्यों के अतिरिक्त तोष भी आते हैं।[4] अतः इस क्षेत्र में केशव का प्रभाव प्रधान स्पष्ट है।

केशव ने सखियों के सात कर्म माने हैं—शिक्षा देना, शृंगार करना, विनय करना, मनाना, झुकना, मिलाना तथा उपालम्भ देना। संस्कृत में दो परम्पराएं इस सबंध में थीं—एक तो समस्त दूत कर्मों का उल्लेख करनेवाली।[5] दूसरी दूती

1 भावविलास के अनुसार। छन्द ११४-११५
2 शृंगाररसमाधुरी, १० वें स्वाद के अनुसार
3 रससारांश के आधार पर १८६-२१३
4 डा० भगीरथ मिश्र चौबे—हिंदी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य
5 इसमें मान और कामवचन भी है।

और सखी के पृथक कर्मों का उल्लेख करनेवाली परम्परा।[1] हिन्दी में प्रथम परम्परा का प्रवर्तन केशव ने किया तथा दूसरी परम्परा में मतिराम सोमनाथ जैसे आचार्य आते हैं। केशव की परम्परा में देव आते हैं। पर इनका निरूपण केशव से पूर्ण साम्य नहीं रखता। देव और केशव की तुलनात्मक तालिका यह है

केशव—	शिक्षा देना	शृंगार करना	विनय करना	मनाना	झुकना	उपालम्भ	मिलाना
देव—	उपदेश देना	आभूषण पहनाना	—	—	—	पति को उपालम्भ	प्रिया से मिलाप

देव के अन्य सखीकर्म इस प्रकार हैं विनोदपूर्ण बातचीत से प्रसन्न करना वियोगावस्था में ढाढ़स बंधाना। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देव परम्परा की दृष्टि में केशव के ऋणी हैं। भानुदत्त की परंपरा के चतुर्विध कर्मों का ही इन्होंने उल्लेख नहीं किया।

भिखारीदास ने भी भानुदत्त के मार्ग का अवलम्बन नहीं किया। भिखारीदास और केशव द्वारा निरूपित सखी कर्म निरूपण की तुलनात्मक तालिका यह है

केशव—	शिक्षा देना	विनय करना, मनाना	मिलाना	शृंगार करना	झुकना	उलाहना देना
दास[2]—	शिक्षा	विनय मान अवजर्न	—	मंडन	—	उपालम्भ

उक्त कर्मों के अतिरिक्त दास ने इन कर्मों का परिगणन और किया है सन्देश निन्दा परिहास पत्रिका देना स्तुति विदग्धता तथा विरह निवेदन। पर परम्परा के अनुसार दास भी इस क्षेत्र में केशव की परम्परा में आते हैं। एक तो भानुमिश्र की भांति सखी के चार कर्मों का ही निरूपण दास ने नहीं किया। दूसरे दूती और सखी के बीच विभाजक रेखा नहीं खींची। यह पद्धति केशव से ली गई है। सामग्री विस्तार अन्य स्रोतों से भी हुआ है।

दंपति-चेष्टा मिलन-स्थान शृंगार की विस्तृति

केशव ने शृंगार रस की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए उसके साथ कुछ कामशास्त्रीय विस्तृति संलग्न कर दी है। दंपति चेष्टा प्रकरण इसी प्रयत्न के अन्तर्गत आता है।[3] काव्यशास्त्र की परम्परा में इसकी धारा प्रबल नहीं रही। पर केशव ने इन चेष्टाओं का वर्णन 'रसिकप्रिया' के पांचवें प्रकाश में किया है।[4] रीतिकाल के परवर्ती प्रमुख आचार्यों

१ इस परम्परा का प्रतिनिधित्व भानुदत्त करते हैं।

२ शृंगारनिर्णय के आधार पर। २१४-२१६ रससारांश २३१,२३२

३ नायिका के अनुराग प्रकट करने वाली चेष्टाओं का निरूपण साहित्यदर्पण कामसूत्र तथा अनंगरंग जैसे कामशास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है।

४ रसिकप्रिया ५।५, ६, ७

क्योंकि केशव द्वारा उल्लिखित प्रणति और प्रसंगविध्वंस के स्थान पर इन्होंने नति और रसान्तर शब्दों का प्रयोग विश्वनाथ के आधार पर किया है।[1] पर इस प्रकरण को ग्रहण करने की प्रेरणा सम्भवतः केशव से मिली है। मतिराम ने फिर इस प्रकरण को छोड़ दिया। देव ने इस प्रकरण को सम्भवतः केशव के अनुसार ही नियोजित किया[2] क्योंकि दोनों आचार्यों का निरूपण समान है। दास ने फिर मान मोचन को छोड़ दिया। पदमाकर ने भी इनका उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार केशव का ऋण इस क्षेत्र में मुख्यतः कृष्णदेव पर माना जा सकता है। कृष्णभट्ट देवऋषि ने केशव द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को ग्रहण किया है।[3] सामोपाय दामोपाय भेदोपाय प्रणति उपेक्षा प्रसंगविध्वंस दंडोपाय। इसमें केशव के दंडोपाय सम्बन्धी विचार को भी इन्होंने ग्रहण किया है। पर इसका उल्लेख अवश्य मिलता है। ये भी केशव के ऋणी हैं। पर परवर्ती आचार्यों ने इस प्रसंग की मौलिक विस्तृति को केशव से नहीं लिया।

रसावयव

भाव

केशव ने रसिकप्रिया के छठे प्रकाश में भावादि रसावयवों का विस्तृत और स्वच्छन्द विवेचन किया है। उन्होंने भाव की परिभाषा यह दी है मन की जो बात मुख नेत्र तथा वचनों से प्रकट होती है वह भाव है। यह लक्षण सभी संस्कृत आचार्यों से विलक्षण है।

केशव भावों के पांच प्रकार भी स्वीकृत करते हैं विभाव अनुभाव, स्थायीभाव सात्विक व्यभिचारी।[4] सिद्धान्ततः यह भाव निरूपण अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया है। मतिराम ने केवल अभिव्यक्ति के उपकरणों की संख्या बढ़ा दी है

> लोचन वचन, प्रसाद मृदुहास भाव पति मोद।
> इनते प्रगटत भाव रति बरनहिं सुकवि विनोद॥[5]

सिद्धान्ततः केशव और मतिराम में कोई अन्तर नहीं है। देव ने भी केशव के अनुसार स्थायीभाव, विभाव अनुभाव सात्विकभाव तथा संचारियों को भाव[6] के अन्तर्गत माना है

१ कविकुलकल्पतरु ६।६७-७
२ किरणचन्द्र शर्मा केशवदास जीवनी, कला और कृतित्व, पृ० ४६२
३ शृंगाररसमाधुरी १ वां स्वाद
४ रसिकप्रिया ६।१
५ वही ६।६
६ रसराज छं० ३१

थिति भाव अनुभाव अरु कहौं सात्त्विको भाव ।
संचारी और हाव ये रस कारन षटभाव ॥[1]

कुलपति मिश्र ने भाव का स्वरूप यों प्रस्तुत किया है

हियो रहै जब लगि रहै सब वस्तिन को भूप ।
निश्चल इच्छा वासना भाव भावना रूप ॥[2]

कुलपति मिश्र ने भाव के भेदों को एक सामान्य संशोधन के साथ ग्रहण किया है पर भाव के केशव निर्णीत लक्षण को नहीं अपनाया । मतिराम ने भी इसका परिवर्द्धित रूप ही प्रस्तुत किया था । कुलपति ने भावों के चार प्रकार माने हैं विभाव अनुभाव संचारीभाव तथा स्थायीभाव ।[3] इन्होंने केशव के सात्त्विक को यहाँ छोड़ दिया है । पर इतना निश्चय है कि कुलपति मिश्र के सामने भाव निरूपण के समय केशव का आदर्श था ।[4] कुलपति के समान ही सोमनाथ ने भी भाव के चार भेद गिनाए हैं स्थायी संचारी विभाव, अनुभाव । सात्त्विक को इन्होंने अनुभाव के अंतर्गत रखा है ।[5] देव ने एक और संशोधन किया था इन चारों में से प्रथम दो आन्तरभाव माने गए और अंतिम दो शारीरभाव ।[6] सोमनाथ ने भी इसी संशोधन को स्वीकार किया ।[7] प्रतापसाहि ने भी सो चारि प्रकार कवि कहू आए हैं लिखकर भाव के चतुर्विध भेद को स्वीकार किया है ।[8] इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि केशव का पूर्णतः अनुकरण तो आगे के आचार्यों ने नहीं किया पर भाव निरूपण पद्धति के परिवर्द्धित और संशोधित रूप परवर्ती आचार्यों में मिलते हैं ।

रसाभिव्यक्ति के उपकरण

केशव ने रसाभिव्यक्ति निरूपण में भरत-सूत्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त को अपनाया है उन्होंने विभाव अनुभाव और संचारी के संयोग से रस को व्यंग्य माना है

मिलि विभाव अनुभाव पुनि संचारी सु अनूप ।
व्यंग करै थिर भाव जो, सोई रसु सुख रूप ॥[9]

चिंतामणि ने भी अभिनवगुप्त के आधार पर ही रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में

१ भवानीविलास, भारत जीवन प्रेस काशी सन् १८९३ पृ० ३ छं० १४
२ रसरहस्य ३।१० तथा वृत्ति ।
३ डा० सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ ३ १
४ उक्त स्वरूप निर्धारित करते समय कुलपति के सामने केशव की रसिकप्रिया है जिसमें से इन्होंने भाव के भेदों को तो एक संशोधन के साथ अपना लिया है पर भाव के लक्षण को नहीं अपनाया । वही पृ ३ ०
५ रसपीयूषनिधि ३।११ १२, शृंगार विलास १।६, ७
६ यह संशोधन भानुमिश्र के अनुसार है ।
७ भाव सुभेव विधि उर में आनो । अंतर अरु सारीरिक मानो ॥ रसपीयूषनिधि १।१
८ काव्यविलास ३।२४
९ रसिकप्रिया ३।२

अपना मत दिया है।

थाई सामाजिक हिय बसत वासना रूप।
व्यक्त विभावादि कनि मिलि रस हय मिलत अनूप ।।[1]

देव ने व्यंग्य या व्यक्त शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने रसनिष्पत्ति का निरूपण इस प्रकार किया है—विभाव अनुभाव और संचारियों द्वारा स्थायीभाव की पूर्ण वासना ही रस है। यह निरूपण परम्परा से कुछ भिन्न पड़ता है। सोमनाथ ने फिर वही अभिनवगुप्त वाली धारणा ग्रहण की और व्यंग्य शब्द का प्रयोग करते हुए रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया का उल्लेख किया

जहं विभाव-अनुभाव अरु सहित संचारी भाव।
व्यंग्य कियो थिर भाव इहि सो रस रूप बताव ।।[2]

भिखारीदास ने भी निरूपण लगभग ऐसा ही किया है

जहं विभाव, अनुभाव थिर चर भावन को ज्ञान।
एक ठौर ह्वै पाइये सो रस रूप प्रमान ।।

यहां उन्होंने व्यंग्य शब्द का प्रयोग नहीं किया। केवल उपकरणों के संयोग की बात कही है। पर फिर भी अभिव्यक्ति का भाव अवश्य निहित है। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि भरत का प्रसिद्ध रससूत्र रीतिकाल के प्रत्येक आचार्य के मस्तिष्क में रहा। चार व्याख्याकारों में से अभिनवगुप्त की व्याख्या को मम्मट ने उद्धत किया। केशव ने भी उसी व्याख्या को अपनाया। केशव के परवर्ती आचार्यों ने भी यह पद्धति ग्रहण की। ऐसा हो सकता है कि उन्होंने इस पद्धति को मम्मट से ही लिया हो।

विभाव

केशव की दृष्टि में विभावों से ही अनेक रस उत्पन्न होते हैं और ये विभाव दो प्रकार के होते हैं आलम्बन और उद्दीपन।[5] इस प्रकार केशव ने विभाव और रस में कारण कार्य या उत्पादक उत्पाद्य सम्बन्ध माना है। केशव ने यह भी स्पष्ट किया है कि रस अनन्त है और उसका आधार ही आलम्बन विभाव है। जो सामग्री उसे उद्दीप्त करती है वह उद्दीपन के अन्तर्गत आती है।[6] केशव का लक्षण निरूपण तत्त्वत विश्वनाथ से भिन्न नहीं है पर केशव का निर्जीपन भी इस निरूपण के साथ

१ कविकुलकण्ठाभरण ५।२।६६
२ जो विभाव अनुभाव अरु बिभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना सुकवि कहत रस सोइ ॥ भावविलास
३ शृंगारनिर्णय ३।३५
४ रससारांश ४४४
५ रसिकप्रिया ६।३ ४
६ जिन्हें अन्त अवलम्बई ते आलंबन जान।
जिनतें दीपति होत है ते उद्दीप बखान ॥ वही ६।८
७ अभिज्ञानशाकु ३।६५

सम्बन्ध है। चिन्तामणि ने स्थायीभावों का विभाव से कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं माना है।[1] केशव की भाँति देव ने विभाव और रस में उत्पादक उत्पाद्य सम्बन्ध ही माना है 'रस अंकुर याते विभाव रस के उपजावन।' (शब्द रसायन) कुलपति मिश्र ने विभावों को स्थायीभावों के प्रकट करनेवाला माना है—

जिनते जिनको जगत प्रगटत है थिर भाव।
तेई नित्य कवित्त में पावहि नाम विभाव।।[2]

स्थायीभाव का निवास आलम्बन विभाव में रहता है और जो सामग्री उसे स्मृति-पथ में लाती है वह उद्दीपन के अन्तर्गत आती है—

जे निवास थिर भाव के ते आलम्बन जानि।
सुधि आवै जिनके लखे ते उद्दीप बखानि।।[3]

कुलपति मिश्र का विभाव लक्षण केशव-सम्मत लक्षण के अनुकरण पर ही है।[4] आलम्बन और उद्दीपन का लक्षण केशव से इतना साम्य नहीं रखता। सोमनाथ ने भी विभाव को रसोत्पादक माना है—

जिहि तें उपजतु है जहाँ जिही के थाई भाव।
तासों कहत विभाव सब समुझि, रसिक कवि राव।।[5]

शृंगारविलास में केशव द्वारा प्रयुक्त 'प्रकटत' शब्द का ही प्रयोग सोमनाथ ने किया है—

प्रकटत थायो भाव हैं जिनते जिनतें मित्र।
ते कवित्त अरु नृत्य में जानि विभाव विचित्र।।[6]

दास ने विभाव को कारण माना है 'कारन जानि विभाव।' इस प्रकार जहाँ तक विभाव के रूप और उसके द्विविध वर्गीकरण का प्रश्न है। लगभग आचार्यों में समानता है। अन्तर जो भी मिलता है वह विश्वनाथ और मम्मट के स्रोतों का अवलम्बन करने के कारण है। केशव ने सम्भवतः विश्वनाथ की परम्परा को अपनाया और उनके परवर्ती आचार्यों में से अधिकांश ने विश्वनाथ को ही अपना आधार बनाया है।

केशव ने आलंबन के अंतर्गत जिन वस्तुओं को माना है[8] वे प्राय: संस्कृत के

१ थाई हेतु नग भाव जो कवित्त मध्य सुविभाव। कविकुलकल्पतरु ५।२।६७, ६८
२ रसरहस्य ३।११
३ वही ३।१२
४ डा० सत्यदेव चौधरी हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३०
५ रसपीयूषनिधि ६।१३
६ शृंगारविलास ४।८
७ काव्यनिर्णय ४।८ ९
८ सुख दायक नायिक रूप, जाति कर लक्षणयुक्त सखिजन कोकिल की कुहू बसन्त ऋतु, पुष्प फल दल भ्रमर-गुंजार आराम, जलयुक्त सरोवर निर्मल कमल, चातक, मोर का शब्द, चन्द्र, मन्द वायु, आकाश रमणीय महल, चाँदनी सुगन्धित गृह, पान-भोजन सुन्दर वस्त्राभूषण नृत्य तथा वीणा आदि का वर्णन। रसिकप्रिया ६।६

सभी आचार्यों के द्वारा उद्दीपन में परिगणित की गई हैं। संभवतः इस सामग्री का आधार शिंगभूपाल का चतुर्विध उद्दीपन निरूपण है। पर भूपाल ने भी इनको आलंबन नहीं कहा। केशव ने यहाँ कुछ मौलिकता का परिचय देते हुए आलंबन के अंतर्गत कुछ उद्दीपक वस्तुओं को रख दिया है। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने इस मौलिक परम्परा को छोड़ दिया। आलंबन विभाव के अंतर्गत नायक-नायिका निरूपण की परम्परा तो पुरानी है। उसको केशव ने तथा परवर्ती आचार्यों ने भी अपनाया। पर ऊपर से जितनी नवीन बात केशव की लगती है उतनी है नहीं। शिंगभूपाल ने उद्दीपनों के चार भेद माने हैं: नायक-नायिका के गुण, चेष्टा, अलंकृति और तटस्थ उद्दीपन।[1] विद्यानाथ ने भी शृंगारतिलक से उद्धरण देते हुए उद्दीपन के चार विभाग किए हैं: आलंबन के गुण, उसकी चेष्टाएँ, अलंकृति और तटस्थ[2]। विश्वनाथ ने इनमें से प्रथम तीनों भेदों को एक तथा चौथे को दूसरा रूप मानकर उद्दीपन के दो भेद किए हैं।[3] केशव ने चेष्टा को छोड़कर सभी को आलंबन बता दिया है। पर केशव से पूर्व भी ऐसी परम्परा रही हो सकता है। उनका तर्क इस प्रकार का रहा होगा: आलंबन के गुण गुणी नायक-नायिका से भिन्न नहीं हो सकते। साथ ही अलंकृति भी आलंबन निरपेक्ष होकर रस क्षेत्र में अपनी सत्ता नहीं बनाए रख सकती। अतः इनका विचार आलंबन के साथ किया जाना चाहिए। पर तटस्थ उद्दीपनों के अंतर्गत आने वाले चन्द्र, उद्यान आदि को भी आलंबन मानने का तर्क समझ में नहीं आता। चेष्टाओं (अवलोकन, आलाप, आलिंगन, नखदान, रददान, चुम्बन, मर्दन और स्पर्श) को केशव ने भी उद्दीपन माना है। वस्तुतः शृंगार क्षेत्र में ये चेष्टाएँ उद्दीपक कही जा सकती हैं। इनको अनुभावों में भी रखा जा सकता था। पर केशव का इन्हें उद्दीपन मानना नितांत अनुपयुक्त नहीं दीखता।

केशव के पश्चात् यह धारणा अधिक तो नहीं पर आंशिक रूप में अवश्य चली। चिन्तामणि ने उद्दीपनों पर विस्तृत रूप से विचार किया है।[5] गुण और अलंकृति को उन्होंने भी उद्दीपन नहीं माना। इनकी धारणा को डा० सत्येन्द्र चौधरी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है।[6] 'आलंबन के रूप, यौवन आदि गुण आलंबन से पृथक् नहीं माने जा सकते। इन गुणों के बिना काव्य के आलंबन विभाव की भला सत्ता ही क्या? इसी प्रकार आलंबन के नूपुर आदि बाह्य शृंगार भी आलंबन के ही रूप हैं।' यहाँ तक केशव और चिन्तामणि का तर्क समान ही है। पर तटस्थ उद्दीपन को चिन्तामणि ने आलंबन न मान उद्दीपन ही माना है—

१ रसार्णवसुधाकर (त्रिवेन्द्रम १९१६) पृ ३ श्लोक १६२
२ प्रतापरुद्रयशोभूषण
३ साहित्यदर्पण ३।१३२
४ रसिकप्रिया ३।१३२
५ कविकुलकल्पतरु ५।३।४१-५०
६ हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ३८६

> जे तटस्थ उन कहे हैं चंद बागइन आदि।
> ते उद्दीपन कहि सकै है यह बात अनादि ॥[1]

केशव और चिंतामणि में दूसरा अन्तर यह है कि हाव भावादि चेष्टाओं का अन्तर्भाव चिन्तामणि के अनुसार अनुभाव में किया जा सकता है। इस प्रकार चिन्तामणि निश्चित रूप में केशव की परम्परा में आते हैं पर उन्होंने अंधानुकरण न करके अपने स्वतन्त्र तर्क भी रखे हैं। चिन्तामणि की तटस्थ उद्दीपनों सम्बन्धी धारणा तो तर्कसंगत दीखती है पर चेष्टाओं को अनुभावों में रखना युक्ति-युक्त नहीं है। इस पर हम यहां विस्तार से विचार नहीं करते। हमारा निष्कर्ष यह है कि इस क्षेत्र में चिंतामणि को केशव ने एक परम्परा का दान अवश्य किया जिसका प्रबल रूप संस्कृत के काव्याचार्यों में नहीं मिलता।

आगे के आचार्यों ने तटस्थ उद्दीपनों को उद्दीपन ही माना है। यहां उन्होंने केशव का नहीं चिंतामणि का अनुकरण किया है। सोमनाथ ने प्राकृतिक उपकरणों को उद्दीपन ही कहा है।[2] भिखारीदास ने भी प्राकृतिक उद्दीपन माने हैं।[3] पर भिखारीदास का ध्यान भी विभाव के आलंबन पक्ष के विस्तार की ओर आकर्षित हुआ था। उनके अनुसार शृंगार विभावों की सीमा तो निर्धारित की जा सकती है पर अन्य रसों के विभावों की सीमा का निर्धारण सम्भव नहीं है।

> जानो नायक-नायिका रस शृंगार विभाव।
> चन्द, सुमन, ससि दूतिका रागादि को बनाव ॥
> औरनि के न विभाव मे प्रगटि कहै एह साज।
> सबके नर विभाव हैं औरौ हैं बहु साज ॥

यहां केशवदास वाली परम्परा का आग्रह तो नहीं है पर विभाव की अनिश्चितता की ओर उनका भी ध्यान गया। इस प्रकार विभाव निरूपण के क्षेत्र में केशव ने एक स्वतन्त्र परम्परा चलाई। उसका पूर्णतः नहीं तो अंशतः कुछ आचार्यों ने पालन भी किया।

अनुभाव के निरूपण में केशव ने रुचि नहीं ली। आलम्बन और उद्दीपन के अनुकरण को अनुभाव कह दिया गया है।[4] यह लक्षण अस्पष्ट भी है और संस्कृत के किसी आचार्य में नहीं मिलता। परवर्ती आचार्यों ने भी इस परम्परा को केशव से ग्रहण नहीं किया।

सात्त्विकभावों को केशव ने पृथक रूप से लिया है। केशव ने सात्त्विकभाव सभी संस्कृत आचार्यों की भांति आठ ही माने हैं।[5] पर केशव के 'प्रलाप' के स्थान

1. कविकल्पद्रुम ८।३।५२
2. रसपीयूष निधि ७।१५
3. काव्य निर्णय ५।२
4. वही ५।३० १२
5. रसिकप्रिया ६।८
6. स्तम्भ, स्वेद, रोमांच स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलाप।

पर संस्कृत के आचार्यों ने प्रलय का उल्लेख किया है। चिंतामणि ने प्रलाप के स्थान पर प्रवलीन नाम दिया है।[1] मतिराम ने जम्भा जोड़ कर सात्विकभावों की संख्या नौ कर दी है।[2] पर केशव ने प्रलाप को स्थान नहीं माना। देव ने भी 'प्रलय' का ही उल्लेख किया है।[3] दास ने भी यही किया। केशव ने 'प्रलाप' का न लक्षण दिया है और न उदाहरण। अतः इस संबंध में विचार करना सम्भव नहीं है।

केशव ने ३४ संचारियों का उल्लेख किया है।[4] प्रचलित संख्या में उन्होंने व्याधि को और जोड़ दिया है। संस्कृत के आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया है। दूसरा अंतर यह है कि केशव ने अमर्ष अवहित्था असूया सुप्ति वितर्क और त्रास के स्थान पर क्रमशः मोह विषाद निद्रा स्वप्न ज्ञान तर्क और भय शब्दों का प्रयोग किया है। हिंदी आचार्यों ने बहुधा केशव का अनुकरण नहीं किया। चिन्तामणि ने संस्कृत के आचार्यों का मार्ग ही ग्रहण किया है। देव ने केशव की भांति ३४ संचारी तो माने हैं। पर ३४वां संचारी उन्होंने छल माना है[5] व्याधि नहीं। देव ने केशव की उक्त शब्दावली को भी ग्रहण नहीं किया। इसी प्रकार केशव की परम्परा को दास ने भी ग्रहण नहीं किया। इस क्षेत्र में केशव का प्रदान कुछ भी नहीं माना जा सकता।

केशव ने हावों के निरूपण में भी मौलिकता बरती है। उनका लक्षण निरूपण संस्कृत के किसी प्रमुख आचार्यों से नहीं मिलता। उन्होंने १० हाव माने हैं हेला लीला ललित मद विभ्रम विहृत विलास किलकिंचित् विक्षिप्त (विच्छित्ति) बिब्बोक मोट्टायित कुट्टमित और बोध। साथ ही उनका यह भी कहना है कि इनके अतिरिक्त भी हाव हैं। चिंतामणि ने १८ हाव माने हैं। इनके निरूपण आदि केशव से नहीं मिलते। केशव से भिन्न देव ने हावों को भावों का ही भेद माना है। भिखारीदास ने १ हावों का ही उल्लेख किया है।[6] आगे चलकर हेला तथा विभ्रम को भी सम्मिलित किया है। केशव के मद और बोध को दास ने नहीं लिया। इस प्रकार केशव का प्रदान इस क्षेत्र में भी न के बराबर है।

रसिकप्रिया रूप-दान

रस के क्षेत्र में केशव की परम्परा का आंशिक रूप से पालन परवर्ती आचार्यों

१ स्वेद स्तम रोमाच कहि, प्रलि सुरभंग बनाइ। कविकुलकल्पतरु
 मरोन छन्द ३१४
३ भवानी विलास
४ रसिकप्रिया छन्द ६
५ रसिकप्रिया ६।१७ १३ १४
६ अपस्मारादिक बरनि की केत निद्रा प्रभाव।
 बक्र उक्ति छल बर्न बर्न मंदरम दुल भय॥ भावविलास
७ रसिकप्रिया ६।१६
८ शृंगारनिर्णय ४६–२६७

न किया। यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। रसिकप्रिया का जो कृति रूप है उसका अनुकरण भी कुछ परवर्ती आचार्यों ने किया। कविप्रिया और रसिकप्रिया में केशव ने सोलह 'प्रभाव' या 'प्रकाश' रखे हैं। १६ अध्यायों में ग्रन्थ योजना साभिप्राय दीखता है। केशव के मस्तिष्क में सोलह शृंगारों की कल्पना थी और कविता के शृंगार की लिखी हुई पुस्तकें १६ प्रकाशों में होनी चाहिए यह उनका दृष्टिकोण दीखता है।[1]

कृष्णभट्ट देवऋषि ने रसिकप्रिया के रूप को ग्रहण किया।[2] वही सोलह अध्यायों की योजना और लगभग वही विषय विभाजन प्रणाली इनके 'शृंगाररस माधुरी' नामक ग्रन्थ में मिलती है।[3] इसी प्रकार निवनायकृत रसवृष्टि भी रसिकप्रिया की शैली पर है। सोलह अध्याय तो हैं पर विषय विभाजन कुछ भिन्न है। सब विषय का वर्णन रसिकप्रिया के आधार पर ही है। नीचे रसिकप्रिया की योजना के साथ इन दो ग्रन्थों की योजना की तुलना दी गई है।

	रसिकप्रिया	शृंगाररसमाधुरी	रसवृष्टि
प्रथम प्रकाश[4]	मंगलाचरण वस्तु निर्देश शृंगार रस	शृंगार भेद	मंगलाचरण परिचय
द्वितीय प्रकाश	नायक लक्षण	नायक भेद	नायक भेद
तृतीय प्रकाश	नायिका जाति वर्णन	नायिका भेद	नायिका भेद
चतुर्थ प्रकाश	दर्शन वर्णन	दर्शन वर्णन	स्वकीया नायिका
पाचवा प्रकाश	दंपति चेष्टा	दूती वर्णन	परकीया
छठा प्रकाश	हाव भाव लक्षण	हाव भाव	मान
सातवां प्रकाश	अष्ट नायिका	नायिका के भेद	मान मोचन
आठवां प्रकाश	विप्रलंभ शृंगार	विप्रलंभ	सखी भेद
नवां प्रकाश	मान लक्षण	मान	चार दर्शन
दसवां प्रकाश	मान मोचन	मान मोचन	मिलन
ग्यारहवां प्रकाश	करुण प्रवास, विरह	करुण प्रवास	अष्टनायिका
बारहवां प्रकाश	सखी वर्णन	सखी वर्णन	विप्रलंभ शृंगार दस दशाएं
तेरहवां प्रकाश	सखीजन कर्म	दूती कर्म	हाव

१ कविप्रिया केशव करी कविता को शृंगार। कविप्रिया ३।२

२ ग्रन्थ (शृंगाररसमाधुरी) केशवदास की कविप्रिया के आधार पर है—
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ३६५

३ वही पृ० ४०५

४ प्रकाश के स्थान पर शृंगाररसमाधुरी में स्वाद और रसवृष्टि में रहस्य शब्द का प्रयोग।

	रसिकप्रिया	शृंगाररसमाधुरी	रसवाटिका
चौदहवाँ प्रकाश	अन्य रस	अन्य रस	नखशिख अंगसौन्दर्य
पन्द्रहवाँ प्रकाश	वृत्ति वर्णन	वृत्तियाँ	वस्त्राभूषण
सोलहवाँ प्रकाश	रसदोष	रसदोष	नव रसों का वर्णन

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि शृंगाररसमाधुरी तो रसिकप्रिया का एक परवर्ती संस्करण ही है। केवल एक अन्तर है कृष्णभट्ट देवऋषि ने दम्पति चेष्टा को छोड़ दिया है और केशव से भिन्न दूती प्रसंग को समाविष्ट कर लिया है। रसवाटिकाकार ने १६ अध्यायवाली योजना को तो अपनाया है विषय के विस्तार को कम कर दिया है। केशव के दम्पति चेष्टा सखी जन कर्म वृत्ति और दोष के प्रकरणों का निर्वाह न छोड़ दिया है। शेष प्रकरणों का अतिरिक्त अध्यायों में विस्तार कर दिया गया है। नखशिख और वस्त्राभूषण जैसे नवीन प्रकरण जोड़ दिए गए हैं।

निष्कर्ष

रस क्षेत्र में केशव के प्रदान के कई रूप हैं। एक तो उन्होंने परम्परा का दान दिया जिसमें राधा-कृष्ण की उदाहरण प्रणाली का पुष्ट रूप में ग्रहण करना तथा शृंगार के प्रामुख्य की पद्धति सम्मिलित हैं। जहाँ तक शृंगाररस का विस्तृति आदि का प्रश्न है केशव का प्रदान स्पष्ट है। नायिकाभेद में केशव का अनुकरण किया गया। केशव का प्रेरणादान भी मिलता है। देव ने केशव से प्रेरणा लेकर जातिगत नायिका भेद का पल्लवन किया। रस दोष और वृत्तियाँ जैसे पारिभाषिक पक्षों को भी कुछ आचार्यों ने ग्रहण किया। रसावयवों के निरूपण विस्तार आदि में केशव का अनुकरण बहुत कम किया गया। इसलिए यह कहना कि केशव का प्रदान परवर्ती आचार्यों पर शून्य है एक सामान्य कथनमात्र है। यहाँ तक कि रसिकप्रिया के रूप का भी ग्रहण किया गया। केशव और चिंतामणि के बीच के लक्षण साहित्य और अप्रकाशित साहित्य के प्रकाश में आने पर केशव का प्रदान और भी सघन दिखलाई पड़ सकता है।

अलंकार-क्षेत्र

केशवदास हिन्दी क्षेत्र के प्रथम अलंकार निरूपक आचार्य हैं।[1] इससे सामान्य परम्परादान तो स्पष्ट हो ही जाता है। साथ ही केशव की विशिष्ट परम्परा के चिह्न भी मिलते हैं। केशव की परम्परा के कुछ चिह्न बाग पदुमनदास की काव्यमंजरी (सं० १७४१) गुरुदीन पांडेय के बाग मनोहर (सं०१८६०) और बेनीप्रवीन के नानारावप्रकाश (सं० १८७ के आसपास) में मिलाई पड़ते हैं।[2] इस प्रकार एक परम्परा का आरम्भ केशव से हिन्दी में होता है। समस्त रीतिकालीन साहित्य में

[1] डा० भगीरथ मिश्र हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ ४४३
[2] वही पृ० ४४३

आलंकारिकता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कविप्रिया का विषय अलंकार निरूपण मात्र करना नहीं है कविशिक्षा है। कविशिक्षा के उद्देश्य को लेकर चलने वाले भी कुछ आचार्य हुए जिन्होंने केशव से प्रेरणा ग्रहण की परन्तु अधिकांश आचार्यों ने अलंकार या काव्यशास्त्र का ही प्रणयन किया। कुछ मतिराम और भूषण जैसे आचार्य भी हुए जिन्होंने लक्षण निरूपण में विशेष रुचि नहीं दिखाई। इनका उद्देश्य अलंकार के व्याज से वर्ण्य विषय का उदाहरणों में प्रस्तुत करना था। दूसरे वे आचार्य थे जो वस्तुतः अलंकार निरूपण के उद्देश्य से ही क्रम में प्रवृत्त हुए। केशव इसी परम्परा के शिरोमणि आचार्य थे। केशव ने कवियश प्रार्थी किशोर किशोरियों के लिए कविशिक्षा ग्रंथ लिखा—

> समुझैं बाला बालकहू बरनन पंथ अगाध।
> कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥[1]

यह उद्देश्य केवल कवि शिक्षक आचार्य का ही हो सकता है। सोमनाथ भिखारीदास आदि का भी यही उद्देश्य दिखलाई पड़ता है।

उदाहरण परम्परा

केशव ने अलंकारों के निरूपण के साथ एक नवीन उदाहरण परम्परा स्थापित की। रसिकप्रिया में केशव ने राधा राधारमण को उदाहरणों का विषय बनाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी परवर्ती आचार्यों ने रस निरूपण में इस परम्परा का पालन किया। अलंकार निरूपण के लिए केशव ने न केवल राधा-कृष्ण को लिया और न केवल शृंगाररस को। कविप्रिया में उदाहरणों का वैविध्य मिलता है। राम कृष्ण, सीता राधा शिव पार्वती तथा अन्य पौराणिक देवता तो उदाहरणों में हैं ही। इन्द्रजीत[2] बीरबल[3] राजा अमरसिंह[4] ओरछानरेश[5] प्रवीणराय[6] शबर वृद्धा कामसेना वेश्या[7][8] राजा चन्द्रसेन[9] दूलहराम[10] जैसे राजपुरुषों और वेश्याओं को भी उदाहरणों में केशव ने स्थान दिया है। सामान्य लोगों जैसे बीरबल के द्वारपाल[11] चन्द्र और पतिराम सुनार[12] को भी केशव के उदाहरणों में स्थान मिला है। नीति-कथन[14] और राजनीति[15] से सम्बन्धित उदाहरणों की रचना भी केशव ने की

१ कविप्रिया ३।१
२ वही ५।२२ ११।२२, ११।७८ १३।२८ १४।१४
३ वही ६।७७
४ वही ६।७६ ११।३० ३१ ३२, ३३
५ वही ७।५ ७।१५
६ वही ७।६ ११।८२, १४।१८
७ वही ७।१० ८ वही ६।१७ ९ वही १३। ५ १० वही ११।३८ ११ वही १।२८
१२ वही १३।३० १३ वही ६।२६ १२।१३
१४ कविप्रिया ६।१६ २२ ४ १४ ११।२, ३ ४, २६ ७, १३।५, ६, ३८
१५. वही ८।७, १४, १६, २१

है। साथ ही शृंगार[1] और नायिकाओं[2] को भी नहीं छोड़ा गया है। शृंगार के साथ अन्य रसों के आलंबनादि को भी उदाहरणों के विषय के रूप में लिया गया है। कहीं रूकना पर व्यंग्य किया गया है[3] कहीं वैराग्य की ओर दृष्टि है कहीं प्रकृति चित्रण मिलता है[5] कहीं आसक्तिका उमड़ पड़ी है[6] इस प्रकार केशव ने अलंकार निरूपण के क्षेत्र में उदाहरणों के वैविध्य की परम्परा प्रवर्तित की। रीतिकालीन साहित्य की सभी काव्य प्रवृत्तियों का स्पर्श केशव ने कविप्रिया के उदाहरणों में किया है। आश्रयदाता की प्रशस्ति भी आ गई है नीति वैराग्य की भावना भी मिलती है और नायिका शृंगार के भी चित्रण हैं। केशव के परवर्ती अलंकार निरूपक आचार्यों की इस दृष्टि से तीन धाराएं मिलती हैं एक तो राधा कृष्ण सम्बन्धी और शृंगार परक उदाहरण देने वाले आचार्य दूसरे सीताराम के उदाहरण तथा भक्ति वैराग्य वाले उदाहरण देने वाले आचार्य तथा तीसरे आश्रयदाता या अन्य प्राकृत जनों के उदाहरणों की संयोजना करने वाले आचार्य। केशव में इन तीनों का ही मिश्रण मिलता है। प्रथम कोटि में देव मतिराम रसिकगोविन्द (रसिकगोविन्दानन्दघन के कर्ता) ग्वाल जैसे सर्वांग निरूपक आचार्य आते हैं। गोप कवि ने रामचन्द्र भूषण तथा रामचन्द्राभरण नामक ग्रंथों में रामचरित्र से सम्बन्धित उदाहरण दिए हैं। दूलह ने शृंगार और कृष्ण के साथ राम के भी उदाहरण दिए हैं। इस रूप के तुलसीभूषण में तुलसीकृत उदाहरण लिए हैं। गोप कवि ने भी राम पर ही उदाहरण रचना की है। सेवादास ने रघुनाथअलंकार में उदाहरण योजना के लिए राम वृत्त को ही लिया है।[7] ये आचार्य द्वितीय कोटि में आते हैं। तीसरी कोटि में भूषण प्रमुख रूप में आते हैं। शिवाजी के वृत्त को इन्होंने शिवराजभूषण के उदाहरण के लिए चुना। रतन कवि ने फतहभूषण नामक ग्रंथ की रचना की। ये गढ़वाल के राजा फतहशाह के आश्रय में रहते थे। इनके उदाहरणों में राजा की स्तुति के छन्द ही विशेष रूप से दिए गए हैं। इन्होंने केशव की भांति आश्रयदाता से सम्बद्ध श्रीनगर का भी स्तुति की है। इन्होंने अलंकारदर्पण में भूषण की भांति आश्रयदाता की ही प्रशंसा की है।[8] फतेप्रकाश में राम सीता भी आए हैं। इस प्रकार केशव की भांति आश्रयदाताओं का उल्लेख करने वाले या उन पर उदाहरणों की रचना करने वाले आचार्य भी हुए। शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों के उदाहरण भी केशव ने कविप्रिया में दिए हैं। मान कवि के उदाहरण में शृंगार के साथ साथ वीर भयानक आदि

१ कविप्रिया १७ ३६ ८।४२ ८।४७
कविप्रिया ६।४६ ४६ ६१ ६।१४ ११।३१ ७४ ७६ ■ १ ।२१ १३।१० ४ १४।८
१ १२ १६ २
३ क० प्रि० ६।८४ ४ क० प्रि० ६।५६ ५ क० प्रि० ६।२६ ६ क० प्रि० १२।६४ १३।४
७ डा० भगीरथ मिश्र—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ ११५
८ रतन कवि श्री तुम रात तुम दश पल गात तुम लक के विरोध बिन हो कहे।
कविकुलकंठाभरण अभेद रूपक का उदाहरण
९ हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास षष्ठ भाग पृ ४ ६
१० फतेप्रकाश रतन ग्रन्थावली सम्पादक प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़ भूमिका पृ १३

कठोर रसों को भी समान स्थान मिला है।[1] इस विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केशव के परवर्ती आचार्यों में से अलंकारों के केवल शृंगारपरक उदाहरण सजाने वाले आचार्य केशव की परम्परा में नहीं आते। इन आचार्यों की संख्या कम है। अधिकांश आचार्यों ने अलंकार निरूपण के क्षेत्र में उदाहरण वैविध्य की परम्परा को ही ग्रहण किया जिसका प्रवर्तन हिन्दी में केशव ने किया। अधिकांश ने केशव की मिश्रित उदाहरण परम्परा को ही लिया प्रशस्ति, कृष्णराधा (शृंगार), रामसीता, भक्ति वैराग्य। केशव में उदाहरणों का वैविध्य सभी आचार्यों से अधिक मिलता है।

अलंकार के महत्त्व की घोषणा

केशव ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग घोषित किया 'भूषण बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त'। साथ ही अनलंकृत काव्य में उन्होंने नग्नदोष माना है—

दूषन विरोधी पंगु गनि, नगन जो भूषण हीन।[2]

इसप्रकार वनिता के उपमान से और दोष निर्धारण के द्वारा केशव ने अलंकारों का महत्त्व घोषित किया। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' भी अलंकार सम्प्रदाय का ग्रंथ है चाहे केशव के समान उन्होंने उक्ति न की हो। याकूब खां ने रसभूषण में केशव के साथ स्वर मिलाते हुए यह उक्ति की है—

अलंकार बिनु नायिका सोभित होइ न मान।
अलंकार जुत नायिका, या तें कहौं बखानि॥[3]

इसीलिए इन्होंने नायिका और अलंकार का साथ साथ विवेचन किया है। दूलह की उक्ति भी केशव के समान ही है—

बरन बरन लच्छन ललित रचि रीझै करतार।
बिन भूषण नहिं भूषई कविता वनिता चार॥[4]

रामसिंह ने भी अपने अलंकारदर्पण में लगभग यही बात कही है—

कविता अरु वनितान को अलंकार छवि देत।[5]

यह परम्परा पूर्णतः लोकप्रिय नहीं हुई। इसका सम्बन्ध भामह आदि अलंकार वादियों से था।[6] पर कुछ परवर्ती आचार्यों ने रस ध्वनि वादियों की मान्यता को ही ग्रहण किया 'अलंकार रस के उपकारक धर्म हैं'। चिन्तामणि ने शब्दार्थ रूप काव्य

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ० ४७२
२ कविप्रिया
३ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ४५६ पर उद्धृत
४ कविकुलकण्ठाभरण २
५ अलंकार दर्पण
६ भामह ने स्पष्ट रूप से उपमान से ही यह कथन किया था — न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। काव्यालंकार १।१३, ३।५८

शरीर को सुशोभित करने उपकरण अलंकार मान हैं।[1] यही धारणा कुलपति मिश्र की थी।[2] भिखारीदास ने भी यही बात कही है।[3] इन उक्तियों पर अलंकारवादियों का नहीं रस ध्वनि समर्थक मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने केशव की धारणा का ग्रहण नहीं किया प्रमुख तथापि कुछ आचार्य ऐसे अवश्य हुए जिन्होंने केशव की भाँति अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग माना है।

अलंकारों की संख्या

अलंकारों की संख्या में वृद्धि होती रही है। पर केशव ने उनकी संख्या को प्राचीन आचार्यों की भाँति ही रखा है।[4] केशव के विशिष्ट अलंकारों की सूची इस प्रकार है—

९वां प्रभाव—स्वभावोक्ति विभावना हेतु विरोध विशेष उत्प्रेक्षा	६
१०वां प्रभाव—आक्षेप	१
११वां प्रभाव—क्रम गणना आशिष प्रेम श्लेष सूक्ष्म लेश निदर्शना ऊर्ज रसवत अर्थान्तरन्यास व्यतिरेक अपह्नुति	१३
१२वां प्रभाव—उक्ति (वक्रोक्ति अन्योक्ति व्यधिकरणोक्ति विशेषोक्ति सहोक्ति) व्याजस्तुति व्याजनिंदा अमित पर्यायोक्ति युक्त	६
१३वां प्रभाव—समाहित सुसिद्ध प्रसिद्ध विपरीत रूपक दीपक परिवृत्त प्रहेलिका	८
१४वां प्रभाव—उपमा	१
१५वां प्रभाव—यमक	१
१६वां प्रभाव—चित्र	१
कुल योग—	३७

१ अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।
उपमादिक त्यों कबित को अलंकार ज्यों जानि॥ कविकुलकंठाभरण ७।४
व्यंग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण भूषण भूषणो दूषण दूषण एह॥ रसरहस्य १।३४

३ अनुप्रास उपमादि जे शब्दार्थालंकार।
ऊपर तें भूषित करें जैसे तन को हार॥ काव्यनिर्णय १६।६५

४ हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। काव्यप्रकाश ८।६७

५ भामह—४ ४ (३ का निरसन तथा एक का तिरस्कार)। १ (आशी:) —३७
दण्डी— ४ (यमक तथा चित्र)। १ (आवृत्ति-दीपक) —३७
उद्भट—४१ ३ (अनुप्रास) १ (पुनरुक्तवदाभास) —३७
केशव— — ७

यदि उक्ति के भेदों को जोड़ लिया जाय तो संख्या ४० हो जाती है। इनका स्रोत और केशव की मौलिकता की दृष्टि से वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —

१ दण्डी के अनुरूप— विभावना, आक्षेप, अन्योक्ति[1], सहोक्ति, यमक, रसवत्, ऊर्ज और समाहित।

२ दण्डी के प्रायः अनुरूप—स्वभावोक्ति, युक्त, विरोध, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, श्लेष, रूपक, व्यतिरेक, अपह्नुति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा और चित्र।

३ दण्डी से भिन्न— क्रम, पर्यायोक्ति, परिवृत्त, प्रेम, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, दीपक, निदर्शना।

४ नवीन अलंकार— गणना, वक्रोक्ति, व्यधिकरणोक्ति, अमित, विपरीत, सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विशेष।

अलंकारों की संख्या की दृष्टि से केशव के प्रदान के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने के लिए नीचे प्रमुख आचार्यों से केशव के अलंकारों की तुलनात्मक तालिकाएं दी गई हैं—

दास ने रसवत् अलंकारों का एक वर्ग माना है। इसमें उन्होंने इन अलंकारों को सम्मिलित किया है: प्रेयस, ऊर्जस्वि, समाहित, भावसन्धिवत्, भावोदयवत्, भावशबलवत्। इनमें तीन केशव के समान हैं। प्रतापसाहि ने भी प्रेयस्वत् अलंकार रसवत् के साथ माना है। इस प्रकार केशव की परम्परा में विशेष रूप से देव, दास और प्रतापसाहि आते हैं। पद्माकर ने पद्माभरण के पंचदशालंकार प्रकरण में सात रसालंकारों का निरूपण किया है। इनमें से रसवत्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित केशव के समान हैं। दोनों के लक्षणों में साम्य नहीं। प्रहेलिका को दण्डी ने अलंकारों में स्वीकृत किया है पर साहित्यदर्पणकार ने इसको रस में बाधक मान कर इसका निराकरण कर दिया।[2] दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट आशी का केशव ने विस्तृत कर दिया। पर इसका अलंकारत्व संदिग्ध ही है।

(क) दण्डी के अनुरूप अलंकारों की तुलनात्मक तालिका

केशव	चिंतामणि	मतिराम	कुलपति	देव	सोमनाथ	दास	प्रतापसाहि	पद० भ०
विभावना	+	+	+	+	+	+	+	+
आक्षेप	×	×		+				
अन्योक्ति	अप्रस्तुतप्र०	अप्र०	अप्र०		अप्र०	अप्र०	अप्र०	[illegible]
सहोक्ति	+	+	+	+	+	+	+	
यमक	+	×	+	+	+	+	+	

१ दण्डी ने इसका नाम अप्रस्तुतप्रशंसा दिया है।

२ साहित्यदर्पण [illegible]।६६६।

केशव	चिंतामणि	मतिराम	कुलपति	देव	सोमनाथ	दास	प्रतापसाहि	पद्माकर
रसवत	×	×	×	+	×	+	+	+
ऊर्ज	×	×	×	+	×	+	×	×
समाहित	×	×	×	+	×	+	×	+
प्रहेलिका								
उपमा	+	+	+	+	+	+	+	+

उपर्युक्त तालिका से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन रसवत् ऊर्जस्वी और समाहित अलंकारों को अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण नहीं किया। केवल देव पर केशव का ऋण माना जा सकता है। देव ने केशव के आदर्श पर इन अलंकारों का भी निरूपण किया है। भावविलास में अलंकारों की संख्या भी ३६ है और सभी अलंकार कविप्रिया के विशिष्टालंकारों के समकक्ष हैं। पर शब्दरसायन में देव को भी संख्या वृद्धि का मोह हुआ और उक्त ३६ अलंकारों के अतिरिक्त ४५ अलंकारों का और समावेश कर दिया। जसवन्तसिंह जैसे अलंकारवादी आचार्य ने भी रसवदादि अलंकारों को छोड़ दिया। इस प्रकार शुद्ध अलंकार-साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से केशव के परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण नहीं किया। प्रतापसाहि ने भी रसवत् अलंकार का ग्रहण किया है। साथ ही एक प्रेयस्वत अलंकार भी इन्होंने माना है जो प्राचीन अलंकारवादियों के अनुसार ही है। भिखारीदास ने भी इसे 'रसवतादिक सहित' कहकर रसवत् अलंकार को अपने अलंकारों में सम्मिलित किया है।[1]

(ख) दण्डी के प्राय अनुरूप अलंकारों की तुलनात्मक तालिका

केशव	चिंतामणि	मतिराम	कुलपति	देव	सोमनाथ	दास	प्रतापसाहि	पद्माकर
१	२	३	४	५	६	७	८	९
स्वभावोक्ति	+	×	+	+	+	+	+	+
युक्त	×	×	×	×	×	×	×	×
विरोध	+	×	×	+	×	+	×	
उत्प्रेक्षा	+	+	+	+	+	+	×	+
आक्षेप	+	+	+	+	+	+	×	+
श्लेष	+	+	+	+	+	+	×	+
रूपक	+	+	+	+	+	+	+	+
व्यतिरेक	+	+	+	+	+	+	×	+
अपह्नुति	+	+	+	+	+	+	+	+
हेतु	×	+	×	+	+	+	×	+
सूक्ष्म	+	+	×	+	+	+	—	+

[1] रसवदादि अलंकार, जिनकी संख्या इन्होंने न एक माना है।

१	२	३	४	५	६	७	८	९
लेश	+	×	×	+	+	+	+	+
व्याजस्तुति	×	+	+	+	+	+	+	+
व्याजनिन्दा	×	+	×	×	+	×	+	+
चित्र	+	+	+	+	+	+	×	+

योग १५ ११ ११ ९ १३ १३ १३ ७ १४

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि अधिकांश परवर्ती आचार्यों से केशव का साम्य है। सबसे अधिक साम्य देव सोमनाथ और दास से है। देव ने तो निश्चित रूप से केशव का अनुकरण किया है। केशव के मूल स्रोत प्राचीन आचार्यों का भी देव ने उल्लेख किया है।[1] इसी (भामह दण्डी केशव) परम्परा में देव आते हैं। दास ने अलंकारों की सबसे अधिक संख्या (१०८) मानी है। अतः विषय विस्तार में उनके सामने सभी संस्कृत आचार्यों तथा अपने से पूर्व के हिन्दी आचार्यों की पद्धतियाँ रही होंगी। इसीलिए जहाँ रसवदादि अलंकारों की स्वीकृति न दे के केशव के सम्मुख रख लिया था वहाँ उक्त तालिका में उनकी केशव से अधिक समानता स्पष्ट हो रही है। सोमनाथ ने भी अलंकार प्रकरण का विस्तार किया है। इन्होंने भी १०८ अलंकारों का निरूपण किया है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देव तो केशव के परम्परा के अनुसार ऋणी हैं और सोमनाथ और दास ने अपनी विस्तार प्रियता के कारण केशव की पद्धति या उनके स्रोतों से सामग्री ली होगी। युक्त अलंकार को किसी भी आचार्य ने ग्रहण नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि इस अलंकार का लक्षण उन्हीं के स्वभावोक्ति से मिल जाता है।

युक्त — जैसो जाको रूप बल कहिये ताही रूप।
ताको कविकुल युक्त कहि, बरणत विविध सरूप॥[2]

स्वभावोक्ति — जाको जैसो रूप गुण कहिये ताही साज।
तासों जानि स्वभाव सब कहि बरणत कविराज॥

अतः इसका पृथक् रूप से निरूपण करना अनावश्यक हो जाता है। परवर्ती आचार्यों ने सम्भवतः इसीलिए इसका ग्रहण नहीं किया।

(ग) दण्डी से भिन्न अलंकारों की तुलनात्मक तालिका

केशव	चिंतामणि	मतिराम	कुलपति	देव	सोमनाथ	प्रतापसाहि	पद्माकर		दास
क्रम	यथासंख्य	यथा०	यथा०	+	एकावली		यथा०	एका०	यथा०
पर्यायोक्ति	+	+	+	+	+	+	+		
परिवृत्त	+	+		+	+		+	+	+
प्रेम				+		प्रेयस्वत्	प्रेय०		प्रेय०

1. अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहते हैं—
दई पुरातनि मुनि मतनि में पाय। —भावविलास
2. कवि० १।११

केशव	चिन्तामणि	मतिराम	कुलपति	देव	सोमनाथ	प्रतापसाहि	पद्माकर	दास
अर्थान्तरन्यास	+	+	+	+	+		+	+
विशेषोक्ति	+	+	+	+	+		+	+
दीपक	+	+	+	+	+	+	+	+
निदर्शना	+	+	+	+	+		+	+

इस तालिका का एक तो निष्कर्ष यह है कि केशव द्वारा निर्दिष्ट क्रम और प्रेम अलंकार परवर्ती आचार्यों ने छोड ही दिए। केवल देव ने केशव की भांति इनका भी निरूपण किया है। शेष अलंकारों का निरूपण सभी आचार्यों ने प्राय किया है। पर प्रधानतया देव को ही स्पष्टत प्रमाणित किया जा सकता है। जहा केशव ने दण्डी की पद्धति से पृथक निरूपण किया है वहा परवर्ती आचार्यों से उनका सबसे अधिक साम्य परिलक्षित होता है। (क) और (ख) तालिकाओं में साम्य इस प्रकार सुनिश्चित और नियमित नहीं है। इस सूची में से क्रम अलंकार को मम्मट रुय्यक विश्वनाथ के एकावली के समकक्ष माना जा सकता है। केशव के क्रम का उदाहरण इनके उदाहरण से मिल जाता है। भामह दण्डी मम्मट के यथासंख्य को वामन ने क्रम नाम से निरूपित किया है।[1] प्रेम भामह और दण्डी का प्रेयस ही है। इसका उल्लेख पहली तालिका के साथ हो चुका है। प्रतापसाहि भिखारीदास देव तथा पद्माकर ने इस नाम से इसका निरूपण किया है।

(घ) नवीन अलंकारों की तुलनात्मक तालिका

केशव गणना	चिन्तामणि	मतिराम	कुलपति	देव	सोमनाथ	दास	प्रतापसाहि	पद्माकर
वक्रोक्ति	×	×	×	+	+	+		+
अधिकरणोक्ति	असगति	अस०	अस०	अस०	अस०	अस०	अस०	अस०
अमित								
विपरीत								
सुसिद्ध								
प्रसिद्ध								
विशेष	+	+	+	+	+	+		+

इस तालिका में स्पष्ट होता है कि केवल वक्रोक्ति और विशेष ही परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण किए हैं। इनकी परम्परा केशव से काफी पुरानी है। अन्य अलंकारों में अधिकरणोक्ति को असंगति के समकक्ष रखा जा सकता है।[2] यदि लक्षण को

[1] उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्ध क्रम । काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
केशव का लक्षण और हि के बीज प्रगट औरहि को गुण दोष। कविप्रिया १३।८
[2] मम्मट—भिन्नदेशतयात्यन्त कार्यकारणभूतयो ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्याति सा स्यादसंगति ॥ काव्यप्रकाश असंगति लक्षण
रुय्यक—कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे असंगति । अलंकारसूत्र, असंगति लक्षण

लकर तुलना की जाय तो असगति का निरूपण सभी परवर्ती आचार्यों ने किया है। पर व्यधिकरणोक्ति नाम किसी ने भी ग्रहण नहीं किया। यह भी ज्ञात नहीं होता कि केशव ने इस नाम को किस स्रोत से ग्रहण किया। जहाँ तक 'गणना' का प्रश्न है, इसे भी सस्कृत के किसी आचार्य ने अलकार रूप में स्वीकार नही किया। वास्तव में यह विशिष्टालकार के रूप में न रहकर वस्तु वर्णन सा बन गया है। इसमें प्रत्येक सख्या से सूचित विशिष्ट नामावली ही गिनाई गई है। अत परवर्ती कवियो द्वारा इसको भी ग्रहण करना कठिन था। केशव के अमित अलकार का स्रोत भी अज्ञात ही है। सस्कृत में इसकी परम्परा के अभाव के कारण परवर्ती आचार्यों ने इसे भी ग्रहण नही किया। सुसिद्ध प्रसिद्ध और विपरीत अलकारो की परम्परा भी सस्कृत के आचार्यों में नही मिलती। परवर्ती आचार्यों ने भी इनका निरूपण नहीं किया। इस प्रकार केशव के द्वारा निर्दिष्ट नितात नवीन अलकारो को किसी भी परवर्ती आचार्य ने ग्रहण नही किया।

इस विवेचन में ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं केशव के रसवदादि अलकारो को अधिकाश परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नही किया। इसका कारण यह है कि रस भावादि, रस ध्वनि-वादियो के अनुसार अलकार्य हैं अलकार नहीं। रीतिकाल के अधिकाश आचार्य इनकी विचारधारा से प्रभावित रहे। साथ ही रस क्रिया में बाधक समझा जाने वाला प्रहेलिका अलकार भी किसी को मान्य नहीं हुआ। जनराज ने अवश्य ही अपने कवितारसविनोद के बाइसवें विनोद में प्रहेलिका का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार अन्य छोटे मोटे अज्ञात आचार्यों ने भी इसको ग्रहण किया हो तो आश्चर्य नही।[1] क्रम और युक्त का समाहार क्रमश एकावली या यथासख्य तथा स्वभावोक्ति में हो जाता है। इसलिए परवर्ती आचार्यों ने इनका पृथक निरूपण करना अनावश्यक समझा। आशिष का सदिग्ध अलकारत्व इसकी स्वीकृति में बाधक हुआ। केशव ने जिन अलकारो की मौलिक उद्भावना की उनमें से व्यधिकरणोक्ति अमित विपरीत और विक्षेप तो नाम भेद से सस्कृत ग्रथो में मिल जाते हैं। जैसे व्यधिकरणोक्ति का समाहार असगति में हो जाता है। गणना म अलकारत्व की अपेक्षा वस्तु ही विशेष है। सुसिद्ध प्रसिद्ध दो नवीन अलकार हैं। पर सस्कृत में इनकी परम्परा नहीं मिलती। इसीलिए परवर्ती आचार्यों को यह ग्राह्य नहीं हुए।

अलकार निरूपण की पद्धति

२ अलकारों का वर्गीकरण

केशव ने सभी अलकारो को पहले सामान्य और विशिष्ट वर्गों में विभाजित किया है। विशिष्टालकारों को उन्होंने शब्दालकार और अर्थालकार के रूप में विभाजित नहीं किया। प्रसिद्ध परवर्ती आचार्यों ने सामान्य विशिष्ट वर्गीकरण को स्वीकार नहीं

विश्वनाथ—कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसगति । सा हरस्य..., आश्चर्यमति सपदा।

1 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग पृ० ३६५

किया। उनमें से कुछ ने शब्दालंकार अर्थालंकार वाला द्विविध वर्गीकरण किया और कुछ ने उभयालंकार जोडकर त्रिसूत्री विभाजन किया है। उभयविध वर्गीकरण करने वाले आचार्यों में चिंतामणि सोमनाथ और प्रतापसाहि आते हैं। कुलपति मिश्र ने यह द्विविध वर्गीकरण करके पुनरुक्तवदाभास को शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) के अंतर्गत रखा है।[1] यह पद्धति साहित्यदर्पण से मिलती है। पद्माकर ने पद्माभरण में त्रिसूत्री ही वर्गीकरण रखा है पर एक भिन्न प्रकार से। अर्थालंकार प्रकरण पचदशालंकार प्रकरण तथा संसृष्टि संकर प्रकरण। अर्थालंकार प्रकरण में केशव की भांति शब्द और अर्थ से संबंधित एक मिली जुली सूची दी है। दास ने शब्द और अर्थ के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया है। पर पीछे अर्थालंकारों को १२ वर्गों में विभाजित किया है। केशव की भांति मिली जुली सूचियां मतिराम ने ललितललाम में तथा देव ने भाव विलास में दी है। इस प्रकार केशव की परम्परा का अनुसरण करने वाले कुछ परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया।

२ सामान्य और विशिष्ट अलंकार

सामान्यालंकार के भेद को उक्त प्रमुख आचार्यों ने मान्यता प्रदान नहीं की। पर कुछ आचार्यों ने कविप्रिया से प्रेरणा लेकर इस भेद को भी स्वीकार किया है। पदुमनदास ने काव्यमंजरी के चौथे अध्याय का नाम वर्णरत्नमाला यालंकारवर्णन रखा है। यह स्पष्ट दिखता है कि यह नाम इन्होंने केशव की कविप्रिया से लिया है।[2] इस अध्याय की सामग्री भी कविप्रिया से मिलती जुलती है। अतः पदुमनदास केशव का प्रदत्त ही ऋणी है। हो सकता है रीतिकालीन ग्रंथों की भावी शोध केशव के प्रभाव को और भी स्पष्ट कर दे।

३ कुछ अलंकारों के उपभेद विस्तार

केशव ने कुछ अलंकारों के अवांतर भेद भी प्रस्तुत किए हैं। विभावना के प्रथम और द्वितीय भेद केशव ने दण्डी और भोज के समान दिए हैं। हेतु के भी केशव ने दो भेद माने हैं अभाव हेतु और और सभाव हेतु।[3] केशव के अनुसार आक्षेप के १२ भेद हैं। इसमें विश्वनाथ में कविप्रिया का दमदा प्रभाव पड़ गया है। गणना में एक से दस तक की संख्या में सम्बन्धित वस्तुओं को गिनाया गया है। श्लिष्टालंकार को भी केशव ने अधिक विस्तार किया है। लेप के केशव ने सात

1 अथ शब्दार्थालंकार पुनरुक्तवदाभास लक्षण—
भिन्न पद पुनरुक्त सो [illegible] पुनरुक्त न होय।
सो पुनरुक्तवदाभास है शब्द अर्थ ते होय ॥ रसरहस्य ७ ४२

2 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ ६५

3 हेतु होत है भाँति [illegible] बरनत सब कविराज।
[illegible] प्रथम [illegible] बरनि सभाव [illegible] ॥ कविप्रिया ६।१४

भेद किए हैं अभिन्नपद भिन्नपद, अभिन्नक्रिया भिन्नक्रिया विरुद्धकर्मा नियम और विरोधी। रसवत् के अन्तर्गत नव रस आ जाते हैं। अर्थान्तरन्यास के केशव ने चार भेद किए हैं। युक्त अयुक्त अयुक्तायुक्त (अयुक्त-युक्त) और युक्त अयुक्त।[1] व्यतिरेक केशव के अनुसार दो प्रकार का होता है उक्ति व्यतिरेक और सहज व्यतिरेक। उक्ति के इन्होंने वक्रोक्ति अन्योक्ति व्यधिकरणोक्ति विशेषोक्ति और सहोक्ति पांच भेद माने हैं।[2] केशव ने रूपक के तीन ही भेद माने हैं। अद्भुत रूपक विरुद्ध रूपक रूपक रूपक। 'दीपक' के दो भेद मणि तथा मालादीपक का निरूपण केशव ने किया है। वस उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि दीपक के अनेक भेद सम्भव हैं।[3] उपमा का विस्तार समस्त १४ वें प्रभाव को आच्छादित कर रहा है। केशव ने इसके २२ भेद किए हैं संशयोपमा हेतूपमा अभूतोपमा अद्भुतोपमा विक्रियोपमा, मोहोपमा नियमोपमा अतिशयोपमा उत्प्रेक्षितोपमा श्लेषोपमा धर्मोपमा निर्णयोपमा असम्भावितोपमा विरोधोपमा मालोपमा दूषणोपमा भूषणोपमा गुणाधिकोपमा न्यूनाधिकोपमा परस्परोपमा, सकीर्णोपमा तथा विपरीतोपमा। पन्द्रहवें प्रभाव में उन्होंने यमक का विस्तार किया है। पहले इसके अव्यपेत और सव्यपेत भेद किए गए हैं। फिर इनके रूपान्तर दिए गए हैं। आगे सुखकर दुखकर दो भेद मिलते हैं। सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार का विस्तार है। केशव ने इस अलंकार के पूर्व-युगीन विस्तार का परिचय दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव ने आक्षेप इनके उपमा यमक और चित्र के विस्तार में विशेष रुचि ली है। आक्षेप का भी पर्याप्त विस्तार किया गया है।

परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने इन विस्तार सरणियों को ग्रहण किया है और कुछ ने नहीं। चिन्तामणि ने उपमा का विस्तार केशव के समान नहीं किया। इसी प्रकार यमक का विस्तार भी इन्होंने प्रायः छोड़ ही दिया है। चित्रालंकार के सम्बन्ध में चिन्तामणि ने भी केशव की भांति उक्ति की है—

चित्रालंकृत बहुत विधि बरनत सुकवि अनादि।

चित्रालंकारों की तुलनात्मक तालिका अन्त में दी गई है। चिन्तामणि ने केशव की भांति उपमा का भी विस्तार नहीं किया। उपमा के श्रौती और आर्थी तथा इनके पूर्णोपमा और लुप्तोपमा दो ही भेद कर दिए गए हैं। इस प्रकार उपमा का विस्तार भी इन्होंने विशेष नहीं किया। मालोपमा का दोनों ही आचार्यों ने निरूपण किया है। पर चिन्तामणि ने उसे पृथक् ... माना है। केशव ने दीपक के दो भेद मणि और

१ कविप्रिया ११।२७
२ वही ११वां प्रभाव
३ दीपक रूप अनेक हैं मैं बरनों है रूप।
मणि ... मिलि ... दीपक भव कवि भूप ॥ कवि० २। ३
दण्डी ने इसके ?? भेद किए हैं।
४ कहत भिन्न ... में ... पद ... ।
... कहौं, बरनत हौं ... भिन्न ॥ २६॥

माला किए हैं। चिंतामणि ने इन दोनों को दो पृथक अलंकारों के रूप में ग्रहण किया है। अर्थान्तरन्यास के ४ भेद चिंतामणि ने छोड़ दिए हैं।

मतिराम ने यमक के विस्तार का ही नहीं यमक को ही छोड़ दिया है। इन्होंने चित्र के केवल दो ही भेद माने हैं।[1] मतिराम ने उपमा के विस्तार को छोड़ दिया है और इसके पूर्णोपमा और लुप्तोपमा दो भेद किए हैं।[2] मालोपमा को इन्होंने पृथक अलंकार माना है। इन्होंने रूपक को केशव से अधिक विस्तार किया है। केशव से भिन्न मतिराम ने अपह्नुति के और उत्प्रेक्षा के निदर्शना के हेतु तथा विभावना के अधिक भेद प्रभेद किए हैं। केशव द्वारा निर्दिष्ट व्यतिरेक श्लेष आक्षेप दीपक अर्थान्तरन्यास के भेद प्रभेद और विस्तार को मतिराम ने छोड़ दिया है। साथ ही मालादीपक को केशव ने दीपक का उपभेद माना है पर मतिराम ने मणिदीपक को छोड़ते हुए माला को अलग अलंकार माना है। केशव ने सहोक्ति को उक्ति का भेद माना है मतिराम ने इसे पृथक अलंकार माना है। कुछ अलंकारों के निरूपण और परिभाषा में दोनों आचार्यों में साम्य भी मिलता है पर इसके आधार पर प्रत्यक्ष प्रभाव सम्बन्धी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

कुलपति मिश्र ने केशव के यमक चित्र आक्षेप के अनेक भेदों और विस्तार को छोड़ दिया है। वक्रोक्ति के भेद कुलपति ने किए हैं केशव ने नहीं। अनुप्रास के आठ भेद केशव से भिन्न हैं। केशव और कुलपति मिश्र तथा केशव में इन अलंकारों का लक्षण साम्य है स्वभावोक्ति विभावना आक्षेप विरोधाभास व्यतिरेक सूक्ष्म अपह्नुति विनोक्ति व्याजस्तुति तथा रूपक।[3] केशव के उपमा के विस्तार को चिंतामणि और मतिराम की भांति कुलपति ने भी छोड़ दिया है। इन्होंने केवल श्रौती आर्थी पूर्णा तथा लुप्ता भेदों का उल्लेख किया है। मालोपमा को कुलपति ने भी पृथक अलंकार माना है। कुलपति के भ्रान्तिमान सन्देह और अनन्वय (अनवय) का अन्तर्भाव केशव की मोहोपमा संशयोपमा और अतिशयोपमा में हो जाता है। दोनों के लक्षण भी समान हैं। केशव के रूपक भेदों के स्थान पर इन्होंने सांग निरंग तथा अन्य प्रकार भेद किए हैं। केशव से अधिक कुलपति ने व्यतिरेक के २४ भेदों का उल्लेख किया है। मालादीपक को इन्होंने भी स्वतन्त्र अलंकार माना है। कुलपति द्वारा निर्दिष्ट अर्थान्तरन्यास के भेद केशव से भिन्न हैं।

देव ने उपमा का विस्तार तो अधिक किया है पर यह भेद विस्तार केशव की शैली पर नहीं है। केवल मालोपमा को देव ने उपमा का ही एक भेद माना है स्वतन्त्र नहीं। पर केशव के उपमा भेदों में देव ने चार भेदों को ग्रहण किया है संकीर्णोपमा नियमोपमा मालोपमा तथा अभूतोपमा। जहाँ तक लक्षण और उदाहरणों का प्रश्न

१ ललितललाम छन्द ४ ३५३

२ वही ४३ ४६

३ इनके उदाहरणों के लिए—किरणचन्द्र शर्मा कुलपति मिश्र जीवनी कला और कृतित्व पृ० ४६१ ६२

है दोनों के नियमोपमा तथा असमवोपमा में साम्य है और मालोपमा और सकीर्णोपमा परस्पर नहीं मिलते। देव की उपमेयोपमा तथा संदेहोपमा केशव की भ्रमन परस्परोपमा तथा संशयोपमा ही हैं। देव का अन्वय अलंकार केशव की अतिशयोपमा ही है। देव के भ्रम अलंकार का केशव का मोहोपमा में बहुत कुछ साम्य है। केशव ने संदेह को तो छोड़ दिया है और संशय को उपमा में सम्मिलित किया है। देव ने केशवोक्त रूपक के भेदों को छोड़कर अपने निजी भेदों का निरूपण किया है। वक्रोक्ति और अन्योक्ति को देव ने पृथक् अलंकार माना है। केशव ने इनका निरूपण उक्ति के भेदों के रूप में किया है। देव ने दीपक के भेद प्रभेद को छोड़ दिया है। व्यतिरेक, आक्षेप दीपक, अर्थान्तरन्यास, हेतु के विस्तार भेद को देव ने छोड़ दिया है। निदर्शना के भेद देव ने किए हैं केशव ने नहीं। शब्दालंकारों में दोनों ही यमक और चित्र को मानते हैं। पर देव ने यमक के भेद विस्तार को छोड़ दिया है। बस सामान्यतः देव ने यमक के प्रमुख भेदों की स्थिति मानी है।[1] चित्र अलंकारों के सम्बन्ध में आगे विचार किया गया है। दोनों के लक्षणों में भी कुछ साम्य मिलता है।[2]

दास ने मालोपमा को पृथक् अलंकार न मान कर उपमा के अन्तर्गत ही माना है। दोनों आचार्यों का उपमा लक्षण प्रायः समान है पर भेद प्रभेद दोनों के भिन्न हैं। केशव दास ने भी उपमा का अत्यधिक विस्तार किया है। दास ने मालोपमा के भी चार भेद किए हैं। उपमा के भेदों में नाम भेद और लक्षण साम्य भी मिलता है। ये भेद इस प्रकार हैं केशव अतिशयोपमा दास अनन्वय केशव परस्परोपमा दास उपमेयोपमा केशव संशयोपमा दास संदेह केशव मोहोपमा दास भ्रम। केशव की दूषणोपमा का दास के प्रतीप से साम्य है। केशव द्वारा निर्दिष्ट उपमा के शेष भेदों का दास के अलंकारों से साम्य नहीं है। उत्प्रेक्षा का जितना विस्तार दास ने किया था उतना केशव ने नहीं और न केशव ने अपह्नुति के भेद प्रभेद ही किए हैं। व्यतिरेक के केशव ने दो ही भेद किए हैं और दास ने चार। रूपक का विस्तार भी दोनों आचार्यों का नहीं मिलता।[3] अन्य अलंकारों के आधार पर कुछ और भेद किए हैं। उनमें एक रूपक रूपक भी है। यमक निरूपण में दास और केशव में पर्याप्त साम्य है। दास ने केवल इसका उदाहरण ही दिया है—पर केशव के लक्षण इस पर घटित होते हैं। इस प्रकार अन्य अलंकारों पर आधारित रूपक के भेदोपभेद की प्रेरणा सम्भवतः दास को केशव से मिली है। सम्भव है इन्हें यहाँ सामग्री दण्डी से और प्रेरणा केशव से ली है। भिखारीदास के चतुर्थ वर्ग के अलंकारों में से केवल विषम केशव से मिलता है। पर दोनों का लक्षण भिन्न है। दोनों का निरूपित 'आक्षेप' का लक्षण भी भिन्न है। केशव ने इसका विस्तार दास से कहीं अधिक किया है। अन्योक्ति का लक्षण दोनों

1. [illegible] गनक करि यमक के बरनत भेद अनेक। शब्दरसायन

2. जिन अलंकारों के लक्षणों में साम्य मिलता है वे ये हैं—स्वभावोक्ति व्यतिरेक उत्प्रेक्षा, अपह्नुति रूपक व्याजस्तुति, निदास्तुति विरोधाभास रूपक सूक्ष्म समाहित आदि।

3. दास ने निरंग, परम्परित परिणाम तथा समस्त विषय माने हैं। केशव ने तीन ही भेद माने हैं—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक रूपक।

आचार्यों का मिलता है।[1] केशव की पर्यायोक्ति दास के प्रथम प्रहर्षण से मिलती है। दास ने विरुद्ध के जो भेद किए हैं केशव ने इनको छोड़ दिया है। केशव ने विभावना के दो भेद माने हैं दास ने छ। लेश अलकार का लक्षण दोनो ने भिन्न दिया है। परिवृत्त अलकारो के लक्षण तो दोनो के भिन्न हैं पर दास के विषादन अलकार का लक्षण केशव के परिवृत्त के लक्षण से मिलता है

केशव का परिवृत्त—

> जहा करत कछु और ही उपज परति कछु और।
> तासों परिवृत्त जानिये केशव कवि सिरमौर॥

दास का विषादन—

> सो विषाद चित चाहते उलटौ कछु ह्वै जाइ।[2]

सहोक्ति का लक्षण भी परस्पर नही मिलता। केशव द्वारा निर्दिष्ट हेतु के भेदो को दास ने छोड़ दिया है। केशव ने दीपक के दो ही भेद निरूपित किए हैं। दास ने मणिदीपक को तो छोड़ दिया है पर इन्होने दीपक के पाच भेद प्रथावृत्ति पदार्थावृत्ति देहरी न्यायरक और मालादीपक किए हैं। केशव ने कहा था कि दीपक के अनेक भेद हो सकते हैं। हो सकता है कि इनके विस्तार की प्रेरणा केशव से ही इनको मिली हो। शब्दालकारो का जो विस्तार दास ने किया है वह केशव ने नहीं किया था।

उक्त विवेचन से सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केशव ने अलकारो का जो भेद प्रभेदमय विस्तार किया था वह अधिकाश परवर्ती आचार्यों ने नही अपनाया। केशव ने सबसे अधिक विस्तार इन अलकारो का किया था आक्षेप (पूरा दसवा प्रभाव) श्लेष (७ भेद) उपमा (पूरा १४ वा प्रभाव २२ भेद) यमक (पूरा १८ वा प्रभाव) तथा चित्रालकार (पूरा १६ वा प्रभाव)। परवर्ती आचार्यों ने इनके भेद विस्तार मे रुचि नही ली। उपमा का विस्तार कम होने का कारण यह भी रहा कि केशव ने जिन अलकारो को उपमा भेद माना था उनको परवर्तियो ने स्वतन्त्र अलकार बना दिया—

केशव	परवर्ती आचार्य
मोहोपमा	भ्रान्ति या भ्रम
सशयोपमा	सन्देह
अतिशयोपमा	अनन्वय
मालोपमा	मालोपमा स्वतन्त्र अलकार[5]

[1] केशव—करत कछु और ही उपज परति कछु और (?)। क प्रि १।६। दास—[illegible] [illegible] [illegible] सिर डारि। काव्यनिर्णय

[2] वि [illegible] १३ ३६

[3] काव्यनिर्णय

[4] इसको कुन्तक ने [illegible] दास ने स्वतन्त्र अलकार स्वीकार किया।

[5] भेद इनका उल्लेख हो चुका है सुक गोभना [illegible] विनोपमा मालोपमा प्रमभरोपमा।

देव और दास ने केशव के परस्परोपमा भेद का नाम ही बदल दिया—उपमेयोपमा। देव ने केशव के चार उपमा भेदों को अवश्य अपनाया[1] चाहे लक्षणों में पूर्ण साम्य घटित न हुआ हो। केशव ने जिन अन्योक्ति और वक्रोक्ति को उक्ति का भेद माना था वे भी आगे के आचार्यों ने स्वतन्त्र अलंकार बना लिए। मालादीपक केशव की भाँति दीपक का भेद न मानकर पीछे के आचार्यों ने स्वतन्त्र अलंकार बना लिया। इसमें केशव का विस्तार कुछ प्रभावित हुआ।

इनके अतिरिक्त कुछ अलंकारों का केशव ने जिस पद्धति से विस्तार किया था उन पद्धतियों को छोड़ दिया गया। जैसे रूपक के नवीन भेद प्रभेद परवर्ती आचार्यों ने किए। इसी प्रकार विभावना, यमक, श्लेष आदि का विस्तार भी भिन्न प्रकार से होने लगा। इस प्रकार केशव के विस्तार मार्ग को भी ग्रहण नहीं किया।[2]

विस्तार भेद की दिशा भी बदल गई। आगे के आचार्यों ने रूपक, अपह्नुति, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, निदर्शना आदि के भेद विस्तार में विशेष रुचि ली। चित्रालंकार' के क्षेत्र में भी रुचि घटती गई। फिर भी इसके क्षेत्र पर केशव का प्रभाव अवश्य रहा। आगे इस पर विचार किया जा रहा है।

चित्रालंकार—कविशिक्षा का भाग

केशव ने चित्रालंकार की न स्तुति की और न भर्त्सना की? काव्य में इसके स्थान के विषय में वे मौन रहे। साथ ही इनसे युक्त काव्य की कोटि के विषय में भी उन्होंने कुछ नहीं किया। पर इस मौन का तात्पर्य समर्थन नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंग्य रहित को चित्रकाव्य की संज्ञा दी गई है।[3] मम्मट, अप्पय दीक्षित आदि कुछ आचार्यों ने चित्रकाव्य को शब्दालंकार और अर्थालंकार का पर्याय माना। आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को शब्द और अर्थ के वैचित्र्य पर आधारित कृति कहा था। साथ ही उन्होंने चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा है।[5] इस कथन का परिपालन पीछे भी होता रहा। केशव के इस सम्बन्ध में मौन की यही पृष्ठभूमि है। इनका विरोध करते हुए वे अलंकारकाव्य (चित्रकाव्य) का समर्थन भी न कर सके

१ दास ने इसे उपमा का ही भेद माना। पर कुछ आचार्यों ने इसे पृथक कर दिया।

२ सम्भवतः इसका कारण है यमक, श्लेष और चित्र का विस्तार परवर्ती आचार्यों ने इसलिए अधिक नहीं किया कि इनके नियोजन में चित्रत्व अधिक उभर कर आता है। फलतः चमत्कृति की ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है और रसात्मकता गौण हो जाती है। कुलपति मिश्र ने इस बात को स्पष्ट भी कर दिया है—

जाके चित्र यमक श्लेष में रस को नाहिं हुलास।
दोनों याके व्यंग्य ही बरनै मत प्रकास॥ रसरहस्य ७।४४

केशव के परवर्ती आचार्यों पर रस और ध्वनि सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव है।

३ ध्वन्यालोक ३।८

४ काव्यप्रकाश १।५

५ ध्वन्यालोक ३।४२ (वृत्तिभाग)

६ वही ३।४३ (वृत्ति)

और अलंकारवादियों से सबद्ध होते हुए वे इसका खण्डन भी न कर सके। चिंतामणि ने केशव के मौन के द्वितीय पक्ष को मुखर बनाते हुए चित्रकाव्य को अधम कहा—

शब्द चित्र इत ए सब, अधम कवित पहिचानि।
जेते हैं ध्वनि हीन तें अथ चित्र सो मानि॥[1]

इसमें आनन्दवर्धन के मत की गंज है। कुलपति ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है—

शब्द अर्थ है चित्र जह व्यंग्य न, अवर सुनाई।

कुलपति ने शब्दालंकारों को शब्दचित्र और अर्थालंकारों को अर्थचित्र कहा है।[2] दास ने भी चित्रकाव्य को अवर काव्य नाम दिया है—

अवर हेतु हि कहते अलंकार निरबाहु।
कवि पंडित गनि लेत हैं अवर काव्य में ताहु॥[3]

इस प्रकार चित्रकाव्य का खण्डन रीतिकाल के प्रमुख आचार्यों ने किया और ध्वनिवादियों के मत का समर्थन किया। पर इन्होंने चित्र अलंकार का निरूपण भी किया है। केशव ने इसका निरूपण यदि विस्तार से किया है तो भिखारीदास ने भी इसका कम विस्तार नहीं किया।

आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को अधम काव्य भी क्यों स्वीकार किया? क्यों नहीं कह दिया कि यह काव्य ही नहीं है। इसका कारण हो सकता है कि यथार्थ प्रतिभा से हीन कवियों के लिए अभ्यास का ही मार्ग बच रहता है। चित्रकाव्य अभ्यास साध्य है। उनको ध्यान में रख कर ही सम्भवतः इस काव्य को अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया। परवर्ती आचार्यों ने कविशिक्षा की दृष्टि से चित्र का निरूपण किया। केशव के सम्मुख भी कविशिक्षा आचार्य होने के कारण यही अभ्यासार्थी कवि वर्ग का आग्रह रहा होगा। परवर्ती आचार्यों ने अलंकार विषय की पूर्णता के लिए ऐसी परम्परा को ग्रहण किया।

केशव से पूर्व ही कविशिक्षा के इस भाग का पर्याप्त विकास हो चुका था।[4] इस विस्तार को केशव ने समुद्र के समान बताया है। इसमें अच्छे अच्छे गोते खाते हैं। केशव अत्यन्त विनय के साथ कहते हैं कि मैं उस समुद्र की एक बूंद का ही वर्णन करता हूं—

केशव चित्र समुद्र में बूड़त परम विचित्र।
ताके बूंदक के कण बरनत हौं सुनि मित्र॥[5]

सोलहवें प्रकाश में केशव ने चित्रालंकारों के सम्बन्ध में सामान्य नियम सूचनाएं दी हैं। चित्रालंकारों में त्रिभंग, अनुस्वार, यतिभंग, रसहीनता, बधिर, अंध तथा गण अगण

१ कविकुलकल्पतरु। ६
२ रसरहस्य ७।४
३ वही ७।७
४ [illegible] [illegible]
५ क[illegible] १६।१ संस्कृत के काव्यशास्त्र में इसका विकास होता रहा। [illegible] [illegible] तक आ पहुंची है।

का विचार नहीं किया जाता।[1] कुछ ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी नियम भी ऐसे हैं। इनमें दीर्घ अक्षर को लघु 'ब' को 'व या व' को व तथा ज को 'य या य को ज माना जा सकता है।[2] फिर भी दोषादि से बचने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए।[3] केशव के परवर्ती आचार्यों ने चित्र अलंकार के विस्तार को स्वीकार किया है।[4] कुलपति मिश्र ने भी इसके पूर्वकालीन विस्तार को स्वीकार किया है।[5] पर स्वयं इस विस्तार से सप्रयास बचे हैं। भिखारीदास ने इसका बहुत विस्तार स्वयं किया है। इन्होंने केशव की भांति चित्रकाव्य के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियमों की सूचना दी है इस पर मौलिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता व-ब तथा ज-य और अनुस्वार के सम्बन्ध में उनके द्वारा निर्दिष्ट नियम केशव के समान ही हैं—

चमत्कार होनाय को इहां दोष कछु नाहिं।
ब व ज य अरनाजानिये चित्रकाव्य मे एक॥
अद्ध चन्द्र को जनि गनो छूट लग विवेक।[6]

डा० नारायणदास खन्ना ने इन नियमों को काशिराज का चित्र चन्द्रिका के आधार पर माना है।[7] पर केशव के नियमों के ये नियम अधिक समीप हैं। अतः केशव का प्रभाव मानना ही अधिक युक्तिसंगत दिखलाई देता है। साथ ही केशव के पश्चात सबसे अधिक विस्तृत चित्र निरूपण भी भिखारीदास ने किया है।

केशव ने चित्रालंकार के ये भेदोपभेद किए हैं निरोष्ठ रचना अमात्रिक रचना (सभी अक्षर अ पर आधारित होते हैं) ग रचना तथा फिर एक एक वर्ण घटते हुए एक अक्षर तक की अक्षर रचना। आधा एकाक्षर प्रतिपदाक्षर युगलपद (दो प्रकार), बहिर्लापिका अन्तर्लापिका गूढोत्तर एकानेकोत्तर गतागत। इनसे अनेक प्रकार के चित्रों की संरचना होती है। इनमें से केशव ने इन चित्रों का वर्णन किया है गोमूत्रिकाचक्र कपाटबन्ध अश्वगति चक्र गतागत चतुष्पदी द्विपदी त्रिपदी चरणगुप्त धनुर्बन्ध, कमलबन्ध सर्वतोभद्र (कामधेनु) पर्वत, खड्ग सर्वतोमुख हरिबन्ध हारबन्ध कमलबन्ध मन्त्रिगति डमरुबन्ध। अधिकांश आचार्यों ने चित्रों का चलता सा निरूपण किया है। चिंतामणि ने खड्गबन्ध कपाटबन्ध कमलबन्ध अश्व-

१ अर्थ ऊर्ध बिन बिन्दु युत यति रसहीन अपार।
चित्र अरु गन अगन को गनिय न लगन विचार॥ कविप्रिया १६।२
२ करत चित्र कवित्त में इनके दोष न होत।
अघर मात्रो ... ... कविप्रिया १६।३
३ ज्यों ना दाग ... त्यों बरना चित्र कवित्त। वही १६।४
४ चिन्तामणि चित्रालंकार बहु विधि बरनत सुकवि सयानि। कविकुलकल्पतरु
५ रसरहस्य इटावा प्रेस इलाहाबाद सुवत् १९५४ वि, पृ ७३ ६, ८ ४० ४१
६ काव्यनिर्णय २१।२
७ चित्र चन्द्रिका के अनुसार अर्द्धचन्द्र अनुस्वार तथा इनसे युक्त अथवा रहित अक्षर एक समान माने जाते हैं। र, ल ड। स, ष श। ब व। ज य। इन वर्णों के शब्द समान गिने जाते हैं। लघु और दीर्घ के उच्चारण का भी दोष नहीं माना जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि दास का मत चित्र चन्द्रिका के आधार पर है।—आचार्य भिखारीदास पृ ३२६

गति गोमूत्रिकाबंध कामधेनु सर्वतोभद्र का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम के अतिरिक्त सभी केशव के समान हैं। चिंतामणि ने केवल उदाहरण प्रस्तुत किए हैं लक्षण नहीं। मतिराम ने भी केशव के चित्र निरूपण से सामग्री ली थी।[1] पर मतिराम ने केशव के समस्त चित्र विस्तार को छोड़ दिया है। इन्होंने केवल दो ही भेदों प्रथम तथा द्वितीय चित्रण के और उदाहरण दिए हैं। इसी प्रकार कुलपति मिश्र ने केवल तीन चित्रों का ही निरूपण किया है खड्गबंध गोमूत्रिकाचित्र और कामधेनु।[2] सोमनाथ ने इस प्रसंग में कुछ अधिक चित्रों को सम्मिलित किया है मित्रगति अश्व गति कपाटबंध निपद हारबंध चक्रबंध गतागति चित्र और चरणगुप्त। ये सभी केशव के समान हैं। केवल मित्रगति इसी नाम से केशव में नहीं मिलता। साथ ही केशव की भांति इन्होंने भी इसके अन्य भेदों की सम्भावना की ओर संकेत किया है

चाह तो और हू होय निर्विवेकी पवीनता सा।

भिखारीदास ने इस चमत्कार का हिन्दी में अभूतपूर्व विस्तार किया। इसमें वे चित्र आकारचित्रों (रेखाचित्रों) गति की क्रीडाओं को सम्मिलित किया जाता था। वाकोवाक्य गूढोत्तर प्रश्नोत्तर जैसे तीन चमत्कार भी इसमें सम्मिलित होगए थे। केशव और दास के सम्मुख सम्भवतः भोज आदि आचार्यों का यह समस्त विस्तार था। केशव की भांति इन्होंने भी इसकी अल्पना नहीं की है। साथ ही केशव की अपेक्षा यह विशेषता इन्होंने की कि इनका वर्गीकरण कर दिया।

१ *प्रश्नोत्तर*

अन्तर्लापिका बहिर्लापिका गुप्तोत्तर व्यस्त समस्त एकानेकोत्तर नागपास व्यस्त समस्त समस्त व्यस्त और शृंखला। इनमें से नागपास व्यस्त समस्त और शृंखला के अतिरिक्त सभी का निरूपण केशव ने भी किया है। इनका चमत्कार प्रश्न और उत्तर की विविध योजनाओं पर निर्भर है।

२ *पाठान्तर चित्र*

इसका चमत्कार वर्णों को लुप्त या परिवर्तित करके पाठ करने में है। केशव का चरणगुप्त इसके अन्तर्गत आ सकता है।

वाणीचित्र

भिखारीदास ने इसके पांच भेद माने हैं निरोष्ठ्य अमत्त निरोष्ठामत्त अजिह्व (एक ही उच्चारण स्थानीय वर्णों का प्रयोग) नियमित वर्ण (केवल एक ही व्यंजन का

१ चित्र में केशव की रचनाओं और लक्षणों में सामान्यतः रामचन्द्रसिंह का प्रवाह उपस्थित पाया है।—हिन्दी में काव्य का कृष्ण इति हास ... भाग पृ ४४६

२ रसिकरसाल ३२ ३४३

३ रसरहस्य पृ ६३ छन्द ४ ६१

प्रयोग) इनमें से निरोष्ठ अमत्त[1] (अमात्रिक) का केशव ने भी निरूपण किया है। युगल-पद एवं अक्षर दास के नियमित वर्ण के समकक्ष हैं।[2] इस प्रकार केशव का विस्तार यहाँ भी अधिक कम नहीं है।

४ लेखनी चित्र

दास ने खग, कमल, कंकण, डमरू, चन्द्र, धनुष, हार, मुरज, छत्र, पर्वत, वृक्ष तथा कपाट।[3] इनमें से कमल, कंकण, डमरू, धनुष, हार, पर्वत तथा कपाट केशव के समान ही हैं।[4] इनके अतिरिक्त दास ने अन्य भेदोपभेदों के उदाहरण भी दिए हैं। जैसे—गतागत, त्रिपदी, मन्त्रिगति, अश्वगति, सर्वतोमुख तथा कामधेनु। ये सभी केशव ने भी दिए हैं। इस प्रकार केशव और दास में चित्रालंकार प्रकरण में पर्याप्त साम्य है।

निष्कर्ष

केशव के समान दास ने भी चित्र का बहुत विस्तार किया है। वस्तुतः केशव की अपेक्षा दास के विस्तार की सीमाएँ दूर तक जाती हैं। पर सम्भवतः दास ने प्रेरणा केशव से ली होगी। सामग्री के लिए केशव और दास दोनों ही भोज के सरस्वती कण्ठाभरण के ऋणी प्रतीत होते हैं। अन्य आचार्यों ने विस्तार तो इतना नहीं किया है। जिन चित्रालंकारों का उल्लेख उन्होंने किया है उनमें से अधिकांश केशव से मिल जाते हैं। मतिराम की निरूपण शैली केशव से अधिक प्रभावित है। देव के चित्रालंकार भी केशव से प्रभावित हैं। देव ने प्रहेलिका को भी इसके अन्तर्गत माना है जब कि केशव ने उसे स्वतन्त्र अलंकार माना है। केशव से भिन्न देव ने भी कुछ और चित्रभेद दिए हैं। केशव की परम्परा-धारा तो यहाँ स्पष्ट है ही।

दोष निरूपण

केशव ने रसिकप्रिया में पाँच दोषों का विवरण दिया है—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान तथा पात्रादुष्ट।[5] इनका तुलनात्मक विवरण पीछे रस प्रकरण में किया जा चुका है। कविप्रिया में कुल मिलाकर अठारह दोष स्वीकृत किए हैं। इनमें से पाँच तो केशव के मौलिक दोष हैं—अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न तथा मृतक।[6] शेष तेरह दोष ये

१ एक स्वर जहँ बरनिये अद्भुत रूप अनन्त।
बरनिय मात्रा रहित जहँ मित्र चित्र अमत्त ॥ क० प्रि० १६।७

२ इसका उदाहरण केशव ने यह दिया है—
केका केका कोक का कोक कोक का काक।
काक कूक कोकी कहीं कूके केका काक ॥ क० प्रि० १६।४२

३ खग कमल कंकन डमरु चन्द्र अरु धनु हार।
मुरज छत्र युग चपक, पर्वत वृक्ष किवार ॥ काव्यनिर्णय २१

४ गूढ़ चित्र, प्रश्नोत्तर चित्र, व्यस्त-समस्त चित्र आदि।

५ रसिकप्रिया १६।१

६ कविप्रिया ३।८

हैं अगत हानरस यति भग न्यथ अपाथ हानक्रम बणकटु पुनरुक्ति, देशविरोध कालविरोध न्यायविरोध तथा आगमविरोध।[1] दोष प्रकरण का भी रीतिकाल में पर्याप्त विकास हुआ। केशव ने सम्भवत दोष सम्बन्धी सामग्री के लिए आचार्य दण्डी और केशव मिश्र से सहायता ली है।[2] दूसरी परम्परा मम्मट विश्वनाथ आदि की भी थी। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि दोनों ही परम्पराओं से सामग्री सचयन किया फिर प्रमुखता इसरी परम्परा की रही है। केशव के रसदोषों को किसी न किसी रूप म परवर्ती आचार्यों म स कुछ न ग्रहण किया।

कुमारमणि नाम्नी न दोष प्रकरण म केशव के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[3] इसस ज्ञात होता है केशव का अ ययन इस दृष्टि म किया जाता था। जगतसिंह न का य दोषों का विस्तार सबस अधिक किया है। इ होन सौ दोषों का उल्लेख किया है—

ये शत दोष मुख्य हैं, इन्हीं के अ तभूत से और दोष जानिबो।

थ नानोक और मम्मट का आधार इन आचार्य न ग्रहण किया है। पर इन्होंन केशव द्वारा निरूपित दोषों का भी उल्लेख किया है। अथ बधिर नगन प्रत्यनीक नीरस विरस दुमधान पाषाद्र विरष (यथ) देशविरोध याय—आगमविरोध तो कविप्रिया और रसिकप्रिया म गृहीत हैं। आचार्य भिखारीदास न भी इस प्रकरण का पर्याप्त विकास किया है। यह तो नहा कहा जा सकता कि इस विस्तार म दास न केशव का प्रदान ग्रहण किया है पर कुछ दोष समान अवश्य हैं। दास और केशव बणकट दोष के नक्षण का भाव समान ही है—

केशव—पढ़त न नीको लागई सो कहिये कटवण। कविप्रिया
दास— पाठन को जो कष्ट लग दास सो श्रतिकट सष्टि। काव्यनिर्णय

पर इस प्रकार की समानताओं स कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है। अन्तत यही कहा जा सकता है कि प्रमुख परवर्ती आचार्यों न मम्मट या चन्द्रालोक का ही सहारा लिया है। कुछ जगतसिंह जस आचार्यों न अपने विस्तार म केशव स भी ऋण लिया है।

कविशिक्षा सामान्यालंकार

केशव न वण्य विषयों तथा उनको भूषित करने वाले उपकरणों को अलकार नाम दे दिया है। प्रथम सामान्य अलकार नाम स अभिहित है। वस्तुत का य म वर्णित होने वाले कुछ सामान्य विषय हैं जिनका ज्ञान अभ्यासार्थी कवियों या बाल-कवियों को आवश्यक होता है। केशव का यह प्रकरण कविशिक्षा के अन्तगत आता है।

१ कविप्रिया ३।१, १७
२ [illegible] हिन्दी म [illegible] पर संस्कृत सा हत्य का प्रभाव
३ [illegible] पृष्ठ [illegible]
४ [illegible] प्रकरण का आधार [illegible] है।
५ [illegible] हिन्दी साहित्य का बृहत् [illegible] पृ ३००

कविप्रिया का उद्देश्य ही कविशिक्षा है। काव्य शास्त्र या अलकार मात्र नहीं। यही केशव के आचार्यत्व का वशिष्ट्य है।[1] परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों ने सामान्या-लकार को बहुधा स्वीकार नहीं किया। पर दो एक आचार्य ऐसे अवश्य हैं जिन्होंने कविशिक्षा सम्बन्धी सामग्री से सवलित सामान्यालकार को माना है।

पदुमनदास ने अपनी काव्यमजरी के चौथे अध्याय का नाम वर्णकरत्न सामान्यालकारवर्णन रखा है। यह नाम निश्चित ही केशव की कविप्रिया से लिया गया है क्योंकि इस प्रकरण में वर्णित सामग्री का संस्कृत में किसी ने अलकार नाम नहीं दिया। पाचवा अध्याय वर्णकरत्न नाम से दिया गया है। इसकी सामग्री की प्रेरणा भी केशव के गणना अलकार में मिली है। कविप्रिया के गणना अलंकार के अन्तर्गत केशव ने १ से १ तक की सख्या सूचक पदार्थों की सूचियां दी है। पदुमन-दास ने एक से सोलह तक सख्या तथा दूर सख्याओं वाले पदार्थों की सूची प्रस्तुत की है। सातवें अध्याय में केशव की कविप्रिया के छठे प्रभाव (वर्ण्य वर्णन) की सामग्री है। इस प्रकार सामग्री का निरूपण प्राय कविप्रिया के आधार पर ही किया गया है। केशव के पश्चात् कविशिक्षा के क्षेत्र में पदुमनदास का ही प्रयास है।[2]

नीचे इन दोनों आचार्यों की इस सामग्री की तुलनात्मक सूची प्रस्तुत है—

केशव	पदुमनदास[3] राज्य श्री भवण
राजा	राजा
रानी	रानी
राजसुत	
पुरोहित	
दलपति	
दूत	
मत्री	
मत्र	
प्रयाण	प्रयाण
हय	घोटक
गज	गज
सग्राम	सग्राम
आखेट	आखेट

१ डा भगीरथ मिश्र[?] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ ४४३

२ इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है कविशिक्षा का सविस्तार निरूपण। हिन्दी आचार्यों में सर्वप्रथम यह प्रयास केशव ने किया था। इस दिशा में दूसरा प्रयत्न सम्भवत इन्हीं का है। केशव के सम्मुख इस सम्बन्ध में केशव मिश्र अमरचन्द्र आदि संस्कृताचार्यों का आदर्श था। इधर पदुमनदास ने सम्भवत केशव की कविप्रिया से भी सहायता ली है।—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ ३२७

३ काव्यमजरी चतुर्थ अध्याय के आधार पर

केशव	पदुमनदास राज्य श्री भूषण
जलकेलि	जलकेलि[1]
विरह	
स्वयंवर	स्वयंवर[2]
सुरत	संभोग[3]

इस सूची का विस्तार पदुमनदास ने कम किया है। उसने सामान्यालंकार की जो सूची रखी है उसके कई प्रकरण केशव की अन्य सूचियों में हैं। नीचे भूमि श्री वर्णन की सूची का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत है—

केशव	पदुमनदास
देश	देश
नगर	नगर[5]
वन	
बाग	उद्यान[6]
गिरि	गिरि
आश्रम	
सरिता	नदी
रवि	सूर्योदय[9]
शशि	चंद्रोदय[10]
सागर	सिंधु[11]
षटऋतु	षटऋतु[12]

इस सूची में केशव का प्रभाव अधिक व्यापक रहा है। केवल वन और आश्रम को पदुमनदास ने छोड़ दिया है। कविप्रिया के छठे प्रभाव में केशव ने वर्ण्यालंकार का निरूपण किया है।[13] पदुमनदास ने इस सामग्री को भी अधिकांशतः ग्रहण किया है। नीचे की तालिका देखिए—

केशव	पदुमनदास[14]
सम्पूर्ण	
आवर्त	
कुटिल	कुटिल
त्रिकोण	त्रिकोण
सुवृत्त	

१, २, ३ इनका उल्लेख उक्त ग्रन्थ 'वर्णन' नामक पाँचवें अध्याय में हुआ है।
४, ५ इनका काव्यमनोहर ने 'सामान्यालंकार' नामक चौथे अध्याय में [illegible] किया है।
६ इनका उल्लेख काव्यमनोहर के पाँचवें अध्याय में है।
७–१० इनका काव्य[illegible] के चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।
१३ कविप्रिया ६। ६
१४ इन वस्तुओं का विवरण काव्यमनोहर के सातवें अध्याय में किया गया है।

केशव	पदुमनदास
तीक्ष्ण	
गुरु	
कोमल	कोमल
कठोर	कठोर
निश्चल	निश्चल
चंचल	चंचल
सुखद	सुखद
दुखद	दुखद
मंदगति	मंदगति
शीतल	शीतल
तप्त	तप्त
सुरूप	सुंदर
क्रूरस्वर	
सुस्वर	
मधुर	मधुर
प्रबल	
बलिष्ठ	
सत्य	साँच
झूठ	झूठ
मंडल	मंडल
जाति	
शरणागति	शरणागति
दानी	

वर्णन में समानता भी मिलती है और वैषम्य भी। उदाहरण के लिए केशव का संग्राम वर्णन देखिए—

सेना, स्वन, सनाह रज साहस शस्त्रप्रहार।
अंग भंग संघट्ट भट अंधक बंध अपार ॥२९॥
केशव बरणहु युद्ध में योगिनी गणयुत रुद्र।
भूमि भयानक रुधिरमय सरवर सरित समुद्र ॥३०॥

पदुमनदास ने जो सूची दी है वह [illegible] विस्तृत है। अनेक वस्तुएं उसमें केशव से साम्य रखती हैं। पदुमनदास की सूची यह है—

युद्ध धूम बल दरसिये अथवा तोप अघात।
धूरि धूप शोणित नदी सर मंडप निघात॥
भग पताका चमर रथ, करि बर धनुष विष्टि।
फूरि नारि सुरद्ध बर सुर सुमनस की विष्टि॥

भूमि भयानक भूतमय योगिनिगण को गान।
साय वक अबुक सिवा लोयनि मे लपटात॥

इस सूची की कुछ चीजों का साम्य केशव की सूची से है। चवर पताका आदि का वर्णन केशव ने संग्राम के उदाहरण में किया है—

चवर पताका बनी बडवा अनल सम।
रोगरिपु जामवत केशव विचारया है॥

इस प्रकार केशव की कविशिक्षा की परम्परा में पद्मनाभ प्राप्त हैं। हो सकता है कविप्रिया की नींव पर अन्य ग्रंथों की रचना भी इस युग में हुई हो और वे अभी कहीं संग्रहालयों में छुपे पड़े हों। पर इस दिशा में केशव के प्रभाव का स्पष्ट चिह्न अवश्य मिलता है।

काव्य-सम्बन्धी विचार

ऊपर के विवेचन में केशव के प्रदान की मन्द धारा स्पष्ट हो जाती है। केशव की कल्पना में जो काव्यस्वरूप था वह पूर्ण प्रतीत होता है। रामचन्द्रिका और वीरसिंहदेवचरित में केशव ने काव्य के आवश्यक तत्त्व ये बताए हैं कोमल शब्द सुन्दर छन्द, अलंकार तथा मनमोहकता।[1] मनमोहकता रस की ओर संकेत करता है। वस्तुतः रसिकप्रिया में भी उन्होंने रस का महत्त्वपूर्ण स्थान काव्य में माना है।[2] इसके बिना विमलों का मन कविता में नहीं रमता।[3] इस स्वरूप के साथ केशव ने दोष त्याग की बात बड़े बल से कही है।

राजत रंच न दोषयुत कविता बनिता मित्र।

इस प्रकार केशव ने अलंकार के ग्रहण और दोष त्याग पर विशेष बल दिया है। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने रस को काव्य का अनिवार्य अंग माना है। इसके सम्बन्ध में उद्धरण देना पिष्ट-पेषण ही होगा। अनेक आचार्यों ने अलंकार की अनिवार्यता भी स्वीकार की है यह बात अलंकार वाले प्रकरण में ऊपर देखी जा चुकी है। केशव की भांति दोष त्याग की बात भी कई परवर्ती आचार्यों ने बलपूर्वक कही है। चिन्तामणि ने गुण अलंकार माधुर्य और दोष राहित्य की मान्यता को स्वीकार किया है।[4] सोम

1. केशव शब्द विमल सुवृत्त। अलंकारमय मोहन चित्त।
   काव्य सुपद्धति सोभा गन। रचत बहुधा कवि कह॥
   रामचन्द्रिका प्र ३१ छन्द २१ तथा वीरसिंहदेवचरित, पृ १३४
2. ज्यों बिन डीठ न सोभिय लोचन लोल बिसाल।
   त्यों ही केशव सकल कवि बिनु वानी न रसाल॥ कविप्रिया ११३
3. ताते रुचि सुचि सोचि पचि कह सरस कवित्त।
   केशव श्याम सुजान को सुनत होय बस चित्त॥ वही ११४
4. कविकल्पतरु ३।७
5. मन्दालंकार सहित दोष रहित जो होइ।
   शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोइ॥ कविकुलकल्पतरु ११७

नाथ न कशव क अलकार पिगल और दोपराहित्य की त्रयी का ध्यान म रखकर काव्य स्वरूप की स्थापना की है।[1] इस प्रकार सोमनाथ की परिभाषा केशव क अधिक समीप है। भिखारीदास न लिखा है कि का यपुरुप के शरीर को दोप कुरूप बना दत हैं।[2] प्रतापसाहि ने भी दोप राहित्य की चर्चा की है।[3] इन आचार्यों न सभवत मम्मट क अदोपा का अनुकरण करत हुए दोप क सम्ब ध म सामान्य कथन कर दिया है। पर कशव न दोप क राहित्य पर जितना बल दिया है उतना इनक कथना म नही—

बन्दक हाला परत ज्यो गगा जल अपवित्र।

पर कुछ ऐसे भी कशव क परवर्ती आचार्य हुए जिन्होन इसी बल क साथ दोप का विरोध किया। पदुमनदास स अपनी काव्यमजरी म कुष्ठ क छीटा क समान दोपों को बतलाकर दोपराहित्य क बल को व्यक्त किया है—

ते दूपण लघु जोन जनि देहु कवित्त निवास।
ऐस सुन्दर देह मे कुठ छोट त नासु ॥[4]

जगतसिंह ने दोप का निरूपण करत हुए कहा है कि इसस शब्द और अथ की सुदरता नष्ट हो जाती है। इसम भी मूल भाव कशव और पदुमनदास जसा ही है।

शब्द अथ सुन्दरता जो हरि लत।
ताहि दोष करि जानो सुकवि सचेत॥

इस प्रकार कशव की का य स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं की परम्परा आग भी चली। यहा प्ररणा और परम्परा सम्ब धी प्रदान स्पष्ट है।

१ सगुन पदारथ दोष बिनु पिगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कम जो सो कवित्त कहि सुद्ध। रसपीयूपनिधि १।१२
२ रस कविता को अग भूषण है भूषण सकल।
गुन सरूप औ रग दूपन कर कुरूपता॥ काव्यनिर्णय १।१२
३ काव्य विलास १।५-८
४ साहित्यसुधानिधि, दसवी तरग

उपसंहार

विगत प्रकाशों में हम अपनी योजना के अनुसार केशव के आचार्यत्व की सीमा में आने वाले विविध विषयों तथा काव्यांगों का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत अन्तिम प्रकाश में दो बातों का विवेचन करते हुए इस प्रबन्ध के अध्ययन को समाप्त करना है। ये दो बातें हैं

१—काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के साथ केशव के सम्बन्ध का निरूपण।

२—केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन।

इस प्रकार हम इस प्रकाश में संस्कृत काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों के साथ केशव के सम्बन्ध का निरूपण करते हुए तथा उनके परवर्ती आचार्यों पर उनके प्रभाव को ध्यान में रखते हुए उनके कार्य का मूल्यांकन करना चाहते हैं। इस कार्य में हम प्रबन्ध के लिये अपने अध्ययन को ही आधार बना सकेंगे।

अब हम इसी योजना के अनुसार उपर्युक्त दोनों विषयों की ओर क्रमशः विचार करेंगे।

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय एवं केशव

सम्बन्ध जिज्ञासा

आचार्य केशव एक युग संधि के आचार्य हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र का युग एक प्रकार से समाप्त प्राय था। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में अंतिम महान आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ माने जाते हैं जिनका समय केशव के कुछ ही वर्षों बाद है। यों संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में आज तक भी कुछ न कुछ जुड़ता चला आ रहा है तथापि केशव से पूर्व उसका महत्तम परिनिष्पन्न हो चुका था। और इस अर्थ में ही हम कह सकते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र का युग पूर्ण था। दूसरी ओर हिन्दी के काव्यशास्त्र का युग जन्म ले रहा था। केशव से पूर्व के हिन्दी आचार्यों के उल्लेख्य नाम ये हैं—रामसिंह, मुनिलाल, कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, गोप, करनेस और बलभद्र मिश्र। ये नाम यह बताते हैं कि हिन्दी अपना काव्यशास्त्र निर्माण करने के लिए कुछ जग चुकी थी पर उसके काव्यशास्त्र का रूप अत्यन्त सामान्य आदि एवं प्रारम्भिक था। केशव का उदय इसी काव्यशास्त्रीय युग-संधि में हुआ।

हिन्दी के उस युग के काव्यशास्त्र निर्माण के लिए जो भी आधार सामग्री थी वह सब संस्कृत में था। उस समय तक संस्कृत काव्यशास्त्र का निर्माण और प्रतिष्ठा

काव्य समाप्त हो नहीं हो चुका था वह बाल की खाल खींचने वाले पाण्डित्य के हाथों सन कर सामान्य जिज्ञासु के लिए दुरूह और सर्वसामान्य के लिए अनुपयोगी होता चला जा रहा था। ऐसी अवस्था में युगीन साहित्य की आवश्यकता के अनुरूप कतिपय काव्यांगों के ऊपर सरल और परिचयात्मक छोटे छोटे ग्रंथ बनने लगे थे। इन काव्यांगों में शृंगाररस तदन्तर्गत नायिकाभेद एवं अलंकारों के ग्रंथ ही उल्लेखनीय रूप में उभरे। १४वीं शती से १७वीं शती तक बनने वाले ग्रंथों में ऐसे ही ग्रंथों की संख्या प्रमुख है।

इस प्रकार केशव के समय तक संस्कृत काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदाय अपनी विविध उपलब्धियों और विकसित-परिवर्तित मान्यताओं के साथ बन चुके थे। केशव ने अपने आचार्यत्व-सम्बन्धी ग्रंथों के निर्माण में इस समूची सामग्री का उपयोग में लिया।

यहाँ एक जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है। केशव ने संस्कृत के किस काव्य शास्त्रीय सम्प्रदाय की उपलब्धियों को किस मात्रा में किस रूप में और किस प्रकार अपनाया, वे किस सम्प्रदाय से कितने प्रभावित हैं, किससे कितना लेते हैं, कितना उनकी मान्यताओं में परिवर्तन करते हैं, कितना उसे आगे बढ़ाते हैं? संस्कृत काव्य शास्त्र के विविध सम्प्रदायों के साथ केशव के इस सम्बन्ध का निरूपण करना ही प्रस्तुत प्रकरण में हमारा लक्ष्य है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक ग्रंथ प्रमुखतया ५ सम्प्रदायों की चर्चा करते हैं। ये सम्प्रदाय हैं—रस अलंकार रीति ध्वनि एवं वक्रोक्ति। यह क्रम यहाँ इन सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के कालक्रम को ध्यान में रख कर है।

इनमें वक्रोक्ति वस्तुतः एक सम्प्रदाय नहीं, क्योंकि किसी सिद्धान्त को 'सम्प्रदाय' कह सकने के लिए उसके कुछ न कुछ अनुयायी चाहिए। किन्तु वक्रोक्ति वाद का यह दुर्भाग्य रहा कि उसके अनुयायी आचार्यों की कोई परम्परा नहीं चल सकी। इस कारण उसे सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसके प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक का विवेचन विश्लेषण स्वयं अपने में इतना महत्त्वपूर्ण है कि अपनी महत्ता के बल पर वह अन्य सम्प्रदाय प्रतिष्ठापक आचार्यों की कोटि में ही वक्रोक्तिवाद को रखवाकर उसे एक *'सम्प्रदाय' के रूप में गिनने के लिए आलोचकों* को बाध्य करता है। हम भी इसी अनुरोध के कारण यहाँ वक्रोक्ति को एक सम्प्रदाय के रूप में परिगणित कर रहे हैं।

यहाँ हम उपर्युक्त क्रम से ही प्रत्येक सम्प्रदाय के साथ केशव के सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

रस सम्प्रदाय एवं केशव

रस-सम्प्रदाय का इतिहास आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से आरम्भ होता है।

यद्यपि नाट्यशास्त्र में ही रस विषय में एकाधिक प्राचीन आचार्यों की मान्यताएं उद्धृत हैं, तथापि किसी अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थ की उपलब्धि न होने के कारण भरत को ही आदिम आचार्य माना जाता है। भरत ने रस पर नाट्य की अपेक्षा में विचार किया है। उस युग में रस को नाट्य-रस के रूप में ही देखा जाता था।

काव्य के संदर्भ में रस पर विचार भामह और दण्डी से प्रारम्भ होता है। यह युग काव्याचार्यों की दृष्टि से अलंकारवाद का युग था, अतः इसमें रस को भी रसवद् अलंकार के रूप में देखा जाता रहा और उसे काव्य की आत्मा का स्थान नहीं मिल सका।

आठवीं शती के मध्य में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ने काव्यालोचन के मानदण्डों में भारी परिवर्तन प्रारम्भ किया। इस सिद्धान्त को जड़ पकड़ते पकड़ते दो सौ वर्ष लग गए। इस बीच में नाट्यशास्त्र के विविध टीकाकारों द्वारा रस के स्वरूप पर विचार होते रहे और अन्त में अभिनवगुप्त द्वारा उसका काव्य रसिक की आत्मानुभूति के रूप में निर्धारित किया गया। ध्वनिवाद की दृष्टि से रस काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। अभिनव में रसवाद और ध्वनिवाद दोनों इस दृष्टि से एकाकार हो गए।

ध्वनिवाद की दृष्टि से काव्य की आत्मा ध्वनि है। अतः रस व्यंग्य ही हो सकता है। काव्य के व्यंग्यार्थ की विशिष्ट स्थितियों के आधार पर तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम, अधम। उत्तम काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्य तथा लक्ष्य आदि सभी अर्थों में प्रधानीभूत हो कर आता है। यह प्रधानीभूत व्यंग्य तीन प्रकार का होता है—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रस ध्वनि। अतः वस्तु, अलंकार और रस तीनों ही रूप का व्यंग्यार्थ समानतया उत्तम काव्य की कोटि में आता है, हालांकि इन सब में भी रस तत्त्व अधिक हृदयस्पर्शी है।

अभिनव ने ध्वनिवाद की इस दृष्टि में एक परिवर्तन लाने का प्रयास किया। उन्होंने ध्वनिवाद की समस्त उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए भी अपनी व्याख्याओं द्वारा यह सिद्ध किया कि वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि के स्थलों में भी अन्तिम आस्वाद्य रस ध्वनि ही होती है। अतः रस ही काव्य का आत्मतत्त्व है। अभिनव के अनन्तर ध्वनिवाद की परम्परा में रस की यही महत्त्वपूर्ण स्थिति अक्षुण्ण रही है और एक प्रकार से रस और ध्वनि का प्रश्न मिला हुआ चला है।

ध्वनि प्रतिष्ठा के युग में और उसके पहले के अलंकारवाद के युग में भी रस-विषयक एक बात उल्लेखनीय रही है। अलंकारवादी आचार्य रस को अलंकारों के अन्तर्गत समेटते तो रहे किन्तु काव्य में उसकी महत्ता और उपादेयता पर सदा ही बल देते रहे। भामह, दण्डी तथा रुद्रट अलंकारवादी आचार्यों में यह बात स्पष्ट रूप से मिलती है। ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर अनेक आचार्य ध्वनिवाद के विरोध में खड़े हुए। भट्टनायक, महिमभट्ट, धनिक, धनञ्जय और कुन्तक के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। किन्तु ये आचार्य ध्वनि-विरोधी ही रहे। रस का तो वे बराबर समर्थन करते रहे और उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा करते रहे। वे रसवादी थे, ध्वनिवादी नहीं।

किसी एक रस को ही महत्त्व देकर अन्यों को उसका ही प्रोदभासन कहने वाले भी समय समय पर होते रहे। भवभूति ने करुण को ही अंगी रस कहा। स्वयं अभिनव गुप्त ने शान्त को अंगी होने का श्रेय दिया या शृंगार की व्यापकता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। भोज ने शृंगार को ही एक रस प्रतिपादित किया।

इधर कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में मधुर का महत्त्व बढता गया। उसकी महत्ता में दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय समर्थन भी ढूढ गये और अन्त में गोस्वामी आचार्यों द्वारा काव्यशास्त्रीय मानदण्डों का उपयोग करते हुए व्यापक भूमि पर भक्तिरस की प्रतिष्ठा की जिसमें सर्वोच्च स्थान मधुररस को मिला जो शृंगार का ही भक्ति क्षेत्रीय रूप था।

प्राकृत और अपभ्रंश के बीच से चली आती हुई परम्परा में शृंगार का महत्त्व बढ़ता आ रहा था नायिकाभेद साहित्य और साहित्य शास्त्र दोनों ही क्षेत्रों में पनप रहा था। भक्ति क्षेत्रीय रसिकता ने लौकिक क्षेत्र में उसे पूर्णतः पनपने का और नैतिक साहस प्रदान किया और अनेक ग्रन्थ शृंगार और नायिकाभेद पर लिखे गए। इस परिविकसित नायिका भेद का गौडीय आचार्यों ने अपने मधुररस के भीतर पूरे तौर पर समन्वय का उपक्रम किया।

तो केशव के समय तक रस-सम्प्रदाय की यह स्थिति हो चुकी थी। एक ओर कुछ आचार्य ध्वनिवादियों की परम्परा में रस को रस ध्वनि कहते हुए वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि के समकक्ष रखते रहे और काव्य की आत्मा रस को नहीं ध्वनि को कहते थे। दूसरी ओर अभिनव की परम्परा में रस को ही काव्यात्मा कहने वाले आचार्य थे। इनकी दृष्टि में अन्य ध्वनियां इसलिए आवश्यक थीं कि पर्यवसित रूप में उनमें रस का सम्बन्ध था। तीसरी बार अलंकारवाद के पुराने तत्त्व पुनः सिर उठा रहे थे और अलंकार की महत्ता को काव्य में पुनः प्रतिष्ठा देना चाहते थे। ये इसको उस प्रकार तो नगण्य बना नहीं सकते थे जिस प्रकार अलंकारवाद के प्रथम चरण में वह रह चुका था। फिर भी सरस काव्य का अनिवार्यतः सालंकार दर्शन की हिमायत करते थे। यदि दोनों में से एक छोडना हो तो भले ही रस छूट जाए पर अलंकार नहीं। चौथी बार रसवाद की परम्परा में ही अन्य रसों को छोड केवल एक शृंगार के रसराजत्व की स्वीकृति वाले आचार्य भी थे। शृंगार को महत्ता देने के रूप में ही नायिकाभेद का एक सामान्य अंग अनावश्यक रूप से बन गया था। यहां शृंगार भक्ति के क्षेत्र में उठ कर और भी व्यापक हो गया था और शास्त्रीय विवेचन का विषय बन गया था। रस-सम्प्रदाय के ये विकास और विविध रंग केशव के सामने पूरे पृष्ठ के रूप में थे।

हम केशव के रस विवेचन का अध्ययन कर चुके हैं। उस अध्ययन के आधार पर हम रस सम्प्रदाय और केशव के सम्बन्ध को यहां संकलना में निरूपित कर सकते हैं।

केशव की रस दृष्टि कई बार के प्रभावों से प्रभावित है भरत परम्परा की व्याख्या अभिनव का अभिव्यक्तिवाद शृंगार एवं नायिकाभेद की ओर अग्रसर

होने वाली रचिया और गोस्वामी आचार्यों की उपपत्तियों के साथ साथ प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के दृष्टिकोण—ये सब प्रभाव उनमें मिश्रित और समन्वित रूप में सामने आते हैं।

काव्य में रस की महत्ता और उपादेयता केशव को पूर्णतः स्वीकृत है

ज्यों बिनु डीठि न सोभिज लोचन लोल बिसाल।
त्यों ही केशव सकल कवि बिनु बानी न रसाल॥[1]

इस रस के विषय में उनके दो दृष्टिकोण हैं एक तो कृष्ण विषयक शृंगार के विषय में दूसरे सामान्य काव्यरसों के विषय में।

जहां तक कृष्ण शृंगार का सम्बन्ध है वे मधुरवादियों के समान उसे एक रसराज कहते हैं उसे ही एकमात्र अंगी रस मानते हैं और अन्य समस्त रसों को उसके अंग रूप में प्रतिपादित करते हैं। रसिकप्रिया इसी प्रयास का प्रतिफलन है और इस दृष्टि से लिखे गये सरस काव्य का उद्देश्य भी मूलतः कृष्णाराधन है

ताते रुचि सों सोधि पचि कीज सरस कवित्त।
केशव स्याम सुजान को सुनत होइ बस चित्त॥[2]

यह हरि शृंगार ही एकमात्र रस है कृष्णेतर लौकिक विषयों में सम्बद्ध रस रसवदलंकार हैं जिनका विवेचन निरूपण कविप्रिया का विषय है। भक्ति शृंगार के रूप में प्रस्तुत रसराज शृंगार में नायिकाभेद अपनी पूर्ण विस्तृति के साथ समाविष्ट है।

काव्य रसों के रूप में केशव का शृंगार के साथ अन्य सभी रसों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत है। वे नौ रसों को मान्यता देते हैं। किन्तु इन काव्यरसों को अलंकारवादी प्राचीन आचार्यों के समान ही रस न कह कर रसवदलंकार कहते हैं।

रस-सामग्री के विषय में वे कहीं किसी प्राचीन मान्यता को पकड़ते हैं कहीं किसी विच्छिन्न और नवीन मान्यता को। अनेक स्थलों पर अपने प्रतिपाद्य की आवश्यकता अपने निजी दृष्टिकोण और कहीं कहीं किसी आचार्य के प्रभाव से परम्परा प्राप्त मान्यताओं में हेर फेर भी स्वीकृत करते हैं। अतः केशव एक रूढ़ रस सम्प्रदायी नहीं कहे जाते। उनकी मान्यताओं में अध्ययन की व्यापकता और निर्जीवन है। परम्परा भुक्तता के पूर्णतः न होने के कारण वे अनुगम्य नहीं बन सके। फिर भी रसिकप्रिया के कवित्व के बल पर एक कवि के नाते और आचार्यत्व के बल पर एक आधार के नाते रसवाद और रस सम्प्रदाय में उनका गहरा प्रभाव है। वे उसकी एक अपने ढंग की विच्छिन्न कड़ी हैं।

काव्य रसों के रूप में रसों को रसवदलंकार कहते हुए केशव सभी रसों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं हम यह देख चुके हैं। किन्तु हमने दोष निरूपण के प्रसंग में यह भी देखा है कि केशव रस को काव्य की आत्मा मान कर नहीं चलते

[1] रसिकप्रिया १।१३
[2] वही १।१४

विशिष्ट शब्द को ही काव्यात्मा मानते हैं। रस की कमी पर उनके अनुसार नग्न होता है पर शब्द की कमी पर मृतक। यह दृष्टिकोण उन्हें पूर्ण रसवादी या पूर्ण ध्वनिवादी नहीं रहने देता और अलंकारवादियों के निकट ला देता है।

अलंकार सम्प्रदाय और केशव

अलंकार सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कुछ चर्चाएं प्रासंगिक रूप से हम अभी कर चुके हैं। हम अलंकारवाद को केशव के युग तक तीन मोटे भागों में बांट सकते हैं। एक ध्वनिवाद की स्थापना से पूर्व का प्राचीन अलंकारवाद का युग, दूसरा ध्वनिवाद की दृष्टि में अलंकारवाद का युग, तीसरा अलंकारवाद के पुनरुद्धार का युग। पहला युग चौथी शती से नवम शती तक चलता है जिसमें मेधावी, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि आचार्य आते हैं। दूसरा युग नवम शती से ध्वनिवाद की परम्परा के साथ रहता है। तीसरा १४वीं शती में पुनर्जाग्रत हो कर केशव के समय तक आता है और हिन्दी के रीतिकाल को एक पर्याप्त दूरी तक अनुशासित करता है।

अलंकारवाद के इस पिछले पुनरुद्धार युग के दृष्टिकोण बहुत-सी बातों में अपने प्राचीन युगीन आचार्यों के मूल में होते हुए भी पूर्णतः उसी रूप में नहीं हैं। कारण स्पष्ट है। प्राचीनकाल के आचार्य काव्य सिद्धान्तों की मूल चेतनाओं में से अनेक की स्पष्ट रूपरेखाओं से अपरिचित थे। पर वे सत्य के खोजी थे और जो कुछ कह रहे थे वह उनकी ईमानदारी थी, पूर्वाग्रह नहीं था। किन्तु इस नवीन पुनरुद्धरण काल के अलंकारवादी आचार्यों के विषय में यह बात ज्यों की त्यों नहीं कही जा सकती। उनके सामने रस सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय की समस्त उपलब्धियां स्पष्ट फैली हुई रखी थीं। अतः अब वे इन की मूल चेतनाओं और शाश्वत सिद्धान्तों के विरुद्ध होकर जिस बात को कह रहे थे वह पूर्वाग्रह-ग्रस्त थी, उसमें पाण्डित्य प्रदर्शन की ललक अधिक थी, सिद्धान्त सत्य की खोज कम।

किन्तु इस युग के अलंकारवादियों ने अलंकारों के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य प्रस्तुत किए हैं। अलंकारों की बारीकी में छान-बीन करते हुए उनके नए-नए रूपों और नामों का निर्माण इस युग में हुआ और अलंकार क्षेत्र को व्यापकता मिली। अनेक टीका प्रटीकाओं द्वारा उनके शास्त्रीय लक्षण और रूप विवेचन हुए। इस प्रयास की चरम प्रतिष्ठा हम पण्डितराज जगन्नाथ के अलंकार निरूपण में मिलती है। पण्डितराज जगन्नाथ का काम एक प्रकार से शास्त्रीय बल लेकर जागते हुए अलंकारवाद को फिर से एक बार ध्वनि के शिकंजे में खींच देने का था। किन्तु उनका अलंकार निरूपण अपने पूर्ववर्ती इस क्षेत्र की चिन्तनाओं और उपलब्धियों का अच्छा-खासा इतिहास प्रस्तुत करता है।

अलंकारवाद के इस विकसित इतिहास में अलंकारों के विषय में अनेक दृष्टिकोण बन गए। एक-एक अलंकार के विषय में आदि से लेकर वर्तमान तक दृष्टिकोणों पर अनेक मत सामने दीखने लगे। ध्वनिवादी आचार्यों का योग अलंकारों के विषय में दृष्टिकोण के कारण से ही महत्त्व का रह गया, रूपविवेचन में वे अधिक

प्रामाणिक प्रतीत नहीं होते। यह अभाव पण्डितराज के द्वारा पूर्ण हुआ था। किन्तु पण्डित केशव के लिए तो यह कार्य बाद का था और न गणनाथ परवर्ती हिन्दी के सामान्य आचार्यों के लिए दुरूह। अतः सामान्य लोगों के लिए तो अलंकारवाद के नवीन युग के आचार्य प्राय अगम्य रहे केशव जैसे लोगों के लिए नवीन ही नहीं प्राचीन भी सामने रहे।

केशव के अलंकार विवेचन के अध्ययन के आधार पर हम यहां इस सम्प्रदाय में उनका सम्बन्ध स्थिर कर सकते हैं।

जहां तक अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रश्न है तीन प्रमुख बातें केशव को प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के निकट रखती हैं। एक तो यह कि उन्होंने अलंकार का स्तत व्यापक अर्थ में लिया है कि जिसकी परिधि में अलंकार्य और अलंकार दोनों आ जाते हैं। नवीन अलंकारवादी यह दृष्टि छोड़ चुके थे। दूसरे यह कि उन्होंने रस को रसवत् अलंकार के रूप में देखा है। यद्यपि इस दृष्टिकोण के कारण उनका एक काम और सध गया है। वे अपने निरूपण में कृष्ण शृंगार को रस और अन्य रसों को रसवत् कहकर अलग कर सके हैं और गोस्वामी आचार्यों के अनुरूप बात कह सके हैं। पर अलंकारवाद की दृष्टि से यही कहा जाएगा कि केशव ने प्राचीन अलंकारवादियों के समान रस को भी एक अलंकार के रूप में रखा है। तीसरी बात यह कि उनके अलंकारों में अनेक के लक्षण प्राचीन अलंकारवादियों के समान प्रायः दण्डी के अनुरूप हैं।

फिर भी केशव आग्रहपूर्वक या आंख मूंद कर प्राचीन अलंकारवाद के अनुयायी नहीं रहे। उन्होंने जहां ठीक समझा है वहीं उसका अनुसरण किया है। अन्यथा जहां तक सम्मत लगा है एक से अधिक मत भी सामने रखे हैं उनमें से चुनाव भी किया है असम्मत होने पर हेर फेर भी किया है और कहीं नवीन और अपना निजी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। अनेक जगहों पर उन्होंने नवीनतम समीक्षकों पर दृष्टि रखी है इसका भी पता हमें चल जाता है। साथ ही कभी कभी उन्हें उपयोगितावादी दृष्टिकोण ने भी प्रभावित किया है और सभी जगह उनके हेर-फेर ग्राह्य और स्वीकार्य नहीं रह गए। पर यह दूसरी बात है।

तो केशव का सम्बन्ध अलंकारवाद के पूरे इतिहास से है। प्राचीन युग से अधिक लगाव होने पर भी उसका आगरूक परिग्रहण है। उसमें हेर फेर भी तर्क और उपादेयता की दृष्टि से किया गया है। केशव का अनुपात रसवाद की अपेक्षा अलंकारवाद की ओर अधिक है क्योंकि रसवाद में उन्होंने एक सीमित दृष्टि से काम किया है रसवाद उनके काम का अपने व्यापक क्षेत्र का काम नहीं कर सकता। पर अलंकारवाद यह स्वीकार करेगा कि केशव ने उसे उसके व्यापक रूप में रखा है और उसे अपना बनाने का प्रयास किया है। उनकी चीज अनुकरणीय नहीं बनी उसका कारण रीति पद्धति का रूढ़ होना परम्परा में हटना तथा प्राचीनता से लगाव का अधिक होना है।

रीति सम्प्रदाय और केशवदास

रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन कहे जाते हैं। उन्होंने रीतिरात्मा काव्यस्य कहकर काव्य की आत्मा को रीति के रूप में स्वीकार किया था। यह रीति गुण विशिष्ट पद की रचना थी। उन्होंने वैदर्भी, गौडी और पांचाली के रूप में तीन काव्य रीतियाँ निर्धारित कीं और उनमें दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों को सम्बद्ध किया।

रीति सम्प्रदाय के आधारभूत तत्त्व इस प्रकार गुण और विशिष्ट शब्द-योजना हुए। ये तत्त्व भामह और दण्डी में भी स्वीकृत थे। दण्डी ने तो गुणों और पद रचना के आधार पर मार्ग के नाम से इन रीति तत्त्वों पर विचार प्रस्तुत किए थे। इन तत्त्वों को एक समन्वित सूत्र में बाँधकर काव्यात्मा के रूप में प्रस्तुत कर एक सिद्धान्त का स्वरूप वामन ने प्रदान किया।

रीति सम्प्रदाय के अनुगामी आचार्य वामन के अनन्तर हुए, इस बात के प्रमाण परवर्ती ग्रन्थों में रीति वामनीयाः जैसे उल्लेखों के साथ मिलते हैं। बस इसी दिशा में कोई और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ फिर नहीं लिखा गया जो ठीक अर्थ में सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापन करता हो।

वस्तुतः इसके एक सम्प्रदाय के रूप में अधिक आगे न चल सकने का कारण इसकी दुर्बलता न थी। वामन के आस पास ही आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना हुई। आनन्दवर्धन ने जहाँ अन्य काव्यांगों की रस की सापेक्षता में निरूपण करते हुए रस और ध्वनि का अंग बनाया वहाँ रीति के तत्त्वों का भी विवेचन कर रस और ध्वनि से समन्वित किया। उन्होंने रीति के आधार तत्त्व गुणों को तीन संख्या में निर्धारित कर रसों के गुणों के रूप में स्वीकार किया और रीतियों को पद संघटना के रूप में निरूपित कर काव्य शरीर की अंग संस्था के रूप में निर्धारित किया। यह दृष्टिकोण मम्मट में सुस्थिर होकर परवर्ती युग के लिए मानक होकर स्वीकरणीय बन गया। इस प्रकार धीरे धीरे वामन की उपपत्ति कुछ परिवर्तित होकर और कुछ विकसित होकर व्यापक ध्वनि सिद्धान्त में अन्तर्भूत हो गई। केशव के समय तक यह सब हो चुका था।

केशव द्वारा रीति सम्प्रदाय के अनुगमन का तो इस प्रकार प्रश्न ही नहीं उठता पर रीति सम्प्रदाय के आधारभूत तत्त्वों का ध्वनि सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत दृष्टि के अनुरूप ही वे अपने ग्रन्थों में निरूपण कर सकते थे। उन्होंने यह भी नहीं किया।

केशव ने कतिपय काव्य रीतियों का उल्लेख कविप्रिया में किया है। किन्तु वहाँ रीति शब्द रीति सम्प्रदाय के प्रचलित अर्थ में नहीं है। वहाँ उन्होंने इस शब्द को कवि-समय के अर्थ में प्रयुक्त किया है और इनके अन्तर्गत कतिपय कवि प्रसिद्धियों का ही परिचय कराया है।

केशव ने गुणों की चर्चा नहीं की जिसे करना अपेक्षित था। यह बात भी नहीं कि उनका प्रसंग उनके सामने नहीं आया था। उन्होंने रसिकप्रिया के १५ वें प्रभाव

में वृत्तियों का निरूपण किया है। इन वृत्तियों में गुणों का प्रसंग और सम्बन्ध निरूपित किया जा सकता था। केवल सात्वती वृत्ति के निरूपण में 'सुनतहि समुझै भेव जिहि सो सात्वती बखान'[1] कहा है जिसके आधार पर प्रसाद गुण की ओर ध्यान ले जाया जा सकता है। अन्य किसी गुण के स्वरूप की ओर संकेत भी नहीं किया गया।

हमने वृत्ति विवेचन के प्रसंग में देखा है कि काव्यशास्त्र के विकसित युग में रीतियाँ और वृत्तियाँ घुल मिल गई हैं। उन घुले मिले दृष्टिकोणों में से एक दृष्टिकोण को कुछ अपनी दृष्टि से अपनाते हुए केशव ने वृत्ति विवेचन किया है। केशव की वृत्तियाँ रीति सम्प्रदाय की रीतियाँ नहीं हैं नामतः भरत प्रतिपादित नाट्य वृत्तियाँ हैं। किन्तु हमने यह भी देखा है कि इन नाट्य वृत्तियों का निरूपण शुद्ध नाट्य परक दृष्टि से नहीं हुआ है अपितु काव्य-वृत्तियों की दृष्टि से हुआ है जिनका ढंग कुछ-कुछ रीति निरूपण का सा है। इससे अधिक रीतियों के साथ केशव का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

रीतियों में वर्णों की प्रकृति के साथ विशिष्ट सम्बन्ध का उल्लेख रहा करता है। केशव ने वर्णों के विवेचन को भी अपना विषय नहीं बनाया। कैशिकी वृत्ति के निरूपण में 'सरस बरन सुभ भाव जहँ'[2] कहते हुए सरल वर्णों की ओर संकेत किया गया है। अन्य वृत्तियों में वर्ण सम्बन्ध भी नहीं दिखाया गया।

ध्वनि-सम्प्रदाय और केशवदास

हम चर्चा कर चुके हैं कि ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना आनन्दवर्धन के द्वारा नवीं शती में ध्वन्यालोक की रचना के रूप में हुई थी। ध्वनि सिद्धान्त के प्रारम्भ में कतिपय विरोध रहे किन्तु अभिनव के द्वारा उसका सबल समर्थन और मम्मट द्वारा उसकी सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रतिष्ठित कर दिये जाने पर यह सिद्धान्त सुस्थिर हो गया। केशव के समय तक यह सम्प्रदाय अपनी सर्वोच्च महत्ता एवं सुप्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। इसके विरोध में अब केवल पुनरुद्धरण के प्रयत्नशील अलंकारवादियों का स्वर जब-कभी मन्द सुनाई पड़ जाता था।

ध्वनि-सम्प्रदाय की दृष्टि से हम देख चुके हैं कि काव्य की आत्मा ध्वनि है जो केवल रस ध्वनि नहीं है। उत्तम काव्य ध्वनि के तीन समकक्ष भेद हैं अलंकार ध्वनि वस्तु ध्वनि और रस ध्वनि। अतः रस को सर्वोत्कृष्ट स्वीकार करते हुए भी सब में अलग स्थान नहीं दिया गया। रसवादी उस उसके अनुरूप सबसे उत्कृष्ट और मुख्य स्थान देने के प्रयासी रहे। इस अन्तर को छोड़ रसवादी और ध्वनिवादी घुल मिल कर एकाकार हो गए हैं।

केशव ने ध्वनि-सम्प्रदाय के मूल विचारों में से भी किसी अंग उपांग का विवेचन निरूपण नहीं किया। शब्दों के निरूपण में उन्होंने अर्थ हीन काव्य को मृतक कहकर जो अर्थ की ही आत्मा स्वीकार किया है वह अर्थ व्यंग्यार्थ ही है ऐसा स्पष्ट उल्लेख

१ रसिकप्रिया, पन्द्रहवां प्रभाव, छन्द ८

२ वही, छन्द

कुछ नहीं है। पर इतना निश्चित है कि उनकी दृष्टि में यह ध्वनि उनके प्रिय अलंकारों और काव्य रसों से भी ऊपर था है। तभी वह काव्यात्मा है।

केशव ने चित्र काव्य को काव्य भेद के रूप में स्वीकृति दी है उन्होंने उसकी प्रशंसा नहीं की। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि वे उसे अधम कोटि का काव्य मानते हैं। रसवादी चित्र काव्य को काव्य कहने के लिए सहज तैयार नहीं होते जैसा कि विश्वनाथ ने उसके काव्यत्व का तिरस्कार किया है। चित्र को या तो अलंकारवादी काव्य कह सकता है या ध्वनिवादी। केशव द्वारा चित्र काव्य की स्वीकृति कुछ ध्वनि वाद के भी अनुरूप कही जा सकती है।

केशव के आचार्यत्व में व्यंजना का निरूपण नहीं किन्तु उनके काव्योदाहरणों में व्यंजना की भारी क्षमता पाई जाती है। उनके उदाहरणों में अधिकांशतः कवित्व की मात्रा उत्कृष्ट है और यह उत्कृष्टता प्रायः व्यंजना पर आश्रित है। दण्डी के कवित्व में भी व्यंजना की मात्रा पर्याप्त रूप से निहित है। किन्तु दण्डी की आचार्य चेतना ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना से पूर्ववर्ती होने के कारण जागरूकतया यह नहीं जानती कि उसके काव्य में व्यंजना निहित है। यह तो उनकी कवि प्रतिभा की सहज अभिव्यक्ति ही कही जा सकती है। किन्तु केशव के काव्य में व्यंजना की जो मात्रा निहित है उससे केशव इस युग में भी अपरिचित रहे हों यह कम विश्वसनीय बात ही होगी। इस प्रकार केशव के कवित्व का ही हम ध्वनि-सम्प्रदाय की मान्यताओं से सम्बन्ध जोड़ सकते हैं उनके आचार्यत्व का नहीं।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय और केशव

रीति ध्वनि के समान ही वक्रोक्तिवाद की उपलब्धियों की चर्चा भी केशव ने नहीं की। उन्होंने वक्रोक्ति को एक विशिष्टालंकार के रूप में ही स्वीकार किया है।

फिर भी हम केशव की वक्रोक्ति के विवेचन करते समय देख चुके हैं कि उनकी वक्रोक्ति अलंकारवादी आचार्यों की श्लेष या काकु वक्रोक्तिवाली वक्रोक्ति नहीं वह कुन्तक की वैदग्ध्य भंगी भणिति के ही अधिक समीप है। उनका लक्षण इस प्रकार है

> केशव सूधी बात में बरनिय टेढ़ो भाव।
> वक्र उक्ति तासों कहैं जे प्रवीन कविराय ॥[1]

यह वक्रोक्ति प्रथम शाब्दिक अर्थ वक्र उक्ति के अधिक समीप है। कुन्तक की वक्रोक्ति भी इसी टेढ़ेपन की क्षमता के कारण वक्रोक्ति है। हम यह भी देख चुके हैं कि केशव के वक्रोक्ति के उदाहरण में पर्याप्त वक्रता एवं विदग्धता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस अलंकार के निरूपण में केशव ने वक्रोक्ति के आचार्य कुन्तक को ही प्रमाण माना है और अलंकारवादी या ध्वनिवादी आचार्यों का परम्परा इद्ध अनुगमन नहीं किया। इससे अधिक वक्रोक्ति का सम्मान मध्यकालीन आचार्यों ने किया भी नहीं यह हम कह चुके हैं। इतना ही केशव ने किया है।

[1] कविप्रिया बारहवां प्रभाव, छन्द ३

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव का संस्कृत काव्यशास्त्र के ५ सम्प्रदायों में से केवल दो सम्प्रदायों के साथ उल्लेखनीय सम्बन्ध है। वे सम्प्रदाय हैं रस सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय। पहले का निर्वाह रसिकप्रिया में है, दूसरे का कविप्रिया में। दोनों के निर्वाह में केशव ने अपनी मौलिकता बरती है, जिसमें इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। वे इन सम्प्रदायों के कट्टर अनुयायी नहीं रहे, इनकी सम्बन्धी परम्परा को उन्होंने अपनी प्रज्ञा से परख कर जिस तर्क-सम्मत या उपयोगी समझा उसे अपनाया है। दोनों में केशव का सम्बन्ध किससे अधिक है, यह कह सकना कठिन है। उनका कवित्व भी इसमें अधिक निर्णायक नहीं हो सकता। उनकी रामचन्द्रिका का कवित्व अलंकारवाद के अधिक निकट है, रसिकप्रिया का रसवाद के अधिक निकट। दोनों के ही विषय में उन्होंने प्राचीनतर मान्यताओं को प्रतिष्ठापित अपनाया है। शेष सम्प्रदायों से उनका सम्बन्ध नगण्य है।

मूल्यांकन

अब तक हम केशव के आचार्यत्व के विस्तृत क्षेत्र का पर्यालोचनात्मक अध्ययन कर चुके हैं और इस स्थिति में आ चुके हैं कि कतिपय सम्बद्ध तथ्यों के सन्दर्भ में उनके कार्य का सही मूल्यांकन कर सकें। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सही मूल्यांकन के लिए एक सही और स्वस्थ दृष्टिकोण भी अपेक्षित है।

चाहे आचार्य केशवदास हों, चाहे हिन्दी रीतिकाल का कोई अन्य आचार्य कवि, इनके आचार्यत्व की समूची साधना-सरणि अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों में पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र के साधना-स्वरूप से इतनी भिन्न है कि कभी-कभी इस साधना के विशद परिप्रेक्ष्य में इस आचार्यत्व के अभिधान को अभिहित करने में भी दुविधा उठ सकती है। वस्तुतः आचार्य शब्द के आते ही पाठक के मन में दो प्रकार के संस्कृत आचार्यों की साधना-पद्धतियाँ खड़ी हो जाती हैं, एक है भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन प्रभृति मौलिक उद्भावक आचार्यों की साधना-पद्धति, दूसरी है मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति व्याख्याता आचार्यों की साधना-पद्धति। इन दोनों में से किसी एक में भी रीतिकाल के समूचे आचार्यत्व का अन्तर्भाव नहीं हो पाता।

संस्कृत काव्यशास्त्र और हिन्दी के रीतिकाल के आचार्यों की साधना-पद्धतियों का पार्थक्य केवल मौलिक उद्भावना अथवा व्याख्या इन अभाव तक ही परिमित नहीं है। इसकी अन्य अनेक सुस्पष्ट सीमाएँ भी परिलक्षित होती हैं। संस्कृत के उपर्युक्त आचार्यों की इस साधना के प्रतिनिधि वैशिष्ट्य के अनुरूप लक्ष्य में लक्षण-निर्माण का प्राय: अभिप्राय था, उदाहरण तो उनके प्रतिपादन का साधन भर लक्ष्य का आधार। एक में सामान्य के सन्दर्भ में लक्षणों के निर्धारण का क्रम रहा, दूसरे में लक्षणों के सन्दर्भ में स्वल्प ही उदाहरणों के प्रस्तुत करना। इसी कारण है कि रीतिकाल का प्राय: प्रत्येक

आचार्य मूलतः कवि और उदाहृत लक्ष्यों के प्रणेता भी हैं। श्रीपति के काव्य-सरोज की परम्परा अपवाद स्वरूप ही है। उन्होंने दोष प्रकरण में केशव के काव्य से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। संस्कृत में इसके विपरीत आचार्य दण्डी, राजशेखर, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों के कवि रूप एक तो अत्यन्त विरल हैं, दूसरे उदाहरणों के सन्नियोजन में इनका उपयोग यदा कदा ही हुआ है।

वस्तुतः अविचारित रमणीय और सुविचारित सुस्थ अथवा काव्य और शास्त्र की युगपत् साधना में दोनों की समतोल स्थिति बनाये रखना सहज नहीं है—विशेषकर एक के आग्रह पर दूसरे के निर्माण की स्थिति में। रीतिकाल का आचार्यत्व अपनी इस सीमा से पूर्णतः आक्रान्त है। केशवदास जैसे एकाध को छोड़ सभी का कवित्व जितना उभरा है आचार्यत्व उतना ही दबा दबा सा है।

सीधा सा प्रश्न जो जिज्ञासा की ऊपरी सतह में ही उठ खड़ा होता है, यह है कि क्या रीतिकाल के ये साधक अपनी उभय साधनाओं की भिन्न प्रकृतियों और इनके अन्तर्विरोधों से अवगत नहीं थे? यदि थे तो इन्होंने इस तरह का मार्ग क्यों अपनाया? इस प्रश्न के समुचित उत्तर के लिए उस वातावरण और चेतना गत उन परिस्थितियों का स्वरूप बोध आवश्यक है जिनमें समूची साधना सांस ले रही थी। परिस्थिति गत सङ्गतियों का यदि ठीक ठीक ग्रहण कर लिया जाय तो उनके सन्दर्भ में संयोजित नय और ज्ञान का स्वरूप भी अपने पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ स्वतः स्पष्ट हो जाए। रीतिकाल के आचार्यत्व के मूल्यांकन की यही पृष्ठभूमि है।

हिन्दी का रीतिकाल दरबारी सभ्यता का काल है। वैसे तो दरबारी सभ्यता और इसकी छाया में प्रवर्धित साहित्य-साधना भारतवर्ष के लिए अपरिचित और नई नहीं रही है फिर भी इस काल जैसी दरबारी सभ्यता से भारतभूमि का लगाव पहली बार देखने को मिला। यह दरबारी सभ्यता मुस्लिम सभ्यता की देन थी। 'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकरजी ने ठीक ही लिखा है कि जीवन का ऐन्द्रिक दृष्टिकोण, प्रेम की अत्यधिक भावुकता और सुख का ऐन्द्रिक रूप मुस्लिम सभ्यता की विशेषताएँ हैं।[1] मुगल काल को विशेषतः अकबर और शाहजहाँ के काल को इस सभ्यता का चरमोत्कर्ष काल कहा जा सकता है। भारत जैसे धनधान्य सम्पूर्ण देश पर आधिपत्य स्थापित होने से मुस्लिम सभ्यता की ऐहिक परिणति के लिए जो अनुकूल संयोग मिला वह इतिहास का अविस्मरणीय परिच्छेद है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैभव और विलास के ऐहिक और ऐन्द्रिक रूप ने मनुष्य जीवन की हर इच्छा और सम्भावना को धरती पर साकार खड़ा कर दिया। पद्माकर के 'गुलगुली गिलमें देखे में तारा सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलमिल सी होति मरीची मूनिया' मात्र सम्भावनाएँ नहीं हैं, ऐसे विलास की वास्तविकताएँ हैं और स्थूल [illegible] हैं। 'ट्वाइलाइट ऑफ़ मुगल्स' में पर्सीवल ने इस दरबारी सभ्यता के वैभव और विलास का जो चित्र अंकित किया है वह इसकी रूपरेखा और मांसल वासनाओं को समझने के लिए पर्याप्त है।

1 संस्कृति के चार अध्याय

यह दरबारी सभ्यता केवल मुगल दरबारों तक ही सीमित न रही, सम्पूर्ण समृद्ध वर्ग तक—चाहे वह हिन्दू राजा हो या नवाब, मनसबदार हो, जागीरदार हो, राजकर्मचारी हो या उच्चवर्गीय कलाकार—पूरे तौर पर परिव्याप्त हो गई थी। सब की आँखें अनुकरण अनुगमन के निमित्त इन्हीं दरबारों की ओर सतृष्ण बिछी रहती थीं। ऐसी स्थिति में सामान्य जनरुचि का भी कुछ न कुछ आक्रान्त होना सहज सम्भावित है।

दरबारी सभ्यता के इस वातावरण के आश्रय में काव्य प्रणयन कला-कृति कम विलास-सामग्री अधिक समझा गया और यह स्वाभाविक भी था। इस काल में काव्य रसिक अथवा सहृदय की परिभाषा ही भिन्न भूमि पर अवतरित हो चुकी थी। काव्य रसिक का तात्पर्य कुछ बदल चुका था। हृदय संवाद या चित्त संवाद की भावना अभिनवगुप्त के रसिक या सहृदय ही इस काल में वात्स्यायन के नागरिक से भी थोड़ा अधिक भोग लिप्सु बनकर परवर्ती कोकशास्त्रों के नागरों जैसे बन गए थे। इन नागरों की रुचि के अनुरूप ही सामग्री प्रस्तुत करना कला की सबसे बड़ी मान्यता थी। यही कारण है कि काव्य, कला और संगीत तीनों के स्वरूप निर्माण में इस युग प्रवृत्ति के प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं।

यह तो रहा विषय गत माँग का संभरण। विषय के प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में भी इसी प्रभाव का प्रतिध्वनन आवश्यक था। काव्य में इस प्रभाव के प्रतिध्वनन की तीन सन्दर्भ भूमियाँ थीं। पहली तो यह कि दरबार के परिवेश में काव्य पाठ्य कम, श्रव्य अधिक था। आश्रयदाताओं के मनोरंजनार्थ कवि को केवल काव्य सुनाना ही नहीं था, प्रतियोगिताओं में विजयी होना और सम्मानित होना भी आवश्यक था। परिणामतः काव्य में काकु और वाग्वैदग्ध्य पर अधिक बल दिया जा रहा था। कवि गोष्ठियों में प्रभावोत्पादक उपादानों के रूप में यमक और चित्रकाव्य अपनाने का उद्देश्य ही यह था। यह दूसरी बात थी जिसके अन्तर्गत वैभव के प्रदर्शनार्थ और आभिजातीय तत्त्व की अनुगूंज के लिए अलंकरण का चाकचक्य दिखाना अपरिहार्य था। अलंकरण की यह प्रत्यधिकता मुगल शैली की चित्रकला में साफ साफ देखी जा सकती है। अलंकरण प्रियता यहाँ तक बढ़ी कि मसजिद और मजारों तक की वास्तुकला इससे अछूती नहीं रही। औरंगजेब की सादगी का प्रयास क्षणिक कौंध बनकर रह गया। तीसरा सन्दर्भ भूमि था फारसी काव्य की प्रतिद्वन्द्विता की। फारसी काव्य रंगीन मिज़ाजी की जिस शाम शायरी वाह वाह वाली शैली में सम्पन्न था, हिन्दी काव्य को अभी वहाँ तक पहुँचना था। बिना इसके दरबारों में अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखना हिन्दी कवियों के लिए आसान नहीं था। अतः रीतिकाल के कवि आचार्यों द्वारा निर्मित शिक्षा-काव्यशास्त्र का स्वरूप भी इन्हीं वर्ग गत युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप ढला।

केशव रीतिकाल और भक्तिकाल के संधि-युग के आचार्य हैं। उनके युग में रीतिकाल की उज्ज्वल प्रवृत्तियाँ और आवश्यकताएँ उभर कर ऊपर आ चुकी थीं, भले ही बौर न दे पाई थीं। साथ ही भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और आवश्यकताएँ तिरोहित भी नहीं हुई थीं। कृष्ण भक्ति साहित्य की एक लम्बी परम्परा रसिक भक्ति के माहात्म्य

की प्रचुर मात्रा के साथ उपस्थित हो चुकी थी। इस भक्ति-साधना का मूल रूप ही लौकिक उन्मुक्ततम शृंगार को आध्यात्मिक रूप देना था। बड़े-बड़े साधक संत और भक्त इस कार्य को करने आगे बढ़े थे और अनेक पंडित आचार्य दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र की उपलब्धियों के साथ उनकी पीठ पर थे। गोस्वामी आचार्यों द्वारा काव्यशास्त्र की भाषा में भी रसिक साहित्य के रसवाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस प्रकार केशव के सामने रसिक भक्ति का साहित्य, उसका दर्शन और उसका काव्यशास्त्र सभी कुछ विद्यमान था। लौकिक शृंगार, कला और भक्ति का जिस प्रकार समन्वय न केवल भक्त-परम्पराओं द्वारा अपितु हिन्दू राज दरबारों में भी किया जा रहा था, इसका संकेत हम केशव के निरूपण में ही मिल जाता है। जहां इन्द्रजीतसिंहजी के दरबार में कला और लौकिक शृंगार की साधिका पातुरें थीं वहां नवरंगराय भी एक पातुर थी जो नवरसों को नवधा भक्ति में योजित किया करती थी:

नरी किंनरी आसुरी सुरी रहति सिर नाइ।
नवरस नवधा भगति सों जोजति नवरंगराइ ॥[1]

इस युग का लिखा हुआ निम्नलिखित दोहा जन-जीवन की स्थिति का सही अंकन करता है:

मनुस रूप होइ अवतरयो तीन वस्तु को जाग।
द्रव्य उपार्जन हरिभजन अरु भामिनि को भोग ॥

केशव के समय में भक्तिकालीन मधुरा भक्ति रीतिकालीन लौकिक रूप प्राप्त करने लग गई थी। नाम और स्वर पुराने अवश्य चल रहे थे, आत्मा बदलने लग गई थी। इसी कारण केशव के राधा शृंगार में भक्त का आवेग हमें नहीं मिल पाता। पर रीतिकाल की सी क्षमा याचना से भी हीन उन्मुक्तता नहीं है।

केशव भक्ति और रीति दोनों की प्रवृत्तियों की युग संधि पर ही नहीं खड़े थे अपितु संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र की युग-संधि पर भी खड़े थे। उनके सामने हिन्दी का एक ऐसा काव्यशास्त्र बनाने की आवश्यकता भी मूर्त रूप में खड़ी थी जो भाषा कवियों और वर्तमान काव्य के 'रसिक' भावकों के उपयोग का हो सके। नियम रूप काव्य जब विविध नियमों की परिसीमाओं में अपने को बांध लेता है तो अपने को जीवित और प्राणित रखने के लिए अपने पाठक को भी अपनी सीमाओं से परिचित कराकर स्वानुरूप बनाना आवश्यक समझता है। केशवकालीन काव्य की यह आवश्यकता भी हिन्दी के काव्यशास्त्र के निर्माण की प्रेरणा दे रही थी। इन आवश्यकताओं में से रसिक भक्ति के साथ समन्वय की आवश्यकता धीरे धीरे कम होती गई, शेष आवश्यकताएं परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों के सामने ज्यों की त्यों बनी रहीं। परवर्ती रीतिकाल अपनी पतित नैतिकता को राधा कृष्ण के नामों के पवित्र आवरण में छिपाये रहने का प्रयास काव्य क्षेत्र में ही करता रहा, आचार्यत्व के क्षेत्र में उसे उसकी आवश्यकता न रही। इस दृष्टि से केशव के आचार्यत्व का स्वरूप अपने परवर्तियों की

[1] कविप्रिया पृ० १५७

अपना कुछ भिन्न है।

देव का आचार्यत्व कुछ और दृष्टियों से भी अपने परवर्ती रीतिकाल के आचार्यों से भिन्न है। रीतिकालीन आचार्यत्व का प्रमुख रूप दो ढंग का है : एक तो संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में से प्रसिद्धि प्राप्त परवर्ती ग्रन्थों के अनुवदन के रूप में, दूसरे देश की मांग के अनुरूप कवि और पाठक के लिए उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृत आचार्यों के निरूपणों में से संग्रह त्याग या काट छांट कर ग्रहण के रूप में। उस युग के आचार्यत्व की मौलिकता यहीं तक सीमित थी। इसी दृष्टिकोण की कसौटी पर इस काल के प्रायः मौलिकता शून्य आचार्य कवि भिखारीदास अपने काल के गण्यमान्य आचार्य हैं। पर देव के प्रातिभ व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य में केवल इस प्रकार की ही नहीं मौलिकता नहीं है।

देव के आचार्यत्व में नियामकत्व, निरूपकत्व और समन्वयात्मक उद्भावक वृत्ति नामक तत्त्वों का योग रहता है। अपने प्रातिभ व्यक्तित्व के प्रकाशन का आग्रह भी उनके आचार्य रूप में कम नहीं रहता। पर शास्त्र अध्ययन परम्परा के मूल में चलते चलते ही कभी कभी नई सी दीखने वाली बात कहने का मोह रखते हुए भी देव अनेक बार अपने स्वतन्त्र मनन चिन्तन का भी आश्रय लेते दिखाई पड़ते हैं। हम यहां उनके आलम्बन निरूपण जैसे विषयों की याद दिला सकते हैं। देव के आचार्यत्व के मौलिक और चिन्तक पक्ष को समझने के लिए हम उस विषय पर यहां एक बार पुनः दृष्टि डाल सकते हैं।

देव ने आलम्बन की परिधि में नायक नायिका चेतन सामग्री ही नहीं प्रकृति और विलास-सामग्री तथा संगीत नृत्य आदि सभी को लिया है। परम्परायुक्त आचार्यत्व की दृष्टि में यह दोष पूर्ण है क्योंकि उसमें उद्दीपन रूप में स्वीकृत पदार्थ भी मिला लिए गए हैं। पर देव ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को यहां प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में मन जिन पदार्थों का आश्रय लेकर प्रादुर्भूत होता है वे सब शृंगार के आलम्बन हैं। दूसरी ओर रस सामान्य के लिए भी यही बात कही जा सकती है। रस जिन पदार्थों का आश्रय लेकर प्रादुर्भूत होता है वे सब आलम्बन हैं। अतः चेतन और जड़ समस्त उपादान समान रूप से रस के आलम्बन हो सकते हैं।

देव की इस मान्यता को दो दृष्टियों से समर्थन दिया जा सकता है। शास्त्रीय समर्थन तो यह है कि स्वयं आचार्य भरत ने आलम्बन उद्दीपन का वर्गीकरण नहीं किया। वे उभयविध उपादानों को रस का विभाव मानते हैं। दूसरे यह कि मनो-विज्ञान के निकष पर हम यह पाते हैं कि प्रकृति और ललित कला के उपादान हमारे मन में भी रस-उत्पादन की क्षमता रखते हैं केवल उद्दीपन का ही काम नहीं करते। भरत ने भी इसी दृष्टि से विभावों को मिलाकर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार देव की मान्यता केवल परम्परागत आचार्यत्व के अनुरूप न हो पर उसे हम तर्कसम्मत नवीन चिन्तन दृष्टिकोण का परिचायक तथा मनन अनुप्राणित पाते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देव का आचार्यत्व सामान्यतः परम्परानुयायी रहा है जब परम्परा में इतना है तब ही वह अन्यत्र नहीं होता। उसका यह इतना

।

कुछ मानी रखता है वह तक युक्त कहा जा सकता है। पर वृत्ति और विवेचन के अभाव में वह समर्थित नहीं हो पाता। अतः सामान्य पाठक और परम्परा बद्ध मान्यता के लिए दुर्ग्राह्य होता है। प्राय रस विवेचन में तथा अलंकार विवेचन में यत्र तत्र पर्याप्त रूप में ऐसे स्थल हमें मिले हैं। केशव के स्व चिंतन और मौलिकता का यही रूप है। साथ ही निर्भीक का दृष्टिकोण उनके निरूपण को विस्तृत नहीं होने देता। अतः केशव के आचार्यत्व की यही प्रमुख पद्धति है जो अन्य परम्परावादी परवर्ती आचार्यों से भिन्न है। इसके ग्रहण करने के लिए तीन बातों की नितान्त आवश्यकता है एक पूर्ण सहानुभूति का दूसरे काव्यशास्त्र के व्यापक तथा गम्भीर अध्ययन की तीसरे पूर्वाग्रहमुक्त होकर रूढ़ परम्परा से उठकर भी विषय की वर्णात्मकता का स्वीकार कर सकने की। इसके लिए केशव के लक्षणों के एक एक शब्द का ही समझना आवश्यक नहीं है अपितु जहां पद्य की भाषा की असमर्थता से लक्षणों की स्पष्ट विवृति न हो पाई हो वहां उदाहरणों के कथ्य के सन्दर्भ में भी उनके अभीष्ट वक्तव्य को समझने परखने की आवश्यकता है।

केशव के तीन लक्षण ग्रन्थ हैं—रसिकप्रिया कविप्रिया और छन्दमाला। इन तीनों में आचार्यत्व की तीन दिशाओं में उनकी त्रिमुखी प्रतिभा का आभास मिलता है। कविप्रिया में शिक्षक रूप की प्रमुखता के साथ विविध मतान्तरों के उपस्थापन और सामान्य हेर फेर के नियोजन की मौलिकता है। छन्दमाला में शिक्षक रूप की ही प्रमुखता है पर प्राचीनता और आधुनिकता के मेल के साथ हिन्दी की युगीन आवश्यकता की ओर भी दृष्टि है साथ ही स्वयं छन्द प्रयोक्ता रूप की सफल एकनिष्ठता भी है। रसिकप्रिया में शिक्षक रूप गौण है प्रमुख है पाण्डित्यपूर्ण एवं निजी चिन्तन और दृष्टिकोण पर आधृत किन्तु शास्त्रीय भूमि पर प्रतिष्ठित मौलिकता की भास्वरता। इस दृष्टि से रसिकप्रिया केशव के आचार्यत्व की ही नहीं सम्पूर्ण रीतिकाल के आचार्यत्व की अथवा यों भी कहिए हिन्दी के प्राचीन काव्यशास्त्र की एक महत्वपूर्ण एवं अनुपमेय उपलब्धि है। रसिकप्रिया के आचार्यत्व के तीन आयाम हैं शास्त्रीय परम्परा का उपबृंहण सम्भ विशदता के लिए प्रचलित शास्त्रीय मान्यताओं की नवीन व्याख्या और प्राय समस्त लक्षणों की आकृतियों में साभिप्राय परिवर्तन-परिवर्धन करते हुए अपने युग के लिए वांछित नये स्वरूप का निर्माण। इन तीनों आयामों को रसिकप्रिया में प्रयुक्त रसराज शृंगार में अन्तर्भाव की प्रक्रिया में परखा जा सकता है। विरोधी रसों को अंगीभूत करने में उन्होंने अत्यन्त सावधानी बरती है। उन्होंने इनके लिए विविध पद्धतियां अपनाई हैं। कभी लक्षणों में हलका मोड़ स्वीकार किया है तो कभी किसी भाव को संचारी या इनकी स्थिति में अपनाया है। पर विशेषता इस निरूपण की यह रही है कि एक ओर तो उनके लक्षण अन्तर्भाव की आवश्यकता पूर्ण करते हैं दूसरी ओर रस-सामान्य के परम्परायुक्त निरूपण के विपरीत भी नहीं होते। उनकी शास्त्रीय पृष्ठभूमि सुरक्षित रहती है भले ही शब्द कुछ रूढ़ मार्ग से हटे हुए प्रतीत हों। वीभत्स को शृंगार में तो उन्होंने स्थायी को ही क्षीण रूप में ग्रहण कर एक तरह त्याग भी दिया है। इतना ही नहीं, रसिकप्रिया के प्रतिपाद्य के अनुरूप उन्होंने भाव विभावादि

की नई परिभाषाएं भी दी हैं। इन परिभाषाओं में एक ओर शास्त्रीय परम्परा का सामंजस्य है तो दूसरी ओर मौलिक उपस्थापनाएं भी हैं।

कविप्रिया में शिक्षक आचार्य का रूप प्रधान है, यह हम कह चुके हैं। यहां कविता क्या है और कैसे की जाती है का रूप तो है पर क्या और क्योंकर की वृत्ति की तृप्ति का प्रयास नहीं है। एक सामान्य भाषा कवि के परिचय का उद्देश्य यहां प्रायः प्रमुख रहता है। विशिष्टालंकारों के निरूपण में अवश्य एकाधिक शास्त्रीय मान्यताओं की ओर उदाहरणों के माध्यम से संकेत हैं पर यह भी परिचयार्थ ही है। प्रायः केशव प्राचीन अलंकारवादियों पर आधृत होकर चले हैं किन्तु इस अनुधावन में उद्धरण प्रत्येक निरूपण या ग्रहण त्याग में अपने परिवेश की मांग के अनुरूप तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अलंकारों की कुज्झटिका में से एक सरल और प्रशस्त मार्ग के संधान का यथासंभव प्रयास किया है।

केशव ने प्राचीन अलंकारवादियों के समान वर्ण्य विषय और वर्णन शैली दोनों को अलंकार की परिधि में समेटा है। पर प्राचीन अलंकारवादी और केशव के इस समान कार्य में एक अन्तर है। प्राचीन अलंकारवादी का दृष्टिकोण इस विषय में इस निश्चित परिमार्जित नहीं था कि उसे इनके अन्तर का ज्ञान ही नहीं था। पर केशव के सामने तो ध्वनिवाद की लम्बी परम्परा और कुन्तक की स्थापनाएं थीं जो अलंकार्य और अलंकार के बीच एक सुस्पष्ट रेखा खींच चुकी थीं। अतः केशव ने जो यह प्राचीन दृष्टिकोण अपनाया वह समझ बूझ कर अपनी आवश्यकतापूर्ति के लिए। केशव ने प्राचीन अलंकारवादियों की दो मूल दृष्टियां अपनाई हैं—एक है वर्ण्य विषयों को भी अलंकार कहकर चलना दूसरी है काव्य रसों को भी रसवद् अलंकार कहना। पर दोनों ही उनके निरूपण और दृष्टिकोण की विशिष्टता के कारण हुई हैं प्राचीनों के अन्धानुकरण के कारण नहीं।

कविशिक्षा के कार्य को सफलता से सम्पन्न करने के लिए केशव संस्कृत कविशिक्षा के ग्रन्थों में वर्णित वर्ण्य विषयों को अपने भाषाकवि को परिचित कराना चाहते थे। यह उनकी आवश्यकता थी। पर मूल संस्कृत ग्रन्थों में इन विषयों का निरूपण अत्यन्त अस्त और विस्तर रूप में था। अलंकारशेखर में केशवमिश्र के निरूपण की चर्चा हम कर चुके हैं। केशवमिश्र किसी बात को तो नियम कहकर प्रस्तुत करते हैं किसी को यों ही स्वतन्त्र। उनकी सामग्री में उपयुक्त वर्गीकरण का भी अभाव है। केशव इस विषय को व्यवस्था देना चाहते हैं। अतः अलंकार शब्द का बहुत ही व्यापक अर्थ में ग्रहण कर वर्ण्य विषयों को सामान्यालंकारों के रूप में एकसूत्रित करते हैं। फिर उनके चार उपवर्ग बना देते हैं। केशवमिश्र के विषयों को भूश्री और राजश्री के रूप में स्वतन्त्र वर्गीकृत करना इस दृष्टिकोण का प्रमाण है। निरूपण की सफाई और व्यवस्था भी आचार्य का एक प्रमुख कार्य है विशेषकर शिक्षक आचार्य में तो यह बहुत ही अपेक्षित होता है। सामान्यालंकार और विशिष्टालंकार के अलंकरण एवं वर्गीकरण में यह व्यवस्था है इसे हमें स्वीकार करना ही होगा। अतः अलंकार को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण करना केशव के आचार्यत्व की आवश्यकता थी प्राचीनों का एकमात्र अन्धानु-

करण नहीं।

काव्यरसों को रसवदलंकार कहना भी उनके निरूपण की विशिष्टता की एक आवश्यकता थी। रसिकप्रिया उनका वास्तविक रस ग्रन्थ है। पर उसमें वे शृंगार की रसराजता का ही उद्देश्य लेकर नहीं चले थे उस शृंगार को हरि शृंगार भी बनाये रखना चाहते थे। परिणामतः उन्होंने केवल कृष्ण शृंगार को ही रस कहा जो भक्ति शृंगार के समर्थक गौडीय आचार्यों के अनुरूप था। इस मान्यता को एक बार स्वीकृत कर लेने पर उन गौडीय आचार्यों का यह दृष्टिकोण भी स्वीकार्य हो जाता है कि का यरस भक्ति शृंगार के समकक्ष नहीं हैं। उन्होंने इन्हें रसाभासों की कोटि में ले जाकर पटक दिया है। केशव उन्हें यह स्थान तो देना नहीं चाहते थे। यह काव्य शास्त्र की परम्परा को कभी भी ग्राह्य न होता। पर भक्ति शृंगार के एकमात्र रस वाले दृष्टिकोण के अनुरूप इन काव्यरसों को रस कोटि से हटाना अपेक्षित था ही। इसके लिए उन्हें यह सहज हल मिल गया कि वे उन्हें प्राचीन अलंकारवादियों के समान रसवदलंकार कहकर अलंकार की कोटि में रख दें। वे अलंकार को पर्याप्त व्यापक रूप में एक बार स्वीकार कर ही चुके थे अतः ऐसा करने में कोई बाधा भी न थी। अतः रसों का रसवदलंकार कहना भी उनके निरूपण की आवश्यकता थी जो बड़ी समझ दारी के साथ निबाही गई थी। यह भी प्राचीनों का अन्धानुकरण मात्र नहीं था।

पर इस निरूपण के दोनों पक्षों का दुर्भाग्य यही था कि ये बातें उनके युग में ही आउट आफ डेट हो चुकी थीं और परित्यक्त मान्यताओं के हो वाचक शब्दों में प्रस्तुत होने के कारण विचार-साम्य उपजा सकती थीं। यही तब हुआ और यही आज भी हो रहा है। इसी कारण केशव के ये निरूपण परवर्ती आचार्यत्व के अनुसरणीय नहीं हो सके। पर इनसे केशव के महत्त्व एवं आचार्यत्व की स्पष्ट रेखा हमारे सामने अवश्य आती है। कविप्रिया के शिक्षक आचार्यत्व की सीमित परिधि में नियोजक के मौलिक प्रयास की ही गुंजाइश थी, जो उसमें पूरी तौर पर है। जो छोटे मोटे हेर फेर हैं, या विवक्षा के रूपान्तर हैं वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

कविप्रिया में दोष निरूपण के प्रसंग में भी हम केशव की मौलिक योजना के दर्शन होते हैं। शास्त्रीय जंजाल से बचाने की एक शिक्षक की सरलता और आल कारिक रूपक के साथ दोषों के वर्गीकरण की व्यवस्थापरक मौलिकता, ये दोनों बातें हमें यहां मिलती हैं। प्राकृतपैगलम् के निरूपण में कतिपय विशिष्ट छन्दों में दोष निरूपण के लिए बांधे हुए शारीर रूपकों से प्रेरणा लेकर केशव ने समस्त काव्य-दोषों को ही शारीर रूपक के साथ निभा कर प्रस्तुत कर दिया।

केशव के आचार्यत्व की तीसरा माना है छन्दमाला। इसमें उनके आचार्यत्व का रूप प्रमुखतया शिक्षक का ही है जिसके अनुरूप उन्होंने केवल छन्द-परिचय ही नहीं कराया अपितु लम्बे छन्दों के वे रूप ही प्रायः चुने हैं जो सरलतम हो सकते हैं। एक विशिष्ट गणवाले छन्द में कुशलता प्राप्त कर लेने पर पाठक उसी जाति के गणों को मध्य बढ़ाते हुए अन्य बड़े छन्दों में भी सफलता पा सकता है यह उनके स्वानुभव पर आधारित बात थी। कला-काव्य के लिए जितनी शिक्षा एक पाठक को अपेक्षित होती है, उसकी

दृष्टि से भी सरल छन्दों का ही चुनाव अपेक्षित था। केशव ने इस आवश्यकता एवं वस्तुस्थिति का ध्यान रखा है।

साथ ही केशव ने यह भी ध्यान रखा है कि उनका छन्द-परिचय हिन्दी की आवश्यकता के अनुरूप रहे। इसी कारण उन्होंने संस्कृत के वार्णिक वृत्तों के साथ ही उन मात्रिक वृत्तों का भी विस्तार से परिचय कराया है जो प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में से होते हुए उनके समय तक हिन्दी के अपने छन्द बन चुके थे। जिस प्रकार केशव ने कविप्रिया की रचना द्वारा हिन्दी की आवश्यकताओं के अनुरूप हिन्दी के प्रारम्भिक काव्यशास्त्र के निर्माण का प्रयास किया था उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी के अपने प्रारम्भिक छन्दशास्त्र के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया था। अतः हम देखते हैं कि उनके शिक्षक रूप में युगीन आवश्यकता को समझने की भी पूर्ण शक्ति विद्यमान थी। छन्दमाला के छन्दों का निरूपण इस बात का प्रमाण है कि केशव अपने समय तक बने संस्कृत प्राकृत के समस्त छोटे बड़े उपलब्ध पिंगल ग्रन्थों से परिचित थे। उन्होंने अनेक छन्द ऐसे दिये हैं जिनका चुनाव तो उन्होंने सरलता की दृष्टि से किया है पर वे छन्दशास्त्रीय संस्कृत या प्राकृत के प्रमुख ग्रन्थों में प्रचलित नहीं हैं। तब उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि या तो वे केशव को अपने युग में उपलब्ध किन्हीं अन्य ग्रन्थों में मिले होंगे या फिर उन्होंने उन सरल रूपों को चुन कर उनके स्वयं नामकरण भी किये होंगे। यदि ऐसा हुआ है तो इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता भी हमें स्वीकार करनी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव के आचार्यत्व में उद्भावनाकार व्याख्याकार शिक्षक और समन्वयकार सभी रूपों का यथोचित सामंजस्य है। समन्वयकारिणी वृत्ति ने शिक्षक के रूप को जितना सफल बनाया है उतना ही प्रौढ़ और मौलिक भी। यदि इस समन्वयकार रूप के साथ उनके उद्भावनाकार और व्याख्याकार रूपों का योग न रहता तो केशव भी रीतिकाल के अन्य आचार्यों से किसी भी रूप में ऊपर न उठ पाते। इन रूपों के समन्वय के कारण ही केशव कवि शिक्षक भी हैं, और आचार्य भी। यह दूसरी बात है कि उद्भावक और व्याख्याता का वह रूप उनमें नहीं है जो पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र के आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त कुन्तल आदि में परिलक्षित होता है। और दो भाषाओं के काव्यशास्त्र की सन्धि के उस युग में केशव से उस आचार्यत्व की अपेक्षा भी नहीं थी। विशेष कर तब जबकि गम्भीर अध्ययन के व्यवसायियों के लिए संस्कृत के मूल ग्रन्थों का द्वार अपनी ही सम्पत्ति के रूप में सदा उन्मुक्त था। केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन उनके प्रतिपाद्य ग्रन्थों के अधिकारी की सापेक्षता में करना चाहिए।

यहां इस प्रसंग में दो बातें और उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि किसी कृतित्व की मौलिकता केवल अपूर्व वस्तु के निर्माण में ही नहीं है। वह कृतिकार भी अपूर्व वस्तु का मौलिक निर्माता ही कहा जायगा जो पूर्व निर्मित वस्तु के आलोक में अपनी दृष्टि से केवल कुछ रंगाएं खींचकर भी नया जीवित व्यक्तित्व भर देता है। मूल्य वस्तु का भी है और नवचेतना के अनुरूप उसमें प्राण प्रतिष्ठापित करने का भी है। यहां

हम आनन्दवर्धन की उस कारिका की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिसमें वे कहते हैं कि पूर्व से प्रतिष्ठापित वस्तुएँ भी रससम्पन्न होने पर नवीन अथवा मौलिक ही हो जाती हैं।[1]

केशव के आचार्यत्व में पूर्वप्रतिष्ठापित मान्यताओं की सफल नियोजना की मौलिकता हमें पूरी मात्रा में मिलती है।

दूसरी बात यह है कि किसी व्यक्ति अथवा उसके निरूपित विषय का परवर्तियों द्वारा किया हुआ अनुगमन उसकी गुरुता की सच्ची कसौटी नहीं है। कुन्तल के काव्य की महत्ता आज हमारे सामने खुलती जा रही है। पर उसका कितना अनुगमन हुआ? क्या इस अनुगमन के अभाव में कुन्तल की स्थापनाएँ ही मूल्यहीन हैं? केशव के महत्व का अवमूल्यन करने के लिए प्रायः यह दुहराया जाता है कि परवर्ती रीतिकाल में उनकी परम्परा नहीं चल पाई। पर यदि ऐसे लोगों से कोई पूछे कि क्या तुलसी की परम्परा चल पाई है? क्या परम्परा के न चल सकने से तुलसी के महत्व में कुछ अन्तर आया है? अतः हमें इस कसौटी को, जो गलत परिणाम देता है, छोड़ना पड़ेगा।

अन्त में इस शोध प्रबन्ध के निर्णय वाक्य के रूप में हम कह सकते हैं कि केशव के आचार्यत्व का स्थान आधुनिक काल से पूर्व के समस्त हिन्दी आचार्यत्व में विशिष्ट और श्रेष्ठ है। रीतिकाल के समस्त आचार्यत्व में केवल केशव में ही सराहनीय मौलिकता पाई जाती है। उनकी मान्यताओं को उनकी भाषा की अस्पष्टता और परम्परा-पालन की कमी के कारण उनके अभीष्ट रूप में समझ सकने में अल्पाधीत समीक्षक को कठिनाई होती है और वह अपनी असमर्थता से उत्पन्न हीन-ग्रन्थि की प्रतिक्रिया स्वरूप केशव के आचार्यत्व को लाञ्छित कर उसका अवमूल्यन करता है। केशव का स्थान काव्य रस, साहित्यिक शृंगार और भक्ति शृंगार के समन्वय की स्थापना को ध्यान में रखकर संस्कृत के कतिपय उल्लेखनीय आचार्यों के साथ लिया जा सकता है। हिन्दी में उनके आचार्यत्व के परिमार्जित अध्ययन तथा उनके ग्रन्थों की स्वस्थ टीका-व्याख्याओं की महती आवश्यकता है जिससे समालोचना-क्षेत्र में पूर्वाग्रह पर आधारित भ्रमों का निराकरण हो सके और केशव के साथ उचित न्याय हो सके।

० ० ०

1. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥ ध्वन्यालोक ४।४

परिशिष्ट—१

सहायक ग्रन्थसूची

१ हिन्दी

ग्रंथ	लेखक
आचार्य केशवदास	डा० हीरालाल दीक्षित
आचार्य भिखारीदास	नारायणदास खन्ना
आर्या सप्तशती	
अलंकार मंजूषा	सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे
कविकुलकल्पतरु	चिंतामणि
कविकुलकण्ठाभरण	चिंतामणि
कविप्रिया	आचार्य केशवदास
कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
कबीर ग्रंथावली	डा० श्यामसुन्दरदास (सं०)
कबीर सतबानी	
काव्यमंजरी	पदुमनदास
काव्यनिर्णय	भिखारीदास
काव्यविलास	प्रतापसाहि
कुशलविलास	देव
केशव और उनका साहित्य	डा० विजयपालसिंह
केशव एक अध्ययन	श्री कृष्णचन्द्र वर्मा
केशव एक अध्ययन	प्रो० सरनामसिंह अरुण
केशव की काव्यकला	रामशंकर शुक्ल रसाल
केशव ग्रन्थावली	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं०)
केशवदास जीवनी कला और कृतित्व	डा० किरणचन्द्र शर्मा
छन्दमाला	आचार्य केशवदास
जायसी ग्रन्थावली	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं०)
तुलसी ग्रन्थावली	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं०)
दादूदयाल की बानी	

देव और उनकी कविता	डा० नगेन्द्र
पृथ्वीराजरासो की भाषा	डा० नामवरसिंह
प्राकृत और उसका साहित्य	डा० हरदेव बाहरी
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	डा० रांगेय राघव
फते प्रकाश	पृथ्वीसिंह (सं०)
भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास	हरिदत्त वेदालंकार
भवानीविलास	देव
भावविलास	देव
मिश्रबन्धुविनोद	
रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन	डा० प्रेमस्वरूप गुप्त
रसपीयूषनिधि	सोमनाथ
रसमंजरी	नन्ददास
रसरहस्य	कुलपति
रसराज	मतिराम
रसराज	रामजी मिश्र
रसवृष्टि	शिवनाथ
रससारांश	भिखारीदास
रसविलास	देव
रसिकप्रिया	आचार्य केशवदास
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और अध्ययन	डा० विजयेन्द्र स्नातक
रामचन्द्रिका	लाला भगवानदीन (सं०)
रीतिकालीन कविता की प्रेम व्यंजना	डा० बच्चनसिंह
रूपमंजरी	नन्ददास
ललितललाम	मतिराम
विद्यापतिपदावली	रामवृक्ष बेनीपुरी (सं०)
वीरसिंहदेवचरित	आचार्य केशवदास
ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद	प्रभुदयाल मीतल
शब्दरसायन	देव
शृंगारनिर्णय	भिखारीदास
शृंगारमंजरी	अकबरशाह
शृंगाररसमाधुरी	कृष्णदेव
संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह दिनकर
संस्कृत आलोचना	बलदेव उपाध्याय
सिद्धसाहित्य	धर्मवीर भारती
सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य	शिवप्रसादसिंह

सूरसागर प्रथम खंड — का० ना० प्र० सभा
हिततरंगिणी — कृपाराम
हिंदी अलंकार साहित्य — डा० ओमप्रकाश
हिंदी काव्य में शृंगार परम्परा और बिहारी — डा० गणपतिचंद्र गुप्त
हिंदी काव्य परम्परा
हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास — डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी कुवलयानंद — भोलाशंकर व्यास (सं०)
हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य — डा० सत्यदेव चौधरी
हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास छठा भाग — डा० नगेंद्र (सं०)
हिंदी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव — सरनामसिंह शरण
हिंदी साहित्य में नारी भावना — डा० उषा पाण्डेय

२ संस्कृत

अभिनवभारती — अभिनवगुप्त
अभिज्ञानशाकुंतलम् — कालिदास
अमरकोश
अथर्ववेद
अनंगरंग — जयदेव विद्यालंकार (सं)
अलंकारकौस्तुभ
अलंकारचंद्रिका
अलंकारसर्वस्व
अष्टाध्यायी — पाणिनि
अष्टांगहृदय
ईशावास्योपनिषद्
उज्ज्वलनीलमणि — जीवगोस्वामी
उत्तररामचरित — भवभूति
ऋग्वेद
एकावली
ऐतरेयोपनिषद्
ऐतरेय ब्राह्मण
कठोपनिषद्
कर्पूरमंजरी — राजशेखर
कामसूत्र — वात्स्यायन
काव्यकल्पलतावृत्ति

काव्यप्रकाश	मम्मट (वामन की टीका)
काव्यप्रकाश	' (डा० विश्वेश्वर की टीका)
काव्यादर्श	दण्डी
काव्यालंकार	भामह
काव्यालंकार	रुद्रट
काव्यालंकारसूत्र	वामन
कुमारसंभव	कालिदास
कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित
गीतगोविन्द	जयदेव
चन्द्रालोक	जयदेव
चैतन्यचरितामृत	
छन्दोमंजरी	
छान्दोग्य उपनिषद	
जैमिनिसूत्र	
तर्कभाषा	
तैत्तिरीय ब्राह्मण	
तैत्तिरीय उपनिषद	
दशरूपक	धनंजय
दशरूपकावलोक	धनिक
ईशोपनिषद्	
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
नाममाला	हर्षकीर्ति
नामलिंगानुशासनम्	
नाट्यदर्पण	डा० नगेन्द्र (सं०)
नाट्यशास्त्र	भरत
निरुक्त	यास्क
निघण्टु	
नीतिशतक	भर्तृहरि
पंचसायक	
पिंगलसूत्र	(हलायुध टीका)
प्रतापरुद्रीय	विद्यानाथ
प्राकृतपिंगलसूत्र	
प्राकृतपैंगलम्	
बृहदारण्यकोपनिषद्	शांकरभाष्य
बालमनोरमा	
भगवद्गीतोपनिषद्	

भवसन्तरणोपनिषद्	
भाव प्रकाशन	
भक्तिरसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी
मनुस्मृति	
महाभारत	
मालविकाग्निमित्र	कालिदास
मुण्डकोपनिषद्	
मेघदूत	कालिदास
यशोभूषण	
रघुवंश	कालिदास
रतिरहस्य	
रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
रसपीयूषनिधि	सोमनाथ
रसार्णवसुधाकर	शिंगभूपाल
रामपूर्वतापनी उपनिषद्	
व्यंग्यार्थकौमुदी	प्रतापसाहि
वृत्तरत्नाकर	
शतपथ ब्राह्मण	
वाक्यपदीय	भर्तृहरि
शृंगारप्रकाश	भोज (राघवन सम्पादित)
शृंगारविलास	सोमनाथ
श्रीमद्भगवद्गीता	
युगमनतत्वसमीक्षा	भगीरथ झा
सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
स्मरदीपिका	मीननाथ

३ हस्तलिखित ग्रन्थ

कविप्रियाभिनव	
कविप्रियाभरण	
कविप्रियाटीका	सूरति मिश्र
काव्यराजकारिका	
जोरावरप्रकाश	
रसग्राहकचन्द्रिका	
सूत्रविमर्शिका	

४ पत्र पत्रिकाएं

खोज रिपोर्ट १६००, १६०२, १६१७ १६१६, १६२६ १६२८	का० ना० प्र० सभा
जे० बी० ग्रार० एस०	वा० ५ भा० २ एच० सी० चकलर
इण्डियन एण्टिक्वेरी	वा० ५
दी पूना ग्रोरियण्टलिस्ट	

List of English Books

Book	Author
A History of Maithili Literature—Part I	Jaikant Misra
An Introduction to the post Chaitanya Sahajiya Cult	Manindra Mohan Bose
History of Classical Sanskrit Literature	Shri Krishnamachariar—Madras 1937
History of Indian Literature	Winternitz
History of Sanskrit Poetics	Dr P V Kane
Notes on Sahitya Darpan	
Some Concepts of Alankara Shastra	Dr V Raghvan
Sources of Indian Tradition	R N Dandekar New York
Studies in the History of Sanskrit Poetics	S K Day
The Number of Rasas	Dr V Raghvan
The Position of Women in the Hindu Civilization	Dr Altekar 1938
The Theories of Rasa and Dhvani	Dr V Raghvan
The Significance of Prefixes in Sanskrit Philosophical Terminology	Mr Betty Heimann
Sanskrit English Dictionary	Apte
The Sanskrit Language	T Burrow
Sanskrit English Dictionary	Monier Williams
Roots Verb Forms and Primary Derivatives of the Sanskrit Language	William Dwight Whitney
History of Ancient Sanskrit Literature	Max Muller
Critical Studies in the Phonetic Obser	

vations of Indian Grammarians	Siddheshwar Verma
Citations in Shabar Bhashya	Damodar and Vishnu Garge
Methods for Literary Criticism	C M Gaylay
India in the Time of Patanjali	Braj Nath Puri
A Critical Study of Shri Harsha s Naishadhiya Charit	Dr Arunodaya Natvar Lal Jain
Muslim Patronage and Contribution to Sanskrit Learning	J B Chaudhary
Vedic Index	Max Muller Keith

परिशिष्ट—२

नामानुक्रमणिका

वरनाह—४४, ४८ १९२ १९३ २०३, २१० २११ ४०७

यदीक्षित—३४ ३९, ४० ४३ ४६ ४७, ४८ ४९ ६० ६२ ६९ ७३ ७८, २५१ २५४ २५८ २६०, २८३ २८९ २९१ २९२ ३०१ ४ ७

नवगुप्त—३४, ३७, ३८, ४०, ४१ ६५ ६९ ७१ ७४, १४३ १४४ १४६ १४७ १५२, १६१ १६२ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१, १७३ १७४ १९० २७६ २७७ ३४६ ४७८ ४१६ ४५० ४५१, ४६० ४६६

रचद्र—३८ १२२ १३० १३२ ३६६ ३६७ ३८४ ४८२ ४८६ ३८७ ३८८

:सिंह—४६६ ४६७

:कर—१९६

ादवघन—२९ ४४ ३७ ४१ ६६, ६७ १८३ १८४ १८९ २४४ २७२, २७६, २७७ २७९ ३३८ ३४७ ३४८, ३४९ ३५१ ३५४ ३६४ ३६५ ३९४ ३९९ ४३७, ४३८ ४५५ ४५६ ४५८ ४६६ ४६७

१० एन० दाडेकर—१९३

मट—२९ ३४ ४० ४१ ४८ ७७ १२१ १२२ १४३ २५२ २७४ २७६ २७९ २८० २८७ २९२ २९६ ३४६ ३४७ ३५६ ४२६

ा पाडेय (डा०)—१९८

० कि० ड—४१ ६६ १५० ३६६ ३६७

नुप्रकाश (डा०)—६० ६२ ६४ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ३९२ ४२२ ४४३

कोष पंडित—६६

० बी० कीथ—५३ ५७

त्यायन—२३ २४ २५ ६०

लिदास—२९ ४४ ६७ ११० १९३ १९७ ३६४ ३९५, ३९६ ३९८

रणचन्द्र शर्मा (डा०) १०४ १०५ १९५ २०४ २१६ २२२ २२६ २३७ २९७ ३९८ ४०५ ४१४ ४३४

लहॉन—२४ २५ ३२

तव—३० ३४ ३७ ४२ १०७

बच्चनसिंह (डा०)—६५ ६७ ६८ ७०
बलदेव उपाध्याय—४२
बेट्टी हेमन—१७, १८ २५
व्रजनाथ पुरी—३२
भगीरथ मिश्र (डा०)—२६ ३१ ३५, ६१ ६४ ६५ ७४ ७५ ८१ १४५ ३४२
३६२, ४२४
भट्टनायक— ७ ४० ४५०
भट्टनारायण—३७ ३२५, ३२७ ३२९ ३३२, ३३३
भट्ट लोल्लट—४०
भरतमुनि—२८ ३१ ३ ३४ ३५ ४२ ४५, ४७ ४८ ७०, ७१ ७२ ७३, ७४,
७७ ६४ १४४ १४६ १४८ १५६, १५७ १५६ १६० १६१ १६२, १६३
१६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६६ १७१ १७२ १७३ १७४ १७५
१७६ १७७ १७८ १७६ १८० १८१ १८२ १८४ १८८ १८८ १६० १६२
१६ १६८ २११ २१८ २३२ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३६ २४१
२७७ ३३८ ३४३ ३४४ ३४५ ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७
३५८ ३६४ ३७६ ३७७ ३७८, ३७६ ३८३ ३६६ ४०१ ४०३ ४०४
४०८ ४०६ ४१० ४१६ ४४१ ४४६ ४५५ ४५८ ४६२
भरतसिंह उपाध्याय—३४ ३५
भर्तृहरि—१७ ० ६७ ३८२ ३८६
भवभूति—१४५ ५७ ४५१
भानुदत्त— ४ ६ ४२ ४३ ४४ ४६ ४७ ४८ ५४ ६८ ७० ७२ ७३ १६५
२०१ २ ४ २०६ २ ८ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २२२
२२ २२४ २२५ २२६ २२७ २२६ २३० २३१ २ २ २३३ २३४
२ ५ २ ६ २ ७ २ ८ २३६ २४० २४१ २४२ २४३ २४५ ४०५
४१० ४११
भानुमिश्र—१८२ १८ २१२ २१५ २१७ २१८ ४११ ४१३
भामह—२८ ० ४ ३ ४० ४६ ४८ ५० ५८ ५६ ७१ ७३ ७४
७७ ६५ १२१ १२२ २४६ २५० २५१ २५४ २५८ २६१ २६२ २६४
२६५ २६६ २७० २७१ २७६ २७७ २८० २८३ २८७ २८६ २६०
२६२ २६५ २६८ ० ८ ३४६ ४ ३६५ ६८ ४६४
४०४ ४२५ ४४६ ४४८ ४४ ४५८
भिखारीदास—५ ४८ ६१ ६५ ६६ ६८ ७३ ७५ ७६ ८८ १३६ २०६ २०८
२१७ २१८ २२ २०४ २२ २४३ २ ६ २८३ ८६ ८८ ४ ३ ४०४
४ ५ ४ ७ ४०८ ४१० ४११ ४१२, ४१४ ४१६ ४१७ ४१६ ४२० ४२३
४०७ ४०८ ४०६ ४ ४ २ ४४१ ४ ६ ४ ८ ४ ८ ४४०
४४१ ४४२ ४४३ ४ १ ४ २

भूषण—५५ ५८ ६० ७४ ७७, ७६, ८८ १३४ ४२३, ४२४
भोज—५० ३४ ४४, ४८ ५३ ५६ ५७ ६७ ७१ ७३, १२१ १३० १४६ १४७, १६२ २०१ २०५ २०६ २१२, २१७ २१८ २२० २३५, २३६, २४१, २५० २५१ २५२ ३४६ ३५५, ३७६ ३७८ ३७६ ३६६ ४०० ४०२ ४१० ४१२ ४४० ४४१
भोलाशंकर व्यास (डा०)—४३ ४८
मतिराम—५५ ६० ६३ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ८०, ६८ १३६, २०१ २०६ २०८ २२६ २२७ २२६ २३६, २४० २४२ ३६६, ४०० ४०५, ४११ ४१२ ४१४ ४१५ ४२० ४२३ ४२४ ४२७ ४२८, ४२६, ४३० ४३२ ४३३ ४५४ ४४० ४४१
मम्मट—३४ ३८ ३६ ४१ ४२ ४५ ४८, ७३ ७४ ७६ ६५ १०७ १५६ १७३, १७४ १७५ १७६ १८३, १८६ २०६, २१२, २१३ २१५ २१६ २१७ २१८ २२३ २२४ २४८ २५१, २५२ २५३ २५८, २६० २६१ २६२, २६८ २७० २७२ २७४ २७६ २७७ २८४ २८५, २८६ २८७, २८६, २६० २६२, २६७ २६६ ३०१ ३५८, ३३६ ३४०, ३५६ ३७६, ३७७ ४१६ ४१७ ४३० ४५७ ४४२ ४४६ ४५५ ४५६ ४५८
महिम भट्ट—४५०
मिश्रबन्धु—८० ६५
मेधावी—३४ ४४३
मक्स मूलर—२२ २७
मोनियर विलियम्स (सर)—१८ २३
यास्क—१७ ३३ ३५ ४६
रमाशंकर शुक्ल रसाल—७६
रसलीन—६० ७२ २१५ २१६ २१८ २२५ २३१
रहीम—५२ ७६ ८४ २०२ ४४८
रांगेय राघव—१६५
राजशेखर—२७ ३० ३४ ३८ ४० ४५ ५३ ५६ ३३८ ४५६
रामचंद्र गुणचंद्र—४२ ४८ १६५ ५५५ ५५४ ३४७ ५५८ ३६५
रामचन्द्र शुक्ल (आचार्य)—६५ ७६ ७८ १०८ ३०१, ३६२ ४०३, ४०४
रामधारी सिंह दिनकर—१६७, ४५६
राहुल सांकृत्यायन—५० ५१ ६७
रुद्रट—२६ ५४ ५० ४१ ४४ ४८ ६७ ७० १०७ १६२ २१२ २१७ २२६, २३२ २३३ २५० २५१ २५२ २५५ २५४ २६० ३५८ ३६६
रुय्यक—३० ३४ ३६ ४१ ४८ ६७ २५८ २६५ २६६ २७० २७२ २७५, २७६, २७७ २८० २८४ २८६ २८७ २८६ २६०, २६१ २६२ २६६, २६७ २६६ ३८२ ३८५ ४०३

रूपगोस्वामी—३४ ३६ ४३ ४४ ४६ ४७ ४८ ५२ ८५ १४७ १४६ १५० १९३ १६६ २०० २०६ २०७ २०८, २०६, २१२ २१३ २१७ २५६ २६० २६ २६४ २६५ २६६ ४०८
लाला भगवानदीन—१०२ १०६ १२३ २६० २८६ २६५ ०१
लोल्लट—१४४ १६५ १६७
वररुचि—२५
वाग्भट्ट—४० १६२
वात्स्यायन—२८ ६६ ७ २१० २२१ २२२ ७६ २८१
वामन—२६ २४ २७ ४१ ४० ४८ १०७ १२२ १६ १६४ २०३ २०७ २४८ २४८ २५२ २६१ २६४ २६८ २८४ २६६ ३३८ ३४७ ४१ ६२ ८४ ४१ ४५४ ४५८
विटरनीत्ज—२२
विजयपालसिंह (डा०)—१५०
विज[illegible] स्नातक (डा०)—२००
विद्यानाथ—४४ ६६ ७८ १६ २४० २४५ ४२ २२ २५५ २५६ २५७ ५८ ४१८
विद्यापति—४ ५२ १६६ २०२
विश्वनाथ—० ८ ८ ६ ४२ ६२ ४८ ७० ७३ ७४ ७६ १४४ १४६ १०१६ १६४ १७१ १७३ १७४ १७५ १७७ १७६ १८० १८३ १८२ १८८ १६२ १६५ २१२ २१८ २०२ २०६ २०७ २०८ २१० २१ २१५ २१ २१७ २२२ २२२ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२६ २३ २३१ २३२ २३३ २३४ २३६ २३७ २३८ २३६ ८ ६१ २४१ २४४ २४८ २४६ २६० २६५ २६८ २७० २७२ २७४ २७६ २८० २८४ २८५ २८७ २८६ २६० २६१ २६२ २८७ २६८ १ ३०३ २२८ ३४४ ३४६ ५५ २५७ ३७६ २७७ ७८ ८६ ६० ४० ४१० ४१२ ४१३ ४१४ ४१७ ४१८ ४२१ ६१ ६४२ ४१३ ४५८
विश्वनाथप्रसाद मिश्र—१०० १ ४ १३४ २३६ २२७ ३५३
वि[illegible]वर (आचार्य)—२८ २६ ३१ ४० ४१ ४२ ४५ ४७ ७
विलियम ड्वाइट व्हिटने—१८
वा[illegible]—१३ १८ १६ २१
वा[illegible]—१४ १ ४३ २४२ २४६ ३४८ ३४६ ३५१
वु[illegible] (डा०)—६१
[illegible] (डा०)—१६३
[illegible]— ३ ६० १६२
[illegible]—२५ २६ ४२

शारदातनय—३४ ४२ १६८ ४०३
शिंगभूपाल—१६३ २०४ २०५ २०६ २०८ २१० २१ २१६ २२२ २२५ २३० २३५ २३६ २४०, २४२ २७६ ३७६ ८० ४०८ ४१ ४१७
शिवप्रसादसिंह (डा०)—६७
सत्येन्द्र चौधरी (डा०)—१३०, १६२, २११, २३३, २६३, ४०० ४०५ ४१०, ४१५ ४१७, ४१८ ४४२
सत्येन्द्र (डा०)—८०, ८१
सरदार कवि—७१, ६८ १०१ १०३ १७० ३५३ ३५४
सरनामसिंह शरण—२५६ २५६ २६७ २६८ २६६ २७२ २८४ २६४ ४४२ ४४२ ४४५
सिद्धेश्वर वर्मा—२२
सुरति मिश्र—५६ ७६ ८० १०१ १०३, ३४१
सेनापति—८१
सोमनाथ—७२ ७६ ६८ १३६ २०६ २११ २१२ २१५ २१७ २१८ २१६ २२१ २२२, २२३ २२४ २२६ २२८ २२८, २४२ २४३ ६२ ३६५ ३६६, ४०० ४०७ ४०८ ४०६ ४११ ४१५ ४१६ ४१७ ४१६ ४२२ ४२७ ४२८ ४२६ ४५० ४३२ ४४० ४४६ ४४७
हजारीप्रसाद द्विवेदी (डा०)—५० ५६ १०८ १६८
हरदेव बाहरी (डा०)—१६७
हरियप्पा—२६
हीरालाल दीक्षित (डा०)—१०४ २०४ २२६ २४२ २५४ २५५ २५६ २६० २६३ २७१ २७५
हेमचन्द्र—३५ ४६ ४० ६७ १६३

नामानुक्रमणिका

अग्निपुराण—१६३, २५२ ६६
अनगरग—२१० २१६ ७६ २८० ३८१ ४११
अभिज्ञानशाकुन्तल—४० ४१ १६७
अभिनवभारती— ७ ४५ १४३ १४६ १५७ १६३ १६५ १६६ १६७ १ ८ १६६ १७१ १७४, ३४४
अमरकोष—२० २३
अमरुकशतक—४१ ६६
अलकारकौस्तुभ—४६ ३६६
अलकारचन्द्रिका—४८ ७३ २५१

अलकारशेखर—६६ १२२ १८६ २६६ ३६७ ३६८ ३६६ ३७० ३७१ ३७२
७३ ७४ ३८२ ३८५ ३८६ ३८७
अलकारसर्वस्व—१८४ २५१ २५३ २५५ २५८ २५६ २६० २६३ २६५ २६६
२६८ २७२ २७६ २७८ २७६ २८० २८४ २८६ २८७ २८६ २६४ २६५
२६७ २६६
अलकारसूत्र—२५६ ३८२ ३८५
अष्टाध्यायी—१७ ३३
आचार्य केशवदास—२३६ २५२ २५४ २५५ २५६ २६० २६३ २७१ २७५
२८६
उज्ज्वलनीलमणि—४३ ४६ ४७ १४८ १४६ १५० १६३ १६६ २०० २०६,
२०७ २०८ २०६ २१२ २१७ ४०८
उत्तररामचरित—४१ १४५
एकावली—२६४ २६५ २६७
कबीर ग्रथावली—१६८
कर्पूरमजरी—१६७
कला कल्पना और साहित्य—८१
कविकुलकठाभरण—५८ ७३ ७५ ७७ ३६५ ४१६ ४१७ ४२४ ४२५
कविकुलकल्पतरु—२०६ २०६ २१२ २१४ २१६ २१७ २२३ २२६ २३२,
२३८ २४० ४३४ ४१४ ४१८ ४१६ ४२० ४२६ ४३८ ४३६ ४४६
कविप्रिया—४१ ५१ ५६ ६१ ६४ ७५ ७६ ८२ ८८ ८६ ६० ६५ ६८ ६६
१०८ १०५ १०६ १०७ १२१ १२२ १२३ १३० १३१ १३३ १३४
१३५ १३६ १३७ १४२ १४४ १५३ १५४ १८६ १८६ २४६ २४७
२५० २५१ २५५ २५६ २५७ २५८ २६ २६३ २६६ २६६ २७०
२७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २८१ २८२ २८३
२८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८६ २६० २६१ २६२ २६३ २६५
२६७ २६८ २६६ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३३४ ३३६ ३४२ ३६१
३६२ ३६३ ३६८ ३६६ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६
३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८८ ३८६ ३६० ३६१ ३६६ ३६७
४०८ ४२१ ४२ ४२४ ४२५ ४२८ ४२६ ४३० ४३२ ४३३ ४३६
४३८ ४३६ ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४६ ४५५ ४५७ ४५८, ४६१
४६३ ४६४ ४६५ ४६६
कादबरी—४१
कामसूत्र—[illegible] ७० ६६ [illegible] १६ १६४ २०३ २०६ २०७ २१० २२०
[illegible] २२२ [illegible] २४० २४१ २४५ २७६ ३८१ ३८२ ४०८
४०६ ४११
काव्यदर्पणतावृत्ति—१८२ [illegible] १३२ २६६ २६६ ३६७ ३६८ ३७३ ३८२,

२८६ २८७ २८८
काव्यनिर्णय—५८ ६१ ७२ २६५ ४१७ ४१८ ४२६ ४ ६ ४२८ ४ ६ ४४१ ४४७
काव्यप्रकाश—२८ २६ ३१ ४० ६१ ४२ ७४ ७७ १०७ १४६ १७५ १७७ १७८ २५४ २५८ २६१ २६२ २६५ २७७ २८४ २८५ २८८ २८६ २६६ २६८ २६६ ४७ २५५ ५६ ७६ ३०७ ४२ ४ ० ४७
काव्यमीमांसा—२७ ३० ३४ ३८ ४० ५३ ६५
काव्यरसायन—५७, ७३
काव्यविलास—४१५ ४४७
काव्यादर्श—२८ २६ २७ ६ २५० २५२ २५ २५५ २५७ २५८ २६१ २६२ २६५ २६६ २६७ २७० २७१ २७२, २७३ २७४ २७५ २७६ २८० २८२ २८४ २८५ २८६ २८८ २८६ २६१ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८, ३०० ०२ ३६१, ३६२ ८२ ८४
काव्यानुशासन—४ २५ ४०
काव्यालंकार (भामह)—२६ ०. ४ ७ ४६ ५८ २५० २५२ २५८ २६२ २६४ २६८ २७०, २७१ २८० २६८ ४२५
काव्यालंकार (रुद्रट)—२६ ४ ४० ६७ १६२ २१२ २१७ २२६ २२३ २५० २६६
काव्यालंकारसारसंग्रह—२८
काव्यालंकारसूत्र—२६ ७ ६ ४१ ४६ ५८ २६१ २६४ २६६ ४७
कुमारसंभव—४१ १६७
कुवलयानंद—४ ४८ ६० ६६ ७४ ७८ २५२ २५४ २५७ २५८ २६० २६१ २८२ २८६ २६१ २६२ २६६ २८७
केशव एक अध्ययन—२५६ २५६ २६६ २ ८ २७० २७२ २६४ २६५ ३४२
केशव और उनका साहित्य—४२ ७१ ६१ १७१ ८८
केशव की काव्यकला—२४२
केशव ग्रंथावली—६२ ६ ६४, १०० १०५ १२४ १ ७ १ ६ १६५ २०४ २ ७ २०८ २१२ २१६ २१७ २१८ २१६ २२१ २२२ २२ २२४ २२५, २ ७ २२८, २२८ २४० २ १ २३२ २ १० ३१८ २५ ५४ २६०, ३६१
केशवदास जीवनी कला और कृतित्व—१६५ २०१ २०४ २१६ २२२ २ ८ २३७ ३६७ २६८ ४०५ ४१४ ४ ४
गीतगोविंद—४२ १६६
चंद्रालोक—४३ ४८ ७४, ७८, २६७ २८२ ८३ ४४२
चमत्कारचंद्रिका—१६६

छंदमाला—६१ ६६ ६७ ६८ १०४ १०५ १३१ १३७ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३१० ३१२ ३१ ३१६ ३१७ ३१८ ३१६ ३२० ३२५ ३२६ ३२६ ३३० ३३१ ३३३ ३३५ ३३६, ३६७, ३७५ ३७६ ६० ३६७ ४५३ ४६५ ४६६

छन्दकौस्तुभ—३०६ ३१० ३१२ ३२० ३६०

छन्दोऽनुशासन—५५ ४० ६७

छन्दमंजरी—१ ७ ३०८ ३०६ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१६ ३२० ३२१ ३२२, ३२३ ३२४ ३२५ ३६६ ३६०

छान्दोग्योपनिषद्—२६ २७ ३१

जगद्विनोद—५७ १०६

जहाँगीरजसचंद्रिका—६७

जायसी ग्रंथावली—२१६

तुलसी ग्रंथावली—१६८

तैत्तिरीयोपनिषद—२० २१ १६६ २००

दशरूपक—६३ ७० १५८ १६५ १७१ १७३ १७५ १७७ १७६ १६३ २०५ २०७ २०८ २१५ २१६ २२२ २२६ २ २ २३६ २३६ २४० २४१ ३४४ ३४५ ५३ ३५७ ४०३ ४०६

दशरूपकावलोक—१५८ १५६

देव और उनकी कविता—३६३ ४०२, ४०६ ४०८

ध्वन्यालोक—२६ ३८ ६७ १८२ १८३ १८६ २०३ २०६ ३४८ ३६६ ४ ७

ध्वन्यालोक लोचन— ४६ ४७

नाट्यदर्पण—४२ १६३ ५३ ३५४ ४०३

नाट्यशास्त्र—२८ ४ ५ ७० ७४ ६४ १४३ १४६ १४८ १५६ १५७ १६१ १६ १६८ १६५ १६६ १७१ १७३ १७४ १७५ १७६ १७६ १८० १८२ १८ १८८ १६० १६२ १६३ १६६ २१२ २१८ २३३ २ ४ २ ६ २ ८ २४१ २७७ ३३८, ३४३ ३४४ ३४५ ३५३ ३७६, ३७ ८८ ४०३ ४०८ ४०६ ४४६ ४५०

नाममाला—४५

नामलिंगानुशासन—

निरुक्त—१३ १ ४

नयधकाव्य—४२ ५ ६३

पद्माभरण—४८ ६४

प्राचीन साहित्य का इतिहास— ५

पिंगलसूत्र— ०६ ०३ ०८ ०० ११ १२ १४ ३१५ ३१७ ३१८, १८ ०

[illegible]—८ ३८ २१८ २६० ४५ ३५३

प्रसन्नराघव—९१
प्राकृत और उसका साहित्य—१९७
प्राकृतपैंगलम्—२१ ६३ ६८ १ ७, २१० २१२ १४ २१८ २१९ २२० २२१ २४, २२६ २२७, २२८ २२९ २ ० ३१ ३२ ३ ३२४ ३३५ ३२६ ३८२ ३८८ ३८९ ९०, ९१ ३९२ ४६४
प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास—१९४
बृहत्कथामंजरी—४०
भक्तिरसामृतसिंधु—४३, ४६, ४७ १४७, १४८ १४९, १५०
भक्तमालविलास—४७ ११९ २९८ ४०० ४०१, ४१३, ४२०
भावप्रकाश— ४ ४२, ४०३ -
भावविलास—४८ ७४, ७७, १०८ २९६ २९८ ४०२ ४०५, ४१० ४१५ ४१ , ४२० ४२६ ४२२ ,
भाषाभूषण—४०, ५८ ६० ७३ २११ ४२१
महाभारत—२७
महाभाष्य—२४ २५ २२
मितावरा—२०
मिश्रबंधु विनोद—५५ ६४
मुण्डकोपनिषद्—२२ २६
मृच्छकटिक—४१
मेघदूत—४५ १९७
रसिकप्रिया—६१, ७१ ७५ ८८ ९३ ९४ ९६ ९८ ९९ १०० १०१, १ २ १०५ १०८ १०९ ११०, ११५ ११६ ११७ ११८ १२० १२१, १२२ १३१ १३७ १४२ १४ १४४ १४५, १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १६० १६२ १६५ १६८ १६९ १७० १७३ १७४ १७६ १७८ १७९, १८१ १८२, १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९४ २०१ २०२ २०३ २१० २१४ २१४ २२० २२४ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २७९ ३१९ ३४० ३४२ ३४३, ३५०, ३५१ ३५२ ३५४ ३५८ ३७४ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९, ३८० ३८१ ३८२, ९३ ३९५ ३९६ ३९९ ४०० ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४ ६ ४०७ ४०८ ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४४१ ४४२ ४४६ ४५२, ४५५ ४५६ ४५८ ४६१, ४६५
रामचंद्रिका—३०५ ३१८ ३१९ ४४६ ४५८
रघुवंश—४१ १९४
रतिमंजीवनी—९७
रतिरहस्य—९४, २१० २२०

शिवराजभूषण—५८ ६० ७३
शिवसिंह सरोज—५५
सन्देशरासक—६७
संस्कृत आलोचना—४२
संस्कृत के चार अध्याय—१६७ ४५६
सरस्वतीकण्ठाभरण—३० ४८ ५८ ६७ २०४, २०५ २१७ २३५ २३६ २३९ २४० २४१ २५२
साहित्यदर्पण—३० ४२ ४३ ४८ ७० ७४ ७८, १४५ १५९ १६४ १७१ १७३ १७५ १७७ १७९ १८० १८५ १९२ २०४ २०५ २०६, २०८ २१२ २१४ २१६ २१८ २२३ २२७ २२८ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २५३ २५४ २५८ २५९ २६३ २६५ २७२ २८५ २८६ २८७ २८९ २९२ २९४ २९६ २९८ ३४९ ३५५ ३७६ ३७७ ३७८ ४०३ ४०९ ४११ ४१६ ४१८ ४२७ ४३० ४३२ ४३८
साहित्य मीमांसा—३०
सिद्ध साहित्य—१९८
सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—६७
हरिभक्ति रसामृत—१५० १५१ १५४
हिततरंगिणी—५२ ६९ ७२ १०९ २०२ २१४ २१७ २२४ २३६
हिन्दी अलंकार साहित्य—६० ६२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ३९२
हिन्दी काव्यधारा—५० ५१ ६७
हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और बिहारी—१०९ १९९
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—२९ ३१ ३५ ४६ ४८ ६१ ६४ ६५ ७४ ७५ ७६ ८१ ८२ ८३ १४५ ३४२ ३९२
हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—१९२ २११ २३३ ४०५ ४१० ४१५ ४१७ ४१८
हिन्दी साहित्य का इतिहास—६५ ७४ ७६ ८१ ३९२
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—३५ ४९ ५६ ५७ ६४ ६५ ७२ ७४ ७५ ७६ ८० १ ६ २०२ २९३ ४०० ४०२ ४०७ ४०८ ४१२ ४२१ ४२२ ४२४ ४ ५ ४ ० ४४० ४४२ ४४३
हिन्दी साहित्य की भूमिका—५०
हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव—४४२
हिन्दी साहित्य में नारी भावना—१९८

०००